शिक्षा दर्शन
तथा
आधुनिक प्रवृत्तियाँ

लेखक
डी० एन० गौड़
आर० पी० शर्मा

आगरा

द्वितीय संस्करण पर दो शब्द

इस संस्करण को प्रस्तुत करते हुए हमें पाठकों से यह निवेदन करना है कि इस पुस्तक के इस रूप में आने में काफी समय निकल गया। यद्यपि प्रथम संस्करण को प्रकाशित हुए कई वर्ष व्यतीत हो गये और यह संस्करण भी कई वर्ष पहले निकल जाना चाहिए था परन्तु विलम्ब हो ही गई। चूँकि शैक्षिक विचार धाराओं में और कोई नई बात नहीं जोड़नी थी अतः मूल पाठ्यवस्तु में बहुत कम परिवर्तन किया गया है। फिर भी आवश्यकतानुसार यत्रतत्र परिवर्तन व संशोधन स्पष्ट है। पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के लिए जो भी सुझाव पाठकों से आवेंगे वे अगले संस्करण में अवश्य स्वीकार किये जायेंगे।

—लेखकगण

दो शब्द

शिक्षा दर्शन तथा आधुनिक प्रवृत्तियाँ के विषय को लेकर अँग्रेजी में पुस्तकों का अभाव नहीं है। विषय का क्षेत्र भी बहुत विस्तृत है और इस पर बहुत-सा साहित्य लिखा जा चुका है। परन्तु हिन्दी में इस प्रकार के साहित्य की बहुत कमी है, अतः यह आवश्यक है कि हिन्दी में विश्वविद्यालयीय स्तर के छात्रों के लिए विभिन्न विषयों में साहित्य लिखा जाय। आज हिन्दी सभी स्तरों पर शिक्षण का माध्यम होती जा रही है। इसलिए छात्रों की सुविधा तथा हिन्दी भाषा को उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समर्थ बनाना अत्यन्त आवश्यक है। हमने अपने प्रशिक्षण-महाविद्यालय के दीर्घ अनुभव के आधार पर प्रस्तुत पुस्तक को उन छात्रा-ध्यापकों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर लिखा है जो प्रशिक्षण-महाविद्यालयों में विभिन्न स्तर की ट्रेनिंग लेते हैं और जिन्हें शिक्षा दर्शन और सिद्धान्तों का अध्ययन करना होता है। हमने पाठ्यक्रम और विषय का क्षेत्र, दोनों का ध्यान रखकर पुस्तक को लिखा है और इस विषय पर अपने अनुभव और अध्ययन की सहायता लेकर पुस्तक को शिक्षकों व विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उनकी पूर्ति के लिए विशेष प्रयत्न किया है। पुस्तक को अधिकाधिक उपयोगी बनाने के लिए प्रत्येक अध्याय के बाद सारांश व विभिन्न विद्वानों के उद्धरण दिये गये हैं। भाषा सरल है और जटिल विचारों की विश्लेषणात्मक ढंग से व्याख्या की गई है। आशा है हमारा यह प्रयास सफल होगा और पाठक गण पुस्तक को बहुत उपयोगी पावेंगे।

हम उन सब लेखकों के अत्यन्त आभारी हैं जिनसे हमने अपने विचारों का साम्य स्थापित करने तथा उनका समर्थन करने के लिए स्वतन्त्र रूप में उद्धरण लिए हैं।

—लेखकगण

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ
1.	**शिक्षा और मानव-जीवन** मानव-जीवन का लक्ष्य–2, शिक्षा और मानव-धर्म–5, शिक्षा और मानव-जीवन की आधारभूत आवश्यकताएँ–7, मानव-समाज की आवश्यकताएँ और शिक्षा–11, सारांश–13	1—13
2.	**शिक्षा—अर्थ व उद्देश्य** शिक्षा का अर्थ–16, शिक्षा के रूप–18, शिक्षा की प्रक्रिया–22, शिक्षा के उद्देश्य–26, शिक्षा के अन्य उद्देश्य–50, भारतीय समाज और शिक्षा के उद्देश्य–51, सारांश–52	14—54
3.	**शिक्षा—अंग, क्षेत्र व स्रोत** शिक्षा के अंग–55, शिक्षा के क्षेत्र–60, शिक्षा के स्रोत–62, सारांश–67	55—67
4.	**शिक्षा और दर्शन** शिक्षा और दर्शन का सम्बन्ध व शिक्षा दर्शन की आवश्यकता–69, शिक्षा दर्शन का रूप व उसकी प्रकृति–73, सारांश–77	68—78
5.	**शिक्षा में आदर्शवाद** आदर्शवाद जीवन-दर्शन के रूप में—79, शिक्षा में आदर्शवाद–84, शिक्षा के उद्देश्य–84, आदर्शवाद और पाठ्यक्रम–86, आदर्शवाद व शिक्षण पद्धति–88, आदर्शवाद और शिक्षक–89, आदर्शवाद और अनुशासन–90, उपसंहार–90, सारांश–90	79—91
6.	**शिक्षा में प्रकृतिवाद और रूसो** प्रकृतिवाद – दर्शन के रूप में–93, प्रकृतिवाद के रूप–95, प्रकृतिवाद और शिक्षा–96, शिक्षा में प्रकृतिवाद और रूप–96, प्रकृतिवाद और शिक्षा के उद्देश्य–98, प्रकृतिवादी शिक्षा–99, प्रकृतिवाद की आलोचना–101, आधुनिक शिक्षा में प्रकृतिवाद–103, प्रकृतिवाद का ऐतिहासिक सिंहावलोकन व उसका प्रमुख प्रवर्तक रूसो–106, सारांश–120	92–121

अध्याय पृष्ठ

7. **शिक्षा में प्रयोगवाद व जॉन ड्यूई** 122—161

प्रयोगवाद-अर्थ व्याख्या–123, आधुनिक प्रयोगवाद की व्याख्या–124, प्रयोगवाद की आलोचना–128, प्रयोगवाद का शिक्षा में प्रभाव–130, प्रयोगवाद का ऐतिहासिक सिंहावलोकन व इसका प्रमुख प्रवर्तक जॉन ड्यूई–137, सारांश–158

8. **शिक्षा में यथार्थवाद** 162—178

यथार्थवाद : अर्थ व व्याख्या–163, यथार्थवाद ऐतिहासिक दृष्टि-पात–165, यथार्थवादी विचारधारा का प्रभाव–175, यथार्थवाद का आधुनिक शिक्षा में रूप व उसका प्रभाव–176, सारांश–177

9. **शिक्षा में प्रवृत्तियाँ—(1) मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति** 179—215

मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की उत्पत्ति तथा विशेषताएँ–179, मनोवैज्ञा-निक प्रवृत्ति की सामान्य विशेषताएँ–180, सारांश–213

10. **शिक्षा में प्रवृत्तियाँ—(2) वैज्ञानिक प्रवृत्ति** 216—231

उन्नीसवीं शताब्दी : वैज्ञानिक युग का आरम्भ और शिक्षा पर माँग–217, वैज्ञानिक प्रवृत्ति की सामान्य विशेषताएँ–219, सारांश–230

11. **शिक्षा में प्रवृत्तियाँ—(3) सामाजिकतावादी प्रवृत्ति** 232—243

सामाजिकतावादी भावना का उत्कर्ष–233, समाज शास्त्र और शिक्षा का पारस्परिक सम्बन्ध–237, शिक्षा में सामाजिकतावादी लहर पर संक्षिप्त ऐतिहासिक दृष्टिपात–240, सारांश–242

12. **शिक्षा में प्रवृत्तियाँ—(4) बहुबिम्बवादी प्रकृति या समाहारक प्रवृत्ति** 244—250

आधुनिक जीवन में समाहारक प्रवृत्ति का प्रभाव–245, आधुनिक शिक्षा में समाहारक प्रवृत्ति या बहुबिम्बवाद का प्रभाव–246, सारांश–250

13. **जनतन्त्र और शिक्षा** 251–274

जनतन्त्र : अर्थ व व्याख्या–252, जनतन्त्र के विषय में सन्देह क्यों ? –254, जनतन्त्र के आदर्श–256, जनतन्त्रीय जीवन–259, जनतन्त्र और शिक्षा–261, सारांश–273

14. **शिक्षा में विशिष्ट पद्धतियाँ** 275—334

बुनियादी (बेसिक) शिक्षा–275, प्रोजेक्ट पद्धति–285, माण्टेसरी प्रणाली–298, डाल्टन पद्धति–314, सारांश—323

अध्याय पृष्ठ

15. **अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव के लिए शिक्षा** 335—357
अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा–335, अन्तर्राष्ट्रीय तनाव–336, शिक्षा इस चुनौती का मुकाबला कर सकती है–337, अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान का अर्थ–338, आज के संसार की मनो-भौतिक आवश्यकताएँ–339, शिक्षा : अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान का एक प्रभावशाली साधन–340, अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त–340, पाठ्यक्रम एवं अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण–342, पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित करना–344, यूनेस्को और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण पैदा करने में उसका भाग–351, सारांश–353

16. **पाठ्यक्रम** 358—387
पाठ्यक्रम की परिभाषा–358, पाठ्यक्रम का क्षेत्र–360, पाठ्यक्रम एवं पाठ्यवस्तु–360, वर्तमान पाठ्यक्रम की दुर्बलता–362, पाठ्यक्रम का संकुचित आधार–362, पाठ्यक्रम का पुस्तकीय स्वभाव–363, पाठ्यक्रम में बहुत अधिक विषय होना–364, जीवन के साथ समुचित सम्बन्ध का अभाव–365, व्यक्तिगत भेद का ध्यान न रखा जाना–365, परीक्षा-प्रधान-पाठ्यक्रम–366, टैकनीकल तथा वर्तमान शिक्षा की व्यवस्था का प्रभाव–366, प्रजातन्त्र में पाठ्यक्रम के सिद्धान्त–367, बालकों की जन्मजात शक्तियाँ एवं पाठ्यक्रम–368, खेल-पद्धति तथा पाठ्यक्रम–370, योजना पद्धति और पाठ्यक्रम–372, पाठ्यक्रम तथा बालकों के अनुभव–373, पाठ्यक्रम का समन्वय–373, पाठ्यक्रम में विभिन्न विषयों के सम्मिलित करने का विचार–374, माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम–375, उच्च स्तर का पाठ्यक्रम–376, पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाएँ–378, पाठ्यक्रम में अध्यापक का स्थान–379, सारांश–382

17. **धर्म और शिक्षा** 388—408
धर्म क्या है ?–389, सदाचार तथा धर्म–390, धर्म तथा शिक्षा–393, धार्मिक शिक्षा का उद्देश्य–395, संकीर्ण धार्मिक शिक्षा से हानि की संभावना–398, ऐतिहासिक निरीक्षण–400, भारत में धार्मिक शिक्षा–401, धार्मिक शिक्षा धर्मनिरपेक्ष तथा लौकिक राज्य में अनेक कठिनाइयाँ ला सकती है तथा नई-नई समस्याएँ उपस्थित कर सकती है–402, स्कूलों में धार्मिक शिक्षा प्रारम्भ करते समय सावधानियाँ–403, सारांश–405

18. **शिक्षा एवं सामाजिक व्यवस्था** 409—429
शिक्षा और सामाजिक व्यवस्था–409, भारतीय शिक्षा तथा सामाजिक व्यवस्था–416, व्यक्ति तथा समाज–417, स्कूल समाज का

अध्याय पृष्ठ

सूक्ष्म रूप है–421, शिक्षा और राज्य –423, शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण तथा उससे उत्पन्न संकट–424, भारत में शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण–425, सारांश–426

19. **प्रशिक्षण की मूलभूत विधियाँ** 430—436

प्रश्न एवं उत्तर–431, अच्छे प्रश्न—उनके गुण–431, प्रश्नों के प्रकार –432, प्रश्न किस प्रकार पूँछे जायँ–433, व्याख्या एवं उसके सिद्धान्त–434, दृष्टान्त, उदाहरण आदि–435, दृश्य-श्रव्य उपकरण –435, सारांश–435

सहायक ग्रन्थ-सूची 437-440

१
शिक्षा और मानव-जीवन

मानव-जीवन को सुन्दर बनाने के लिए क्या आवश्यक है और किन-किन उपकरणों की व साधनों की आवश्यकता है—इस विषय पर ध्यान देते ही हम शिक्षा, उसका आधार, उसका क्षेत्र, उसका ध्येय, उसकी प्रक्रिया, उसके साधन आदि की ओर आकृष्ट होते हैं। जीवन को सुन्दर व सौम्य बनाने की प्रवृत्ति नैसर्गिक है। प्रत्येक व्यक्ति की यह आन्तरिक प्रेरणा होती है कि उसका जीवन सुख-मय हो और अपने जीवन में वह अधिक से अधिक शारीरिक, मानसिक व आत्मिक सुख प्राप्त कर सके। यह सम्भव है कि इस प्रकार के सुख की वह कल्पना न कर सके अथवा उसमें उसे प्राप्त करने के साधनों की चेतनता जागृत न हुई हो परन्तु यह निस्सन्देह सत्य है कि सुख प्राप्ति की अभिलाषा प्राकृतिक है और यदि व्यक्ति की मानसिक व आत्मिक शक्तियों का विकास नहीं हो पाया है तो भी शारीरिक सुख की अनुभूति व कल्पना वह कर ही सकता है और उसी में अपने जीवन के लक्ष्य की पूर्ति समझता है। उस सुख की प्राप्ति के लिए वह विभिन्न प्रकार के यत्न करता है तथा स्वयं वह क्षमता एवं सामर्थ्य प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जिसके द्वारा वह अपने जीवन को सुन्दर बना सके। यदि हम यहीं ठहर कर थोड़ा विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव के इन सारे प्रयत्नों को हम शिक्षा कह सकते हैं और जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह यह प्रयत्न करता है उसे उसके जीवन का लक्ष्य मान कर शिक्षा को उसका साधन कह सकते हैं। हम यहाँ शिक्षा की परिभाषा व उसके उद्देश्य आदि पर विचार नहीं कर रहे हैं परन्तु इस बात की ओर अभी संकेत कर रहे हैं कि मानव-जीवन की सुन्दरता व लक्ष्य-पूर्ति में जिन उपकरणों एवं साधनों की आवश्यकता है उनमें शिक्षा प्रमुख है। वास्तव में शिक्षा जीवन के लिए आवश्यक है। वह केवल सहायक ही नहीं है। उसकी परिभाषाओं व क्षेत्र आदि के सम्बन्ध में कितने ही विभिन्न दृष्टिकोण भले ही हों, परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि शिक्षा बिना जीवन सम्भव नहीं है। मानव जगत् को छोड़कर यदि हम समस्त प्राणियों के व्यवहार व उनके जीवन को देखें तो प्रतीत होता है कि अपने भौतिक वातावरण की परिस्थितियों में अपनी जीवन-धारा को प्रवाहित रखने के लिए वे भी कितने प्रकार के प्रयत्न करते हैं। मानव का वातावरण केवल भौतिक सीमा तक ही

संकुचित नहीं है बल्कि उसका मानसिक, आत्मिक व सामाजिक वातावरण भी है। अतः इन विभिन्न प्रकार के वातावरणों में किस प्रकार वह अपना विकास कर सकता है और साथ ही साथ उन वातावरणों को भी अधिक समृद्ध बना सकता है, यह शिक्षा के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा मानव को शिक्षा की अधिक आवश्यकता है क्योंकि एक तो उसका वातावरण बहुत विस्तृत है और दूसरे उसका शैशव-काल व वयस्कावस्था का समय इतना दीर्घ है कि जीवन की विभिन्न क्रियाओं में भाग लेने की सामर्थ्य-प्राप्ति के लिए उसे दीर्घकालीन शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है।

मानव-जीवन का लक्ष्य

मानव-जीवन का क्या उद्देश्य है ?—इस प्रश्न का उत्तर आसानी से नहीं दिया जा सकता क्योंकि इस प्रश्न के उत्तर में मानव चिरकाल से सोचता आया है और इसके ऊपर उसकी विचार-धारा दर्शन के रूप में सम्बद्ध हुई है। जीवन का रहस्य किसी ने नहीं खोज पाया है यद्यपि इस बात पर किसी का स्पष्ट विरोध नहीं कि जीवन का कोई न कोई विशिष्ट अभिप्राय है। जीवन के भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की व्याख्या के आधार पर भिन्न-भिन्न दर्शनों की व्याख्या हुई और दार्शनिकों ने अपने-अपने पक्ष को लेकर दर्शन-साहित्य के भंडार को खूब बढ़ाया। हमारा अभिप्राय यहाँ पर जीवन-दर्शन की समीक्षा करना नहीं है परन्तु हम यहाँ इस विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना चाहते हैं कि सम्पूर्ण सृष्टि में मानव-जीवन का कोई न कोई विशेष प्रयोजन है। यों तो सृष्टि के विस्तृत रूप को देखकर हम प्रत्येक प्राणी के जीवन-रहस्य की ओर आकर्षित होते हैं परन्तु मानव-जीवन की विशेषता यह है कि मानव में अपने व अन्य प्राणियों के जीवन को समझने की क्षमता है। मानव को अन्य प्राणियों की अपेक्षा कुछ विशिष्ट शक्तियाँ प्राप्त हैं जिनके द्वारा वह स्वयं को व अन्य प्राणियों को समझ सकता है। इन शक्तियों के आधार पर हमने यह स्वीकार किया है कि मानव-जीवन का विशिष्ट प्रयोजन है। वह क्या है ?—इस प्रश्न का उत्तर देना दर्शन का क्षेत्र है। हमारे विचारों की शृंखला से जो बात यहाँ उपयुक्त है वह यह है कि मानव की मानव होने के नाते क्या विशेषता है और उस विशेषता को स्वरूप देने तथा उसकी प्राप्ति के लिए शिक्षा की क्या आवश्यकता है और उसका क्या महत्व है।

प्राचीन काल से ही विद्वानों की यह सम्मति रही है कि मानव बहुत कुछ अंश तक अन्य जीवधारियों के समान है। हमारे संस्कृत साहित्य में भी "आहार निद्राभय-मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्" व अन्य उक्तियाँ इस बात की पुष्टि करतीं हैं कि मानव भी एक जीवधारी होने के नाते अन्य जीवधारियों से भिन्न नहीं परन्तु मानव होने के नाते उनसे भिन्न है। ऊपर उद्धृत श्लोक की द्वितीय पंक्ति में कहा गया है कि

"धर्मोहितेषामधिको विशेषः धर्मेण हीनः पशुभिः समानः"

इस उद्धरण पर थोड़ा विचार करने पर हम धर्म की व्याख्या की ओर आकर्षित होते हैं। पशु और मानव में धर्म ही विभिन्नता का परिचायक है। यदि मानव धर्म से विहीन है तो वह भी पशु के समान है।

धर्म की व्याख्या में हम मानव के उन सब व्यवहारों को सम्मिलित करते हैं जो उसके और परमात्मा के सम्बन्धों के ही सूचक नहीं हैं अपितु उसके व अन्य जीवधारियों के सम्बन्धों के सूचक हैं। महर्षियों ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है : 'यतोऽभ्युदय निश्रेयससिद्धः स धर्मः' (जिससे इस लोक में तथा परलोक में कल्याण की प्राप्ति हो वही धर्म है) उसके अंग हैं :

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

अर्थात् धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य व अक्रोध—ये धर्म के दस लक्षण हैं। यह स्पष्ट है कि हमारे प्राचीन साहित्य में धर्म शब्द का बहुत व्यापक अर्थ लिया गया है और उसमें मानव के मानव होने के नाते उसके समस्त मानवीय व्यवहारों व गुणों को स्वीकार किया गया है जिनका वह अपने तथा अन्य मनुष्यों के ही नहीं वरन् अन्य जीवधारियों के साथ व्यवहार में आचरण करता है। जब हम मानव-धर्म की बात करते हैं तो हम स्पष्ट रूप में मानव के व्यवहार व आचरण से तात्पर्य रखते हैं। वास्तविक धर्म मानव के व्यवहार, आचरण, कर्तव्य व चिन्तन, सबसे सम्बन्ध रखता है। हमारा चिन्तन, हमारी भावनाएँ व हमारा आचरण तथा उनका समन्वय जिस सीमा तक पहुँच गया है उसी सीमा तक मानव-धर्म के स्तर को हमने प्राप्त कर लिया है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी मानव को एक जीवधारी ही स्वीकार किया गया है जो एक प्रकार का पशु है। परन्तु वह अन्य पशुओं से भिन्न है क्योंकि वह विकास की एक ऊँची सीमा को प्राप्त कर चुका है। उस सीमा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मानव बुद्धि का प्रयोग करके चिन्तन, और तर्क कर सकता है; वह सत्य व असत्य का भेद कर सकता है; वह स्वयं को व अन्य प्राणियों को समझ सकता है व उनके व्यवहार का अध्ययन कर सकता है.....आदि। बुद्धि के आधार पर मानव अपने व्यवहार व धर्म को समझता है और अन्य प्राणियों के साथ अपने सम्बन्ध निश्चित करता है। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि बुद्धि केवल मानव का ही विशेषाधिकार है और अन्य जीवधारी बुद्धिहीन होते हैं। सामान्य व्यवहार व अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि अनेक पशु ऐसे हैं जिनमें पर्याप्त बुद्धि होती है और वे उसका प्रयोग करते हैं। यह एक बात है कि केवल मानव को ही बुद्धि प्रदत्त की गई है और यह दूसरी कि मानव को अन्य पशुओं की अपेक्षा अधिक बुद्धि प्राप्त है जिसका वह अधिक प्रयोग करता है। लेकिन बुद्धि के आधार पर हम मानव व अन्य प्राणियों में भेद नहीं कर सकते और यह नहीं कह सकते कि मानव के

पास बुद्धि है इसलिए वह अन्य जीवधारियों से भिन्न है क्योंकि स्तर की भिन्नता होते हुए भी अनेक पशुओं में बुद्धि है और वे उसका प्रयोग भी करते हैं।

हाँ, हम यह अवश्य कह सकते हैं कि मानव में अपने भावों, विचारों व आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। वह संकेतों व शब्दों के प्रयोग द्वारा अपने विचारों को अभिव्यक्त कर सकता है और दूसरों के विचारों, भावों आदि को समझ सकता है। पशुओं को यह क्षमता प्राप्त नहीं हैं यद्यपि दीर्घकालीन शिक्षा देने पर कुछ पक्षी किसी सीमा तक मानव की बोली का अनुकरण करने लगते हैं। लेकिन शब्दों व संकेतों के द्वारा विचारों व भावों आदि को केवल अभिव्यक्त करने की ही क्षमता मानव को अन्य पशुओं की अपेक्षा विशेषता प्रदान नहीं करती यद्यपि यह निर्विवाद रूप में सत्य है कि इस शक्ति के द्वारा मानव जितना अपनी बुद्धि का प्रयोग कर सकता है उतना अन्य पशु नहीं कर सकते। वाणी के द्वारा ही विचारों का आदान-प्रदान, अनुभवों व चिन्तन क्रियाओं की वृद्धि, तर्क, सत्यासत्य का भेद व अन्य मानसिक व आत्मिक क्रियाओं का व्यवहार रूप सम्भव हो सकता है। हमारा कहने का तात्पर्य यह है कि संकेतों व शब्दों को प्रयोग करने की क्षमता तथा उनके द्वारा अपनी मानसिक व आत्मिक शक्तियों का सदुपयोग मानव की विशेषता है परन्तु वह मानवीय धर्म की प्राप्ति का साधन नहीं है। वह मानव-धर्म नहीं है जिसके आधार पर मानव मानव कहलाने का अधिकारी है। ये शक्तियाँ उसके जीवन के उद्देश्य की पूर्ति में साधक हैं, ये स्वयं ही उद्देश्य नहीं है।

इस प्रकार तर्क-वितर्क के आधार पर हम बहुत-सी ऐसी बातों को अलग कर सकते हैं जिनको हम मानव की विशेषता समझ बैठे हैं और जो वास्तव में न उस रूप में हैं और न उस उद्देश्य की पूर्ति ही करती हैं जिसको लेकर हमने अपने विचारों की शृंखला को बनाया। हमारा उद्देश्य यह है कि हम यह सोचें कि मानव-जीवन का क्या उद्देश्य है और उस उद्देश्य की पूर्ति में शिक्षा का क्या महत्व है। मानव-जीवन के उद्देश्य की ऊपर विस्तृत व्याख्या करने का कार्य हमने दर्शन का क्षेत्र ठहराया और हम यह लेकर चलें कि जीवन का जो भी उद्देश्य हो यदि मानव अपने धर्म का पालन करता है तो वह उस उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है। मानव-धर्म क्या है, इसके ऊपर भी हमने विचार किया और यह स्वीकार किया कि अपने धर्म का पालन करने पर ही मानव, मानव कहलाने का अधिकार रखता है और अपने जीवन के लक्ष्य की पूर्ति कर सकता है। जब तक मानव मानव-धर्म का पालन नहीं करता तब तक वह मानव-जीवन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता, चाहे किसी अन्य जीवन के उद्देश्य की पूर्ति भले ही करले। अपने विशिष्ट जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि प्राणी अपने जीवन के धर्म का आचरण करे चाहे वह किसी भी रूप में हो। सृष्टि में असंख्य प्राणी-वर्ग हैं और असंख्य ही उद्देश्य हैं। एक प्राणी-वर्ग दूसरे प्राणी-वर्ग के जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता। अपने-अपने जीवन की उद्देश्य-

प्राप्ति अपनी-अपनी शारीरिक, व मानसिक शक्तियों के ऊपर ही निर्भर नहीं है बल्कि उस जीवन की समस्त विशेषताओं की प्राप्ति के ऊपर भी निर्भर है। मानव अपने जीवन के उद्देश्यों की पूर्ण प्राप्ति नहीं कर सकता यदि अन्य शारीरिक व मानसिक शक्तियाँ होते हुए भी वह किसी क्षेत्र में अपूर्ण है—वधिर है, अथवा नेत्र विहीन है अथवा अन्य किसी प्रकार से लाचार है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव को अपने जीवन की उद्देश्य-पूर्ति में उसकी शक्तियाँ साधक-रूप में प्राप्त हैं जिस प्रकार अन्य प्राणियों को प्राप्त हैं। इस कथन के आधार पर हम यह भी कहते हैं कि जिस प्रकार अपने जीवन की उद्देश्य-पूर्ति के लिए मानव को शक्तियाँ प्राप्त हैं उसी प्रकार अन्य जीवधारियों को भी प्राप्त हैं, तो फिर मानव की विशेषता क्या रही ?

इस तर्क को अधिक समय देने की अपेक्षा हम सूक्ष्म रूप में कुछ विचार प्रस्तुत कर समाप्त कर देना चाहते हैं। हमने ऊपर कहा है कि धर्म ही मानव की विशेषता है और उसका आचरण ही उसे अन्य प्राणियों से भिन्न करता है। धर्म की व्याख्या में जिन गुणों का उल्लेख किया गया है वे सब मानवीय गुण हैं, अन्य प्राणियों में वे गुण नहीं होते। यदि उनको एक श्रेणी में बाँधकर उस श्रेणी को नाम दिया जाय तो हम उन्हें नैतिक गुण कह सकते हैं। मानव में ही यह क्षमता है कि अपनी बुद्धि के द्वारा वह विरोधी गुणों में भेद कर सद्गुण को ग्रहण कर दुर्गुण का त्याग कर सकता है। यदि वह यह नहीं करता तो वह मानव-धर्म को नहीं अपनाता। आहार, निद्रा, आवरण, गृह आदि उसकी भौतिक आवश्यकताएँ हैं, जैसे कि वे अन्य प्राणियों की हैं परन्तु मानव उन आवश्यकताओं की पूर्ति करके ही मानव नहीं बन जाता। जीवन-यापन के लिए उनकी पूर्ति की आवश्यकता है परन्तु मनुष्य को अपना जीवन पशु-रूप में बिताना नहीं हैं बल्कि मानव-रूप में बिताना है और उसके लिए यह आवश्यक है कि वह उस रूप के धर्म को समझे और उसको व्यवहार में लावे।

शिक्षा और मानव-धर्म

मानव को अपने धर्म का पालन करने की क्षमता प्रदान करना शिक्षा का उद्देश्य है। हम आगे चलकर विस्तार में शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार करेंगे। यहाँ पर इतना संकेत देना पर्याप्त है कि शिक्षा के द्वारा ही मानव की नैसर्गिक शक्तियों का विकास होता है और वे उस रूप में प्रस्फुटित होती हैं जिस रूप में वह स्वयं को अपना धर्म पालन करने में समर्थ पाता है। शिक्षा के द्वारा ही वह पशु-स्तर से ऊँचा उठकर मानव-स्तर को प्राप्त करता है और यदि उसकी शिक्षा उसको उस स्तर पर न ला सकी तो वह व्यर्थ रही और मानव पशु-तुल्य ही रहा। अतः शिक्षा एक साधन है जिसके द्वारा मानव अपने जीवन के लक्ष्य को अपने धर्म का पालन करता हुआ प्राप्त करता है। शिक्षा के बिना मानव मानवीय-जीवन व्यतीत

नहीं कर सकता, पशु-जीवन तो वह व्यतीत कर सकता है—वह जीवन जिसको वह अपनी भौतिक व शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता हुआ व्यतीत करता है। लेकिन मानव की इन आवश्यकताओं के अतिरिक्त और भी आवश्यकताएँ हैं। उदर-पूर्ति की क्षमता केवल एक आवश्यकता है, वह अकेली ही आवश्यकता नहीं है। यथार्थ में मानव की वास्तविक आवश्यकताएँ उसकी आत्मिक क्षुधाएँ हैं जो उसे जीवन-यापन के लिए नहीं बल्कि अपने व अन्य प्राणियों के जीवन को समझने व उसे सौम्य बनाने के लिए प्रेरित करती हैं, और इन क्षुधाओं को तृप्त करने की क्षमता उसे शिक्षा द्वारा ही प्राप्त होती है।[1] शिक्षा इस दृष्टि से मानव-जीवन की आवश्यकता हो जाती है।

इस दृष्टिकोण में आदर्शवाद की झलक स्पष्ट प्रतीत होती है परन्तु यदि इस पर गंभीर विचार किया जाय तो जीवन-दर्शन की अन्य विचार-धाराओं में और इस विचारधारा में कोई स्पष्ट विरोध नहीं है। यद्यपि आधुनिक विचार-धारा वैज्ञानिक मनोवृत्ति से रंगित है परन्तु वैज्ञानिक मनोवृत्ति भी इस बात का खंडन नहीं करती कि मानव की अपनी शारीरिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त अन्य आवश्यकताएँ हैं और उनकी पूर्ति के लिए उसे बाहर नहीं बल्कि अपने अन्दर से प्रेरणा प्राप्त होती है। यद्यपि चार्ल्स डार्विन के विकास के सिद्धान्त (Theory of Evolution) के आधार पर बहुत-से लोग हमारी समस्त आकांक्षाओं, क्षुधाओं व प्रेरणाओं को हमारी जीवित रहने की प्रवृत्ति के साथ जोड़ते हैं और उसी को उनका कारण बतलाते हैं, परन्तु इस प्रकार की विचार-धारा संतुलित विचार-धारा के स्वरूप में स्वीकृत नहीं की जा सकती। हम दुनियाँ में जितने कर्म करते हैं उनका आधार केवल जीवित रहने की इच्छा ही नहीं है और यदि हम अपने कार्यों, व्यवहारों व आचरणों की समीक्षा करें तो हमें इस कथन की पुष्टि का आधार भी मिल जावेगा। जीवित रहने की प्रवृत्ति सब प्राणियों की है और मनुष्य भी इस सम्बन्ध में उस श्रेणी से बाहर नहीं है परन्तु मनुष्य होने के नाते उसमें और भी प्रवृत्तियाँ हैं जो उसे जीवित

---

1 "The unfulfilled ends of his being are the increasing knowledge of the truth, increasing wisdom in the application of his knowledge to the problems of living, increasing enjoyment of persons and things worthy of love and appreciation, increasing realisation of a proper organisation of mankind on the earth, increasing fulfilment of an unconditional obligation to know and to do the right, the increasing reverence for the spiritual realities of existence." [*Horne H. H*: An Idealistic Philosophy of Education, The Forty-first Year-book of the National Society for the Study of Education, (U. S. A.) p. 156].

रहने के लिए ही नहीं बल्कि मानव के रूप में जीवित रहने के लिए प्रेरित करती हैं।[1]

शिक्षा और मानव-जीवन की आधारभूत आवश्यकताएँ

मानव-जीवन की व्यापक रूप में दो प्रकार की आवश्यकताएँ हैं : प्रथम, उसकी एक व्यक्ति होने के नाते, और द्वितीय, उसके सामाजिक प्राणी होने के नाते। हमें इस बात पर विशेष ध्यान देना होगा कि मानव एक सामाजिक प्राणी है और उसकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अतिरिक्त सामाजिक आवश्यकताएँ भी हैं जिनकी पूर्ति के बिना वह जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता। व्यक्तिगत आवश्यकताएँ उसके शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास से सम्बन्ध रखती हैं और सामाजिक आवश्यकताएँ उसको समाज का एक योग्य सदस्य बनने से सम्बन्ध रखती हैं जिनकी पूर्ति कर वह अपने विकास के साथ-साथ सामाजिक विकास में भी अपना योग दे सकता है। मानव का व्यक्तिगत विकास सामाजिक वातावरण में ही सम्भव हो सकता है। अतः अपने विकास के साथ-साथ उसे सामाजिक विकास में योग देने की क्षमता प्रदान करना शिक्षा का कार्य है। हम आगे चलकर इस विषय पर अधिक विचार करेंगे कि व्यक्ति और समाज में क्या सम्बन्ध है और किस प्रकार अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए वे एक दूसरे के विकास में सहयोग दे सकते हैं। यहाँ हम इस विचार पर बल देना चाहते हैं कि मानव की आवश्यकताओं में उसकी व्यक्तिगत व समाजगत दोनों प्रकार की आवश्यकताएँ सम्मिलित हैं। वास्तव में जैसा कि मार्क्सवादी दर्शन की व्याख्या में निहित है मानव स्वयं बिना किसी के आधार व सहयोग के नहीं रह सकता। वह सन्यासी नहीं है जिसने संसार का परित्याग कर दिया है और जो स्वयं अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को उपलब्ध साधनों से पूरी करता हुआ जीवन बिताता है। यथार्थ में बात यह है कि मानव को अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक हो जाता है। मानव पूर्ण रूप में सामाजिक प्राणी है और वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की ही नहीं, बल्कि अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी समाज पर ही निर्भर है और उसी में रह कर वह उनकी पूर्ति करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज द्वारा स्वीकृत ढंग से ही वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और अपना विकास करता हुआ सामाजिक विकास में योग देता है। उसकी यह

---

1 We do not live only in order to survive and do not educate only in order to further survival; the essence of man lies in his desire for his life, not only as a mere biological datum, but as something which is worth having and which provides a reality that he can love for its inherent values." (*Robert R. Ulich* : Fundamentals of Democratic Education, (1940) p. 6].

प्रवृत्ति उसे सामाजिक प्राणी बनाती है और इस बात की सूचक है कि वह अपने ही नहीं बल्कि समाज के अन्य सदस्यों के विकास में अभिरुचि रखता है तथा भावी समाज को दृढ़ बनाने के लिये प्रयत्न करता है।[1] अतः शिक्षा व मानव की आधारभूत आवश्यकताओं पर विचार करते समय हमें एक रूपरेखा के रूप में यह देख लेना है कि मानव की इन दो प्रकार की आवश्यकताओं की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं जिनकी पूर्ति के लिए हमें शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है।

व्यक्तिगत दृष्टिकोण से मानव की तीन प्रकार की आवश्यकताएँ हैं : शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक—अर्थात् वे आवश्यकताएँ जिनके द्वारा उसके शरीर, मस्तिष्क और आत्मा का विकास सम्भव हो पाता है। सामाजिक दृष्टिकोण से उसकी वे आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति होने पर उसमें वह क्षमता आ जाती है जो उसे सामाजिक व्यवहार की कुशलता प्रदान कर मानव-समुदाय का एक सदस्य होने के नाते अपने कर्तव्यों का पालन करने की सामर्थ्य प्रदान करती हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने मानव की समस्त क्रियाओं को पाँच वर्गों में विभाजित किया है। वे निम्नलिखित हैं :—

(1) वे क्रियाएँ जो प्रत्यक्ष रूप में मानव को जीवित रहने की क्षमता देती हैं,

(2) वे क्रियाएँ जो जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर अप्रत्यक्ष रूप में उसे वह क्षमता प्रदान करती हैं,

(3) वे क्रियाएँ जिनका सम्बन्ध सन्तान के पालन-पोषण व शिक्षा से है,

(4) वे क्रियाएँ जिनके द्वारा वह अपने सामाजिक एवं राजनीतिक सम्बन्ध स्थिर रख सकता है,

(5) वे क्रियाएँ जिनके द्वारा वह अपनी अभिरुचियों और भावनाओं को तृप्त करता है तथा अपने अवकाश के समय का उपभोग करता है।

---

1 "....man never exists in himself, he never lives as a true hermit. "Man" is the wrong word; we should speak of "men" and we should ground our every speculation about men on the concrete behaviour and relations of men as we find them. The most conspicuous feature of men and women is that they must be discussed in the plural; they are social by nature. The science of man will be the science of society." [*Cohen, Robert S*: On the Marxist Philosophy of Education, The Fifty-fourth Year-book of the National Society for the Study of Education, U. S. A., Modern Philosophies and Education, pp. 176-178].

इस वर्गीकरण के आधार पर हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सार्थकता को स्पष्ट कर, शिक्षा के उद्देश्यों व प्रक्रियाओं की विशद व्याख्या कर शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति को बहुत बल प्रदान किया। हम हर्बर्ट स्पेन्सर के पूर्ण तर्क से सहमत हों या न हों परन्तु इतना स्पष्ट है कि उसका वर्गीकरण किसी भी वर्गीकरण से क्रियाओं के क्षेत्र में भिन्न नहीं है। इस सम्बन्ध में दार्शनिकों के पारस्परिक मतभेद इस बात पर नहीं हैं कि मानव को क्या करना है और क्या नहीं करना है, उसकी क्या आवश्यकताएँ हैं व उसकी पूर्ति के लिए उसे अपना किस प्रकार का व्यवहार करना है। दार्शनिक मतभेद क्रियाओं के मूल्यों पर हैं। वे इस आधार पर हैं कि कौन-सी क्रिया किस क्रिया का आधार है। इन दार्शनिक मतभेदों पर हम आगे चलकर एक अलग अध्याय में विचार करेंगे और यह स्पष्ट करेंगे कि किस आधार में विभिन्न दर्शनों में सहमति है और किस आधार पर विरोध। हमारा अभिप्राय यहाँ पर मानव-जीवन की आवश्यकताओं की विवेचना करना है और उसके सम्बन्ध में हमने वैज्ञानिक विचारधारा के एक प्रमुख प्रवर्तक के मत के आधार पर मानव की समस्त क्रियाओं का वर्गीकरण किया जो वह अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करता है तथा जो उसकी आवश्यकताओं की सूचक हैं। यदि हम किसी विशेष व्यक्ति, दार्शनिक व शिक्षा-शास्त्री के विचारों को न लेकर भी चलें और साधारण बुद्धि द्वारा इस विषय पर विचार करें तो हम यह सहज में समझ सकते हैं कि हमें जीवित रहना है तथा हमें सबके साथ रहना है। साथ ही साथ यह स्पष्ट है कि हमें सुन्दर ढंग से जीवित रहना है और दूसरों के जीवन को सुन्दर बनाना है। साधारण बोलचाल के इन चार सूत्रों में मानव-जीवन की समूची सार्थकता का रहस्य छिपा हुआ है। जब हम मानव-जीवन की आवश्यकताओं की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय यही होता है कि किन आवश्यकताओं की पूर्ति होने पर मानव-जीवन सार्थक हो सकता है। हमें अब संक्षेप में यह देखना है कि किस प्रकार शिक्षा द्वारा इन आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

(अ) मानव की समस्त क्रियाओं के पीछे प्रमुख लक्ष्य उसकी स्वयं जीवित रहने की प्रवृत्ति है जिसके बिना अन्य क्रियाएँ सम्भव ही नहीं हैं। अपने शरीर को दृढ़ व पुष्ट बनाना, अपने विभिन्न अवयवों का प्रयोग करना, स्वयं को स्वस्थ रखना और अपनी समस्त शारीरिक शक्तियों का उपयोग सीखना—ये सब उसकी स्वयं जीवित रहने की प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखती हैं। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मानव इस प्रवृत्ति से प्रेरित होता रहता है। बाल्यकाल व किशोरावस्था में इतना नहीं जितना प्रौढ़ होने पर तथा वृद्धावस्था में उसका जीवन के प्रति मोह बढ़ता जाता है और वह अधिकाधिक प्रयत्न इसके लिए करता है कि वह जीवित रहे। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा उसे अपने शरीर को दृढ़ बनाने तथा अपने अवयवों का प्रयोग करने की क्षमता देती है, धीरे-धीरे उसको अपनी बौद्धिक शक्तियों का प्रयोग करने की आवश्यकता

अनुभव होती है और शिक्षा द्वारा वह उनका प्रयोग सीखता है। इस प्रकार अपनी शारीरिक व मानसिक शक्तियों का प्रयोग कर वह अपनी जीवित रहने की प्रवृत्ति को तृप्त करता है।

(ब) स्वयं जीवित रहकर ही उसकी कार्य-सिद्धि नहीं होती क्योंकि उसको स्वयं जीवित रहने के लिए जिस शिक्षा की आवश्यकता है वह अन्दर से नहीं निकलती बल्कि मानव के अपने वातावरण के साथ सम्पर्क में आने पर दोनों ओर से उत्पन्न क्रियाओं व प्रतिक्रियाओं का परिणाम होती है। मानव के वातावरण मे केवल भौतिक वातावरण ही नहीं आता बल्कि उसका सामाजिक वातावरण भी सम्मिलित है। यथार्थ में मानव को जो शिक्षा मिलती है वह उसके अपने सामाजिक वातावरण के माध्यम से ही प्राप्त होती है यद्यपि प्राकृतिक वातावरण अपने भौतिक रूप में उसे शिक्षा प्रदान करता है। तात्पर्य यह है कि सामाजिक वातावरण मानव की शिक्षा का प्रमुख क्षेत्र है और उसी वातावरण के सम्पर्क में आकर उसकी उस वातावरण के प्रति और उस वातावरण की उसके प्रति जो क्रियाएँ व प्रतिक्रियाएँ होती हैं वही उसकी शिक्षा का रूप होती हैं। चूँकि मानव मृत्यु पर्यन्त उस वातावरण में रहता है अतः यह कहा जा सकता है कि शिक्षा जीवन पर्यन्त चलती है।[1] साथ ही साथ यह भी स्पष्ट है कि अपने जीवित रहने के प्रयत्न के साथ-साथ मानव को अपने वातावरण को भी जीवित रहने के लिए क्षमता प्रदान करनी है। यदि मनुष्य समाज द्वारा जीवित रहने की सामर्थ्य प्राप्त करता है तो मनुष्य को भी समाज को अपनी शक्ति के अनुसार जीवित रहने की क्षमता प्रदान करनी है। शिक्षा केवल मानव के लिए ही आवश्यक नहीं बल्कि समाज के लिए भी आवश्यक है। वास्तव में शिक्षा समाज का भोजन है। समाज का मनुष्य की तरह भौतिक शरीर नहीं है। वह तो एक अदृश्य संज्ञा है जो मनुष्य के सामूहिक विचारों, आदर्शों, आशाओं, उद्देश्यों, संस्कृतियों आदि की सम्बद्धता की परिचायक है और उनकी गति व उनको सजीव रखने का कार्य शिक्षा का है। अतः शिक्षा समाज के जीवित रहने के लिए बहुत आवश्यक है।[2]

(स) तीसरी बात जिसकी ओर हमें मानव-जीवन की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में संकेत करना है वह यह है कि जीवित रहने के साथ-साथ मानव को यह भी

---

1 'If we take education in this large sense, all life is education and nothing is exempt from it. It is the constant interaction among people and between people and the objective world."
[*Robert R. Ulich* : Op. Cit. p. 10]

2 "What nutrition and reproduction are to physiological life, education is to social life." [*Dewey, John* : Democracy and Education, (1916) p. 11.]

देखना है कि वह सुन्दर ढंग से जीवन बिताए। सुन्दर जीवन (Good life) क्या है इसके सम्बन्ध में हम यहाँ विशद व्याख्या की उपयोगिता नहीं समझते क्योंकि दार्शनिकों के विचारों द्वारा सुन्दर जीवन की कई प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। परन्तु सबका मूल तत्व यही है कि सुन्दर जीवन वह है जिसमें व्यक्ति अपने शारीरिक व अन्य सुखों को अपने प्रयत्नों द्वारा प्राप्त करता हुआ अपने सुखों के लिए दूसरे के सुखों का बलिदान न करता है और न करने की सोचता है बल्कि इसके विपरीत उनको भी सुखी बनाने का प्रयत्न करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति में मानव की शिक्षा ही उसे क्षमता प्रदान करती है। शिक्षा मानव-जाति का उन कलाओं, कौशलों, क्षमताओं व गुणों को प्राप्त करने का साधन है जिनके द्वारा वह अपने स्वार्थ व अहंभाव तथा अन्य दुष्प्रवृत्तियों का दमन कर, अपनी आसुरी वृत्ति को शान्त कर मानवीय वृत्ति को पनप कर दृढ़ होने का अवसर देता है जिससे उसका जीवन सुन्दर होता है और वह दूसरों के जीवन को सुन्दर बनाता है। शिक्षा के क्षेत्र, उद्देश्य व महत्त्व पर विचार करते समय हम इस विषय पर और विचार करेंगे।

(द) चौथी बात जो मानव की आवश्यकताओं के क्षेत्र में आती है वह है उसकी अपने जीवन को सुन्दर बनाते हुए दूसरों के जीवन को सुन्दर बनाने की मनोवृत्ति। हम ऊपर कह आये हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज के बिना उसका जीवन सम्भव नहीं है। अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिए उसके लिए यह आवश्यक है कि वह सामाजिक जीवन को सुन्दर बनाने में योग दे। अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रयत्नशील होने की तथा समाज-हित की भावना मानव को नैसर्गिक रूप में प्राप्त है। शिक्षा का कार्य यह है कि वह उसको विकसित होने की परिस्थितियाँ मानव को दे। बिना शिक्षा के जिस प्रकार व्यक्ति का सर्वाङ्गीण विकास नहीं होता उसी प्रकार उसकी सामाजिक भावना का भी विकास नहीं हो पाता।

हम मानव-जीवन की आवश्यकताओं की गणना करने बैठें तो शायद उनका अन्त न मिल सकेगा परन्तु उनका वर्गीकरण करने पर हम उनको उन चार वर्गों में से किसी न किसी में स्थान अवश्य दे सकेंगे। शिक्षा-दर्शन की किसी भी विचार-धारा के दृष्टिकोण से हम देखें तो हमें मानव की ये आवश्यकताएँ उसके जीवन का आधार प्रतीत होती हैं जिनकी पूर्ति के बिना मानव-जीवन सम्भव नहीं। शिक्षा मानव को इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए क्षमता व योग्यता प्राप्त करने की सामर्थ्य देती है और साथ ही साथ जीवन पर्यन्त विभिन्न परिस्थितियों व उसके अनुभव की वृद्धि करती हुई अपने क्रम को जारी रखती है।

मानव-समाज की आवश्यकताएँ और शिक्षा

मानव-जीवन की आवश्यकताओं पर विचार करते समय हमें निरन्तर ध्यान में रखना है कि वे आवश्यकताएँ सामाजिक वातावरण में ही पूरी होती हैं और

उनकी पूर्ति के लिए मानव को समाज के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है। परन्तु समाज की भी स्वयं को जीवित रहने के लिए अनेक आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति के लिए समाज व्यक्तियों के ऊपर निर्भर रहता है। अतः मानव-जीवन की और समाज की आवश्यकताएँ, अपनी पूर्ति के लिए एक दूसरे के ऊपर आश्रित हैं तथा एक दूसरे से बँधी हुई भी हैं। हमारे लिए यहाँ यह उपयुक्त होगा कि हम थोड़ा विचार समाज की आवश्यकताओं पर भी करें और शिक्षा उनकी पूर्ति में किस प्रकार साधक है, इस पर ध्यान दें।

चेतन जगत् में जीवित रहने की प्रवृत्ति नैसर्गिक है। प्रत्येक जीव तथा प्रत्येक वृक्ष, पौधे आदि में यह प्रवृत्ति स्पष्ट प्रतीत होती है, अन्तर केवल चेतना के आधार पर है। वृक्ष, पौधे चेतना-शून्य हैं परन्तु जीवित रहने की प्रवृत्ति उनमें कार्य करती रहती है। जीवधारी चेतना-युक्त हैं और वे किसी न किसी अंश तक उस प्रवृत्ति का अनुभव करते हैं और जीवित रहने के लिए प्रयत्न करते हैं। इन प्रयत्नों में वे अपने वातावरण के साथ सम्पर्क में आते हैं और अपने जीवित रहने का साधन उसी में पाते हैं। बहुत-से प्राणी अपने वातावरण के साथ अपना समन्वय स्थापित करते हैं और इस प्रकार जीवित रहते हैं। ऊँची श्रेणी के प्राणियों में हम यह देखते हैं कि वे अपनी बुद्धि के आधार पर वातावरण में भी परिवर्तन करते हैं और इस प्रकार अपना जीवन सम्भव करते हैं। चिड़ियाँ घोंसले बनाकर रहती हैं, अनेक जानवर कन्दरा व खोहें बनाते हैं और अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अपने जीवन को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं। अपने वातावरण को परिवर्तित कर अपने सर्वाङ्गीण विकास को सम्भव बनाना तथा सुन्दर ढंग से रहने की शक्ति सबसे अधिक मात्रा में मानव को ही प्राप्त है। दूसरी बात जिसमें वातावरण के आधार पर उसकी अन्य जीवधारियों से विभिन्नता है वह यह है कि मानव का वातावरण भौतिक वातावरण ही नहीं जो अन्य जीवधारियों का है, उसका आत्मिक वातावरण भी है और इस आत्मिक वातावरण को श्रेष्ठ बनाकर वह वास्तव में मानवीय जीवन व्यतीत करने का अधिकारी है। यह आत्मिक वातावरण उस वातावरण का सूचक है जिसके माध्यम से मानव की बौद्धिक व आत्मिक शक्तियों का विकास सम्भव है, जिसके सम्पर्क में आकर वह पशु-स्तर को त्यागकर मानव-स्तर पर आता है। यह वातावरण भौतिक वातावरण की तरह दृश्य-रूप में ही स्थिति नहीं है बल्कि अदृश्य-रूप में भी है-यद्यपि साहित्य, कला, विज्ञान आदि के रूप में मानव ने उसे दृश्य-रूप देने की चेष्टा की है। यह वातावरण मानव की आशाओं, उद्देश्यों, उसके विश्वासों, उसकी अनुभूतियों, आचरणों, परिपाटियों, व्यवसायों तथा संस्थाओं द्वारा जीवित रहता है और जिस प्रकार प्राकृतिक वातावरण में सब जीवधारी जीवित रहने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं उसी प्रकार इस वातावरण में भाग लेने वाले प्राणी, जो मानव के अतिरिक्त अन्य नहीं हैं, इस वातावरण को जीवित रखने व उसे पुष्ट बनाने का

प्रयत्न करते रहते हैं। मनुष्य के इस वातावरण को ही हम सामाजिक वातावरण कह सकते हैं—वह वातावरण जिसके जीवित रखने के लिए मानव अपने वर्ग के समूह के साथ प्रयत्नशील है क्योंकि उसके बिना वह अपना विकास नहीं कर सकता और इसलिए मानव-जीवन नहीं बिता सकता। इस वातावरण को जीवित रखना तथा पुष्ट बनाना शिक्षा का कार्य है। शिक्षा के द्वारा ही मानव अपने विचारों, अपनी आशाओं व अपने विश्वासों, उद्देश्यों व भावनाओं, भावों व अनुभूतियों, आदि को आगे आने वाली पीढ़ी को देता है जिससे कि उसका भौतिक जीवन समाप्त होने पर वह वातावरण उसके साथ ही समाप्त न हो जाय। द्विवी के शब्दों में शिक्षा सामाजिक जीवन की अविरलता का आधार है। समाज उसी के द्वारा जीवित रहता है और वही उसके विकास की माध्यम है। शिक्षा के द्वारा उसे वह आन्तरिक प्रेरणा व स्फूर्ति मिलती है जिससे वह प्रगति के पथ पर अग्रसर होता है।

सारांश

इस अध्याय को लिखने का हमारा अभिप्राय यह था कि हम यह विचार कर लें कि शिक्षा की मानव को अपना मानव-जीवन बिताने में क्या आवश्यकता है। शिक्षा के उद्देश्य, क्षेत्र, महत्व आदि पर हम आगे चल कर विचार करेंगे।

हमने यह विचार किया कि मानव-जीवन को स्थिर रखने व उसे सुन्दर बनाने के लिए क्या आवश्यक है। मानव-जीवन के उद्देश्यों के ऊपर विचार करने का क्षेत्र दर्शन का है। हमें यह देखना है कि मानव मानव रह कर किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। उसकी इस दृष्टि से दो आवश्यकताएँ हैं। प्रथम, कि वह अपना पूर्ण विकास कर सके और द्वितीय, अपने विकास के साथ-साथ वह सामाजिक विकास में भी योग दे सके। मानव के स्वयं के विकास के क्षेत्र में उसकी शारीरिक, बौद्धिक व आत्मिक शक्तियों का विकास आता है और सामाजिक विकास के क्षेत्र में उसके दूसरों के साथ सम्बन्ध तथा दूसरों के सहयोग से अपने सामाजिक वातावरण को जीवित रखने व समृद्ध बनाने में उसके प्रयत्न आते हैं। दोनों ही प्रकार के जीवन—व्यक्तिगत व सामाजिक—को सुन्दर बनाने की क्षमता उसे शिक्षा देती है। शिक्षा किसी एक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में मानव को पग-पग पर प्राप्त होती रहती है और व्यापक अर्थ में शिक्षा मानव का जीवन कही जा सकती है।

२

शिक्षा—अर्थ व उद्देश्य

शिक्षा के उद्देश्य, क्षेत्र व स्रोतों के ऊपर विचार करने से पहले हमें सबसे पहले शिक्षा के अर्थ पर विचार करना है। साधारण बोल-चाल में शिक्षा का अर्थ विद्यालयीय शिक्षा से लिया जाता है और बालक को अपने भावी जीवन की तैयारी व उसे सफलतापूर्वक निभाने की क्षमता प्रदान करना शिक्षा का उद्देश्य समझा जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि साधारण बोल-चाल का अर्थ बहुत कुछ महत्व रखता है क्योंकि हमारी समस्त क्रियाओं, भावनाओं व विचारों की स्वीकृति साधारण व्यवहार व आचरण के मापदण्ड द्वारा ही होती है। दार्शनिक दृष्टिकोण पर हम प्रत्येक समय पर अपने क्रिया-कलापों में उलझे रहते हुए उतना ध्यान नहीं देते जितना हम साधारण व्यवहार व विचारों का ध्यान रखते हैं। परन्तु समस्त साधारण व्यवहारों, विचारों, क्रियाओं, भावनाओं व इच्छाओं के पीछे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में जीवन का दर्शन विद्यमान है। अपने व दूसरे लोगों के व्यवहार व विचारों का विश्लेषण करने पर हमें तुरन्त ही उस दर्शन की झलक स्पष्ट दीखती है। हम कुछ करते हैं, या सोचते हैं, या अनुभव करते हैं,—यह क्यों करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर हम स्वयं को अपने व्यवहारों व विचारों का विश्लेषण करके तथा दूसरों को उनके व्यवहारों व विचारों का विश्लेषण करके दे सकते हैं। दोनों ही अवस्थाओं में मानव के समस्त क्रिया-कलापों, उसके व्यवहारों, आचार-विचारों आदि के पीछे उसके जीवन का दर्शन छिपा हुआ है। इस अध्याय में हम जीवन-दर्शन व उसके विभिन्न रूपों पर विचार नहीं करेंगे। इतना संकेत यहाँ करना आवश्यक है कि मानव की उसके व्यवहार, विचार व क्रियाओं की विभिन्नता उसके जीवन-दर्शन की विभिन्नता की परिचायक है और प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में वह उसकी संस्थाओं की समस्त कार्य-विधियों में स्पष्ट होती है। शिक्षा मानव के जीवन-दर्शन से उसी प्रकार प्रभावित होती है जिस प्रकार अन्य क्रियाएँ। शिक्षा को मानव वही अर्थ देता है जो उसके जीवन-दर्शन के अनुकूल है। तात्पर्य यह है कि मानव अपने जीवन के उद्देश्य व उनकी पूर्ति के लिए जिन साधनों व उपकरणों की आवश्यकता समझता है

शिक्षा द्वारा उनकी उपलब्धि करने की वह चेष्टा करता है। शिक्षा के उसके लिए उतने ही अर्थ हो सकते हैं जितने उसने अपने जीवन-दर्शन के रूप बनाए हैं। आगे चलकर हम शिक्षा-दर्शन के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक विचार करेंगे। यहाँ पर हमें यह संकेत कर देना है कि जीवन-दर्शन के अनेक रूप होने के कारण शिक्षा-दर्शन के भी अनेक रूप हैं और शिक्षा का अर्थ भिन्न-भिन्न दर्शनों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के पूर्व व पश्चिम के प्रमुख शिक्षा-शास्त्रियों व दार्शनिकों के द्वारा शिक्षा की परिभाषाओं को यदि हम यहाँ लिखें तो शायद कई पृष्ठों में हम उनको ही बिना उनकी व्याख्या किए लिखते रहेंगे। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि शिक्षा की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ होने के कारण उनके अर्थ एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं अथवा उनमें आपस में समानार्थक भाव बिल्कुल नहीं है। वास्तव में परिभाषाओं की भिन्नताएँ शिक्षा के वास्तविक मूल्यों में पूर्ण भिन्नता नहीं उत्पन्न करतीं और यद्यपि व्यवहार में हमें शिक्षा के विभिन्न रूप दिखलाई पड़ते हैं, सैद्धान्तिक व दार्शनिक दृष्टि से उतने भेद नहीं हैं। वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक परिवार, प्रत्येक समाज व राष्ट्र का शिक्षा का अलग-अलग संगठन है और किन्हीं दो प्रणालियों में पूर्ण रूप से समानता नहीं है परन्तु व्यवहारों की भिन्नता होते हुए भी सिद्धान्तों में अधिक भिन्नताएँ नहीं हैं और उनको दर्शन के रूप में बद्ध करने पर हमें व्यापक रूप में दर्शनों के अधिक रूप नहीं दिखलाई पड़ते। हम इस सम्बन्ध में शिक्षा की कुछ परिभाषाओं की समीक्षा करके किसी निष्कर्ष पर पहुँच कर इस कथन की पुष्टि कर सकते हैं।

(अ) एक परिभाषा के आधार पर शिक्षा मानव की प्रकृति, अपने साथियों, व विश्व की अन्तिम प्रकृति के साथ समन्वय स्थापित करने की प्रक्रिया है।[1]

(ब) दूसरी परिभाषा के आधार पर शिक्षा मानव की शारीरिक, मानसिक व आत्मिक, सभी शक्तियों का व्यवस्थित विकास है जिन्हें वह अपने व समाज के हित में प्रयुक्त करता है और उनके सृष्टा को लक्ष्य बनाकर उनको संयुक्त करता है।[2]

(स) शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव की वे शक्तियाँ जो अभ्यास द्वारा परिवर्तित होने के योग्य हैं अच्छी आदतों के अभ्यास द्वारा पूर्णता को प्राप्त

---

1 "Education should be thought of as the process of man's reciprocal adjustment to nature, to his fellows, and to the ultimate nature of the cosmos." —*H. H. Horne*

2 "Education is the organised development and equipment of all the powers of a human being, moral, intellectual, and physical, by and for their individual and social uses, directed towards the union of these activities with their creator as their final end—" —*T. Corcoran S. J.*

होती हैं और जिनके लिए बड़े कलात्मक ढंग से साधन निकाले जाते हैं और जिनको मानव स्वयं को व अन्य मनुष्यों को सहायता देने के हेतु निर्दिष्ट लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए प्रयोग में लाता है।[1]

(द) शिक्षा का कोई भी संगठन, यदि वह पर्याप्त है, तो वह बालक को अपनी प्रारम्भिक परालम्बन की अवस्था से धीरे-धीरे स्वावलम्बन की अवस्था को प्राप्त करने की क्षमता देता है जिससे कि वह सुन्दर से सुन्दर सामूहिक जीवन में भाग ले सकता है तथा जनतन्त्र में अपने देश के शासन-संचालन में भी अपनी शक्ति के अनुसार भाग ले सकता है। इस प्रकार का संगठन सामूहिक संस्कृति को भी पर्याप्त प्रोत्साहन देता है।[2]

इन परिभाषाओं व अन्य परिभाषाओं का अध्ययन करने पर हमें विदित होगा कि इनमें बहुत कुछ समानताएँ हैं। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा के सम्बन्ध में जितनी परिभाषाएँ हैं वे सब उनके सामान्य लक्षणों व शिक्षा की सामान्य व्याख्याओं के कारण हैं। हम किसी भी दर्शन की दृष्टि से शिक्षा की व्याख्या करें हमें सामान्य रूप में ही शिक्षा की व्याख्या करनी होगी। विभिन्नताएँ उद्देश्यों में नहीं हैं शिक्षा के वास्तविक संगठन में होती हैं। जहाँ तक शिक्षा के उद्देश्य या उद्देश्यों का सम्बन्ध है हमें बहुत कुछ अंश तक विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों में समानता ही नजर आवेगी। अस्तु।

शिक्षा का अर्थ

शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या करने से पहले हमें शिक्षा के अर्थ को समझ लेना है। यद्यपि हमने ऊपर शिक्षा की कई परिभाषाओं का उल्लेख किया है परन्तु शिक्षा के अर्थ की स्पष्ट रूप में व्याख्या नहीं की है। इस सम्बन्ध में भी विभिन्न लोगों के विभिन्न मत मिल सकते हैं जिनको यहाँ उद्धृत कर विचार करना हम आवश्यक नहीं समझते। हमारी प्राचीन संस्कृति व साहित्य में शिक्षा के सम्बन्ध

---

1 "Education is the progress in which those powers (abilities, capacities) of men which are susceptible to habituation, are perfected by *good* habits, by *means artistically contrived*, and employed by any man to help another or himself achieve the *end* in view (i.e., good habits)." —*Adler*

2 "Any adequate educational programme will thus be concerned to help each individual child grow up from his state of initial dependence into full participation in the richest avilable group life, including in a democratic country a full share in the active management of group affairs. Such an adequate programme will besides go on further to an active effort to improve the group culture." —*Kilpatrick*

में दी गई व्याख्याओं के आधार पर सामान्य रूप में यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि शिक्षा हमें अज्ञान से ज्ञान की ओर तथा अन्धकार से उजाले की ओर ले जाती है। इस प्रक्रिया का समस्त ढंग शिक्षा के क्षेत्र, पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधि, संगठन आदि से सम्बन्ध रखता है, परन्तु उस सबका प्रयोजन यही है कि व्यक्ति को अपने वातावरण में अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए ज्योति तथा ज्ञान प्रदान करना और उसे जीवन का रहस्य समझने की क्षमता प्रदान करना शिक्षा का कार्य है। शिक्षा हमें जीविकोपार्जन की क्षमता ही नहीं प्रदान करती अपितु हमें अपना जीवन समझने की क्षमता देती है। इसी को मुक्ति कह सकते हैं और हमारी प्राचीन संस्कृति में शिक्षा की महत्ता व अभिप्राय को एक छोटे-से सूत्र में, बाँध दिया गया है। वह है 'सा विद्या या विमुक्तये।'

आधुनिक काल में शिक्षा में आदर्शवाद, प्रकृतिवाद तथा प्रयोगवाद इन तीन दर्शनों का बहुत प्रभाव है। आगे चलकर विस्तार में हम इनके ऊपर विचार करेंगे। यहाँ हमें इनका संकेत करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि इन तीनों दर्शनों के दृष्टिकोणों से ही आज शिक्षा का संगठन व रूप प्रभावित है। हम चाहे शिक्षा की व्याख्या करें अथवा उसका संगठन करें सैद्धान्तिक रूप में हमें इन तीनों दर्शनों की विचारधारा प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करती है। वास्तव में जैसा कि हम विस्तार में आज की शिक्षा के रूप का विश्लेषण करेंगे आज किसी एक विचार-धारा का शिक्षा में प्रभुत्व नहीं है बल्कि विभिन्न विचार-धाराओं का एक अनूठा सम्मिश्रण है जिनमें उनके विरोधी तत्व नष्ट हो गए हैं और सामान्य तत्वों ने मिलकर एक रूप धारण कर लिया है। अतः शिक्षा की अर्थ-व्याख्या करते समय और उसे आधुनिक युग में दिए गए आशय को समझने में हमें दार्शनिक मतभेदों की आवश्यकता नहीं।

हम किसी भी आधार को लेकर चलें इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति में कुछ परिवर्तन आ जाता है। वह जैसा शिक्षा प्राप्त करने से पहले था वैसा शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त नहीं रहता। शिक्षा उसके शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास में परिवर्तनों द्वारा सहायता करती है। यदि सारे जीवन भर शिक्षा की प्रक्रिया को चलता हुआ हम स्वीकार करें, (और यह सत्य है कि शिक्षा हमें पग-पग पर मिलती है, हमारा प्रत्येक अनुभव हमें कुछ न कुछ शिक्षा देता है) तो हमें यह स्पष्ट हो जावेगा कि शिक्षा हम में निरन्तर परिवर्तन करती रहती है, अथवा यों कहिए कि शिक्षा उन परिवर्तनों का समूह ही है। ये परिवर्तन चाहे शारीरिक-स्तर पर हों चाहे मानसिक व आत्मिक-स्तर पर, वे चाहे व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर हों अथवा व्यक्ति व समाज के सम्पर्क से उत्पन्न हुए अनुभवों के आधार पर। इसीलिए व्यापक रूप में शिक्षा को मानव द्वारा अपने

अनुभवों की सहायता से स्वयं में उत्पन्न किये गए परिवर्तनों की संज्ञा दी गई है।[1] ड्यूई शिक्षा को अनुभवों का संगठन व पुनः संगठन कहता है।[2] शिक्षा के उद्देश्यों में दार्शनिक मतभेदों के आधार पर भेद हो सकते हैं परन्तु शिक्षा के अर्थ के सम्बन्ध में मतभेद की सम्भावना नहीं।

शिक्षा के रूप

शिक्षा के अर्थ की व्याख्या करते हुये हमें उसे स्पष्ट रूप में समझने के लिए शिक्षा के दो रूपों पर ध्यान देना है—एक व्यापक और दूसरा संकुचित।

शिक्षा का व्यापक रूप—व्यापक रूप में शिक्षा व्यक्ति के जन्म से प्रारम्भ होकर मृत्यु,पर्यन्त चलती है और पग-पग पर जैसे-जैसे उसके अनुभवों की वृद्धि होती रहती है वैसे-वैसे वह शिक्षा प्राप्त करता रहता है। हम जॉन ड्यूई के कथन का ऊपर इस सम्बन्ध में उल्लेख कर आए हैं। शिक्षा के इस व्यापक रूप को दृष्टि में रखकर हम शीघ्र ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इतने विस्तृत रूप में शिक्षा देना केवल शिक्षालयों का ही कार्य नहीं है बल्कि शिक्षा चूँकि मानव के अपने वातावरण के सम्पर्क में आने पर उत्पन्न हुए समस्त अनुभवों का परिणाम है इसलिए मानब का सारा वातावरण शिक्षा का क्षेत्र है। उस वातावरण में रहकर, उससे लाभ उठाकर, उसके सम्पर्क में आकर मानव कुछ क्रियाएँ करता है व उनकी अनुभूति करता है जिनसे उसमें कुछ परिवर्तन होते हैं और वे परिवर्तन ही उसकी शिक्षा के परिचायक हैं। शिक्षा द्वारा ही मानव की नैसर्गिक शक्तियों का विकास होता है और उनका उचित प्रयोग कर मानव स्वयं का व समाज का कल्याण करता है। अतः शिक्षा के इस व्यापक अर्थ को लेकर हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :—

(अ) व्यापक रूप में शिक्षा मानव की समस्त नैसर्गिक शक्तियों का विकास है जो मानव के अपने वातावरण के साथ सम्पर्क में आने पर सम्भव होता है। इन शक्तियों के विकास की क्षमता मानव की प्रकृति में निहित है और शिक्षा द्वारा उनको प्रस्फुटित होने का अवसर मिलता है। अतः शिक्षा मानव के शरीर व उसकी आत्मा

---

1 "Education in the broadest sense can be nothing less than the changes made in the human beings by their experience."

—*George R. Geiger :* An Experimentalist Approach to Education, The Fifty-fourth Year-book of the National Society for the Study of Education, Modern Philosophies and Education, p. 144.

2 Education is "the process of reconstruction or reconstitution of experience, giving it a more socialised value through the medium of increased individual efficiency."

को वह पूर्णता प्रदान करने की प्रक्रिया है जो पूर्णता वह प्राप्त करने के लिए समर्थ है।[1]

(ब) इस व्यापक रूप में ही शिक्षा मानव को असत्य से सत्य की ओर और अन्धकार से उजाले की ओर, प्रमाद को दूर कर अप्रमाद की ओर मानव को जाने के लिए निर्देश करती है। हमारे प्राचीन साहित्य व प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् सुकरात के अनुसार शिक्षा का कार्य व्यापक रूप में यही स्वीकार किया गया है।[2]

(स) जैसा कि पहले अध्याय में कहा जा चुका है शिक्षा मानव को मानव रह कर जीवित रखना सिखाती है। शिक्षा को जीवन की आवश्यकता माना गया है। यह अर्थ भी बहुत ही व्यापक है। प्राचीन व आधुनिक काल के सभी दार्शनिकों ने शिक्षा को मानव-जीवन की आवश्यकता स्वीकार करते हुए इस बात पर बल दिया है कि शिक्षा के बिना मनुष्य पशु-तुल्य है। शिक्षा का प्रथम प्रयोजन मनुष्य को मानवता का पाठ पढ़ाना है।[3]

(द) पेस्तालॉजी के अनुसार शिक्षा मानव की नैसर्गिक शक्तियों का स्वाभाविक, संतुलित व प्रगतिशील विकास है (natural, harmonious, and progressive development of innate powers)। फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा के द्वारा मानव अपने को, अपनी व वाह्य प्रकृति को व ईश्वर को समझता है और इस प्रकार वह विश्व के समस्त रहस्य को समझकर उस पवित्र सिद्धान्त की अनुभूति करता है जो इस सृष्टि का आधार है। इस प्रकार वह अपना जीवन पवित्र बनाता है।[4]

(य) वैज्ञानिक तथा समाजवादी धाराओं के जोर पकड़ने पर १९ वीं व २० वीं शताब्दियों के विद्वानों ने शिक्षा के अर्थ की व्यापकता को कम तो नहीं किया परन्तु उसे भौतिक दृष्टि से अधिक उपयोगी बनाने की चेष्टा की है। हम यहाँ कुछ विद्वानों के विचारों को उन्हीं के शब्दों में उद्धृत कर शिक्षा के व्यापक अर्थ की व्याख्या समाप्त कर देना चाहते हैं :

---

1 "Education consists in giving to the body and soul all the perfection of which they are susceptible." —*Plato*

2 The purpose of education is "to dispel error and discover the truth." —*Socrates*

3 "In the natural order of things all men being equal, their common vocation is manhood. To live is the trade I wish to teach him (Emile)." —*Rousseau*

4 "The object of education is the realisation of a faithful, pure, inviolable, and hence holy life.....Education should lead and guide man to clearness concerning himself and in himself, to face with nature, and to unity with God." —*Forebel*

(1) शिक्षा का अर्थ प्राप्त ज्ञान को सब लोगों में बाँट देना है।[1]

(2) यह कहा जाता है कि 'शिक्षित व्यक्ति के हाथ में तेज धार वाली कुल्हाड़ी है और अशिक्षित के हाथ में भोथरी धार वाली कुल्हाड़ी। शिक्षा भोथरी कुल्हाड़ी को तेज बनाने का कार्य करती है।"[2]

(3) प्रयोगवाद के प्रसिद्ध अभिव्यक्ता श्री विलियम जेम्स का मत है कि व्यापक रूप में शिक्षा मानव के उन समस्त प्राप्त किए हुए गुणों, आदतों व व्यवहारों का समूह है जो उसे अपने भौतिक और सामाजिक वातावरण के साथ समन्वय स्थापित करने की योग्यता देते है।[3]

(4) एक अन्य विद्वान् के अनुसार शिक्षा देने का महत्व व्यक्ति को वातावरण के उन तत्वों के साथ समन्वय स्थापित करने की योग्यता देना जिनका आधुनिक जीवन में महत्व है और मानव की शक्तियों का विकास, संगठन करना तथा उनको शिक्षित करना है जिससे वह उनका कुशलतापूर्वक उचित प्रयोग कर सके।[4]

(5) टी० रेमांट के अनुसार शिक्षा बाल्यकाल से युवावस्था तक विकास का एक क्रम है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने भौतिक, सामाजिक व आध्यात्मिक वातावरण के साथ अपना समन्वय स्थापित करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यापक रूप में शिक्षा का अर्थ बहुत विस्तृत है चाहे उसे हम किसी भी दार्शनिक विचार-धारा की पृष्ठ-भूमि पर लेकर समझने का प्रयास करें। शिक्षा का क्रम प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर चलता रहता है चाहे

---

1 "Education means the universal distribution of extant knowledge" —*Lester F. Ward*

2 "It has been said that an educated man has a sharp axe in his hand and an uneducated one has a dull one. I should say that the purpose of a college education is to sharpen the axe to it keenest edge." —*Nathaniel Butler*

3 "Education is the organisation of acquired habits of conduct, or action and tendencies of behaviour such as will fit the individual to his physical and social environment."

4 "To educate a man means to adjust him to those elements of his environment that are of concern in modern life, and to develop, organise, and train his powers so that he may make efficient and proper use of them." —*W. E. Ruediger*

5 "....a process of development....from infancy to maturity, the process by which he adapts himself gradually in various ways to his physical, social, and spiritual environment."

हम उसे प्रत्यक्ष रूप में अनुभव करें अथवा न करें। बच्चे, युवक, प्रौढ़ तथा वृद्ध—सब लोग प्रतिपल शिक्षा पाते रहते हैं और उसका क्षेत्र उनका वातावरण है जिसमें उनका प्राकृतिक, भौतिक, मानवकृत, सामाजिक—सभी वातावरण आते हैं। जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है, "शिक्षा मनुष्यों में पारस्परिक तथा वाह्य जगत् के साथ सम्पर्क का परिणाम है।"[1] इन्द्रियाँ वे माध्यम हैं जिनके द्वारा यह सम्पर्क स्थापित होता है और चूँकि हमारी इन्द्रियाँ प्रतिपल क्रियाशील हैं हमें प्रतिपल शिक्षा मिलती रहती है।

शिक्षा का संकुचित अर्थ—संकुचित अर्थ में शिक्षा का अर्थ विद्यालयीय और महाविद्यालयीय अथवा विश्वविद्यालयीय शिक्षा से लिया जाता है। बालक को विद्यालय में अथवा किसी कॉलेज या विश्वविद्यालय में हम शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से भेजते हैं और वहाँ का कार्यक्रम समाप्त करने के पश्चात् हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि उसने शिक्षा प्राप्त कर ली। लेकिन यदि ध्यान से विचार किया जाय तो विद्यालय में प्राप्त की हुई शिक्षा तब तक पूर्ण नहीं कही जा सकती जब तक कि उसको ठीक ढंग से प्रयोग में लाने की क्षमता विद्यार्थी में नहीं आ जाती। शिक्षा की वास्तविक सार्थकता उसका प्रयोग है और यदि शिक्षा व्यक्ति को व्यवहारकुशल नहीं बनाती और उसमें उन गुणों, व्यवहारों, कौशलों, विचारों व मनोवृत्तियों का समावेश नहीं कर देती जिनसे वह अपना हित करता हुआ समाज का हित भी कर सकता है, तो वह शिक्षा पूर्ण नहीं है। इस प्रयोग की कसौटी ही जीवन रूपी प्राङ्गण में है, जहाँ व्यक्ति अपनी शिक्षा का प्रयोग सीखता है और अपने अनुभवों को पूर्ण व परिपक्व करता जाता है। अतः स्कूल या कॉलेज में दी हुई शिक्षा जीवन की शिक्षा का एक अंगमात्र है, वह स्वयं में पूर्ण शिक्षा नहीं है। शिक्षा के व्यापक व संकुचित अर्थ का भेद स्पष्ट करने के लिए एक दूसरे शब्द का प्रयोग किया जाता है और वह है निर्देश (Instruction)। विद्यालयों में विविध विषयों का बालकों को ज्ञान दिया जाता है और हम उस क्रिया को शिक्षा की बजाय यदि निर्देश कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। शिक्षा का उद्देश्य तो मानव का सर्वाङ्गीण विकास है और निर्देश उस विकास में एक पहलू है जो विषय सम्बन्धी ज्ञान देने की प्रक्रिया है; जिसके द्वारा बालकों की बुद्धि, तर्क, कल्पना आदि मानसिक क्रियाएँ जागृत होकर उसके मस्तिष्क में ज्ञान भर देती हैं और उसे अपना कार्य करने की क्षमता देती हैं। उसके उपरान्त भी यदि मस्तिष्क अपना कार्य नहीं करता तो वह शिक्षा निरर्थक रही। कहने का तात्पर्य यह है कि निर्देशन शिक्षा का एक अंग है वह स्वयं पूर्ण शिक्षा नहीं है।

---

1 "It is the constant interactions among people and between people and the objective world."

—*Ulich Robert R.* op. cit. p. 10

शिक्षा की प्रक्रिया

शिक्षा के व्यापक रूप को समझकर हमें थोड़ा ध्यान उसकी प्रक्रिया पर देना है। अँग्रेजी के शब्द Education की उत्पत्ति पर विचार करने से हमें शिक्षा की प्रक्रिया का संकेत प्राप्त होता है। 'E' का अर्थ लैटिन भाषा के आधार पर 'अन्दर से' है और 'duco' का अर्थ 'आगे बढ़ाने' से है। इस आधार पर हम अँग्रेजी के शब्द Education की व्याख्या करके शिक्षा के वास्तविक अर्थ को समझ सकते हैं। हम पहले कह आये हैं कि व्यापक रूप में शिक्षा मानव के पूर्ण विकास से सम्बन्ध रखती है और उसका क्रम जीवन-पर्यन्त चलता रहता है। घर, समाज, स्कूल, कॉलेज और सारा जीवन उस क्रम को चालू रहने की परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं और उन्हीं में भाग लेता हुआ बालक शनैः-शनैः शिक्षा प्राप्त करता हुआ अपनी जीवनयापन की क्रिया करता है। शिक्षा इस प्रकार जीवन की तैयारी है व वह स्वयं जीवन की आवश्यकता है। हम यह भी कह सकते हैं कि शिक्षा जीवन है क्योंकि यदि शिक्षा के बिना जीवन सम्भव नहीं तो जीवन न होने पर शिक्षा की भी आवश्यकता नहीं। जीवन है तो शिक्षा के द्वारा ही वह स्थित रह सकता है और यदि शिक्षा है तो जीवन भी निश्चित है।

शैक्षिक प्रक्रिया (Educative process) के दो पहलू हैं। इन पर तनिक विचार करते हुए तस्वीर स्पष्ट दिखाई देती है—एक पढ़ा रहा है तो दूसरा पढ़ रहा है; एक सुना रहा है तो दूसरा सुन रहा है; एक आदेश दे रहा है तो दूसरा ले रहा है, दोनों ही कर्ता हैं, दोनों ही कारक हैं—यही नहीं बल्कि एक का कार्य दूसरे की अनुपस्थिति में नहीं हो सकता। शिक्षक और शिक्षार्थी की क्रियाएँ व प्रतिक्रियाएँ ही शिक्षा का रूप लेती हैं और एक दूसरे के सहयोग व पारस्परिक आदान-प्रदान पर निर्भी हैं। शिक्षण-प्रक्रिया को इसी लिए एडम्स (Adams) महोदय ने द्विध्रुवीय प्रक्रिया (Bi-polar process) कहा है जिसमें एक ओर शिक्षक है और दूसरी ओर शिक्षार्थी—दोनों के पारस्परिक विचारों, भावों, उद्वेगों, भावनाओं आदि के आदान-प्रदान का परिणाम शिक्षा है। अपने ज्ञान, बुद्धि, कल्पना, तर्क आदि मानसिक तथा अपनी आत्मिक शक्तियों के प्रभाव से शिक्षक शिक्षार्थी पर प्रभाव डालता है और उसके व्यवहार में परिवर्तन कर उसको शुद्ध, संयत व बुद्धि पूर्ण बनाता है। शिक्षक व शिक्षार्थी के व्यक्तित्व की एक दूसरे पर छाप पड़ती है, उनमें एक समान उद्देश्य की पूर्ति की अभिलाषा होती है और वे एक दूसरे को उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक सूत्र में बाँधते है। उनके कार्य में उनको सहायता देने वाले तथा उनके साधन अनेक हैं परन्तु मूल रूप में शिक्षा की प्रक्रिया व शिक्षार्थी के व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से उद्भूत क्रियाओं व प्रतिक्रियाओं का समूह है जो शिक्षार्थी के व्यक्तित्व का विकास करती है और उसके व्यवहार में परिवर्तन करती है।

आधुनिक काल में प्रयोजनवादी विचार-धारा के प्रभाव होने के कारण शिक्षा की प्रक्रिया को स्पष्ट रूप देने के हेतु इसके तीन तत्त्व स्वीकार करने की मनोवृत्ति बढ़ रही है। जॉन ड्यूई व्यक्ति के विकास के साथ-साथ शिक्षा को सामाजिक विकास का कारण भी मानता है और शिक्षा-शास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि शिक्षा के उद्देश्यों में व्यक्तिगत व सामाजिक दोनों ही विकास आते हैं और दोनों के समन्वय की पूर्ति ही शिक्षा का उद्देश्य है। व्यक्ति समाज में रहकर ही अपना विकास करता है अतः व्यक्तिगत विकास के लिए समाज का विकास आवश्यक है। शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है और बिना समाज का हित लिए शिक्षा का कोई महत्त्व नहीं है। इसीलिए शिक्षा के तत्वों में उसने शिक्षक, शिक्षार्थी व समाज को माना है। सामाजिक वातावरण में भाग लेकर ही बालक धीरे-धीरे शिक्षा प्राप्त करता जाता है। सामाजिक वातावरण व उसका व्यक्ति पर प्रभाव शिक्षा की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।[1]

इस विचार को दूसरी दृष्टि से भी देखा जा सकता है। समाज शिक्षक व शिक्षार्थी को वह सामिग्री देता है जिसको माध्यम व साधन मानकर दोनों का कार्य आगे बढ़ता है। हम उसे पाठ्यक्रम कह सकते हैं परन्तु पाठ्यक्रम से हमारा तात्पर्य केवल पुस्कीय ज्ञान से ही नहीं है बल्कि उस समस्त ज्ञान, कला-कौशलों, भावों, विचारों, अनुभवों आदि से है जिनसे बालक का सर्वाङ्गीण विकास होता है। पाठ्यक्रम को संकुचित रूप में न लेकर हम व्यापक रूप में लेते हैं जिसमें बालकों के सम्पूर्ण अनुभव व क्रियाएँ आती हैं, जिनमें भाग लेकर वह अपना विकास करता हुआ समाज के हित में अपना योग देने की क्षमता प्राप्त करता है।

इस दृष्टि से हमें शिक्षा की प्रक्रिया में तीन तत्व स्पष्ट हुए—शिक्षक, शिक्षार्थी व पाठ्यक्रम। जहाँ भी ये तीनों तत्व एकत्रित हुए वहीं किसी न किसी प्रकार की शिक्षा की सम्भावना है। वैसे तो जैसा कि हम पहले कह चुके हैं व्यापक रूप में शिक्षा प्रत्येक समय चलती रहती है और वातावरण के सम्पर्क में आकर व्यक्ति पग-पग पर कुछ न कुछ सीखता रहता है परन्तु शिक्षा को एक विशिष्ट रूप देने पर हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ कहीं ये तीन तत्व होंगे वहाँ शिक्षा अवश्य होगी।

---

1 "The social environment consists of all the activities of fellow beings that are bound up in the carrying on of the activities of any one of its members. It is truly educative in its effect in the degree in which an individual shares or participates in some conjoint activity. By doing his share in the associated activity, the individual appropriates the purpose which actuates it, becomes familiar with its methods and subject-matters, acquires needed skill, and is saturated with its emotional spirit."
—*Dewey John* : Democracy and Education 1916 ed, p. 25

शिक्षक, शिक्षार्थी और पाठ्यक्रम इन तीनों तत्वों में प्रत्येक का बहुत बड़ा महत्व है और थोड़ा-थोड़ा हम प्रत्येक पर विचार करना चाहते हैं। हम पाठ्यक्रम से प्रारम्भ करते हैं। पाठ्यक्रम शिक्षक और शिक्षार्थी के मध्य कड़ी का कार्य करता है। यह न तो शिक्षक-रूपी तत्व का अंग है और न शिक्षार्थी-रूपी तत्व का बल्कि दोनों से अलग है और दोनों को मिलाता भी है। पाठ्यक्रम दोनों के कार्यों की सीमा निर्धारित करता है और यह निश्चित करता है कि दोनों को क्या करना है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब शिक्षक और शिक्षार्थी शिक्षा देने व लेने के कार्य में जुटे हुए हैं कि तो उनकी क्रियाएँ एक निश्चित क्षेत्र के बाहर नहीं है यद्यपि वह क्षेत्र ही बहुत विस्तृत है। पाठ्यक्रम मानव की संस्कृत अभिलाषाओं, उसके विचारों, क्रियाओं व उन सबके श्रोतों व परिणामों का समूह है जिसको आधार मानकर भावी संतति को शिक्षा दी जाती है और वही शिक्षा मानवीय-शिक्षा कहलाती है। वैसे तो पशु, पक्षी आदि सभी अपने जीवन को बिताने की शिक्षा लेते हैं परन्तु वह शिक्षा उनकी प्राकृतिक क्रियाओं के स्तर पर ही होती है और उसमें उन्हें किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं होती। जो एक करता है और जिस प्रकार करता है, उसी प्रकार सब करते हैं। एकतन्त्रीय-शिक्षा उसी प्रकार कुछ न कुछ अंश तक उस स्तर के निकट है क्योंकि उसमें व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। जैसी शिक्षा एक राज्य या संगठन को दृढ़ बनाने के लिए उपयुक्त है वैसी ही शिक्षा सबको दी जाती है। परन्तु जनतन्त्रीय-शिक्षा मानव को केन्द्र मानकर और समाज का एक अभिन्न अंग मानकर चलती है जिनमें मानव को स्वतन्त्रता भी हैं परन्तु साथ ही साथ उसे उस स्वतन्त्रता की अनुभूति ऐसी करनी है कि दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा न पड़े। कहने का आशय यह है कि जनतन्त्रीय-शिक्षा मानव को स्वतन्त्रता देती है, उच्छृङ्खलता नहीं, उसे अपने विकास के लिए पूर्ण अवसर देती है परन्तु विकास का अर्थ व उसका उपयोग निश्चित भी करती है। पाठ्यक्रम का इस दृष्टि से बहुत महत्व है। व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करता है परन्तु वह शिक्षा क्या है और किससे वह प्राप्त करता है—पाठ्यक्रम इसकी सीमा बताता है। शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों को अपने-अपने कार्य करने हैं परन्तु पाठ्यक्रम के समाज द्वारा निश्चित होने के कारण उसके बाहर दोनों को नहीं जाना है। इसका मतलब यह नहीं कि शिक्षक व शिक्षार्थी दोनों पाठ्यक्रम के दास हैं। नियम के अनुकूल चलना, उसकी सीमा में रहना दासता का चिन्ह नहीं है। पाठ्यक्रम मानव-समाज की कृति है और उसके बन्धन में रहना दासता का चिन्ह नहीं बल्कि मानव-धर्म-पालन का सूचक है। पाठ्यक्रम की अनुपस्थिति में शिक्षक व शिक्षार्थी के कार्य की कोई सीमा नहीं रह सकती, उनका कोई निश्चित लक्ष्य नहीं हो सकता क्योंकि उनका कार्य करने के लिए कोई आधार नहीं। उनकी क्रियाएँ अनिश्चित, अव्यवस्थित, व असंगत होंगी जो शिक्षा का रूप नहीं धारण कर सकतीं।

आधुनिक विचार-धारा में शिक्षार्थी का भी बहुत बड़ा महत्व स्वीकार किया

गया है। शिक्षा बालक-केन्द्रित होनी चाहिए और उसकी प्रक्रिया बालकों की व्यक्तिगत मनोवृत्तियों, अभिरुचियों, इच्छाओं व नैसर्गिक प्रवृत्तियों के ऊपर आधारित होनी चाहिए। विचार बिल्कुल सत्य है परन्तु साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शिक्षा के क्षेत्र में बालक की मूल-प्रवृत्तियों, अभिरुचियों आदि के साथ-साथ समाजहित की बात भी लगी हुई है। अतः शिक्षा को बालक-केन्द्रित बनाते समय यह ध्यान में रखना है कि व्यक्तिगत हित समाजगत हित में बाधक न हो। जैसा कि जान ड्यूई ने कहा है व्यक्तिगत प्रवृत्तियों, अभिरुचियों, इच्छाओं आदि का तभी महत्व है जब वे समाज की दृष्टि से संयत हैं अथवा यों कहिए कि उनका सामाजिक मूल्य है। जनतन्त्रीय-शिक्षा में व्यक्तिगत और समाजगत हित न तो एक दूसरे के मातहत हैं और एक का दूसरे से अधिक मूल्य है। दोनों के हित एक मिलन-बिन्दु के ऊपर मिलते हैं और दोनों बराबर मूल्य रखते हैं।[1]

हमें थोड़ा विचार शिक्षक के कार्य और उसके महत्व पर इस सम्बन्ध में और करना है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शिक्षक शिक्षा की प्रक्रिया में एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वास्तव में शिक्षा के कार्य में शिक्षक के व्यक्तित्व और उसकी शिक्षार्थी पर छाप बहुत महत्व रखते हैं। शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य मानव को मानव रह कर जीवित रहना सिखाना है। चरित्र-निर्माण शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है और इस उद्देश्य की पूर्ति शिक्षक स्वयं अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से करता है। यह हम सब लोगों का अनुभव है कि शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद हमें अपने विद्यालय व पुस्तकों तथा अन्य वस्तुओं की स्मृति इतनी नहीं रहती जितनी उन शिक्षकों की रहती है जिन्होंने हमारे जीवन पर विशेष प्रभाव डाला। अच्छे शिक्षक का व्यक्तित्व शिक्षार्थी को जीवन-पर्यन्त प्रेरणा देता रहता है और यद्यपि अच्छा शिक्षक विद्यार्थी को अपना अनुकरण करने वाला अपना नमूना बनाने की नहीं सोचता परन्तु उसके व्यक्तित्व के विशेष गुण तथा उसका व्यवहार व्यक्तिगत व्यवहार में वे परिवर्तन सस्कृत रूप में ला देते हैं जिनमें व्यक्तिगत व्यवहार की स्वतन्त्रता स्पष्ट होते रहते भी किसी विशेष व्यक्ति के व्यक्तित्व की छाप अप्रत्यक्ष रूप में कार्य करती प्रतीत होती है।[2]

---

1 "Education must begin with a psychological insight into the child's capacities, interests and habits...." but they have meaning and significance only "when we can translate them into their social equivalents. We must be able to carry them back into a social past and see them as the inheritance of previous race activities. We must also be able to project them into the future to see what their outcome and end will be."

—*John Dewey* : Democracy and Education

2 फुट नोट पेज 26 पर है।

शिक्षा की प्रक्रिया के सम्बन्ध में किए गए उपर्युक्त विचारों को हम एक रूप-रेखा में सम्बद्ध कर शिक्षा के रूप व उसकी प्रक्रिया की सीमा बनाकर इस विषय को समाप्त कर देना चाहते हैं।

(अ) शिक्षा शिक्षक व विद्यार्थी—इन दो ध्रुवों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। एक के बिना दूसरे का कार्य सम्भव नहीं है।

(ब) शिक्षा का तीसरा अंग व तत्व पाठ्यक्रम है जिसे हम विस्तृत रूप में लेते हैं और जो शिक्षक व विद्यार्थी से अलग है परन्तु दोनों की कड़ी भी है और उनके कार्य का क्षेत्र है। वह दोनों की क्रियाओं की सीमा भी निश्चित करता है। अतः शैक्षिक-प्रक्रियाऐं के शिक्षक विद्यार्थी व पाठ्यक्रम, ये तीन तत्व है और तीनों का विशेष तथा पृथक्-पृथक् महत्व है।

(स) जनतन्त्रीय-शिक्षा व उसकी प्रक्रिया व्यक्ति को स्वतन्त्रता देती है, उच्छृङ्खलता नहीं। अतः स्वतन्त्रता की अनुभूति के साथ-साथ समाज-नीति व हित मानव को अपनी शिक्षा का मूल्य निर्धारित करने का मापदण्ड देते हैं। चूँकि शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है अतः उसके मूल्य को निश्चित करने का मापदण्ड समाज का आदर्श ही है।

(द) शैक्षिक-प्रक्रिया में निर्देशन सम्मिलित है यद्यपि निर्देशन ही स्वयं में पूरी प्रक्रिया नहीं है। निर्देशन के अलावा मानव के व्यक्तिगत विकास का प्रवाह व उसको प्राकृतिक ढङ्ग से चलित रहने देना, मानव की नैसर्गिक शक्तियों का उद्भूत होना तथा उनको विकसित होने की उचित परिस्थितियाँ पैदा करना तथा व्यक्ति के अनुभव के क्रम को जारी रखना आदि कई क्रियाऐं शैक्षिक-क्रिया में आती हैं और प्रत्येक की पूर्ति में शिक्षक, शिक्षार्थी व पाठ्यक्रम इन तीनों तत्वों का कार्य व स्थान स्पष्ट है।

शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार करने से पहले हम 'उद्देश्य' या 'लक्ष्य', इसकी सीमा निश्चित कर देना उचित समझते हैं। जब हम किसी उद्देश्य व लक्ष्य को लेकर कोई कार्य करते हैं तो हम उस कार्य को तब तक करते रहते हैं जब

---

2 पेज 25 का फुट नोट

"Education is not theater, although much of what is regarded popularly as successful education is fairly good theater. The performance fades, and only the teacher's attitude toward truth and toward student remains assimilated or unassimilated by his hearers."

—*Ralph Harper* : Significance of Existence and Recognition for Education : The Fifty-fourth Year-book of the National Society for the Study of Education, Modern Philosophy and Education, p. 238.

तक कि हमने अपने निश्चित उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर लिया। उद्देश्य की प्राप्ति के उपरान्त हम उस कार्य को समाप्त करके दूसरे उद्देश्य को लेकर दूसरा कार्य करते हैं। हमारी समस्त क्रियाएँ किसी न किसी उद्देश्य को लेकर ही चलती हैं और जैसे-जैसे उद्देश्यों की पूर्ति होती जाती है वैसे-वैसे हमारे कार्यों व हमारी क्रियाओं में परिवर्तन होते रहते हैं। परन्तु जब तक किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती तब तक मानव तत्सम्बन्धी क्रिया को करता रहता है और उसमें वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है यदि उसे यह आशा है कि वह उद्देश्य उसकी क्षमता व शक्ति के बाहर नहीं है। इस भूमिका के आधार पर हम उद्देश्य अथवा लक्ष्य, इसकी सीमा व प्रकृति को निश्चित कर सकते हैं। परन्तु ऐसा करने में हमें आध्यात्मवादी तथा पदार्थवादी दो दृष्टिकोणों को ध्यान में रखना होगा। हम आगे चलकर इन दो मौलिक भेद रखने वाली विचार-धाराओं से उत्पन्न शिक्षा-दर्शनों की विस्तार में व्याख्या करेंगे। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि उद्देश्य या उद्देश्यों की व्याख्या करते समय अथवा उनकी प्रकृति व सीमा निश्चित करते हुए जो भी तर्क किए जाते हैं वे इन दार्शनिक रूपों में से किसी न किसी एक पक्ष से प्रभावित होते हैं। आध्यात्मवादी विचार-धारा मन या मस्तिष्क (Mind) को सत्य मानती है और पदार्थवादी वस्तु (Matter) को। सत्य क्या है, यह दर्शन का चिरकाल से प्रश्न रहा है और इसी का उत्तर देने में कई प्रकार की दार्शनिक विचार-धाराएँ निकल पड़ीं। हमें उनकी विवेचना से यहाँ प्रयोजन नहीं। इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि इस मौलिक प्रश्न के ऊपर हमारे सब दृष्टिकोण अवलम्बित रहते हैं और जब हम किसी प्रश्न का उत्तर देने में अपना तर्क देते हैं तो वह तर्क एक न एक दार्शनिक पक्ष को लिए रहता है, और चूँकि दर्शन में किसी पक्ष की किसी पक्ष पर प्रभुता नहीं इसलिए हमारा एक प्रकार का तर्क हमसे विरोधी पक्ष पर प्रभुता नहीं जमा सकता।

आदर्शवाद दर्शन की बहुत पुरानी व ठोस विचार-धारा है और इसका दार्शनिक आधार मन या मस्तिष्क को सत्य मानकर चलता है। यदि हम विचार-धारा को शिक्षा के उद्देश्यों को निर्धारित करने में स्वीकार करते हैं तो हमें यह स्पष्ट होता है कि हमारे उद्देश्य निश्चित, अमिट, अपरिवर्तनशील हैं और उनकी ओर बढ़ना और उनको प्राप्त करना शिक्षा का उद्देश्य है।

इस विचार-धारा के आधार पर हमारे शिक्षा के उद्देश्य हमारी क्रियाओं में नहीं बल्कि हमारी क्रियाओं के बाहर हैं जिनको प्राप्त करने की क्षमता हमें अपने प्रयत्नों व क्रियाओं द्वारा प्राप्त होती है। ये उद्देश्य मानव की सभ्यता के स्तम्भ हैं और अच्छी शिक्षा, अनुशासन, नियन्त्रण व निर्देशन के आधार पर ही व्यक्ति अपने सर्वाङ्गीण विकास को प्राप्त करता हुआ उन उद्देश्यों को प्राप्त करने को अग्रसर होता है। सारांश यह है कि आदर्शवादी विचार-धारा शिक्षा के उद्देश्यों को समय,

काल, गति, परिस्थितियों के बदलने पर भी बदलता हुआ नहीं स्वीकार करती। उस विचार-धारा के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य ध्रुव हैं और भौतिक उन्नति प्राप्त करने तक ही उनकी सीमा नहीं क्योंकि भौतिक उन्नति ही मानव के लिए पर्याप्त नहीं है।

प्रयोजनवादी विचार-धारा उद्देश्य की सीमा व प्रकृति को निश्चित करती है और साथ ही साथ यह स्वीकर करती है कि उद्देश्य समय, काल, परिस्थिति के वश बदलते रहते हैं। प्रयोगवाद (Pragmatism) जैसा कि हम आगे चलकर विचार करेंगे मानव के इन्द्रिय-जन्य अनुभव को सत्य मानकर चलना है और उसी को स्वीकार करता है जो मानव के लिए उपयोगी है। जो उपयोगी है वही सत्य है जो उपयोगी नहीं है वह सत्य नहीं है, वह केवल मानसिक विचारों के आदान-प्रदान का एक साधन है परन्तु उसकी वास्तविक स्थिति कुछ नहीं। प्रयोजनवादी विचार-धारा के संचालक व उसको विस्तृत रूप देने वाले महाशय विलियम जेम्स तथा जान ड्यूई दोनों इस बात पर जोर देते हैं कि सत्य निश्चित नहीं है बल्कि निरन्तर निर्मित होता रहता है। हमारे अनुभव निरन्तर हमें क्या सत्य है और क्या असत्य है इसका भेद बताते रहते हैं। इसको निकालने की कसौटी हमारे अनुभव के अलावा और कोई नहीं है। प्रयोगवादी विचार-धारा इस प्रकार मानव-अनुभव को सत्य का आधार मानती है और चूँकि अनुभव परिवर्तनशील है अतः सत्य भी इस विचार-धारा के अनुसार निश्चल व स्थिर नहीं है।

इस विचार-धारा के अनुसार हमारे उद्देश्य हमारे कार्य व क्रियाओं के बाहर नहीं हैं। जैसे-जैसे हम अपनी क्रियाएँ करते जाते हैं और यदि वे क्रियाएँ उचित व व्यवस्थित ढंग से सम्पादित होती रहती हैं वैसे-वैसे हम कुछ मूल्य प्राप्त करते जाते हैं और वे ही मूल्य हमारे उद्देश्य हैं जिन्हें हम जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते हैं प्राप्त करते चलते हैं। हमारी क्रियाओं के बाहर उद्देश्य नहीं हैं क्योंकि यदि बाहर हैं तो हम उन्हें कभी प्राप्त कर नहीं सकते। उद्देश्य क्रियाओं की शृङ्खला में ही हैं और यदि क्रियाएँ व्यवस्थित ढंग से चलती हैं तो उद्देश्यों की प्राप्ति होती चलती है। उद्देश्य एक नहीं है बल्कि अनेक हैं और एक लक्ष्य की पूर्ति के बाद दूसरे लक्ष्य की पूर्ति होती रहती है।

दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि क्रियाओं के ढंग पूर्वक रूप से चलते रहने में ही उद्देश्य निहित हैं और उनकी प्रक्रिया ही हमारा मुख्य उद्देश्य है। यदि हमारी क्रियाएँ ठीक चलती हैं तो यह निश्चित है कि हमें उनके फल मिलते रहते हैं और हम जो प्राप्त करते जाते हैं वे ही हमारे उद्देश्य हैं। हमारी क्रियाएँ और हमारे उद्देश्य एक दूसरे से पृथक नहीं हैं।[1] इस इस आधार पर प्रयोगवादी

1 "An aim implies an orderly and ordered activity, one in which the order consists in the progressive completing of a process."
—*Dewey, John*: op. cit., p. 119.

विचार-धारा उद्देश्य को मानवीय अनुभव के आधार पर सीमित व निश्चित करती है। जॉन ड्यूई उद्देश्यों की उपयोगिता के सम्बन्ध में कहते हैं कि अच्छे उद्देश्य मानव-अनुभव के बाहर न हों। वे ऐसे न हों जिन्हें मानव अपने अनुभव से प्राप्त न कर सके तथा जिनकी स्थिति एक संज्ञा-मात्र हो, और उसके अनुभव के बाहर हो। उनके कथनानुसार अच्छे उद्देश्यों के निम्नलिखित मापदण्ड हैं[1] :—

(अ) अच्छे उद्देश्य वास्तविक परिस्थितियों से उद्भूत हों। अच्छा उद्देश्य वही है जो समय, काल व परिस्थिति से सम्बन्ध रखता है और जिसका उनमें मूल्य है तथा जिसकी प्राप्ति उन परिस्थितियों में सम्भव है।

(ब) यदि कोई उद्देश्य किन्हीं परिस्थितियों में निश्चित किया जाता है और यदि वे परिस्थितियाँ बदल गईं तो यह आवश्यकता हो जाती है कि उस उद्देश्य को भी संशोधित व परिवर्तित कर उन परिस्थितियों के अनुकूल बनाया जाय। अतः उद्देश्य लचकदार होने चाहिए। वास्तव में उद्देश्य एक क्रिया-समूह की प्रारम्भिक रूप-रेखा है और यदि वह क्रिया-समूह किसी अंश तक परिवर्तित होता है तो उद्देश्य में भी परिवर्तन करना आवश्यक है।

(स) अच्छे उद्देश्य का मापदण्ड यह भी है कि उसकी प्राप्ति के प्रयत्न में व्यक्ति की शक्तियों को स्वतन्त्रता पूर्वक प्रयुक्त होने का अवसर मिले। उद्देश्य मानव की शक्तियों को प्रयुक्त होने का अवसर देते हैं और यदि उनकी शक्तियों का मार्ग अवरुद्ध होता है तो उद्देश्य साधक न होकर बाधक हो जाते हैं।

शिक्षा में उद्देश्यों को निर्धारित करते समय यह ध्यान देना है कि हमारे उद्देश्य हमारी क्रियाओं के बाहर नहीं हों, बल्कि वे हमारी नैसर्गिक प्रवृत्तियों, शक्तियों, मनोवृत्तियों व अभिरुचियों के आधार पर खड़े हों तथा हमारी शक्ति द्वारा प्राप्त हो सकें। साथ ही साथ हमारे उद्देश्य ऐसे हों जिनकी पूर्ति के लिए वर्तमान परिस्थितियों में साधन उपलब्ध हों। कोई भी उद्देश्य जो इन मापदण्डों के ऊपर स्थित नहीं है अप्राप्य होंगे और इसलिए मानव की क्रियाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होगा। अतः वे निरर्थक होंगे।

इन दो दार्शनिक विचार-धाराओं के आधार पर हमें शिक्षा के उद्देश्यों की प्रकृति व सीमा का आभास होता है। यदि हम आदर्शवाद को स्वीकार करते हैं तो हमारे उद्देश्य निश्चित तथा सर्वदा के लिए दृढ़ व निश्चित स्पष्ट होते हैं और हम यह स्वीकार करते हैं कि हमारी शिक्षा उन उद्देश्यों को लेकर उनकी प्राप्ति के लिए हमें क्षमता प्रदान करे। यदि हम प्रयोगवादी या व्यापक रूप में प्रकृतिवादी विचार धारा को स्वीकार करते है तो हमारे उद्देश्य हमारी प्रकृति, क्रिया-कलापों व सामाजिक व अन्य परिस्थितियों से विशेष सम्बन्ध रखते हैं और उनके परिवर्तन के साथ-

---

2 Cf. Democracy and Education, Chap. VIII.

साथ बदलते रहते हैं। तर्क द्वारा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कौन-सी विचार-धारा हमें स्वीकार करनी चाहिए क्योंकि हमारे स्वयं के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं और वे हमारे विचारों व हमारी भावनाओं की विभिन्नताओं के परिचायक हैं। हम इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि यद्यपि एक ओर आदर्शवादी विचार-धारा निश्चित, निश्चल तथा हमारी मानसिक क्रिया को मौन व स्तब्ध कर देती है तो दूसरी ओर प्रयोगवादी विचार-धारा उद्देश्यों को प्रकृति से ही परिवर्तन-शील, लचकदार, समय व परिस्थितियों के वशीभूत बनाकर हमें उन परिवर्तनों के मध्य निश्चित तत्व के प्रति विमुख कर देती है और हम यह नहीं समझ पाते हैं कि सृष्टि की इस विभिन्नता तथा परिवर्तनशील रूप के पीछे कोई अपरिवर्तनशील व स्थिर रूप है या नहीं यदि आदर्शवादी विचार-धारा का भय एक प्रकार की मानसिक कठोरता में है तो प्रयोगवादी विचार-धारा का भय मानव के अत्यधिक इन्द्रिय-जन्य अनुभवों की ठोसता को स्वीकार करने में है। क्या हमारे उद्देश्य वही हैं जिनका हमारे अनुभवों से प्रयोजन है ? क्या स्वार्थ-रहित भावना से हम कोई कार्य नहीं करते ? क्या निश्चल व निश्चित उद्देश्यों के अनादर के कारण हमारे समाज में दोष व बीमारियाँ बढ़ती नहीं जातीं ? क्या मानव-अनुभवों को आधार मानना हमें अपनी दुर्बलता का आभास नहीं देता ? क्या मानव का अनुभव ही वास्तविक सत्य है ? क्या विकास की कहानी में मानव और उसके अनुभव ही अन्तिम सत्य हैं ?..... इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ने में हमें प्रयोगवादी विचार-धारा की सीमाएँ प्रतीत होने लगती हैं। अस्तु।

दार्शनिक मतभेदों के आधार पर ही शिक्षा के उद्देश्यों में विभिन्नताएँ सम्मुख आती हैं। वैसे तो जैसा कि हम पहले कह चुके हैं शिक्षा मानव को मानव बनकर रहना सिखाती है और सुन्दर ढंग से रहना सिखाना ही शिक्षा की जिम्मेदारी है, परन्तु सुन्दर ढंग से रहना या सुन्दर जीवन क्या है इसके ऊपर दार्शनिक मतभेद फिर अपनी-अपनी विचार-धारा व तर्क लगा सकते हैं जिनमें हम यहाँ घुसना नहीं चाहते। हमारे लिए यह स्पष्ट है कि शिक्षा हमारे जीवन की आवश्यकता है और उसके द्वारा व्यक्ति के व्यवहार, चरित्र, आचरण, मनोवृत्ति, भावनाओं, विचारों आदि में कुछ परिवर्तन होते हैं जिनसे वह संस्कृत व सुन्दर जीवन बिताने की क्षमता प्राप्त करता है और इस प्रकार अपना विकास करता हुआ समाज का हित भी करता है। इस व्यापक अर्थ में शिक्षा को लेकर ही हम शिक्षा के उद्देश्य बनाते हैं और उनकी पूर्ति के लिए अपना शिक्षा का ढंग व संगठन बनाते हैं। शिक्षा के इस व्यापक उद्देश्य को अधिक संयत, निश्चित व सम्बद्ध करने की शिक्षा-शास्त्रियों ने बहुत कोशिश की है। उद्देश्यों के सम्बन्ध में मौलिक मतभेद नहीं हैं परन्तु मूल्यों के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं—कौन-सी बात या कौन मूल्य पहले और कौन बाद में—व्यक्ति पहले या समाज पहले, ज्ञान पहले या अर्थ पहले, परिस्थति पहले या मानव-अनुभव

पहले आदि। शिक्षा के मूल्यों से सम्बन्धित विषयों में प्राथमिकता के आधार पर मतभेद होने के कारण उद्देश्यों को भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया। उनमें कुछ की यहाँ पर हम व्याख्या कर देना चाहते हैं।

(1) **चरित्र-निर्माण**—शिक्षा के उद्देश्यों में चरित्र-निर्माण एक बहुत महत्त्व-पूर्ण उद्देश्य है चाहे कोई शिक्षा-शास्त्री उसे स्पष्ट रूप में लिखे या न लिखे। इसके सम्बन्ध में दो राय नहीं हो सकतीं। मानव को मानव बनकर रहना सिखाना शिक्षा का परम लक्ष्य है और व्यापक रूप में ये सब बातें चरित्र-निर्माण में आ जाती हैं। व्यक्तिगत चरित्र ही सामाजिक व राष्ट्रीय स्तर को ऊँचा उठाता है और उसकी उन्नति का स्रोत व साधन है। हमारे प्राचीन साहित्य में भी चरित्र-निर्माण को शिक्षा का लक्ष्य स्वीकार किया गया है। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री हरबर्ट (Herbart) ने तो कहा है कि शिक्षा का सम्पूर्ण कार्य एक शब्द में ही बाँधा जा सकता है और वह है—'नैतिकता'।[1] यदि शिक्षा ने व्यक्ति के चरित्र को सुन्दर बना दिया और उसके व्यवहार को परिष्कृत, संस्कृत, व शुद्ध बना दिया तो शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति हो गई। ऐसा व्यक्ति निश्चय ही अपनी नैसर्गिक शक्तियों का उचित प्रयोग करता है और अपनी मूलप्रवृत्तियों की उच्छृङ्खलता का शमन करता हुआ उनको सामाजिक रूप देता है। सच्चरित्र व सदाचारी व्यक्ति ही शिक्षित कहलाने का अधिकारी है। यदि शिक्षा प्राप्त करने पर कोई व्यक्ति अपनी मूल-प्रवृत्तियों की पाशविकता पर नियन्त्रण नहीं कर पाया और वह अपने व्यवहार में शुद्धता व सौम्यता नहीं ला पाया तो वह शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सका।

यहाँ पर हमें एक बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। जब हम चरित्र-निर्माण की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय नैतिक दृष्टि से शुद्ध आचरण से ही नहीं होना चाहिए।

चरित्र-निर्माण को शिक्षा का उद्देश्य बताने में एक बड़ी आलोचना का सामना करता पड़ता है और वह यह कि चरित्र-निर्माण से क्या प्रयोजन है—इसका स्पष्ट उत्तर देना कठिन हो जाता है। यदि व्यक्तिगत चरित्र की सरलता, शुद्धता, सौम्यता आदि चरित्र-निर्माण के क्षेत्र में हैं और कोई बात नहीं है तो चरित्र-निर्माण का उद्देश्य पर्याप्त प्रतीत नहीं होता। हम यह नहीं कहते कि यह शिक्षा का उद्देश्य नहीं है परन्तु हम यह कह देना चाहते हैं कि यह उद्देश्य पर्याप्त नहीं है। अच्छे चरित्र के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति को अपनी जीविकोपार्जन की क्षमता प्राप्त हो, उसमें व्यवहार-कुशलता आ जावे; वह अपने साथियों के साथ अपना सम्बन्ध निश्चित कर सके, वह समाज के हितों को समझे,

---

[1] "The one and the whole work of education may be summed up in the concept—morality."

और उनकी रक्षा के लिए अपना योग दे सके आदि। व्यक्ति का चरित्र ऊँचा होना बहुत आवश्यक है परन्तु वही एक महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, और भी अनेक ऐसी बातें हैं जो शिक्षा द्वारा व्यक्ति को प्राप्त करनी हैं, जिनके बिना उसका जीवन ही सम्भव नहीं। अतः चरित्र-निर्माण शिक्षा का एक बहुत महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है परन्तु वही अकेला महत्त्व नहीं रखता है, उसके अलावा अन्य बातें भी हैं जो महत्त्व रखती हैं।

(2) **सन्तुलित विकास** (Harmonious development)--अनेक शिक्षा-शास्त्रियों ने व्यक्ति के व्यक्तित्व के सन्तुलित विकास को शिक्षा का उद्देश्य माना है। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री पेस्तालॉजी (Pestalozzi) ने कहा है कि मानव-समाज का विकास व उसकी उन्नति व्यक्तिगत विकास के आधार पर हो सकती है और उसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को पूर्ण विकास का अवसर प्राप्त हो। व्यक्ति के पूर्ण विकास से तात्पर्य है उसकी शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियों का पूर्ण विकास, इस रूप में कि किसी एक दिशा में विकास असंतुलित न हो। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक व आत्मिक—तीनों प्रकार का विकास आवश्यक है, उसकी शक्तियों को प्रस्फुटित होने तथा विकसित होने का अवसर मिले तथा किसी भी रूप में वे अपने विकास में अवरुद्ध न हों। शिक्षा का कार्य वह सुविधाएँ प्रदान करना है जिनमें व्यक्ति की शक्तियों को विकसित होने का अवसर मिल सके। वे शक्तियाँ उचित अवसर व भूमि पाने पर अन्दर से स्वयं ही निकलती हैं और विकास को प्राप्त होती हैं। शिक्षा का उद्देश्य उन शक्तियों को पूर्णरूप से विकसित होने देना है जिससे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके।[1]

हम इस उद्देश्य को भी उतना ही महत्त्व देते हैं जितना चरित्र-निर्माण के उद्देश्य को क्योंकि यदि मानव की शक्तियों का विकास ही नहीं हुआ तो उसका चरित्र भी नहीं बन सकता और यदि वह विकास एक दिशा में हुआ, सन्तुलित अथवा सम-विकास न हुआ तो भी व्यक्तित्व अपूर्ण रह गया और चरित्र-निर्माण न हुआ। चरित्र-निर्माण और मानव के व्यक्तित्व का विकास दोनों ही एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और बिना एक के दूसरे की पूर्ति नहीं हो सकती। परन्तु यहाँ भी वही प्रश्न उठता है जो पहले उद्देश्य में उठा—संतुलित विकास से क्या तात्पर्य है और किस प्रकार का विकास संतुलित विकास कहा जा सकता है? क्या जीविकोपार्जन की क्षमता,

---

1 "According to Pestalozzi, 'specialised development of one side of human nature is unnatural and false. Education worth the name strives after the perfection of man's powers in their completeness.' To consider any one capacity exclusively is to undermine and destroy man's natural equilibrium."

व्यवहार-कुशलता समाज-हित आदि बातें संतुलित विकास में आती हैं ? प्रत्यक्ष रूप से नहीं। तो क्या संतुलित विकास पर्याप्त है ? यदि है तो वह विकास किस परिस्थिति में होगा और उसका क्षेत्र क्या होगा ? कहने का तात्पर्य यह है कि हम स्वीकार करते हैं कि मानव के व्यक्तित्व का विकास जिसका मतलब है उसकी सम्पूर्ण शक्तियों का विकास, शिक्षा का एक बहुत बड़ा उद्देश्य है परन्तु हम यह नहीं समझ पा रहे हैं कि इस उद्देश्य को निश्चित करने में इसकी सीमा व प्रकृति क्या है ? हमारे पास क्या मापदण्ड है और हमारा क्या दृष्टिकोण है जिसके आधार पर हम यह कहें कि अमुक व्यक्ति का संतुलित विकास हो पाया और अमुक का नहीं और जिसका हो पाया उसका किस सीमा तक हो पाया। वैज्ञानिक प्रवृत्ति व प्रयोजनवादी विचार धारा निश्चित व द्व्यर्थक शब्दावली को स्वीकार नहीं कर सकती। आदर्श में यह उद्देश्य उतना ही सुन्दर है जितना चरित्र-निर्माण का परन्तु इसकी व्याख्या अपूर्ण है और इसलिए इसका क्षेत्र, इसे प्राप्त करने के साधन, इसकी सीमा,—ये सब अनिश्चित हैं।

(3) **जीविकोपार्जन का उद्देश्य** (Vocational Aim)—मनुष्य को जीवित रहने के लिये जीविकोपार्जन की क्षमता प्राप्त कर लेना बहुत आवश्यक है। स्वयं को जीवित रखना प्रकृति का सबसे पहला नियम है और मनुष्य की सब क्रियाएँ भौतिक रूप में स्वयं को जीवित रखने के लिए होती हैं। कोई व्यक्ति चाहे कितना ही ज्ञान प्राप्त करने की पिपासा रखता हो परन्तु वह पिपासा तभी माने रखती है जब उसकी उदर पूर्ति होती रहती है। अतः जीविकोपार्जन की क्षमता प्राप्त कर लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है और उसकी शिक्षा को उसे वह क्षमता प्राप्त करा देना अत्यन्त महत्व रखता है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या जीविकोपार्जन की क्षमता प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त है ? क्या अपने उदर को भरने की शक्ति प्राप्त कर लेना ही मानव का परम लक्ष्य है ? क्या पशु भी अपनी इस क्षुधा को भर लेने की शक्ति प्राप्त नहीं कर लेते हैं ? क्या रोटी-दाल की समस्या ही सबसे बड़ी समस्या है ? क्या मानव रोटी से ही जीवित रहता है ? आदि आदि। हम पिछले अध्याय में इस बात पर जोर दे आए हैं कि मानव को मानव बनकर रहने के लिए भौतिक स्तर से ऊँचा उठने की आवश्यकता है। मनुष्य केवल रोटी खाकर ही जीवित नहीं रह सकता। रोटी तो उसके शारीरिक जीवन को स्थित रखने के लिए आवश्यक है परन्तु मानव का शारीरिक जीवन ही उसे मानव नहीं बनाता।[1] उसका व्यवसाय जिसके जरिए वह अपनी उदर पूर्ति का साधन निकालता है उसकी आवश्यकताओं में एक है, वही अकेला उसकी आवश्यकता नहीं

---

1 "Man cannot live without bread and he cannot live humanly and spiritually by bread alone."—*Horne H. H.* : op. cit. p. 156.

है। मानव की वास्तविक आवश्यकता उसकी निरन्तर ज्ञान की खोज, जीवन को समझने और उसे सुन्दर बनाने की उसकी लालसा, सृष्टि को समझने तथा उसके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करने की उसकी उत्कण्ठा, सत्य मार्ग पर चलना और उसकी प्रतिष्ठा को स्थायी करने की अभिलाषा, मानव-संस्कृति व सभ्यता को ऊँचा उठाने का प्रयत्न—ये सब हैं और इन्हीं की तृप्ति तथा इनकी साधना करने में ही मानव को मानवीय सुख प्राप्त होता है। अतः उदर-पूर्ति का लक्ष्य महत्त्वपूर्ण होते हुए भी प्रधान लक्ष्य नहीं है बल्कि गौण है और उसे शिक्षा का परम उद्देश्य मानना संगत प्रतीत नहीं होता।[1]

जीविकोपार्जन सम्बन्धी शिक्षा के सम्बन्ध में उसका उदार शिक्षा से सम्बन्ध निश्चित करते हुए हमें एक बात यह कह देनी है कि वास्तव में हमें उदार शिक्षा (Liberal education) में जो हमारी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के विकास व हमारे ज्ञान की वृद्धि आदि से सम्बन्ध रखती है, ये और व्यावसायिक शिक्षा में जो हमें जीविकोपार्जन की क्षमता देती है, किसी भी प्रकार का अप्राकृतिक भेद स्थापित नहीं करना चाहिये। यह देखने में आता है कि उदार शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा (Liberal education and Vocational education) में प्रायः भेद करने की सामान्य मनोवृत्ति हो गई है और एक दूसरी को एक दूसरी से भिन्न माना जाता है। वस्तुतः ऐसा भेद करने से हमारी शिक्षा पंगु बन जाती है। हम यह मानते हैं कि दोनों प्रकार की शिक्षा में भेद है परन्तु वे एक दूसरे की पूरक भी हैं और एक की अनुपस्थिति में दूसरी को नहीं दिया जा सकता। एक संतुलित दृष्टिकोण इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं को आवश्यक मानकर दोनों का पाठ्यक्रम में सन्तुलन करता है और दोनों को एक दूसरे का पूरक स्वीकार करता है। जीवन के लिए दोनों ही आवश्यक हैं और दोनों का समान महत्त्व है। दोनों प्रकार की शिक्षाओं में समन्वय स्थापित करना शिक्षा-दर्शन का मूल तत्त्व होना चाहिए।[2]

---

1 "The unfulfilled ends of his (man's) being are the increasing knowledge of the truth, increasing wisdom in the application of his knowledge to the problems of living, increasing enjoyment of persons and things worthy of love and appreciation, increasing realisation of a proper organisation of mankind on the earth, increasing fulfilment of an unconditional obligation to know and to do the right, the increasing reverence for the spiritual realities of existence." —*Horne, H. H.* : op. cit. p. 156.

2 "It is an everlasting pity that so sharp a dichotomy has established itself in our minds between liberal education and vocational training, with the false implication that the former is somehow higher though useless, and the latter, useful but

(पेज 35 पर देखिए)

(4) **शिक्षा ज्ञान के लिए** (Knowledge Aim)—शिक्षा का मानव को ज्ञान देने का उद्देश्य बहुत दिनों से चला आ रहा है और लोग साधारण व्यवहार में यह स्वीकार भी करते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान प्रदान करना है। इस विषय में कोई संशय नहीं कि शिक्षा का उद्देश्य बालक को ज्ञान देना है। परन्तु केवल ज्ञान देकर ही शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती। ज्ञान केवल ज्ञान के लिए एक कोरी आदर्शवादिता है, इसमें तथ्य नहीं मालूम पड़ता। कोरा ज्ञान होने पर व्यवहार-कुशलता के अभाव में व्यक्ति अपना जीवन सफल नहीं कर पाता। ज्ञान का मूल्य तभी है जब वह व्यक्ति को व्यवहार-कुशल बनावे अर्थात् ज्ञान व्यक्ति के व्यवहार, विचार, चिन्तन, मनोवृत्ति आदि में झलकता हो। यदि ज्ञान प्रयोग की कसौटी पर नहीं उतरता, यदि उसका व्यक्ति उचित उपयोग नहीं कर पाता तो वह उसके मस्तिष्क में पड़ा हुआ सड़ता भले ही रहे, संसार में उसकी कोई कीमत नहीं। अतः ज्ञान का उद्देश्य तो बहुत अच्छा है परन्तु ज्ञान ज्ञान के लिए न होकर प्रयोग के लिए हो और व्यक्ति उसको अपने व्यवहार में प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त कर ले। अन्यथा ज्ञान को ज्ञान के लिए शिक्षा का आदर्श स्वीकार करना दार्शनिकों की तर्क-पिपासा को भले ही शान्त कर दे, व्यावहारिक जीवन में उसका कोई मूल्य नहीं।

इस सम्बन्ध में हम एक बात और कह देना चाहते हैं और वह यह कि ज्ञान-प्राप्ति को शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मानकर तथा उसकी वास्तविकता

(पेज 34 का शेष)

somehow crass and demeaning. If these two equally essential preparations for life are thus divorced, a *merely* liberal education will indeed tend to be useless, and a *merely* vocational training, crass. What is obviously needed is a truly liberal academic community in which the study of art and type-writing, of philosophy and accounting, of theology and medicine, of pure and applied science are, though admittedly very different, judged to be equally honorable and valuable in their several ways. In such a community the so-called liberal disciplines would indeed be liberal because they would be studied and taught with an eye to the total enrichment of the life of responsible members of a free society ; and in such a community the acquisition of the vocational skills, from the simplest to the most complex, would be equally liberal because they would be taught not in a spirit of predatory egoism, but in a spirit of deep social concern for the needs of others and for the common good."

—*Greene, Theodore M.* : A Liberal Christian Idealist Philosophy of Education, Fifty-fourth Year-book, op. cit., p. 119.

को न समझने के कारण बहुत-से शिक्षक व अभिभावक अपने बालकों को पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर लेने तथा परीक्षा पास कर लेने पर बहुत जोर देते हैं। इस उद्देश्य का पाठ्य क्रम पर एक विपरीत प्रभाव पड़ा है और वह यह कि पाठ्यक्रम जीवन-क्रिया-शून्य होकर मानसिक-क्रिया मात्र रह गया है। परिणाम यह हुआ है कि बालक ज्ञान प्राप्त तो कर लेते हैं परन्तु उसका उचित प्रयोग नहीं कर पाते हैं। संस्कृत में एक श्लोक है जिसे बहुतों ने पढ़ा होगा—

अपि शास्त्रेषु कुशलाः लोकाचारविवर्जिता
सर्वे ते हास्यतां यान्ति यथा ते मूर्ख पंडिताः।

यह श्लोक मूर्ख पंडितों की एक कहानी के सन्दर्भ में आया है परन्तु इसको यहाँ उद्धृत करने का हमारा आशय एकमात्र यही है कि हमारे पाठ्यक्रमों में ज्ञान-वृद्धि पर जोर और उसकी जीवन को उपयोगिता से दूरी हमारी शिक्षा के उद्देश्यों की भारी दुर्बलता है। ज्ञान प्राप्ति शिक्षा का बहुत उच्च आदर्श है परन्तु उस ज्ञान को जीवन में प्रयोग में लाने की क्षमता उससे अधिक महत्त्व रखती है।

(5) **शिक्षा पूर्णतामय जीवन बिताने के लिए** (Complete living)—शिक्षा में वैज्ञानिक विचार-धारा के उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख प्रवर्तक हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने पूर्ण रूपेण जीवन व्यतीत करने की क्षमता प्रदान करना शिक्षा का उद्देश्य बतलाया है। उसका मत है कि शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य हमें वह क्षमता प्रदान करना है जिसके द्वारा हम पूर्ण रूप में जीवन व्यतीत कर सकें।[1] अपने उद्देश्य की व्याख्या करते हुए हर्बर्ट स्पेन्सर का कहना है कि जीवन को पूर्ण रूप में बिताने के लिए कुछ क्रियाओं की कुशलता प्राप्त कर लेनी है और वे क्रियाएँ उन्होंने निम्नलिखित रूप में प्राथमिकता के आधार पर बतलाई हैं :—

(अ) वे क्रियाएँ जो प्रत्यक्ष रूप में व्यक्ति को अपना जीवन व्यतीत करने में सहायक होती हैं। इन क्रियाओं में कुशलता प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक विषय जैसे स्वास्थ्य-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, रसायन-शास्त्र, शरीर-विज्ञान आदि का पढ़ाना बहुत आवश्यक है। पाठ्यक्रम में इन विषयों को सबसे प्रथम स्थान देने के लिए हर्बर्ट स्पेन्सर ने कहा है।

(ब) वे क्रियाएँ जो अप्रत्यक्ष रूप में जीवन स्थित रखने में सहायक होती हैं और इन क्रियाओं के लिए गणित, प्राणि-विज्ञान, समाज-शास्त्र, भौतिक विज्ञान आदि विषय सहायक हैं। अतः पाठ्यक्रम में दूसरा स्थान इन विषयों को देना चाहिए।

---

1 "The prepare us for complete living is the function which education has discharged and the only rational mode of judging of any educational course is to judge in what degree it discharges such function."

(स) वे क्रियाएँ जिनकी क्षमता सन्तान के पालन-पोषण में मदद करती हैं। इनके लिए मनोविज्ञान, नीति-शास्त्र, स्वास्थ्य-विज्ञान—ये विषय आवश्यक हैं। अतः तीसरा स्थान पाठ्यक्रम में इन विषयों का आता है।

(द) वे क्रियाएँ जिनके द्वारा हम अपने सामाजिक व राजनैतिक सम्बन्ध स्थित रख सकते हैं। इतिहास, राजनीति, अर्थ-शास्त्र आदि विषय पढ़ना और पढ़ाना इनके लिए आवश्यक हैं और पाठ्यक्रम में चौथा महत्त्वपूर्ण स्थान इनका है।

(य) पाँचवें स्थान पर वे क्रियाएँ हैं जो हमें अपना अवकाश का समय भली प्रकार बिताने के लिए क्षमता देती हैं। चूँकि ये अवकाश के समय की क्रियाएँ हैं अतः पाठ्यक्रम में भी अवकाश का समय ही इन्हें मिलना चाहिए। इन क्रियाओं से सम्बन्धित विषय साहित्य, संगीत, कला आदि हैं।

हर्बर्ट स्पेन्सर विज्ञान की शिक्षा को बहुत महत्त्व देता है। उन्नीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक उन्नति काफी हो चुकी थी परन्तु स्कूलों के पाठ्यक्रम में विज्ञान की शिक्षा को उतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त न था जितना होना चाहिए। अतः उसने तत्कालीन शैक्षिक मनोवृत्ति की कड़ी आलोचना की और विज्ञान की शिक्षा के ऊपर बहुत बल दिया। दार्शनिक दृष्टि से हर्बर्ट स्पेन्सर शिक्षा में प्रकृतिवादी विचार-धारा का उत्कट उपासक माना जाता है और उसकी शिक्षा के सम्बन्ध में विचार-धारा उसकी इस मनोवृत्ति की पूर्ण रूपेण परिचायक है।

हर्बर्ट स्पेन्सर के विचारों का हम खण्डन नहीं करते और यह स्वीकार करते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य मानव को जीवन को सुन्दर ढंग से बिताने की क्षमता देना है परन्तु साथ ही साथ हम उसकी अतीव भौतिकवादी विचार-धारा से सहमत नहीं होते। यह सत्य है कि प्रकृतिवादी मानव समस्त क्रियाओं का स्रोत उसके जीवित रहने की इच्छा को मानते हैं परन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि मानव सिर्फ शारीरिक जीवन ही व्यतीत नहीं करना चाहता बल्कि मानव-शरीर धारण करके वह उन उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहता है जिन उद्देश्यों को मानव शरीर के धारण किए बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। शरीर धारण करके शरीर की रक्षा तो सभी करना चाहते हैं परन्तु मानव-शरीर धारण कर उसकी सार्थकता प्रमाणित करने की मानव की ही अभिलाषा होती है। अतः शारीरिक स्तर पर जीवन-यापन करके ही मानव को सन्तोष प्राप्त नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत किशोरावस्था व युवावस्था में शरीर के प्रति इतना मोह नहीं होता जितना जीवन की वास्तविकता के मापदण्ड पर अपने जीवन को तौलने की उत्कण्ठा होती है। जीवित रहने की प्रवृत्ति तो नैसर्गिक है परन्तु प्रारम्भिक अवस्थाओं में जीवन से इतना मोह नहीं होता जितना मानव-जीवन के उन मूल्यों के आकर्षण जो मूल्य व्यक्ति को मृत्यु तक के भय से मुक्त कर देते हैं। आत्मोसर्ग की भावना जितनी प्रबल युवावस्था में होती है उतनी आगे चलकर नहीं। हम यहाँ इस विषय पर अधिक विचार व तर्क नहीं करना चाहते हैं। हमारा कहने का सारांश यह है कि प्रत्यक्ष रूप में जीवन को

स्थित रखने व जीवित रहने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है परन्तु वह प्रवृत्ति अन्य प्रवृत्तियों की मूल नहीं हैं और न मानव की सब क्रियाएँ उसी के ऊपर आधारित हैं।[1] अस्तु।

जीवन को पूर्णरूपेण बिताने के उद्देश्य का कोई खण्डन नहीं कर सकता परन्तु हर्बर्ट स्पेन्सर के द्वारा निर्धारित किए हुए क्रियाओं के क्रम की बहुत आलोचना हो सकती है। 'साहित्य संगीतकलाविहीनः, साक्षात् पशु पुच्छविषाण हीनः' वाली बात को हम भले ही ज्यों का त्यों स्वीकार न करें परन्तु स्पेन्सर ने साहित्य, कला, संगीत आदि को जो सबसे पीछे का स्थान दिया यह संगत प्रतीत नहीं होता। वास्तव में मनुष्य के व्यस्त जीवन में उसका अवकाश का समय बहुत मूल्य रखता है और एक विद्वान ने तो अवकाश के समय को इतना महत्व दिया है कि वह उसके प्रयोग के ऊपर मानव की सारी जीवन के प्रति मनोवृत्ति की धारणा कर सकता है। हमारी अवकाश के समय की क्रियाएँ कम मूल्य नहीं रखतीं और जहाँ हमें अपने व्यवसाय के लिए शिक्षा मिलती है वहाँ उसी मात्रा में अपने अवकाश के समय का सदुपयोग करने की शिक्षा भी मिले। हर्बर्ट स्पेन्सर का विषय-क्रम उस समय आया जब विज्ञान का बिल्कुल निरादर-सा था और जैसा कि उचित प्रतीत होता है प्रारम्भ में रोग की चिकित्सा के लिए तेज औषधियों की आवश्यकता है जिससे वह आगे न बढ़े। आज विज्ञान को पाठ्यक्रम में उचित स्थान प्राप्त है अतः यह आवश्यकता है कि शिक्षा के उद्देश्य और पाठ्यक्रम ऐसे हों जिनमें असंतुलित भावावेश से रंजित विचार-धारा स्थान न पाये। जीवन को पूर्णरूपेण बिताने की

---

1 *Cf. Ulich Robert R.* [Fundamentals of Democratic Education pp. 6—7]

"We do not live only in order to survive and do not educate only in order to further survival ; the essence of man lies in his desire for life, not only as a mere biological datum, but as something which is worth having and which provides a reality that he can love for its inherent values.....

"At the apex of vitality, in early manhood and wamanhood, the most richly endowed are often exposed to a gamut of feelings in which the tendency towards survival is perhaps less perceived than any other urge, even the urge toward danger and death. The history of literature shows that at no other age do the poets wirte more intensely about death than in youth, and in war no one goes into action more recklessly than the volunteers of student regiment. And this is not simply ignorance, youthful levity, and irresponsibility, but a tendency deeply rooted in the very grounds of existence."

क्षमता का उद्देश्य बिल्कुल उपयुक्त है परन्तु पूर्ण जीवन क्या है इनकी हमें अपनी परिस्थितियों और संयत दर्शन की विचार-धारा की पृष्ठभूमि पर व्याख्या करनी होगी।

(6) **व्यक्तित्व का विकास और समाज-हित** (Individual *vs* Social aims of Education)—अब हम शिक्षा के दो प्रमुख उद्देश्यों के सम्बन्ध में विचार करेंगे जो हैं व्यक्तित्व का विकास और समाज-हित। बहुधा इन दोनों उद्देश्यों में पारस्परिक विरोध माना गया है यद्यपि बिना इनकी व्याख्या किए हुए हम यह नहीं कह सकते कि संगत विचार क्या है। वाह्य रूप में दोनों एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नजर आते हैं और जैसा कि एक विद्वान ने कहा है "समाज के हितों और उनके सदस्यों के हितों में किसी एक समय पर सामंजस्य नहीं हो सकता। वे विरोधी ही रहेंगे, निश्चित रूप में तथा प्रकृति से वे एक दूसरे के विरोधी हैं।"[1] हमने इस उद्धरण को यहाँ किसी पक्ष में पाठकों का ध्यान आकर्षित करने व उनके स्वतन्त्र विचारों पर प्रभाव डालने के अभिप्राय से नहीं किया बल्कि इसलिए किया कि व्यक्ति व समाज के हितों में विरोध मानने की मनोवृत्ति कभी-कभी कितनी प्रबल भाषा में व्यक्त की जाती है यद्यपि बिना दोनों को समझे और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित किये किसी भी प्रकार की एकपक्षीय धारणा बनाना शिक्षा की दृष्टि से उचित नहीं है। अतः हम इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों को समझने के पूर्व संक्षेप में इन दोनों उद्देश्यों की पृथक्-पृथक् व्याख्या कर देना चाहते हैं।

व्यक्तित्व का विकास—व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य नवीन नहीं है। प्राचीन काल से ही शिक्षा को व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का साधन माना गया है।

प्राचीन काल में भारत तथा पाश्चात्य देशों में व्यक्तित्व के विकास को शिक्षा का परम उद्देश्य माना जाता था और इसमें संशय नहीं कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास शिक्षा के क्षेत्र में प्रथम आता है। यद्यपि समाज और व्यक्ति-इन दोनों में प्राथमिकता को निश्चित करना कठिन है परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि व्यक्तियों ने समाज का निर्माण किया और व्यक्तित्व के विकास के ऊपर समाज का कल्याण व विकास बहुत कुछ निर्भर करता है।

व्यक्तित्व के विकास के उद्देश्य की आधुनिक काल में नन (Nunn) महोदय ने दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से अपनी पुस्तक में व्याख्या की है।[2]

---

1 "The interests of the social organism and of the individuals comprising it at any particular time are actually antagonistic; they can never be reconciled; they are inherently and essentially irreconcilable." —*Benjamin Kidd* : Social Evolution, p. 85

2 Education : Its data and first principles.

व्यक्तित्व के विकास को उन्होंने बहुत महत्व दिया है। उनका कहना है कि "मानव-जगत में मनुष्य व स्त्रियों के स्वतन्त्र व्यवहार के बिना कोई भी हितकारी भाव पैदा नहीं हो सकता। अतः शिक्षा की व्यवस्था ऐसी की जाय जो इस सत्य के अनुकूल हो।[1] अतः शिक्षा को ऐसी रूप रेखा दी जाय और उसका ऐसा संगठन किया जाय कि व्यक्ति को अपने विकास के लिए पूर्ण रूप में अनुकूल परिस्थितियाँ उपलब्ध हो सकें जिनमें वह अपना विकास करता हुआ जीवन की पूर्णता का अनुभव कर सके और अपनी प्रकृति के अनुसार अपनी शक्तियों का पूर्ण विकास कर सके। नन महोदय का उद्देश्य रूसो, पेस्टालाजी, फ्रोबेल आदि शिक्षा-शास्त्रियों से भिन्न नहीं है परन्तु उनकी व्याख्या अधिक विस्तृत तथा वैज्ञानिक है जैसा कि अभी हम विचार करेंगे। अपने दृष्टिकोण की सार्थकता सिद्ध करने के लिए नन महोदय ने प्रकृति के नियम को भी जोड़ लिया है। उनका कहना है, कि समस्त प्राणी जगत् में प्रत्येक प्राणी अपने अधिकतम विकास के लिए प्रयत्न करता है अतः व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य प्रकृति के नियम के अनुकूल है। साथ ही साथ नन यह भी कहते हैं कि यदि शिक्षा का कोई सर्व-मान्य उद्देश्य निर्धारित करना है तो इनके अलावा दूसरा हो भी नहीं सकता (यद्यपि नन स्वयं एक उद्देश्य होने के पक्ष में नहीं है)। यदि यह माना जाय कि सुन्दर जीवन बिताना, अथवा पूर्ण जीवन बिताना अथवा नीति पूर्ण व्यवहार प्राप्त करना आदि शिक्षा के उद्देश्य हो सकते हैं तो ये उद्देश्य सर्व-मान्य नहीं हो सकते क्योंकि पूर्ण जीवन अथवा नैतिक व्यवहार, अथवा सुन्दर जीवन आदि को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की भिन्न परिभाषाएँ हैं।[2] किन्हीं दो व्यक्तियों की इनके सम्बन्ध में एक राय नहीं हो सकती। यदि शिक्षा का कोई सर्व-मान्य उद्देश्य निर्धारित करना है तो व्यक्तित्व के विकास के अलावा दूसरा कोई नहीं हो सकता।

यहाँ पर दो प्रश्न उठते हैं : (1) क्या शिक्षा के ऐसे उद्देश्य होने चाहिए जो सर्वमान्य हों अर्थात् विश्व में सब जगह और सब समय स्वीकृत हों ? (2) क्या व्यक्तित्व का विकास मानव की स्वच्छन्द प्रकृति को प्रेरणा नहीं देता और क्या व्यक्तित्व के विकास पर जोर देकर हम समाज के हित के महत्त्व को घटा नहीं देते ?

---

1 "Nothing good enters into the human world except in and through the free activities of individual men and women, and that educational practice must be shaped to accord with truth." p. 4.

2 "....For A's idea of a fine character turns out to be either ridiculous or rankly offensive to B; what C regard as complete living would be a spiritual death for D, when the *mens sana in corpore sons* that E reveres, F loathes as the soil of a prig housed in the body of a barbarian."

पहले प्रश्न का उत्तर देना कुछ विवाद का प्रश्न है। आधुनिक प्रयोजनवादी शिक्षा के उद्देश्यों को सर्वदा के लिए मान्य स्वीकार नहीं करते। वे इस बात को भी स्वीकार नहीं करते कि शिक्षा के उद्देश्य शिक्षा की प्रक्रिया से अलग हैं। मानव के अनुभव और उसकी क्रियाओं को महत्त्व देने वाला प्रयोजनवाद शिक्षा के उद्देश्य को परिवर्तनशील मानता है। चूँकि मानव का अनुभव और उसकी क्रियाएँ परिवर्तनशील हैं अतः शिक्षा भिन्न-भिन्न रूप लेगी और उसके उद्देश्य वही होंगे जो किसी एक समय पर किसी एक मानव-समाज ने निश्चित किए हैं। इसीलिए ड्यूई शिक्षा में उद्देश्य की बात को स्वीकार नहीं करता। वह कहता है कि शिक्षा के अनेक उद्देश्य हैं और जैसे-जैसे मानव क्रियाएँ सम्पादित करता जाता है वैसे-वैसे उद्देश्यों की पूर्ति होती जाती है। उसका मत यह है कि उद्देश्यों का सम्बन्ध परिणामों से है और परिणाम किसी क्रिया के करने पर पैदा होते हैं अतः क्रिया प्रमुख है और क्रिया की सार्थकता, उसका मूल्य, उसकी अविरलता—ये बातें महत्त्वपूर्ण हैं, उद्देश्य की बात करना फिजूल है। उद्देश्य अगर कोई है तो वह व्यवस्थित और क्रमिक ढंग से चलती हुई क्रिया है और उसका पूरा होना है।[1] लेकिन इस सम्बन्ध में हमें एक बात यह कहनी है कि प्रयोजनवादी शिक्षा के व्यावहारिक रूप पर अधिक जोर देते हैं, उसके दार्शनिक रूप पर उतना नहीं। प्रयोजनवाद की दृष्टि से शिक्षा-दर्शन व्यावहारिक रूप के आधार पर बने हुऐ सिद्धान्तों की शृंखला है। कहने का मतलब यह है कि प्रयोजनवादी विचार-धारा पहले व्यवहार, क्रिया, अनुभव आदि को देखती है और उसकी पृष्ठ-भूमि पर दर्शन का निर्माण करती है लेकिन शुद्ध दर्शन पहले सिद्धान्तों की समीक्षा करता है और विचार-धारा का निर्माण करता है जिसकी कसौटी पर व्यवहार को कसता है। नन की विचार-धारा दार्शनिक दृष्टि से विवाद का विषय नहीं और शिक्षा-दर्शन में हमें केवल व्यवहार व क्रियाओं को ही प्रधानता नहीं देनी है बल्कि उनके दार्शनिक आधार को ही प्रधानता देनी होगी वरना दर्शन

---

1 "To talk about an educational aim when approximately each act of a pupil is dictated by the teacher, when the only order in the sequence of his acts is that which comes from the assignment of lessons and the giving of directions by another, is to talk nonsense. It is equally fatal to an aim to permit capricious or discontinuous action in the name of spontaneous self-expression. An aim implies an orderly and ordered activity, one in which the order consists in the progressive completing of a process....Hence it is nonsense to talk about the aim of education —or any other undertaking—where conditions do not permit of foresight of results, and do not stimulate a person to look ahead to see what the course of a given activity is to be."

—*Dewey Jhon* : Democracy and Education, pp. 118—119

का कोई महत्व ही नहीं रह जाता। शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार करते समय हमें उनकी सर्वमान्यता की बात को उठाकर नहीं रख देना होगा क्योंकि उसके बिना शिक्षा-दर्शन का कोई महत्व ही नहीं रह जाता।[1]

एक बात इस सम्बन्ध में हम और कह देना चाहते हैं। जॉन ड्यूई जो प्रयोजन वादी विचार-धारा का प्रमुख प्रवर्तक है और जिसकी पुस्तक के कई उद्धरण देकर हमने प्रयोजनवादी विचार-धारा को शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में स्पष्ट किया है, भी अपने बाद के लेखों में अपनी प्रारम्भिक विचार-धारा में संशोधन करता हुआ नजर आता है। यहाँ इतना स्थान नहीं कि हम उसके प्रारम्भिक और बाद के विचारों में तुलना करें और उनका भेद स्पष्ट करें परन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि ड्यूई ने अपने उत्कट प्रयोजनवाद की विफलता को स्वयं अनुभव किया और यह भी अनुभव किया कि इस परिवर्तनशील जगत में कुछ ऐसे भाव, विचार व सिद्धान्त भी हैं जो बदलते नहीं हैं वरना उसके लेखों में "नैतिक आधार" (Moral foundation), "जीवन का नियम" (Low of life), 'दैवी और आदर्श लक्ष्यों का सामंजस्य' (The identification of the divine with ideal ends) आदि शब्दावली नहीं आ सकती थी। हम नीचे जॉन ड्यूई के कुछ वाक्यों को उद्धृत करते हैं और पाठकों का ध्यान सन् १९१६ में प्रकाशित 'डेमोक्रेसी एण्ड एजूकेशन' में ड्यूई की विचार-धारा में और २० वर्ष बाद की विचार-धारा में परिवर्तन की ओर संकेतमात्र कर देना चाहते हैं।[2]

इस विचार पर इतना अधिक समय देने का हमारा प्रयोजन सिर्फ यही था कि नन द्वारा व्यक्तित्व के विकास के सम्बन्ध में हम सर्व मान्यता का खंडन नहीं कर सकते। साथ ही साथ हम यह भी नहीं कह सकते कि शिक्षा का सर्वमान्य

---

1 "....a complete demonstration of the thesis that the ends of education are absolute and universal would show not only the possibility but also the actual existence of the philosophy of education."—*Adler Mortinier J*: In defense of the Philosophy of Education.
The Forty-first Year-book of the National Society for the study of Education, Pt. I, p. 238

2 "The reality of ideal ends and values in their authority over us is an undoubted fact. The validity of justice, affection and intellectual correspondence of our ideas with realities that we call truth is so assured in its hold upon humanity that it is unnecessary for the religious attitude to encounter itself with the apparatus of dogma and doctrine." [*John Dewey* : A Common Faith, p. 52 , Yale University Press, New Haven, conn. 1934. Quoted by ***Ulich, Robert*** in History of Educational Thought, p, 333]

उद्देश्य होना आवश्यक नहीं है। शिक्षा अन्तिम रूप में जीवन की आवश्यकता है और जहाँ जीवन है वहाँ शिक्षा के बदलते हुए स्वरूप के भीतर भी अन्तिम उद्देश्य की झलक व उसकी स्थिति को समाप्त नहीं किया जा सकता।

परन्तु जहाँ तक हमारे ऊपर दिए हुए दो प्रश्नों में दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है हमें व्यक्तित्व की व्याख्या किए बिना उसका जवाब देना कठिन प्रतीत होगा। प्रकृति के संसार में व्यक्तित्व का अर्थ दूसरा है और वह यह है कि प्रत्येक प्राणी अपने वातावरण में उसका उपयोग करता हुआ स्वतन्त्र रूप में विकास को प्राप्त करता है और प्राकृतिक रूप में उसके ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं है यदि वह वातावरण के अनुकूल अपने को बनाने में सफल होता है। परन्तु मानव-जगत् में व्यक्तित्व का अर्थ और उसके विकास का अर्थ वह नहीं है। नन की दृष्टि से व्यक्तित्व एक लक्ष्य है जिसे व्यक्ति को प्रयास करके प्राप्त करना है। यह प्रारम्भ में उसके पास नहीं है। व्यक्तित्व मानव की आध्यात्मिक पूर्णता का प्रतीक है और अपने विकास के क्रम में किसी भी स्तर या यह नहीं कहा जा सकता कि किसी व्यक्ति ने अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास प्राप्त कर लिया है। इस विचार को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम दो शब्दों का प्रयोग करते हैं; एक आत्मबोध (Self-realisation) और दूसरा आत्माभिव्यक्ति (Self-expression)। आत्मबोध से तात्पर्य है व्यक्ति द्वारा अपने को समझना और अपनी शक्तियों का अपनी आध्यात्मिक 'स्व' को समझने के लिए प्रयुक्त करना। आत्माभिव्यक्ति मानव को अपनी 'स्व' (Self) को वाह्य में रूप प्रगट करने से सम्बन्ध रखती है। आत्म-बोध और आत्माभिव्यक्ति में प्रमुख भेद दोनों क्रियाओं की प्रकृति में है। एक नियंत्रित है, दूसरी अनियंत्रित एक आन्तरिक है, दूसरी वाह्य; एक सीमा के अन्दर है दूसरी सीमा का उल्लंघन भी कर सकती है। अतः व्यक्तित्व के विकास से तात्पर्य है कि मानव शनैः-शनैः क्रमिक रूप में अपनी 'स्व' (Self) को समझ जाता है तथा उसकी शक्तियों का विकास करता जाता है और उस विकास के क्रम में तथा उसके द्वारा वह अपने जीवन के स्तर को उठाता जाता है। अपनी शक्तियों का विकास करके ही वह अपने जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और साथ ही साथ समाज के हित में भी योग देता है।

व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य एक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपना-अपना उद्देश्य निश्चित करता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग व्यक्तित्व है परन्तु दार्शनिक दृष्टि से वह शिक्षा के उद्देश्य की सर्वमान्यता को निश्चित करता है। अपनी व्याख्या में नन महोदय ने इस उद्देश्य को भिन्न रूप में रक्खा है :—[1]

(अ) प्रत्येक कला का उद्देश्य कुछ अच्छाई को प्राप्त करना होता है और चूंकि शिक्षा एक कला है अतः इसका उद्देश्य भी वही होगा।

---

1 Education Its date and first Principles.

(ब) शिक्षा के बहुत-से उद्देश्य हो सकते हैं लेकिन कोई उद्देश्य सर्वमान्य नहीं हो सकता क्योंकि एक उद्देश्य का होना बहुत कुछ भ्रमात्मक है। उसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी विचार-धारा के अनुसार उसके अलग-अलग अर्थ लगा सकता है।

(स) शिक्षा की प्रत्येक व्यवस्था मूल रूप में एक व्यावहारिक दर्शन के ऊपर आधारित है और उसका जीवन के प्रत्येक पहलू से सम्बन्ध है। अतः शिक्षा के उद्देश्य जीवन के उद्देश्यों से बँधे हुए हैं और चूँकि जीवन के उद्देश्य युग-युग में स्थान-स्थान पर भिन्न रहे हैं (जैसे कि यूनानी काल में जीवन के उद्देश्यों और प्यूरिटन जीवन के उद्देश्यों में भिन्नता है) इसलिए शिक्षा के उद्देश्य भी युग-युग में भिन्न हो सकते हैं।

(द) परन्तु एक दृष्टि से सब व्यक्ति सब समय समान रहे हैं और हैं। जन्म लेते समय सबका मस्तिष्क खाली रहता है। जिस प्रकार हमारे शरीर का आवरण दूसरों के द्वारा दिया जाता है उसी प्रकार हमारे मस्तिष्क का आवरण भी दूसरों के द्वारा दिया जाता है। यदि उस आवरण को छीन लिया जाय तो जिस प्रकार शरीर नंगा हो जावेगा उसी प्रकार हमारा मस्तिष्क भी नंगा हो जावेगा।

(य) यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का आदर्श दूसरों की प्रेरणा के आधार पर बनाता है परन्तु फिर भी हर एक का अपने-अपने जीवन का अलग-अलग दर्शन है और इसके परिणाम स्वरूप अलग-अलग आदर्श हो जाता है। शिक्षा को मनुष्य को अपने आदर्श की प्राप्ति और अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए परिस्थितियाँ उपत्न्न करनी हैं जिससे कि वह अपना कल्याण करता हुआ समस्त मानव जाति के हित में योग दे सके।[1]

समाज-हित और शिक्षा—व्यक्तित्व का विकास और उसका समाज-हित से सम्बन्ध तथा दोनों के समन्वय के ऊपर विचार करने से पहले हम समाज-हित को शिक्षा का उद्देश्य मानने वाली तथा उसे प्रमुखता देने वाली विचार-धारा के ऊपर थोड़ा विचार करेंगे। समाज-हित के उद्देश्य को दो प्रकार से माना जाता है : (1) राष्ट्रहित और व्यक्ति का राष्ट्र-हित के लिए जीवित रहना, (2) दूसरा नागरिकता व सामाजिक कुशलता। यह स्पष्ट है कि इन दोनों विचारों में प्रथम उत्कट व उग्र-रूप में समाज या राष्ट्र के हित को सामने रखता है और व्यक्ति को उसके नीचे

---

1 Education must secure for every one "the conditions" under which individuality is most completely developed, it must enable him "to make his original contribution" to the variegated whole of human life as full and as truly characteristic as his nature permits; the form of contribution being left to the individual as something which each must, in living and by living, forge out for himself." —*Nunn*

रखता है। दूसरा रूप जनतंत्रात्मक है और समाज-हित तथा व्यक्ति के हित में समन्वय रखता हुआ समाज को प्रमुखता प्रदान करता है।

राष्ट्र-हित का उद्देश्य नया नहीं है। प्राचीन काल में यूनान में ही दो राज्य थे जहाँ पर राष्ट्र-हित और व्यक्तित्व के विकास के आधार पर दो अलग-अलग सभ्यताएँ पनपीं। स्पार्टा के राज्य को एक उत्कट रूप में समाजवादी राष्ट्र कह सकते हैं जहाँ पर व्यक्ति पूर्ण रूप में राष्ट्र के हित के लिए जीवित रहता था और राष्ट्र के हित के लिए उसे बड़े से बड़ा बलिदान देने को तत्पर रहना पड़ता था। स्पार्टा की शिक्षा पूर्ण रूप में एक उच्चकोटि के सैनिक समाजवाद का प्रतीक है।[1] आधुनिक युग के जर्मनी का नाजीवाद, तथा इटली का फासिज्म उसी प्रकार की शिक्षा के प्रतीक थे। कम्युनिस्ट शिक्षा भी उसी प्रकार राष्ट्र के हित को प्रधानता देती है। यहाँ पर हम एक बात इस पक्ष में यह कह देना चाहते हैं कि जनतन्त्रीय शिक्षा जो व्यक्ति को प्रधानता देती है और एकतन्त्रीय शिक्षा जो राष्ट्र को या राज्य को प्रधानता देती है एक दूसरे के विरोधी होने पर भी विरोधी नहीं हैं। दोनों ही शिक्षा की आवश्यकता, शिक्षा को व्यक्तित्व के विकास का साधन, शिक्षा की जीवन के लिए आवश्यकता स्वीकार करते हैं। अन्तर केवल यही है कि दोनों, स्वतन्त्रता में विश्वास करते हुए उसका अपने-अपने लिए भिन्न अर्थ लगाते हैं। जिसे जनतन्त्रीय विचार-धारा स्वतन्त्रता कहती है उसे साम्यवादी निरंकुशता कहते हैं और जिसे साम्यवादी स्वतन्त्रता कहते हैं जनतन्त्रीय विचार से वह मानव-विकास के लिए अंकुश है।[2] खैर, इस विषय पर विचार करना हमारे क्षेत्र से यहाँ बाहर है।

तो यह रहा एक विचार जो राष्ट्र के हित को प्राधान्य देता है। राष्ट्र-हित के शिक्षा के उद्देश्य के प्रणेता फिशटे (Fichte) और हीगल (Hegal) भी थे जिनकी दृष्टि में राज्य सर्वोच्च सत्ता है और एकतंत्रात्मक राज्य सबसे उत्तम राज्य है। कान्ट (Kant) उसका विरोधी है। ऐसा क्यों है, यह फिर एक गंभीर विचार का

---

1 "Sparta prepared and trained for war and in peace rusted like a sword in its scabbard." —*Aristotle*
"Education for citizenship in Sparta meant education usefulness in an intensely military state."

2 "One may put this point in critical fashion. The liberal democrat in the name of self-government, confuses freedom with license; similarly the liberal educationist, in the name of individuality, confuses discipline with dogmatic authority ; and each, in the hypocritical setting of capitalism, is but following the capitalist himself who, in the name of freedom, confuses monopoly and oligopoly with free enterprise."

[*Cohen Roberts S* : On the Marxist Philosophy of Education, The Fifty-fourth Year-book, op. cit., p. 196]

विषय है और इसके सम्बन्ध में तात्कालिक परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक है। यह स्वाभाविक है कि मानव अपना दर्शन अपनी परिस्थितियों की पृष्ठ-भूमि पर ही बनाता है। वही उसके अनुभव की आधार शिला है और यद्यपि अपने अध्ययन तथा चिन्तन के आधार पर उसकी विचार-धारा परिस्थितियों के विपरीत हो सकती है परन्तु भौतिक रूप में परिस्थितियाँ ही उसके संस्कारों और आदर्शों पर अपना प्रभाव डालती हैं और यदि हीगल तथा फिशटे ने एकतन्त्रात्मक सत्ता में विश्वास किया और कान्ट ने उसका विरोध कर रूसो का पक्ष लिया तो यह इसलिए उसने अपनी आँखों से बैस्टिल के दुर्ग का पतन देखा और हीगल ने यूरोप को नेपोलियन द्वारा प्रशासित देखा। अस्तु।

सारांश यह है कि राष्ट्र-हितवाद व्यक्ति को राष्ट्र के लिए मानता है और उसको उतनी ही स्वतन्त्रता देता है जितनी राष्ट्र के हित के विरुद्ध नहीं जाती। वह व्यक्ति को राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति स्वीकार करता है परन्तु राष्ट्र हित के नीचे ही व्यक्ति के हित को रखता है। इसे राष्ट्र-समाजवाद (State socialism) भी कहा जा सकता है।

समाजवाद का दूसरा रूप अधिक जनतंत्रात्मक है और उसे समाज-हित व नागरिकता व सामाजिक कुशलता आदि कई नामों की संज्ञा भी दी जाती है। पाश्चात्य जगत् के आधुनिक जनतन्त्रीय देश जैसे इग्लैण्ड, अमेरिका तथा हमारा भारत इस उद्देश्य में विश्वास करते हैं। इसके अनुसार शिक्षा का सबसे बड़ा उद्देश्य व्यक्ति को सामाजिक कुशलता प्राप्त करा देना है जिससे व्यक्ति अपने हित को उतना ऊँचा न ले जाय कि समाज के हित का बलिदान कर दे। समाज के हित को सामने रख-कर वह अपना हित करे और उसी के साथ अपने हित की कामना करे। समाज-हित व सामाजिक कुशलता की व्याख्या करते हुए प्रो० बागले (Bagley) ने कहा है कि सामाजिक कुशलता में तीन बातें आतीं हैं :—

(1) आर्थिक कुशलता या योग्यता जिसका अर्थ है मानव की "अपना वजन" खींचने की क्षमता,

(2) नकारात्मक नैतिकता अर्थात् अपनी इच्छाओं को बलिदान करने की इच्छा यदि वे दूसरों की आर्थिक क्षमता के साथ टक्कर में आती हैं,

(3) सकारात्मक नैतिकता अर्थात् अपनी इच्छाओं को बलिदान करने की इच्छा यदि उनकी तृप्ति प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में समाज की उन्नति में सहायक नहीं है।[1]

व्यापक अर्थ में सामाजिक कुशलता का अर्थ मानव की सामूहिक क्रियाओं में भाग लेने की क्षमता है।[2] इस क्षमता का प्रतीक मानव-मस्तिष्क में सामाजिक

---

1 Educational values: *pp.* 107—108.

2 "Social efficiency'as an educational purpose should mean cultivation of power to join freely and fully in shared or common activities." —*Dewey, John* : Democracy and Education, p. 144

हित की भावना का संचार और अपने व दूसरे के अनुभवों को तथा अपने तथा दूसरे के हितों को अलग रखने की भावना को नष्ट करने की प्रवृत्ति है।[1] यदि सामाजिक कुशलता में मनुष्य में अपने और दूसरे के हितों का समन्वय करने की भावना नहीं आती तो वह सामाजिक कुशलता नहीं। प्रोफेसर बागले की सकारात्मक नैतिकता का भाव इस कथन में निहित है। जनतन्त्रीय शिक्षा किसी भी रूप में क्यों न हो मानव-हित के साथ-साथ एक दृढ़ मानव समाज की कल्पना करती है और इसलिए व्यक्तित्व से विकास के साथ सामाजिक विकास भी बहुत महत्व रखता है। समाज का हित, नागरिकता, कुशल समाज-कार्यक्षमता आदि इस दूसरे प्रकार के समाजवाद के पर्यायवाची हैं और शिक्षा के उद्देश्य हैं।

समाज-हित और व्यक्तित्व के विकास का समन्वय—बीसवीं शताब्दी समन्वय का युग है। राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक व अन्य क्षेत्रों में भले ही कितनी विषमता व संघर्ष का वातावरण दिखलाई पड़ता हो परन्तु समन्वय प्रयत्न की ओर ही है। दार्शनिक विचार की दृष्टि से किसी एक दार्शनिक सिद्धान्त का प्राधान्य नहीं है बल्कि सभी दर्शनों के समन्वय करने की प्रवृत्ति है। आगे चलकर हम इस बहु-मुखी या बहु-बिम्बवादी प्रवृत्ति पर विचार करेंगे। यहाँ यह संकेत कर देना चाहते हैं कि आज के जगत् में समन्वय के बिना कल्याण भी नहीं और जीवन की विभिन्न परिस्थितियाँ समन्वयवाद की ओर ही मानव को प्रवृत्त करती हैं। अतः विभिन्न विरोधी विचारों व आदर्शों में भी उनकी उग्रता को समाप्त कर समन्वय स्थापित करने की चेष्टा है। समय की गति और विषय की प्रकृति, इन दोनों की पृष्ठ-भूमि पर हम व्यक्ति और समाज तथा व्यक्तित्व का विकास व समाज-हित, इन पर विचार करेंगे और देखेंगे कि इनके उग्र रूप को त्याग कर किस प्रकार हमें इनमें एकता स्पष्ट होती है।

(1) 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है'—इस कथन में बहुत रहस्य छिपा हुआ है। इसका मतलब यही नहीं कि मनुष्य समाज में रहता है और समाज के बिना वह जिन्दा नहीं रह सकता बल्कि इसका तात्पर्य यह भी है कि मनुष्य समाज का एक अभिन्न अंग है जिसके बिना समाज छिन्न-भिन्न हो जावेगा। जिस प्रकार दीवाल ईंटों की बनी है उसमें से एक ईंट निकाल लेने पर उतने ही अंश तक दीवाल कमजोर हो जाती है उसी प्रकार व्यक्ति का समाज से निकल जाना समाज की कमजोरी का सूचक है। अतः यह है हुआ कि मानव समाज के बिना नहीं और समाज मानव के बिना नहीं।

---

[1] "In the broadest sense, social efficiency is nothing less than that socialisation of *mind* which is actively concerned in making experiences more communicable; in breaking down the barriers of social stratification which make individuals impervious to the interests of others."—*Ibid*, p. 141

(2) कार्ल मार्क्स ने अपने सारे जीवन पर मानव की प्रकृति का अध्ययन किया और उसके तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर हम यह अनुभव करते हैं कि आखिर 'समाज' शब्द की अनुपस्थिति में 'व्यक्ति' शब्द की कोई सार्थकता है ? तनिक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज की अनुपस्थिति में व्यक्ति एक खोखली संज्ञा है । व्यक्ति अपने में, अपनी स्वयं में, कभी नहीं रहता, वह सर्वदा समाज का सदस्य बनकर ही रहता है । अतः मानव का अध्ययन मानव समाज का अध्ययन है ।[1]

(3) व्यक्ति का व्यक्तित्व सामाजिक अर्थ ही रखता है । व्यक्तित्व का दूसरा कोई अर्थ नहीं है । जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति का व्यक्तित्व सुन्दर है, या आकर्षक है, या घृणित है, अथवा अमुक का निर्बल है या प्रभावशाली है तो हमारा मापदण्ड एक व्यक्तित्व की समाज के ऊपर छाप पड़ना होता है । जब हम किसी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में मूल्यांकन करते हैं तो वह समाज की अनुपस्थिति में नहीं हो सकता । दूसरे शब्दों में समाज की उपस्थिति ही व्यक्तित्व का कारण है और समाज के साथ टक्कर में आने पर ही व्यक्तित्व का मूल्यांकन होता है । वास्तविक 'स्व' (self) अकेली नहीं है बल्कि 'सामाजिक स्व' (Social self) के साथ है । दार्शनिक भाषा में वास्तविक 'स्व' में व्यक्ति और समाज, दोनों के 'स्व' शामिल हैं । और जैसा कि बॉल्डविन ने कहा है व्यक्तित्व की व्याख्या केवल सामाजिक अर्थ में ही की जा सकती है ।[2]

हमारे इस विचार को प्रस्तुत करने का लक्ष्य व्यक्तित्व के विकास और समाज-हित में समन्वय स्थापित करना है । जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं दोनों के लक्ष्य भिन्न नहीं हैं । अपने में एक पूर्ण रूप में भी अपूर्ण है और अपंगु है । व्यक्ति

---

1 "....man never exists in himself, he never lives as a true hermit. 'Man' is the wrong word ; we should speak of 'men' and we should ground our every speculation about men on the concrete behaviour and relations of men as we find them. The most conspicuous feature of men and women is that they must be discussed in the plural ; they are social by nature. The science of man will be the science of society. [*Cohen Robert S.* : On the Marxist Philosophy of Education, The Fifty-fourth Year-book. pp. 177—178]

2 Personality cannot be "expressed in any but social terms." "The real self is the bi-polar self, the social self, the socius, the 'ego' and the 'alter' are born together."
The term 'personality' "nearly always implies a reference to the way in which the individual concerned reacts upon other individuals." —*Adams* : Evolution of Educational Theories

को ऊपर और समाज को व्यक्ति के ऊपर नहीं रक्खा जा सकता। जनतन्त्रीय-शिक्षा दोनों में समन्वय स्थापित करके संतुलित शिक्षा की व्यवस्था में विश्वास रखती है जिसे प्राप्त कर मानव अपना हित करता हुआ समाज के हित में योग दे सकता है।

व्यक्ति का विकास और समाज-हित में पारस्परिक सम्बन्ध मानव-कृत ही नहीं है प्राकृतिक भी है और ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्पष्ट रूप में साबित हो जाता है। प्रारम्भ से ही शिक्षा की प्रक्रिया मानव और उसका वातावरण के साथ सम्पर्क तथा एक के दूसरे पर प्रभाव से सम्बन्ध रखती रही है। व्यक्ति को प्रारम्भ में अपने वातावरण के अनुकूल अपने को बनाना ही पड़ता है चाहे आगे चलकर वह कितना ही उस पर अधिकार कर ले। वातावरण की प्रमुखता तथा उसका मानव-विकास पर प्रभाव सर्वदा से ही स्वीकृत रहा है। हमारा कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य और उसका वातावरण एक दूसरे के विरोधी उत्पन्न नहीं हुए हैं। बल्कि उनका हमेशा का प्रकृति सह-सम्बन्ध है और उसे स्वीकार करना तथा उससे लाभ उठाना मानव का कर्तव्य है।

सामाजिक वातावरण मानव-कृत है और उसके साथ मनुष्य का और भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों के हित एक दूसरे से बँधे हुए हैं अतः किसी भी हालत में उन्हें विरोधी नहीं कहा जा सकता। समाज-हित का अर्थ यही है कि व्यक्तिगत हित का ही ध्यान न किया जाय। परन्तु व्यक्तिगत हित भी तभी हो सकता है जब व्यक्ति सबके हित का ध्यान रक्खे और सबके साथ मिलकर चले।[1]

समाज और व्यक्ति के पारस्परिक विरोध का आधार मानव की स्वतन्त्र प्रकृति और स्वतन्त्र स्थिति वाली विचार-धारा है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर विचार कर आए, हैं समाज से अलग व्यक्ति की कोई स्थिति ही नहीं है। प्रकृति से ही मानव अपनी सारी आवश्यकताओं को स्वयं ही पूरा करने में असमर्थ है। उसे दूसरों का सहारा लेना ही पड़ता है और उनके साथ कार्य करना ही पड़ता है। इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ कि मानव ने पहले पूर्णता प्राप्त करली हो और फिर पूर्ण समाज का जन्म हुआ हो अथवा पहले पूर्ण समाज का निर्माण हुआ फिर पूर्ण मानव तैयार हुआ। दोनों की पूर्णता एक दूसरे के ऊपर निर्भर होने के कारण साथ-साथ

1 "The common good, so far as it is accurately conceived and adequately pursued by co-operative action, is not something which excludes the welfare of the individual. It includes his welfare as one of its parts. The aim of the individual is to realise his capacities, to live a complete and unhampered human life. He cannot do this without the support of co-operative action, ordered in accordance with natural law." [*Wild, John* : Education of Human Society The Fiftyfourth Year Book, pp 47-48]

हुई या यों कहिए कि समाज का निर्माण व्यक्ति के निर्माण का ही अंग था और ज्यों-ज्यों व्यक्ति पूर्ण होता गया त्यों-त्यों समाज उन्नत होता गया और ज्यों-ज्यों समाज उन्नत होता गया व्यक्तित्व की पूर्णता सम्भावित होती गई।[1]

सारांश यह कि न तो व्यक्ति और न राज्य व समाज एक दूसरे से भिन्न होकर पूर्ण रूप में देखे जा सकते हैं। दोनों का हित दोनों के हितों की रक्षा पर निर्भर है और शिक्षा-योजना ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति को अपने विकास का पूर्ण अवसर देती हुई उसे वह योग्यता व क्षमता भी दे जिससे वह एक कुशल नागरिक बनकर अपना कल्याण करता हुआ समाज के कल्याण में अपना भाग ले सके और अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करते समय अपने वातावरण को जैसा उसने पाया था उससे सुन्दर छोड़ कर जाय।

शिक्षा के अन्य उद्देश्य

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं शिक्षा के अनेक उद्देश्य हो सकते हैं। हमने तो कुछ प्रमुख उद्देश्यों की ही व्याख्या की है। शिक्षा के उद्देश्यों की बहुतायत हमारी संस्कृति के बहुरूप के कारण है। किसी का कुछ उद्देश्य है, तो किसी का कुछ। समाज से समाज, राज्य से राज्य, घर से घर, वंश से वंश, तथा व्यक्ति से व्यक्ति तक आप जाइये और सबके उद्देश्यों में विभिन्नता नजर आवेगी। अतः शिक्षा के उद्देश्य जो जीवन के उद्देश्यों से बँधे हुए हैं सब जगह एक समान नहीं होंगे। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि विभिन्नताओं के बीच किसी प्रकार की तथा किसी अंश तक एकरूपता अथवा स्थिरता व सामान्यता नहीं है। यह शिक्षा-दर्शन का विषय है और दार्शनिक विचारों की व्याख्या करते समय हम इस विषय पर विचार करेंगे।

शिक्षा के उद्देश्यों में आत्मबोध (Self-realisation), आत्मोत्सर्ग (Self-emancipation), संस्कृति का अनुभव (Self-culture) आदि की चर्चा भी होती है। इन सबको हम ऊपर कहे हुए उद्देश्यों से भिन्न नहीं मानते। ये किसी न किसी रूप में प्रत्येक उद्देश्य में आ जाते हैं। जब हम चरित्र-निर्माण, या पूर्ण जीवन बिताना, या शक्तियों के संतुलित विकास या व्यक्तित्व के विकास अथवा सामाजिक कुशलता की बात करते हैं तो इन सबकी बहुत व्यापक रूप में बात करते हैं और प्रत्येक के

---

1 "If there was a cyclopic period it marked a time when man was in the making, and had not yet reached the human standard. It was not that in the evolutionary process man first reached the full standard of humanity, and then proceeded to find his lack of self-sufficiency and to make provision for his defects by founding a state. The formation of society was part of the formation of humanity."

—*Adams* : Evolution of Educational Theory

क्षेत्र में ये आ जाते हैं। वास्तव में शिक्षा का उद्देश्य व्यापक रूप में व्यक्ति का पूर्ण विकास है, उसकी व्याख्या चाहे जिस प्रकार की जाय और उसमें चाहे जिस अंग पर अधिक और चाहे जिस पर कम बल दिया जाय। यह अपने-अपने दृष्टिकोण के ऊपर निर्भर करता है तथा अपने-अपने जीवन दर्शन संस्कारों के ऊपर। शिक्षा का कार्य जैसा कि प्लेटो ने कहा है बालक को उस सिद्धान्त की ओर ले जाना तथा उसकी शक्तियों को उसको प्राप्त करने में लगाना है जिसे मानव समाज-व्यवस्था ने उचित स्वीकृत किया है तथा जिसे समाज के वयोवृद्ध तथा न्यायी व्यक्तियों ने संगत माना है।[1]

भारतीय समाज और शिक्षा के उद्देश्य

हमने पिछले पृष्ठों में शिक्षा के उद्देश्यों की सामान्य रूप से व्याख्या की है। वास्तव में शिक्षा एक ऐसी कला है जिसका स्थान और समय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसकी उपयोगिता सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह समीक्षा करें कि वह कहाँ तक समय और स्थान की आवश्यकताओं को पूरा करती है और मनुष्य को स्थानीय और समकालीन परिस्थितियों का सामना करने तथा उनको समझकर उनके अनुकूल अपने जीवन में परिवर्तन करने तथा जीवन-यापन की सामर्थ्य देती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शिक्षा की उपयोगिता जहाँ एक ओर जीवन के अन्तिम लक्ष्यों से सम्बद्ध है वहाँ दूसरी ओर जीवन के तत्कालीन लक्ष्यों और उसकी आवश्यकताओं से सम्बद्ध है। यदि कोई शिक्षा व्यक्ति को अपने समय की आवश्यकताएँ समझने, अथवा समाज को समझने, अपना जीवन सफलतापूर्वक यापन करने आदि की क्षमता नहीं देती तो वह शिक्षा सैद्धान्तिक दृष्टि से भले ही ठीक मालूम होती हो व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी नहीं है। उदाहरणार्थ हमारी वर्तमान शिक्षा। ब्रिटिश कालीन शिक्षा की जो परिपाटियाँ अभी चली आ रही हैं उनमें अनेक ऐसी हैं जो हमारी नवीन जनतंत्रीय समाज के प्रतिकूल हैं। उसमें बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनकी आलोचना हो रही है और जिनको सुधारने के लिए प्रयत्न जारी हैं। दुर्भाग्य की बात यह है कि शिक्षा के सुधार के लिए जो प्रयत्न किए गए हैं उनमें स्वयं में इतनी कमजोरियाँ हैं कि वे आशानुकूल सफलता प्राप्त नहीं कर पाए हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बीस वर्ष बाद में शिक्षा कमीशन की रिपोर्ट में लिखना पड़ गया है कि हमारी वर्तमान शिक्षा जीवन से सम्बन्ध नहीं है और राष्ट्रीय विकास में इसकी उपयोगिता पर्याप्त नहीं है। इसका क्या अर्थ है ? यही कि जीवन—व्यक्तिगत, समाजगत एवं राष्ट्रगत—की आवश्यक-

---

1 "Education is the process of drawing and guiding children towards that principle which is pronounced right by the law and confirmed as truly right by the experience of the eldest and the most just." ["The Laws". quoted by *Ulich*, History of Educational Thought, p. 6.]

ताओं का पूर्ण विश्लेषण करके शिक्षा को उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समर्थ नहीं बनाया गया है। वे आवश्यकताएँ क्या हैं ? उदाहरणार्थ—

(1) हम भावनात्मक एकता की चर्चा बहुत करते हैं, परन्तु क्या हमारी शिक्षा में उसकी प्राप्ति के लिए ठोस कदम उठाए गए हैं।

(2) हम आत्मनिर्भरता और आर्थिक विकास आदि की बात करते हैं परन्तु क्या हमारी शिक्षा इनकी पूर्ति में पूर्ण रूप में सहायक हुई है, हाँ हमने कुछ प्रगति की है परन्तु अभी बहुत कुछ करना है—उदाहरण के लिए, हमें अब भी भोजन के लिए दूसरों का मुँह देखना पड़ता है। क्या हम आर्थिक विकास में कृषि को प्राथमिकता नहीं दे सकते ? क्या हमारी शिक्षा में कृषि के उत्थान के लिए अधिक बल होना आवश्यक नहीं है।

(3) हम प्रजातंत्रीय समाज और सरकार की बात करते हैं परन्तु क्या हमारी शिक्षा हमें सही रूप में जनतंत्रीय नागरिकता की शिक्षा दे पायी है। उल्टे हम संकीर्णता के शिकार और बन गए हैं तथा जातिवाद, प्रान्तवाद, संकीर्ण स्थान-प्रेम, आदि के द्वारा अपने समाज को दुर्बल और बना बैठे हैं।

हम इस प्रकार के अनेक उदाहरण दे सकते हैं और उन सबसे यही बात स्पष्ट होगी कि हमारी शिक्षा में अभी अनेक दुर्बलताएँ हैं, इसके उद्देश्य स्पष्ट नहीं हैं तथा उसकी प्रणाली उपयुक्त नहीं है। किसी भी वस्तु की उपयोगिता उसके रूप और प्रभाव से ज्ञात हो जाती है। आज हम देखते हैं कि न तो शिक्षा के रूप के प्रति ही लोगों की श्रद्धा है वरना वे हड़तालें आदि क्यों करते और न उसकी उपयोगिता ही सिद्ध हो पायी है वरना व्यक्तिगत जीवन तथा राष्ट्रीय जीवन में इतना खोखलापन क्यों होता ?

सारांश यह है कि हमें अपने शिक्षा के उद्देश्यों को दुहराने की आवश्यकता है और अपनी शिक्षा में तदनुसार परिवर्तन करने हैं। आगे चलकर एक अध्ययन में (अध्याय 16 : जनतन्त्र और शिक्षा) हमें जनतंत्रीय दृष्टि से शिक्षा के क्या उद्देश्य हैं, और उनकी प्राप्ति के लिए हम क्या करें इस विषय पर विस्तृत विचार करेंगे। एक अन्य अध्याय में हम पाठ्यक्रम पर विचार करेंगे तथा स्थान-स्थान पर यह भी देखेंगे कि अपनी शिक्षा से व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर हम किस प्रकार मजबूत बना सकते हैं।

सारांश

इस अध्याय में हमने शिक्षा के अर्थ व उद्देश्यों पर विचार किया। इस सम्बन्ध में हमने शिक्षा की विभिन्न परिभाषाओं की व्याख्या की और उनके सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट किए। व्यापक रूप में शिक्षा मानव में वांछनीय परिवर्तन लाती है और शिक्षा का प्रयोजन यही है कि व्यक्ति में परिवर्तन आ जायें। इस प्रक्रिया में मानव को अपनी समस्त शक्तियों का प्रयोग करना होता है और वाता-

वरण के साथ मिलान कर उनके विकास को प्राप्त कर अपने व्यवहार को संशोधित व परिवर्तित कर लेने को शिक्षा का आसरा लेना होता है। दार्शनिक मतभेदों के आधार पर शिक्षा की भिन्न-भिन्न अर्थ-व्यवस्थाएँ हैं परन्तु मानव का विकास, उसकी जीवन-निर्वाह की क्षमता, उसमें सामाजिक कुशलता आने की योग्यता आदि गुणों के सम्बन्ध में कोई दो मत नहीं हैं।

शिक्षा के दो रूप हैं : व्यापक व संकुचित। व्यापक रूप में शिक्षा मानव के पूर्ण विकास से सम्बन्ध रखती है और शिक्षा का क्रम जीवन-पर्यन्त चलता-रहता है। संकुचित रूप में हम शिक्षा का अर्थ विद्यालयीय शिक्षा या किसी अन्य संस्था या परिवार की शिक्षा से लेते हैं।

शिक्षा के तीन प्रमुख तत्व हैं; शिक्षक, शिक्षार्थी और पाठ्यक्रम। तीनों का पृथक्-पृथक् महत्त्व है और तीनों की सार्थकता एक दूसरे के महत्त्व को स्वीकार करने में ही है। शिक्षा तभी सार्थक हो सकती है जब शिक्षा की प्रक्रिया में इनको अपना-अपना महत्त्व दिया जाता है।

शिक्षा के उद्देश्य शिक्षा के दर्शन के ऊपर आधारित हैं। दार्शनिक मतभेदों के आधार पर शिक्षा के उद्देश्यों में भी भिन्नता नजर आती है। प्रमुखतया निम्नलिखित उद्देश्यों की बहुधा चर्चा होती है :

(अ) चरित्र-निर्माण।
(ब) व्यक्तित्व का संतुलित विकास।
(स) जीवकोपार्जन की क्षमता।
(द) ज्ञानार्जन।
(य) पूर्ण जीवन बिताने की क्षमता।
(ह) व्यक्तित्व का विकास।
(फ) समाज-हित व सामाजिक कुशलता।

इनके अलावा शिक्षा के कई अनेक उद्देश्य हो सकते हैं परन्तु प्रत्येक की व्याख्या के साथ-साथ प्रत्येक की सीमा को भी समझ लेना आवश्यक है। ऊपर लिखे हुए उद्देश्यों की भी प्रत्येक की सीमा है।

व्यक्तित्व का विकास व समाज-हित को शिक्षा के उद्देश्यों में प्राधान्य दिया जाता है और उनको बहुत व्यापक रूप में लिया जाता है। उस व्यापक रूप में कोई और उद्देश्य उनसे बाहर रह नहीं जाता। दोनों उद्देश्यों में पारस्परिक विरोध नहीं है जैसा कि कुछ लोगो ने समझ रखा है। व्यक्ति का विकास और समाज-हित एक दूसरे से बंधे हैं और दोनों की उन्नति एक दूसरे की उन्नति के ऊपर निर्भर है।

अच्छे उद्देश्य मानवीय दृष्टिकोण व मानव-दर्शन के ऊपर आधारित हों—ऐसा दर्शन जो व्यवहार रूप में आ सके। कोरी बातों और बाल की खाल निकालने वाले दर्शन के विवादों से शिक्षा के उद्देश्य निर्मित नहीं होते। शिक्षा-दर्शन के सम्बन्ध

में हम आगे चलकर विचार करेंगे। उद्देश्यों के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि उद्देश्य स्पष्ट हों, परिवर्तनशील हों तथा मानव द्वारा उसकी शक्तियों से प्राप्य हों। यह मत प्रयोजनवादी विचार-धारा का परिचायक तो है ही, साथ ही साथ अन्य दार्शनिक विचारों के प्रतिकूल भी नहीं है।

समाज-हित और व्यक्ति के विकास के सम्बन्ध में हमने इस अध्याय में अधिक स्थान लिया। समाज-हित को दो रूपों में देखा—राष्ट्र-समाजवाद और जनतन्त्रीय समाजवाद। किसी परिस्थिति में व्यक्ति का समाज के ऊपर या समाज का व्यक्ति के ऊपर रक्खा जाना हितकारी नहीं। दोनों को तराजू में बराबर रखना ही श्रेयस्कर है और दोनों के हित बराबर महत्त्व रखते हैं। एक का हित दूसरे को बल देता है और दूसरे की शक्ति एक का हित करती है।

३

शिक्षा——अंग, क्षेत्र व स्रोत

इस अध्याय में हमें शिक्षा के अंग, उसका क्षेत्र व उसके स्रोतों पर विच करना है। इनके ऊपर पृथक्-पृथक् विचार करने से पहले हम अपनी व्याख्या सीमा निर्धारित कर देना चाहते हैं। शिक्षा के अंगों से तात्पर्य हमारा उन तत्वों से जिनके एक दूसरे के सम्पर्क में आने पर शिक्षा की प्रक्रिया चलती है। हम पि अध्याय में इनका संकेत कर चुके हैं और यह कह चुके हैं कि शिक्षक, शिक्षार्थ पाठ्यक्रम—ये तीन शिक्षा के मूलतत्व हैं अथवा अंग हैं। पिछले अध्याय में हम इ महत्व पर भी प्रकाश डाल चुके हैं। इस अध्याय में हम इनकी व्याख्या करेंगे। उ तक शिक्षा के क्षेत्र का सम्बन्ध है इसके सम्बन्ध में भी हम पिछले अध्याय में उद्दे की व्याख्या करते समय संकेत कर चुके हैं। इस अध्याय में हम उसके ऊपर थो दार्शनिक दृष्टि से विचार करेंगे। शिक्षा के स्रोतों के बारे में अभी हमने कहीं च नहीं की है। शिक्षा एक स्रोत से प्राप्त नहीं होती बल्कि कई स्रोतों से होती है। सारे स्रोतों के सम्बन्ध में भी हमें विचार करना है और यह देखना है कि किस प्र सब मिलकर शिक्षा को वास्तविक सार्थकता देते हैं।

शिक्षा के अंग

शिक्षक, शिक्षार्थी और पाठ्यक्रम तीनों बराबर महत्व रखते हुए शिक्षा अंग हैं। इनमें हम सर्व प्रथम शिक्षार्थी को बालक की संज्ञा देते हुए लेंगे। बा केन्द्र है और उसको ही शिक्षा देनी है। आधुनिक मनोविज्ञान बालक को केन्द्रित शिक्षा देने पर बहुत जोर देता है। वास्तव में शिक्षा का महत्व तभी है जब वह बा की मूलप्रवृत्तियों, उसकी अभिरुचियों और प्रवृत्तियों को आधार मानकर दी जा तभी शिक्षा प्रकृति के अनुकूल कही जा सकती है। शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा में बात पर बहुत जोर दिया है। यह प्रवृत्ति बाल-केन्द्रित शिक्षा (Child-centred e cation अथना paidocentricism) के नाम से प्रसिद्ध है। बाल-केन्द्रित शिक्षा यह अर्थ नहीं है कि शिक्षक या पाठ्यक्रम का महत्व कम हो जाता है। यथार्थ में यह है कि पाठ्यक्रम की दृष्टि से शिक्षा को जीवन-केन्द्रित (Life-centred) बनाने आधुनिक युग में जबर्दस्त लहर दौड़ गई है और यह है भी उपयुक्त। शिक्षा जीवन

सार्थक बनाने के लिए आवश्यक है और सार्थकता का सम्बन्ध जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों से है। हम स्वयं आज अपने देश में ही देख रहे हैं कि किस प्रकार अंग्रेजों के काल की शिक्षा में हमें परिवर्तन करने पड़ रहे हैं और क्यों ? अतः बालक की रुचियों, प्रवृत्तियों, व अभिरुचियों को आधार बनाकर शिक्षा को जीवन-केन्द्रित रूप देने की व्यवस्था दोनों में समन्वय स्थापित करती है। अस्तु।

बाल-केन्द्रित शिक्षा का आदर्श हमारे भारतवर्ष में बहुत पुराना है और प्राचीन गुरुकुलों में शिक्षा बालक की प्रकृति को ध्यान में रखकर ही दी जाती थी। पाश्चात्य जगत् में मध्यकालीन युग के समाप्त होने के बाद सांस्कृतिक पुनरुत्थान के काल में मानव के व्यक्तित्व का मूल्य समझा गया और मानव को विश्व की अमूल्य सम्पत्ति माना जाने लगा। तभी से मानव प्रकृति का अध्ययन करने के आन्दोलन ने जोर पकड़ा और शनैः शनैः मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, मानव-विज्ञान आदि की रचना हुई। आधुनिक काल में मानव व उसके समाज से सम्बन्ध रखने वाले कई विज्ञानों का साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है, अतः मानव व बालक व किशोर व युवक—व्यक्ति की प्रत्येक अवस्था व उसके गुणों व आवश्यकताओं के सम्बन्ध में बहुत साहित्य मौजूद है। बाल-केन्द्रित शिक्षा की धारा वैज्ञानिक अध्ययनों के ऊपर आधारित है, वह खोखली नींव पर आधारित नहीं है। परन्तु इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि मानव-व्यक्तित्व इतनी पेचीदा व जटिल वस्तु है कि इसके समझने में विभिन्न विज्ञान मदद अवश्य करते हैं परन्तु फिर भी इसके प्रत्येक व्यवहार की व्याख्या नहीं कर पाते।[1] बाल-केन्द्रित शिक्षा-संगठन की कठिनाइयाँ

---

1 "With the refinement of our insight into the functions of the brain and the nervous system, the most advanced of our scientists have come to the conclusion that it is impossible to understand the normal behaviour of man by the analysis of isolated reflexes alone."

[*Robert Ulich* : Fundamentals of Democratic Education, p. 64]
"The allegedly 'isolated' phenomenon, which one alludes to by the term 'reflex', is in fact a 'figure' in a reaction pattern of the whole organism. The 'reflex' is the figure, while the activity of the rest of the organism is the background. This is clearly confirmed by the fact that any change in the remaining organism at once modifies the reflex the figure . . . . . All this should go to prove that *normal behaviour is not composed of reflex processes."*

[*—Kurt Goldstein : The Organism. A Holistic Approach to Biology derived from Pathological Data in man.* Quoted by Robert Ulich : Fundamentals of Democratic Education, p. 65]

हैं परन्तु शिक्षा की दृष्टि से बाल-केन्द्रित शिक्षा ही शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति कर सकती है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से व्यक्ति का व्यक्तित्व तीन प्रमुख अंगों के आधार पर विकसित होता है; वातावरण, उसकी 'स्व' (Self) तथा नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ। वातावरण व्यक्तित्व के विकास में बहुत योग देता है। किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को वातावरण से अलग उठाकर हम व्याख्या नहीं कर सकते। वातावरण के प्रभाव से ही व्यक्ति अपना विकास करता है और उसी में रहकर वह सीखता है। हमारा वातावरण केवल वही नहीं है जिसे हम देखते हैं या जो हमारे समीप है बल्कि वह सब है जिसके ऊपर हम अपने जीवन के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में निर्भर करते हैं। वातावरण परिवर्तनशील भी है और मानव उस परिवर्तनशील वातावरण के अनुकूल अपने को बनाता जाता है तथा यथाशक्ति अपनी आवश्यकता के अनुसार अपने वातावरण को भी बदलता जाता है। व्यक्तित्व का दूसरा अंग मानव की 'स्व' है जिसके आधार पर एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न हो जाता है। प्रत्येक की अलग-अलग 'स्व' है और यद्यपि वातावरण और मूलप्रवृत्तियाँ सबकी समान हों तो भी व्यक्ति अपना-अपना अलग-अलग व्यक्तित्व लिए रहते हैं। यह उनकी अलग-अलग 'स्व' के ऊपर निर्भर करता है। जहाँ तक व्यक्तित्व के तीसरे अंग—मूलप्रवृत्तियों का सम्बन्ध है उनकी मनोविज्ञान में विशिष्ट रूप से व्याख्या की गई है और उनकी प्रकृति, उनके विकास का क्रम तथा उनके महत्व पर मनोविज्ञान के साहित्य में बहुत प्रकाश डाला गया है।

मानव के व्यक्तित्व में इन तीन अंगों के अतिरिक्त कुछ प्रेरणाएँ व शक्तियाँ भी सम्मिलित हैं, उसमें उसकी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, भावनाएँ मनोवृत्तियाँ व अभिरुचियाँ भी शामिल हैं जिन सबका समूह मिलकर किसी एक व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण रूप देता है। इनका अध्ययन करना मनोविज्ञान का विषय है। हमारे लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि शिक्षा को उपयोगी बनाने के लिए बाल-केन्द्रित शिक्षा बहुत महत्व रखती है और बाल-केन्द्रित शिक्षा का अर्थ है बालक के व्यक्तित्व को समझना और उसका विश्लेषण करके उसकी शक्ति, योग्यता, रुचि, मूलप्रवृत्ति, अभिरुचि, बुद्धि और आकांक्षाओं के आधार पर पाठ्यक्रम निर्धारित करना और शिक्षण-विधि का निश्चित करना। बिना इन बातों को ध्यान में दिए बाल-केन्द्रित शिक्षा का आदर्श प्राप्त नहीं हो सकता।

बाल-केन्द्रित शिक्षा बालक के व्यक्तित्व का सम्मान करती है और उसको स्वतन्त्रता देती है। इसकी प्रक्रिया बालक पर बाहर से ज्ञान थोपने में नहीं बल्कि बालक को अपनी शक्तियों द्वारा ज्ञानार्जन के लिए प्रेरित करती है।

शिक्षा का दूसरा अंग शिक्षक है। कुछ शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा को द्वि-मुखी प्रक्रिया (Bi-polar process) कहा है और उनका कथन सार्थकता लिए हुए है। शिक्षा की प्रक्रिया शिक्षक और बालक के पारस्परिक मेल में आने पर चलती है। यह एक व्यक्तित्व का दूसरे व्यक्तित्व पर प्रभाव, विचारों के आदान-प्रदान, व्यव-

हार-विनिमय आदि का परिणाम है। चुम्बक की तरह शिक्षा के भी दो सिरे हैं जो एक दूसरे को खींचते हैं। शिक्षक वह व्यक्ति है जिसके मस्तिष्क में शिक्षा की पूरी प्रक्रिया वर्तमान है और जो बालक को उस प्रक्रिया के सम्बन्ध में लाता है तथा भाग लेने की क्षमता देता है। हम वातावरण के सम्बन्ध में ऊपर कह आए हैं कि वातावरण बालक के व्यक्तित्व के विकास में बहुत बड़ा हाथ रखता है। शिक्षक इस वातावरण का भाग है। परन्तु वातावरण नियंता होने के नाते वह वातावरण से अलग भी है। बालक के लिए शिक्षक दो प्रकार से कार्य करता है। उसके वातावरण का भाग होने के नाते वह अपने व्यक्तित्व के प्रभाव व अपने आचरण के उदाहरण से उसे सिखाता है और दूसरे रूप में वह उसके वातावरण का नियन्त्रण भी करता है। वह यह देखता है कि बालक के लिए किस प्रकार का वातावरण प्रस्तुत किया जाय और उसमें रखा जाय और क्या न रखा जाय। वातावरण से हमारा तात्पर्य केवल भौतिक वातावरण से ही नहीं है बल्कि उन समस्त अनुभवों से भी है जिनको प्राप्त कर बालक की ज्ञान-वृद्धि होती है और उसके चरित्र का विकास होता है।

अतः शिक्षक का शिक्षा में बहुत महत्त्व है। कुछ लोगों की धारणा है कि बालक का शिक्षा में शिक्षक अथवा पाठ्यक्रम की अपेक्षा अधिक महत्त्व है। हम इस कथन का विरोध नहीं करते परन्तु यह कह देना चाहते हैं कि क्या बालक ही यह भी निश्चित करता है कि वह क्या सीखे ? और यदि वह यह निश्चित करे भी तो क्या वही स्वयं को पढ़ा भी लेगा ? कहने का तात्पर्य यह है कि बालक शिक्षा का केन्द्र होते हुए भी शिक्षक की महत्ता को शिक्षा में कम नहीं कर सकता और हमें प्रत्येक अवस्था में दोनों को समान महत्त्व देना ही स्वीकार करना होगा।

शिक्षक अपने व्यक्तित्व से बालक को प्रवाहित करता है और इसकी प्राप्ति की ओर अग्रसर करता है परन्तु इस कार्य में वह बालकों की स्वतन्त्र प्रगति और उनके व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास में बाधक नहीं सहायक होता है। अच्छा शिक्षक बालकों को सत्य की ओर बढ़ने तथा उसकी प्राप्ति के लिए अपने व्यक्तित्व का विकास करने की प्रेरणा व क्षमता देता है। वह अपने व्यक्तित्व को उनके ऊपर थोप कर अपना अनुयायी या दास नहीं बनाता। अच्छी शिक्षा वही है जिसमें शिक्षक और शिक्षार्थी-दोनों क्रियाशील रहते हुए समान लक्ष्य की प्राप्ति करते हैं। यही अच्छे शिक्षक और शिक्षार्थी की परिचायक है।[1]

---

[1] "The good teacher aims to produce, not replicas, but men and women who stand apart from him even more distinctly than when he first met them. The good teacher does not want imitators but, rather, men and women who through their education have experienced the shock of discovering the infinite depths of the world and truth without giving up any of the partial truths they have encountered along the way."

(पेज 59 भी देखिये)

शिक्षा का तीसरा तत्त्व पाठ्यक्रम है। शिक्षक को पढ़ाने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वह क्या पढ़ावे और शिक्षार्थी को यह कि वह क्या पढ़े। यह आवश्यक नहीं कि पाठ्यक्रम एक लिखित रूप में हो और तब यह निश्चित किया जाय कि यह पढ़ाया जाय अथवा यह न पढ़ाया जाय। जो भी शिक्षक पढ़ाता है और जो भी शिक्षार्थी पढ़ता है, जो भी सिखाता है और जो भी वह सीखता है वही पाठ्यक्रम का अंग बन जाता है। पाठ्यक्रम से हमारा तात्पर्य उस संकुचित पाठ्यक्रम से नहीं है जो पुस्तकीय-ज्ञान से सम्बन्ध रखता है बल्कि बालक के समस्त अनुभवों से है—उसकी सारी क्रियाओं से है जो उसके व्यवहार में परिवर्तन लाकर उसके विकास के क्रम को आगे बढ़ाती है। आधुनिक शिक्षा-शास्त्री पाठ्यक्रम को बहुत व्यापक रूप देते हैं। पाठ्यक्रम जिसके लिए अंग्रेजी में Curriculum शब्द आता है लैटिन के शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ है 'एक छोटी घुड़-दौड़ का मैदान' (A little race course)। उसी अर्थ का ग्रीक भाषा का एक शब्द है जिसका अंग्रेजी में Encyclopaedia शब्द पर्यायवाची है और जिसका अर्थ है 'शिक्षण का वृत्त' (Circle of instruction)। दोनों शब्दों का अर्थ स्पष्ट है। पाठ्यक्रम केवल पुस्तकीय-ज्ञान ही के रूप में न संकुचित किया जाय परन्तु उस अर्थ में लिया जाय जिसमें वह बालक के समक्ष विस्तृत मैदान खोल देता है जिस पर वह चलता है और चलते हुए अपना अनुभव बढ़ाता है। घुड़-दौड़ के मैदान में रास्ता साफ है और अपनी-अपनी शक्त्यानुसार सब दौड़ते हैं उसी प्रकार पाठ्यक्रम रूपी मैदान में बालक चलते हैं या दौड़ते हैं और अपनी-अपनी शक्त्यानुसार प्रयत्न करते हैं, मैदान उनको किसी स्थान पर अवरुद्ध नहीं करता।

जहाँ तक स्कूल के कार्य-क्षेत्र का सम्बन्ध है पाठ्यक्रम को आधुनिक काल में केवल पुस्तकीय-ज्ञान ही नहीं माना जाता है। पहले स्कूलों की पाठ्यक्रमातिरिक्त

(पेज 58 का शेष)

"Education has delights for the sensitive individual that are seldom fully realised. The student is an instrument to be played on ; the teacher, an improviser. The improviser knows many themes and loves some far more than others. He knows the ancient themes and the modern ones ; he may even have thought up some of his own. But his divotion must be, not to his performance, but to his themes and instrument. The student is worthy of the improviser's hand, not only for himself but also because he is a member of society, because he too can be an improviser. Every teacher is teaching teachers. He has his hand in and, therefore, his responsibilities for the welfare of the community outside the class room."—*Harper Ralph* : Significance of Existence and Recognition for Education, The Fifty-fourth Year-book, pp., 237 & 239]

क्रियाएँ पाठ्यक्रम से बाहर मानी जाती थीं परन्तु अब वे पाठ्यक्रम का अभिन्न अंग मानी जाती हैं। अतः पाठ्यक्रम को आज अधिक व्यापक रूप में माना जाता है और वह शिक्षा का महत्वपूर्ण अङ्ग है।

पाठ्यक्रम को निश्चित करने के क्या सिद्धान्त हैं और पाठ्यक्रम क्या हो, यह इस अध्याय का विषय नहीं है परन्तु इतना यहाँ कह देना आवश्यक है कि पाठ्यक्रम को शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग बनाने तथा उसकी सार्थकता को सिद्ध करने के लिए तीन बातों का ध्यान रक्खा जाना जरूरी है : (1) बालकों की आवश्यकताएँ और योग्यताएँ (2) समाज की न्यायसंगत माँगें और (3) जिस जगत् में हम रहते हैं, उसकी प्रकृति। इनमें प्रथम का ज्ञान हमें मनोविज्ञान से, दूसरे का समाज-शास्त्र से तथा तीसरे का दर्शन से होता है। अच्छा पाठ्यक्रम इन सबको ध्यान में रखकर ही निर्मित होता है। वही पाठ्यक्रम शिक्षा के वास्तविक उद्देश्यों की प्रगति के लिए पर्याप्त होता है।[1]

शिक्षा का क्षेत्र

शिक्षा के क्षेत्र के सम्बन्ध में हमें दो बातों को स्पष्ट करना है : (1) पाठ्य-वस्तु की दृष्टि से शिक्षा का क्या क्षेत्र है और (2) उसकी दृष्टि से शिक्षा का क्या रूप है।

पाठ्य-वस्तु की दृष्टि से मानव जाति का संकलित किया हुआ समस्त अनुभव शिक्षा का क्षेत्र है। इसे हम चार भागों में बाँट सकते हैं : (1) भौतिक-विज्ञान जिसके अन्तर्गत भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, नक्षत्र-शास्त्र, भूगर्भ विद्या, गणित आदि विषय आते हैं। (2) प्राणी-विज्ञान जिसके अन्तर्गत शरीर-विज्ञान, प्राणी-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, स्वास्थ्य-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि विषय आते हैं। (3) सामाजिक-विज्ञान जिसके अन्तर्गत भूगोल, इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, समाज-शास्त्र

---

[1] *Cf Horne H. H.* : An Idealistic Philosophy of Education.
"What the curriculum should undertake to give is as the Greeks and the Romans saw, a rounded view of man in his world, a taste for the best things in life, and the ability to take one's own practical part in this world. A somewhat complex statement will describe the aim in the construction and use of the curriculum : The chosen subject-matter should teach pupils to know the facts and opinions they need to know in order to feel and act as they need to feel and act; to feel as they should feel about the values of living in order to think and act as they should; and to do the useful, proper and right things in order that they may think and feel as they should."
[The Forty-first Year-Book of pt. I, Philosophies of Education, p. 160].

आदि विषय आते हैं और (4) सांस्कृतिक साहित्य जिसमें, साहित्य, कला, भाषा, दर्शन, धर्म, नीति आदि विषय आते हैं। शिक्षक, अभिभावक व राज्य का यह धर्म है कि बालकों को शिक्षा देने के लिए वे इन विषयों के मैदान में शनैः-शनैः अवसर पाकर प्रविष्ट करावें और मानव द्वारा संकलित ज्ञान से लाभान्वित कराते हुए उनको इस योग्य बनावें कि वे इस ज्ञान की वृद्धि में भी योग दे सकें।

इस पाठ्य-वस्तु की दृष्टि से, शिक्षा के दो रूप हैं: (1) औपचारिक (Formal) और (2) अनौपचारिक (Informal)। कोई इन्हें नियमित तथा अनियमित शिक्षा भी कहते हैं। औपचारिक शिक्षा विशिष्ट संस्थाओं द्वारा विशिष्ट उद्देश्यों को लेकर विशिष्ट पद्धति के अनुसार दी जाती है जैसे स्कूल या अन्य किसी संस्था में दी गई शिक्षा। नियमित या औपचारिक शिक्षा का समय भी निश्चित होता है और उस समय की अवधि तक वह समाप्त कर दी जाती है जैसे स्कूल से माध्यमिक स्तर को पास कर लेने के बाद या महाविद्यालय से एम० ए० की डिग्री लेने के बाद। यह शिक्षा एक पूर्व-रचित क्रम, पद्धति, नियमावली, पाठ्यक्रम की निश्चितता के आधार पर आयोजित की जाती है।

अनौपचारिक अथवा अनियमित शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत है। यह शिक्षा व्यापक रूप में है और जन्म से मृत्यु तक चलती है। जहाँ-जहाँ जैसे-जैसे व्यक्ति को अनुभव प्राप्त होते जाते हैं शिक्षा का क्रम चलता रहता है और वह सीखता जाता है। यह शिक्षा किसी संकीर्ण व्यवस्था व अनुशासन व संस्था के बन्धनों से बँधी नहीं होती बल्कि मानव का वातावरण के साथ सम्पर्क और दोनों की टक्कर का परिणाम होती है।

शिक्षक को आगे रखकर हम शिक्षा के दो दूसरे रूप बनाते हैं: प्रत्यक्ष शिक्षा और अप्रत्यक्ष शिक्षा। ये दोनों शब्द औपचारिक व अनौपचारिक शिक्षा से ही सम्बन्ध रखती हैं। जब किसी विशेष उद्देश्य को लेकर शिक्षा दी जाती है और उसकी व्यवस्था की जाती है तो वह प्रत्यक्ष शिक्षा कहलाती है और जब प्रत्यक्ष रूप में किसी विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसका आयोजन नहीं होता तो वह अप्रत्यक्ष शिक्षा कहलाती है।

उदार शिक्षा व व्यावसायिक शिक्षा (Liberal education and Vocational education), सामान्य शिक्षा व विशिष्ट शिक्षा, ये भेद भी पाठ्य-वस्तु के आधार पर हैं परन्तु शिक्षा की प्रक्रिया के आधार पर नहीं। दोनों ही प्रकार की शिक्षा की व्यक्ति को आवश्यकता है और जैसा कि हम पिछले अध्याय में कह आए हैं इन दोनों में पारस्परिक विरोध नहीं है जैसा कि बहुधा समझ लिया जाता है।

शिक्षण-पद्धति की दृष्टि से वैयक्तिक तथा सामूहिक (Individual and Collective) ये दो शिक्षा के भेद किए जाते हैं परन्तु वे शिक्षा के भेद नहीं है शिक्षण-कला के स्वरूप हैं। वैयक्तिक शिक्षण-पद्धति प्रत्येक बालक की आवश्यकताओं व

शक्तियों का पूरा-पूरा ध्यान रखती है और सामूहिक पद्धति में उसको समूह के साथ पढ़ाया जाता है अतः उसके ऊपर उतना व्यक्तिगत ध्यान नहीं रक्खा जा सकता। यह शिक्षा व्यवस्था व संगठन के विषय हैं और दर्शन के क्षेत्र में नहीं आते। अस्तु।

शिक्षा के स्रोत

शिक्षा को जिस व्यापक अर्थ में हमने लिया है और जिसमें उसे लिया जाता है उसके कई स्रोत हैं। उनमें चार प्रमुख हैं: (1) परिवार, (2) विद्यालय, (3) समाज, (4) राज्य। इनमें प्रत्येक की अलग-अलग और सामूहिक जिम्मेदारियाँ हैं। प्रत्येक को अपना-अपना दायित्व पृथक्-पृथक् निभाना है तथा एक दूसरे को अपने-अपने दायित्व को पूरा करने के लिए एक दूसरे को योग देना है। समाज और राज्य की शिक्षा के क्षेत्र में क्या जिम्मेदारी है इसके ऊपर हम आगे चलकर अलग-अलग अध्यायों में विचार करेंगे। इस अध्याय में हम परिवार और विद्यालय के दायित्व के सम्बन्ध में प्रकाश डालना चाहते हैं।

परिवार सबसे पहली संस्था है जिसके सम्पर्क में बालक आता है। शिक्षा का प्रारम्भ परिवार से ही होता है और वही शिक्षा का पहला स्रोत है। पारिवारिक शिक्षा प्रारम्भिक शिक्षा ही नहीं है बल्कि वह सबसे महत्वपूर्ण शिक्षा है। कारण यह कि परिवार में प्राप्त की हुई आदतें, संस्कार व दार्शनिक मनोवृत्ति व्यक्ति के समस्त व्यक्तित्व का आधार बन जाती हैं और प्रौढ़ावस्था में अपने तर्क व ज्ञान के आधार पर पुनः चिन्तन व तर्क कर वह भले ही उनमें संशोधन कर ले परन्तु वे उसके जीवन की आधारभूत शिलाएँ होने के नाते अपना प्रभाव दिखाती ही रहती हैं। परिवार बालक के जीवन को अपने में बिल्कुल डुबो लेता है और उसमें रहकर वह अपने व्यक्तित्व को भूल सा बैठता है। परिवार भी अपने आदर्श, अपनी आदतें, अपनी आकांक्षाएँ, अपने व्यवसाय, अपनी आशाएँ और अभिलाषाएँ—इन सबसे बालक को परिचित करा उसके प्रारम्भिक संस्कारों को ज म देता है और दृढ़ बनाता है। परिवारिक शिक्षा बालक की शिक्षा का महान् स्रोत है और किसी भी शिक्षा-व्यवस्था में परिवार के महत्व व उसके प्रभाव को बिना स्वीकार किए आगे की शिक्षा सफलतापूर्वक नहीं चल सकती। आधुनिक काल में घर और स्कूल के सम्बन्धों के ऊपर विशेष जोर दिया जाता है और यह स्वीकार किया जाता है, कि बिना घर का सहयोग प्राप्त किए स्कूल की शिक्षा का कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकता। स्कूल से घर के वातावरण का ज्ञान केवल अपने कार्य को अधिक सफलतापूर्वक चलाने में सहायता ही नहीं करता बल्कि बालक के समस्त संस्कारों उसके व्यक्तित्व की विशेषताओं व उसके आधारों को समझने में सहायता देता है। अतः स्कूल और परिवार की शिक्षा एक दूसरे के कार्य में सहायता देती है और उसकी पूरक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यक्ति के संतुलित विकास के लिए घर का वातावरण सुन्दर होना चाहिए। टूटा हुआ घर ही टूटे हुए व्यक्तित्व की जड़ है और बालकों में मानसिक ग्रान्थियाँ बनाता है। परिवार का जीवन, पारस्परिक व्यवहार, शिक्षा का

स्तर, परिपाटी व परम्परा, जीवन का आदर्श—ये सब बालकों के व्यक्तित्व को बनाते हैं और जिस परिवार में अशिक्षा, कलह, असहयोग, अशिष्ट व्यवहार, कुपरिपाटियाँ घर किए हुए हैं उनमें पले हुए बालक कैसे होंगे, यह सभी समझ सकते हैं। शिक्षा की प्रथम संस्था परिवार है और यदि वहीं से शिक्षा का क्रम बिगड़ गया तो आगे चलकर सुधारना कठिन है।

स्कूल शिक्षा का दूसरा स्रोत है और इसके ऊपर शिक्षा की विशेष जिम्मेदारी है क्योंकि स्कूल को समाज ने उसी उद्देश्यों को लेकर स्थापित किया है। यदि वह उस उद्देश्य की पूर्ति में सफल सिद्ध नहीं होता तो उसका अस्तित्व व्यर्थ है। शिक्षा के लिए स्कूल के क्या दायित्व हैं और स्कूल का क्या स्वरूप है, इस पर हम थोड़ा विस्तार में यहाँ पर विचार करेंगे।

स्कूल का सामाजिक दृष्टि से शिक्षा का कार्य-क्षेत्र—प्रत्येक समाज अपने आदर्शों, नियमों, परिपाटियों, आशाओं, विचारों व भावों को स्थायी बनाकर जीवित रहता है। इनको वह आगे आने वाली पीढ़ी को देकर तथा उनसे यह आशा कर कि वह अपने आगे वाली पीढ़ी को उनको दे देगा तथा देते हुए अपना योग भी उनमें दे देगा समाज अपना अस्तित्व रखता है और जीवित रहता है तथा विकास करता जाता है। इस कार्य को संवाहित करने की क्रिया ही शिक्षा कहलाती है। शिक्षा समाज का भोजन है और उसके बिना कोई समाज जीवित नहीं रह सकता। जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी जीवित रहने के लिए प्रयास करता है उसी प्रकार समाज भी जीवित रहने के लिए प्रयत्न करता है। समाज की यह क्रिया प्राकृतिक है और जीवधारी प्राणी की क्रिया से भिन्न नहीं है। अपने को जीवित रखने तथा विकास के क्रम को चालू रखने के लिए समाज ने शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना की है। शिक्षा-संस्थाएँ समाज द्वारा इसलिए स्थापित की गई हैं कि वे उसके सदस्यों में वे ज्ञान, योग्यताएँ, आदतें, मनोवृत्तियाँ व कौशल समाविष्ट करें जिनके द्वारा व्यक्ति समाज का एक आदर्श सदस्य बने और अपना हित करता हुआ समाज के हित में योग दे सके। शिक्षा संस्थाओं का यह कार्य है कि वे समाज के सब सदस्यों को सुन्दर जीवन बिताने की क्षमता प्रदान करें जिससे वे विकसित सामाजिक जीवन में अपना स्थान ग्रहण कर सकें और शान्ति, सहयोग व सद्भावना के साथ जीवन बिता सकें।[1]

---

[1] The function of educational institutions is "to help men and women to live fuller and happier lives in adjustment with their changing environment to develop the best elements in their own culture and to achieve the social and economic progress which will enable them to take their place in the modern world and to live together in peace." [—*Unesco* : Fundamental Education, Description and Programme, Paris 1949 p. 9.]

स्कूल का जीवन सामाजिक जीवन का प्रतीक है, आदर्श अवस्था में वह सामाजिक जीवन का लघु रूप है। नन के शब्दों में स्कूल एक प्राकृतिक समाज है और एक कृत्रिम समाज भी है। प्राकृतिक इसलिए कि इसके जीवन और बाहर समाज के जीवन में कोई जबर्दस्त भेद नहीं है और कृत्रिम इसलिए कि स्कूल अपने जीवन को बालकों के लिए प्रेरणा देने वाला बनाने के हेतु एक चुना हुआ वातावरण उपस्थित करता है और उसमें से उन सब तत्वों को दूर रखने की कोशिश करता है जो वाह्य जीवन में हैं और उसे दूषित करते हैं। स्कूल का जीवन एक चुना हुआ वातावरण है जिसमें जीवन के वही तत्व सम्मिलित हैं जो बालकों को स्फूर्ति देते हैं और उनके मस्तिष्क व आत्मा को उज्ज्वल बनाते हैं। एक राष्ट्र के स्कूल उसके जीवन के आधार हैं और उनका यह कर्तव्य है कि वे राष्ट्र की आध्यात्मिक शक्ति को पुष्ट करें, उसके इतिहास को व उसके गौरव व अतीत को चिरकाल तक जीवित रक्खें। इस रूप में और इस आदर्श की पूर्ति करते हुए स्कूल समाज के ही नहीं, समस्त मानव जीवन और मानवता के आदर्श नमूने बन जाते हैं जो जीवन के कालुष्य को धोकर उसको निर्मल बनाते हैं।[1]

थोड़ी देर अपनी आधुनिक अवस्था पर दृष्टिपात करने पर विदित होता है कि हमारे स्कूल कितने अंश तक उक्त आदर्श तक पहुँचते हैं। हमारे देश ने स्वतन्त्रता हाल ही में प्राप्त की है और राष्ट्र के नेताओं ने बहुत सोच-विचार के बाद जनतन्त्रीय-व्यवस्था को स्थापित किया है। हम यहाँ जनतन्त्रीय-व्यवस्था व जनतन्त्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में विचार नहीं कर रहे परन्तु इतना तो विचार कर ही सकते हैं कि इस व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए एक संतुलित शिक्षा की महती आवश्यकता है। शिक्षा जनतन्त्र का अस्त्र है और बिना उसके वह जीवित नहीं रह सकता। अतः हमारी शिक्षा-संस्थाओं की आज बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। उन्हें राष्ट्र के नवयुवकों के अन्दर वे गुण, आदतें, कौशल व ज्ञान समाविष्ट करते हैं जिनके द्वारा वे अपना और राष्ट्र का हित करने के लिए क्षम बन सकते हैं। हम कहते हैं कि आज विज्ञान के युग में जहाँ एक ओर विज्ञान ने मानव जीवन को सुन्दर बनाने की सामग्री उपस्थित की है वहाँ दूसरी ओर उसको विनाश करने की सामग्री भी रख दी है। यथार्थ में देखा

---

[1] A nation's schools are an organ of its life, whose special function is to consolidate is spiritual strength, to maintain its historic continuity, to secure its past achievement, to guarantee its future."—[*Nunn* : Education, its Data and First Principles : Chap. The School and Individual.]

The school should be "an idealised epitome or model of the world, not merely the world of ordinary affairs, but the whole of humanity, body and soul, past, present and future." [—*Branford* : Quoted by Nunn]

जाय तो यह विज्ञान का दोष नहीं मानव के पारस्परिक सम्बन्धों का ठीक न होने का दोष है और यह शिक्षा की अपूर्णता के कारण है।[1] यदि हमारी शिक्षा संस्थाएँ उस आदर्श तक पहुँची हों कि वे हमें सामाजिक जीवन को सुन्दरता के रहस्य से परिचित कराएँ और उसका अभ्यास दें, हमें उन गुणों और चारित्रिक विशेषताओं एवं मनोवृत्तियों को प्राप्त करावें जो सामाजिक जीवन को दृढ़ बनाती हैं तथा हमें उनसे दूर रक्खें जो उसे दुर्बल बनातीं हैं, हमें वास्तविक रूप में सहयोग, न्याय, सहिष्णुता, पारस्परिक आदान-प्रदान, सहानुभूति से युक्त जीवन बिताना सिखाएँ तो शिक्षा-संस्थाएँ वास्तव में समाज की सच्ची संस्थाएँ होंगी और वे उस आदर्श का पालन करेंगी जिसके पालन के लिए समाज ने उन्हें स्थापित किया है।

स्कूल और व्यक्ति—व्यक्ति समाज का सदस्य है और जैसा कि हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं समाज के बाहर उसका जीवन नहीं है। वह भले ही समाज से असन्तुष्ट हो, भले ही उसकी मनोवृत्ति ऐसी बन गई हो कि वह सामाजिक जीवन से खिन्न हो गया हो, परन्तु उसे रहना समाज में ही है। सामाजिक जीवन उसके चारों ओर घूमता है, वह उसी में रहता है, उसी में उसने जन्म लिया है और उसी में वह अपनी जीवन-यात्रा पूर्ण कर मृत्यु को प्राप्त हो जावेगा।[2] अतः सामाजिक जीवन की शिक्षा देना और उसमें कुशलता-पूर्वक भाग लेने की क्षमता प्रदान करना स्कूल की जिम्मेदारी है। सामाजिक संस्था होने के नाते स्कूल की व्यक्ति के प्रति निम्नलिखित जिम्मेदारी हैं :—

(1) स्कूल बालक को शिक्षा देता हुआ सामाजिक जीवन से मेल कराने और उसमें कुशलता पूर्वक भाग लेने की उसे क्षमता प्रदान करें। इसका तात्पर्य यह है

1 "The Damoclean menace of our age is not technological, but social. Freedom and security in this country have been threatened by no defect of nature but simply by man's collective failure to establish human civilization upon an enduring basis of universal justice and hence of plenty and peace for all."
—*Olsen Edward G*: School and Community p. 27.

2 "No child can escape his community. He may not like his parents, or the neighbours or the ways of the world. He may groan under the processes of living, and wish he were dead. But he goes on living, and he goes on living in the community. The life of the community flows about him, foul or pure : he swims in it, drinks it, goes to sleep in it and wakes to the new day to find it still about him. He belongs to it : it nourishes him or starves him or poisons him; it gives him the substance of his life, and in the long run it takes its toll of him, and all he is."—*Joseph K Hart* : Adult Education, Quoted by Edward G. Olsen, op. cit. p. 41.

कि वह उसे पारस्परिक जीवन तथा अपना जीवन निर्वाह करने की क्षमता—दोनों का ध्यान रखते हुए शिक्षा दे। दूसरे शब्दों में, स्कूल बालक को ऐसी शिक्षा दे जिसमें उदार शिक्षा (Liberal education) और व्यावसायिक शिक्षा (Vocational education), दोनों संतुलित रूप में मिश्रित हों।

(2) स्कूल बालक को अपने सर्वांगीण विकास के लिए अवसर प्रदान करे जिससे वह अपनी शक्तियों का विकास कर अपना व समाज का हित कर सके।

(3) स्कूल अपने जीवन आदर्श द्वारा बालकों के समक्ष सुन्दर जीवन के नमूने रक्खे।

(4) स्कूल बालकों की वैयक्तिक प्रवृत्तियों को सामाजिक रूप दे और इस प्रकार उद्दण्ड और उच्छृङ्खल प्रवृत्ति को रोके।

(5) स्कूल बालकों को अपने विकास के लिए स्वतन्त्रता दे और वे अपनी रुचि, योग्यता व शक्ति के अनुकूल प्रगतिशील क्रियाओं में भाग लेते हुए अपना विकास करें। यहाँ पर हमें स्वतन्त्रता की थोड़ी व्याख्या कर देनी है। स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृङ्खलता नहीं है। स्वतन्त्रता साधन है, लक्ष्य नहीं है। अपने विकास और अपनी प्रगति के लिए स्वतन्त्रता साधन का कार्य करती है वह किसी भी रूप में उद्दण्डता या निरवरुद्ध आत्माभिव्यक्ति नहीं कही जा सकती। अपने को नियम में बाँधकर कार्य करने वाला व्यक्ति स्वतन्त्रता को खोता नहीं। वास्तविक स्वतन्त्रता तो वही है जिसमें व्यक्ति अपनी उद्दण्ड वृत्तियों को रोककर, उनका शमन करता हुआ सद्वृत्तियों को पनपने और बढ़ने का अवसर देता है और अपनी स्वतन्त्रता को दूसरों की स्वतन्त्रता का रक्षक बनाता है।[1]

सामाजिक संस्थाओं में परिवार, राज्य, धार्मिक संस्थाएँ, व्यावसायिक संस्थाएँ आदि अनेक संस्थाएँ आती हैं परन्तु स्कूल ही एक ऐसी संस्था है जिसका प्रमुख कार्य बालकों को शिक्षा देना है और जिसके लिए समाज ने उन्हें स्थापित किया है। स्कूल के ऊपर इस सम्बन्ध में विशेष जिम्मेदारी है क्योंकि एक तो इसी उद्देश्य को लेकर स्कूल की स्थापना हुई है और दूसरे स्कूल ही एक ऐसी संस्था है जिसमें होकर प्रत्येक बालक किसी न किसी समय गुजरता है। अतः स्कूलों का जितना शिक्षा के सम्बन्ध में दायित्व है उतना और किसी संस्था का नहीं है। स्कूल समाज के प्रकाशगृह हैं। प्रत्येक दिन बालक अपने-अपने घरों से उस गृह में रोशनी लेने जाते हैं और उस प्रकाश से अपने घरों को प्रकाशित करते हैं। समाज के अन्धेरे

---

1 "The real meaning of human freedom is that it arises from and is directed toward an order of reality which is primarily beyond any human circle. If it were not, man would have to feed on himself as animals feed on their own powers and needs." [*Harper, Ralph* : Significance of Existence and Recognition for Education, Fifty-fourth year Book, op. cit. p. 232.]

को दूर करने की स्कूल की जिम्मेदारी है। स्कूल बालक के लिए ही नहीं बल्कि सारी समाज का शिक्षा का एक महान् स्रोत है।

सारांश

इस अध्याय में हमने शिक्षा के अंगों और उसके स्रोतों पर प्रकाश डाला। शिक्षा के प्रमुख अंग तीन हैं : शिक्षक, शिक्षार्थी और पाठ्यक्रम। जहाँ कहीं ये वर्तमान हैं वहाँ किसी न किसी रूप में शिक्षा होती है। तीनों का पृथक्-पृथक् महत्त्व है। उनकी पृथक्-पृथक् जिम्मेदारी है तथा सामूहिक जिम्मेदारी भी है। शिक्षा को द्विमुखी प्रक्रिया (Bi-polar process) कहा गया है जिसके दो सिरे हैं जिनका सम्बन्ध चुम्बक के सिरों के समान है। एक सिरे पर शिक्षक है और दूसरे पर शिक्षार्थी। दोनों की क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ शिक्षा का रूप धारण करती हैं। पाठ्यक्रम शिक्षा का तीसरा तत्व है। अतः शिक्षा को त्रिमुखी क्रिया (Tri-polar process) कहना अधिक उपयुक्त होगा।

शिक्षा औपचारिक तथा अनौपचारिक, प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष, सामान्य व निर्दिष्ट भी कही जाती है। शिक्षण की दृष्टि से शिक्षा वैयक्तिक और सामूहिक कही जाती है।

शिक्षा के प्रमुख स्रोत चार हैं, परिवार, स्कूल, समाज व राज्य। समाज व राज्य के विषय में हम आगे कहेंगे। परिवार और स्कूल दोनों ही शिक्षा के महान् स्रोत हैं। परिवार प्रारम्भिक संस्था है जहाँ बालक सबसे पहले शिक्षा प्राप्त करता है। परिवार का जीवन बालक के जीवन पर बहुत असर डालता है और उसके प्रारम्भिक संस्कार बनाता है। अच्छे परिवार अच्छे संस्कार व आदतें डालते हैं। पारिवारिक जीवन की सौम्यता व उसका प्रभाव शिक्षा में बहुत महत्त्व रखते हैं। वे स्कूल की शिक्षा का आधार बनते हैं। आधुनिक विचार-धारा स्कूल और परिवार के घनिष्ठ सम्बन्धों में बहुत विश्वास करती है।

स्कूल एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसे समाज ने विशिष्ट उद्देश्य को लेकर स्थापित किया है और वह है बालकों को शिक्षा देना। ऐसा करने में स्कूल को बालकों को अपने स्वतन्त्र विकास के लिए अवसर देना है तथा साथ ही साथ उनको सामाजिक जीवन में भाग लेने और पुष्ट बनाने के लिए योग्य भी बनाना है। स्कूल एक राष्ट्र के प्राण हैं और उसके द्वारा दी हुई शिक्षा राष्ट्र को स्फूर्ति और बल देती है। वे समाज के लघुरूप हैं और समाजिक आदर्शों की रक्षा करते हैं। स्कूल व्यक्ति और समाज दोनों को वह शक्ति देते हैं जिससे वे एक दूसरे का हित समझें और अपनी-अपनी जिम्मेदारी को निभावें। यदि स्कूल समाज के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक नहीं होता तो उसे स्थित रहने का कोई अधिकार नहीं है।

४

शिक्षा और दर्शन

दर्शन शास्त्र क्या है ? शिक्षा के दर्शन का अध्ययन करते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि दर्शन-शास्त्र के सम्बन्ध में हम अपना विचार स्थिर करलें। दर्शन की अनेक विद्वानों ने अनेक परिभाषाएँ दी है[1] जिनके सम्बन्ध में विचार करना यहाँ हमारे क्षेत्र से बाहर है। हमें तो दर्शन का मौलिक आधार देखना है और उसकी पृष्ठभूमि में शिक्षा के दर्शन को पूर्णरूप में समझना है।

दर्शन का क्षेत्र सत्य की खोज है। यदि हम यह प्रश्न करें कि वास्तविक सत्य क्या है तो उस प्रश्न के उत्तर में जो वाद-विवाद व कल्पना बनेंगी वे सब दर्शन के क्षेत्र में आवेंगीं। यह बात ध्यान देने की है कि वास्तविक सत्य निर्विवाद रूप में साबित होने पर दर्शन के क्षेत्र में नहीं रहेगा। वह एक अलग ज्ञान बन कर एक पृथक् सिद्धान्त का रूप धारण कर लेगा। दर्शन तो मस्तिष्क की सत्य को खोजने की क्रिया है। वास्तविक सत्य क्या है—इसकी खोज में मानव का मस्तिष्क चिरकाल से लगा रहा है। कभी-कभी उसे यह भ्रम होता है कि क्या वह कभी पता लगा भी सकेगा और कभी-कभी उसे निराशा घेरती है और वह यह समझ बैठता है वि वह पता लगा ही नहीं सकता। अस्तु।

वास्तविक सत्य की खोज में दो प्रमुख विचार दर्शन शास्त्र में अधिकार किए हुए हैं। एक विचार धारा के अनुसार सत्य आत्मा है। वह आत्मा अदृश्य, अगोचर अस्पृश्य संज्ञा है जो सारे विश्व में समाई हुई है और जो सृष्टि में बसी हुई है तथा जिसका दृश्य रूप ही सारी सृष्टि है। दूसरी विचार धारा के अनुसार वास्तविक सत्य

---

1 "He who has a taste for every sort of knowledge and who is curious to learn and is never satisfied may be just termed a philosopher." [*Plato : Republic*]

"He is a lover not of a part of wisdom only but of the whole" *Ibid.*

"His desire is to see life steadily and see it whole." *Ibid.*

"Those who are lovers of the vision of truth." —*Socrates*

पदार्थ है जो इन्द्रिय-ज्ञान के बाहर नहीं है और जिसका विभिन्न रूप सृष्टि है। मस्तिष्क या मन (mind) और पदार्थ (matter)—इनके ऊपर दो जबर्दस्त दर्शन की विचार-धाराएँ खड़ी हैं। पहली विचारधारा आदर्शवाद और दूसरी पदार्थवाद या प्रकृतिवाद कहलाती है। यद्यपि आदर्शवाद के तथा पदार्थवाद के भी अनेक रूप हैं परन्तु व्यापक रूप में ये दो विचारधाराएँ दर्शन की प्रमुख विचारधाराएँ हैं और इनमें एक को सत्य मानने वाले—चाहे वे आदर्श के पक्ष में हों या पदार्थवाद के—एकवादी या एकत्व, वादी (monist) कहलाते हैं, अर्थात् वे एक को सत्य मानते हैं चाहे मस्तिष्क को या पदार्थ को। कुछ दर्शन-शास्त्री जिनमें फ्रांस का प्रसिद्ध विद्वान डिस्कार्टे (Descartes) भी था दो सत्य मानते हैं। वे कहते हैं सत्य के दो रूप हैं और दोनों सत्य हैं। वे मस्तिष्क तथा पदार्थ दोनों को सत्य मानते हैं। एक सत्य मानने वाले मस्तिष्क को दिमाग (brain) की क्रिया मानकर पदार्थवाद की दृष्टि से मस्तिष्क की व्याख्या करते हैं अथवा आदर्शवादी होने के नाते दूसरी विचारधारा वाले पदार्थ को वास्तविक सत्य का दृश्य रूप मानते हैं और पदार्थ की मस्तिष्क से व्याख्या करते हैं। दोनों ही विचारधाराएँ बड़े-बड़े विद्वानों का आश्रय प्राप्त किये हुए हैं यद्यपि द्वैतवाद अधिक प्रचलित विचारधारा है। हम इन दर्शनों के सम्बन्ध में शिक्षा-दर्शन की व्याख्या करते हुए कुछ विस्तार में विचार करेंगे।

तीसरी विचार-धारा कुछ दार्शनिकों की है जो सत्य को एक या दो रूप में नहीं मानते। वे कहते हैं कि सत्य के बहुत रूप हैं और वास्तविक सत्य निश्चित है ही नहीं बल्कि वह तो बनता जा रहा है। यह विचार-धारा बहुवादी विचार-धारा है जिसके अनुसार वास्तविक स्थिर सत्य की कल्पना करना निरर्थक बाल की खाल खींचने वाली प्रवृत्ति है। वह बहुवादी विचार-धारा शिक्षा में प्रयोजनवाद (Pragmatism) का आधार है जिसके सम्बन्ध में भी हम आगे चलकर विस्तार में विचार करेंगे। आदर्श-वाद एवं प्रकृतिवाद की तरह प्रयोजनवाद के भी कई रूप हैं परन्तु दार्शनिक आधारों में उनका विरोध नहीं है। इन तीनों दर्शनों—आदर्शवाद, प्रकृतिवाद व प्रयोजनवाद का शिक्षा में क्या महत्व है और ये शिक्षा को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, यह हम अगले अध्यायों में विचार करेंगे।

शिक्षा और दर्शन का सम्बन्ध व शिक्षा दर्शन की आवश्यकता

किसी भी क्रिया के करने में हम देखते हैं कि उस क्रिया का कोई न कोई सैद्धान्तिक आधार है। हम कुछ भी करें उसके पहले हम यह विचार करते हैं कि ऐसा हम क्यों करते हैं। यदि बिना इस प्रश्न का उत्तर दिए हम कुछ कर बैठते हैं तो पीछे यह सोचते हैं कि हमने ऐसा क्यों किया। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी समस्त क्रियाओं का कुछ सैद्धान्तिक आधार है जो हमें उस क्रिया का लक्ष्य बताता है और उसके करने के लिए प्रेरित करता है। वह सैद्धान्तिक आधार किसी न किसी तथ्य पर टिका हुआ होता है चाहे वह तथ्य किसी भी प्रकार का हो—शरीर से सम्बन्ध रखता हो, या मस्तिष्क से या मानव की आत्मा से—वह किसी न किसी

रूप में मानव के जीवन से सम्बन्ध रखता है। यदि वह मानव जीवन से सम्बन्ध नहीं रखता तो वह तथ्य भले ही हो मानव के लिए महत्व की वस्तु नहीं और न वह मानव अनुभव के क्षेत्र में ही आता है।

उपर्युक्त कथन से दो बातें स्पष्ट हुईं : प्रथम, प्रत्येक क्रिया जो हम करते हैं किसी सिद्धान्त या तथ्य के ऊपर आधारित होती है और द्वितीय यह कि वह तथ्य मानव जीवन से सम्बन्ध रखता है। इनके साथ तीसरी बात हम अब और जोड़ देना चाहते हैं और वह यह कि मानव जीवन से सम्बन्ध रखने वाला कोई सिद्धान्त या तथ्य मानव जीवन के वास्तविक तथ्य, या लक्ष्य का जीवन के रहस्य का अंग है और इसलिए प्रत्येक क्रिया जो मनुष्य करता है वह व्यक्ति के जीवन के लक्ष्य से सम्बन्धित होती है क्योंकि उसी से वे सब तथ्य बँधे हुए हैं जो उसकी प्रत्येक क्रिया के सैद्धान्तिक आधार होते हैं।

शिक्षा मानव जीवन की आवश्यकता है और वह एक क्रियाओं तथा प्रक्रियाओं के रूप में चलती है। चूंकि ये क्रियाएँ और प्रक्रियाएँ मानव की हैं अतः उनका सैद्धान्तिक आधार मानव जीवन का तथ्य अथवा लक्ष्य है। यही दर्शन के अध्ययन का शिक्षा में महत्व है। दर्शन मानव जीवन के रहस्य व लक्ष्य आदि का अध्ययन करता है और ऐसा करने में वह मानव को उसके जीवन की समस्त क्रियाओं का स्वरूप जताता है। जहाँ कहीं दर्शन जीवन से भिन्न रहा है वहाँ वह पनप नहीं सका है। दर्शन का मूल्य तभी है जब वह मानव क्या करता है और क्यों करता है, इसकी व्याख्या करे और मानव की क्रियाओं का सैद्धान्तिक रूप निश्चित करे। वास्तविक दर्शन—चाहे भारतीय दर्शन को हम लें और चाहे पाश्चात्य दर्शन को—प्राचीन काल से ही जीवन के लक्ष्य, जीवन के रहस्य व जीवन को सुन्दर बनाने के साधनों से मानव को भिज्ञ कराता रहा है। यदि वह ऐसा नहीं कर सकता है या कर सका है तो वह अव्यावहारिक दर्शन है जो फुरसत के समय मानसिक चेष्टाओं का माध्यम है जीवन के लिए जिसका कोई मूल्य नहीं है।[1] अतः शिक्षा और दर्शन का सम्बन्ध है और वह इस क्षेत्र में कि शिक्षा दी जाती है तो दर्शन यह बतलाता है कि वह क्यों दी जाती है, उसको देने के क्या उद्देश्य हैं आदि। यदि किसी प्रकार का

1 "Wherever philosophy has been taken seriously, it has always been assumed that it signified achieving a wisdom which would influence the conduct of life. Witness the fact that almost all ancient schools of philosophy were also organised ways of living, those who accepted their tenets being committed to certain distinctive modes of conduct ; witness the intimate connection of philosophy with the theology of the Roman Church in the middle ages, its frequent association with religious interests and at national crises, its association with political struggle's."

[*Dewey John* : op. cit. pp. 378-379]

पाठ्यक्रम बनाया जाता है तो वह क्यों ? कोई पद्धति अपनाई जाती है तो क्यों ? कोई व्यवस्था स्थापित की जाती है तो क्यों ? शिक्षा के विभिन्न अंगों व रूपों को क्यों किस आधार पर, किसलिए और किस उद्देश्य या उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वीकार किया गया ? यह सब दर्शन का क्षेत्र है और चूंकि यह दर्शन शिक्षा से ही सम्बन्ध रखता है, मानव की अन्य व्यवस्था से नहीं अतः यह शिक्षा दर्शन कहलाता है और चूँकि यह दर्शन के क्षेत्र से बाहर नहीं है अतः इसे शिक्षा दर्शन ही कहते हैं यद्यपि शिक्षा के सिद्धान्त अथवा तात्विक सिद्धान्तों से भी इसकी संज्ञा दी जाती है।

हमें अब यह विचार करने की अधिक आवश्यकता नहीं है कि शिक्षा दर्शन का क्या महत्व है। उपर्युक्त कथन उसके महत्व की व्याख्या करता है। परन्तु थोड़ा विचार हमें इस सम्बन्ध में मानव जीवन के एक अन्य दृष्टिकोण से करना है। और वह यह कि दर्शन जीवन के साथ कैसे बँधा हुआ है। यह जीवन भी एक क्रिया है तो दर्शन किस प्रकार उसका सैद्धान्तिक आधार है ?

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, दर्शन सत्य की खोज है और उसमें प्रमुख प्रश्न यह भी है कि मानव क्या है ? उसके जीवन का क्या उद्देश्य है ? उसे सत्य की खोज कैसे करनी है ? आदि। यद्यपि दर्शन के क्षेत्र में केवल यही प्रश्न नहीं आते परन्तु ये प्रश्न दर्शन के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। मानव अन्य सत्यों की खोज से पहले अपने सम्बन्ध में सत्य का पता लगाने को अधिक उत्सुक है।

इस प्रश्न का उत्तर देने में अनेक प्रकार के सिद्धान्तों की कल्पना की गई और अपनी-अपनी तर्क, बुद्धि व विचारों के आधार पर कई प्रकार की दार्शनिक-विचार धाराओं का जन्म हुआ जैसे आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, पदार्थवाद, आध्यात्मवाद, आदि। हमें यहाँ इनके सम्बन्ध में भी विचार नहीं करना है। अस्तु।

परन्तु यहाँ जीवन के दर्शन का सम्बन्ध है प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के विचारों को स्वीकार करते हुए भी उनमें अपनी विचार-धारा के अनुसार कुछ न कुछ अपने लिए परिवर्तन कर लेता है। कोई व्यक्ति किसी दर्शन को मानता है इसका मतलब यह नहीं कि वह उसको उस रूप में और उसके सब पहलुओं को उसी सीमा तक स्वीकार करता है जितनी सीमा तक तथा जिस रूप में दूसरा व्यक्ति स्वीकार करता है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी व्यक्तिगत विचार-धारा अथवा उसका दर्शन होता है जो उसके संस्कारों, अध्ययन, चिन्तन, प्रवृत्तियों, भावना आदि का परिणाम होता है और जो उसके व्यक्तित्व से चिपके ही नहीं रहते बल्कि जिनको मिलाकर ही उसका व्यक्तित्व बनता है। इन्हीं के आधार पर तो हम एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति में भेद पाते हैं और दो में पूर्ण समानता नहीं पाते। इन्हीं के आधार पर हम कहते हैं कि एक व्यक्ति और दूसरा व्यक्ति बहुत कुछ हद तक समान होते हुए भी किसी एक सीमा पर पहुँचने पर एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। एक 'स्व' दूसरी 'स्व' से भिन्न है। सामान्य रूप में एक दार्शनिक विचार-धारा को स्वीकार करने वाले हजारों

लोगों में भी उसके प्रति पूर्ण रूप में एकता नहीं होती। किसी न किसी अंश में वे एक दूसरे से मतभेद रखते हैं।

हमारा कहने का प्रयोजन यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी 'स्व' के विकास के साथ-साथ उसकी जीवन के प्रति—जीवन बिताना, जीवन में किस प्रकार व्यवहार करना, किस लक्ष्य की प्राप्ति करना, क्या करना और क्या न करना—एक विचारधारा बन जाती है और वही उसका जीवन-दर्शन होता है। प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग जीवन-दर्शन होता है। उसके बिना वह जीवन की क्रिया को सम्पन्न नहीं कर सकता और जैसा कि एल्डौस हक्स्ले ने कहा है 'प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग जीवन-दर्शन होता है चाहे वह मूढ़ ही क्यों न हो।' यह दूसरी बात है कि किसी का जीवन दर्शन अच्छा है और किसी का बुरा।[1] अच्छा या बुरा, जीवन दर्शन प्रत्येक व्यक्ति का अपना होता है जो उसके व्यक्तित्व का प्रतीक है और जिसको उसके संस्कार, अध्ययन, मनोवृत्तियाँ जन्म देती हैं। जिस सीमा तक उसके व्यक्तित्व का विकास होता जाता है उसी सीमा तक उसके जीवन दर्शन का विकास भी होता है। दोनों एक दूसरे में बंधे हैं और दोनों का विकास एक दूसरे के ऊपर निर्भर है। अच्छा जीवन दर्शन अच्छे व्यक्तित्व का परिचायक है, अच्छा व्यक्तित्व अच्छे जीवन दर्शन की झलक देता है।

तो हमारे उस प्रश्न का उत्तर निकल आया जो हमने ऊपर लिखा था कि मानव जीवन व दर्शन का क्या सम्बन्ध है। दर्शन जीवन को रंग देता है, उसकी धारा व प्रवाह को निश्चित करता है और मानव उसी को अपने जीवन का आधार बना कर अपनी जीवन-क्रियाएँ सम्पन्न करता है। मानव के जीवन से हम उसके दर्शन का अनुमान कर सकते हैं। उसके विचारों, उसके लेखों, उसकी प्रतिक्रियाओं—सब में उसका दर्शन झलकता है। हमें इस विचार की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं। साहित्य व कला के सभी विद्यार्थी जानते हैं कि किस प्रकार किसी की रचना को पढ़कर उसके दर्शन की झलक होती है।

मानव की अपने जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में एक और विशेषता है और वह यह कि व्यक्ति अपना दर्शन अपने तक सीमित नहीं रखना चाहता, वह उसका प्रचार

---

1 Men live in accordance with their philosophy of life, their conception of the world. This is true even of the most thoughtless. It is impossible to live without a metaphysic. The choice that is given us is not between some kind of metaphysic and no metaphysic ; it is always between a good metaphysic and a bad metaphysic, a metaphysic that corresponds reasonably closely with observed and inferred reality and one that does not". [*Aldous Huxley* : Ends and Means, Quoted by Ross, Groundwork of Educational Theory, Chap. 1]

करना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति में यह नैसर्गिक प्रवृत्ति है कि वह अपने व्यक्तित्व की दूसरों पर छाप डालना चाहता है और ऐसा करने में वह अपने विचार दूसरों पर लादना चाहता है। यह सामान्य अनुभव की बात है। महान् व्यक्तित्व वाले व्यक्ति इसमें सफल होते हैं, उनके अनुयायी बन जाते हैं और उनकी विचार-धारा एक मानव-समूह की विचार-धारा बन जाती है। यह कार्य व्यक्ति कैसे करता है ? अपने विचारों को दूसरों को देकर और उन पर उनको विश्वास दिलाकर। दूसरे शब्दों में, शिक्षा के द्वारा। शिक्षा की क्रिया क्या है ? विचारों का, व्यवहारों का, भावनाओं का दूसरों को दिया जाना। जब व्यक्ति अपने विचारों व भावों को दूसरों को देता है तो वह क्रिया शिक्षा की ही क्रिया है। इसीलिए एडम्स ने शिक्षा को दर्शन का वह भाग बतलाया है जो चालित है, गति में है, स्थिर नहीं है (Education is the dynamic side of Philosophy) और इसीलिए उसने शिक्षा को द्विमुखी क्रिया (bi-polar process) बतलाया है। जब तक दूसरा सिरा न होगा तो वह क्रिया चलेगी ही नहीं।

जीवन के सम्बन्ध में दर्शन के रूप को स्पष्ट करने को हमने दो बातें स्पष्ट कीं ! प्रथम, दर्शन जीवन का अभिन्न अंग है और उसके बिना जीवन का कोई आधार नहीं। अथवा यों भी कह लीजिए कि यदि कोई दार्शनिक आधार है तो वे जीवन की स्थिति के सूचक हैं। दूसरी बात यह कि प्रत्येक व्यक्ति का सामान्य रूप में किसी दार्शनिक विचार-धारा के प्रति प्रेम होते हुए भी अपना-अपना अलग-अलग दर्शन होता है जिसके आधार पर वह अपनी जीवन-क्रियाएँ सम्पन्न करता है और जिस पर उसका समस्त व्यवहार आधारित होता है। यह दर्शन वह केवल अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहता। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों, भावों, आदतों का प्रचार करना चाहता है। यह कार्य शिक्षा द्वारा होता है। अतः शिक्षा दर्शन की चलती हुई भुजा है जिसके द्वारा दर्शन गति में रहता है और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति, एक समाज से दूसरे समाज, एक युग से दूसरे युग में पहुँचता है।

शिक्षा दर्शन का रूप व उसकी प्रकृति

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं दर्शन के व्यापक दृष्टि से तीन रूप हैं और तीन ही हो सकते हैं : एक वाद (monism), द्विवाद (dualism) और बहुवाद (Pluralism)। एक वाद सत्य को मानता है, चाहे वह आत्मा हो, या ईश्वर की संज्ञा उसे दी जाय, या प्रकृति को माना जाय अथवा पदार्थ को। द्विवाद दो सत्य में विश्वास करता है : आत्मा और पदार्थ, ईश्वर और प्रकृति इसकी दृष्टि में सत्य एक नहीं है उसके दो अंग हैं और दोनों ही सत्य हैं। बहुवाद सत्य का एक रूप या दो रूप नहीं मानता। उसकी दृष्टि से सत्य के अगणित रूप हैं और वास्तविक सत्य स्थिर या निश्चित नहीं है बल्कि विकास के क्रम में है। हम यह भी कह चुके हैं कि आत्मा या मन के आधार पर स्थित दर्शन शिक्षा में आदर्शवाद का जन्मदाता है, पदार्थ के ऊपर स्थित दर्शन प्रकृतिवाद का और बहुवाद के ऊपर स्थित दर्शन

प्रयोजनवाद (pragmatism) का। हम अगले अध्यायों में इन तीनों शिक्षा दर्शनों की विस्तारपूर्वक व्याख्या करेंगे और यह देखेंगे कि इनने किस प्रकार शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर प्रभाव डाला और इनके पृथक्-पृथक् आधार पर शिक्षा का क्या रूप होना चाहिए। यहाँ हमें शिक्षा दर्शन के व्यापक रूप व उसकी प्रकृति पर विचार करना है और इस सम्बन्ध में हम इन तीनों दर्शनों का भेद संक्षेप में स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

(1) प्रकृतिवाद का केन्द्र प्रकृति है। वास्तविक सत्य प्रकृति या पदार्थ है। पदार्थ इन्द्रिय-ग्राह्य है। जो इन्द्रियों से स्पर्श किया जा सके, सुना जा सके, सूँघा जा सके अथवा भक्षित किया जा सके वही सत्य है। इन्द्रिय-ज्ञान के परे कोई सत्य नहीं है। प्रकृतिवाद के कई रूप हैं परन्तु सब रूप विकास में विश्वास रखते हैं और प्रकृति को अन्तिम सत्य मानते हैं। सब प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं और उसी में मिल जाते हैं। प्रकृति के नियम अटल हैं और सारा विश्व उन नियमों से बँधा है। विकास का क्रम भी उन्हीं नियमों से चलता है विज्ञान प्रकृति के रहस्य को खोलता है और उसी के आधार पर प्रकृति के विषय में ज्ञान प्राप्त हो सकता है। मानव मस्तिष्क भी विकास के क्रम में प्रकृति की ही उपज है। पदार्थ के परे आत्मा या मस्तिष्क अथवा मन की कोई स्थिति नहीं है।

(2) आदर्शवाद लक्ष्य की दृष्टि से प्रकृतिवाद से बिल्कुल भिन्न है। विकास में दोनों विश्वास करते हैं परन्तु प्रकृतिवाद विकास को पदार्थ के स्तर तक ही रखता है और यह कहता है कि विकास का क्रम पदार्थ के स्तर पर ही छोटे स्तर से प्राणी की बड़े स्तर तक की क्रिया की ओर चलता है परन्तु आदर्शवाद विकास के क्रम को पदार्थ के स्तर से उठाकर और आगे ले जाता है और अन्तिम सत्य जो पदार्थ के स्तर से ऊँचा है, की ओर उसे प्रवृत्त करता है। आदर्शवाद आत्माकेन्द्रित है और यह विश्वास करता है कि पदार्थ के जगत में सत्य होते हुए भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह अंतिम सत्य है। आदर्शवाद की दृष्टि में अन्तिम सत्य अनश्वर निश्चल, स्थिर है। भौतिक जगत् व पदार्थ जो इन्द्रिय-गम्य है इसका वाह्य रूप है। अन्तिम सत्य उसमें समाया हुआ है। रूप नष्ट हो जाता है परन्तु वह सत्य नष्ट नहीं होता। (नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि.....)

(3) प्रयोजनवाद या प्रयोगवाद—प्रकृतिवाद व आदर्शवाद के बीच में है। यह मानव के अनुभव को केन्द्र मानता है। सत्य वही है जिसे मानव ने अपनी बुद्धि व अनुभव के आधार पर सिद्ध कर दिया है। अतः सत्य एक नहीं है। जब तक मानव सृष्टि रहेगी सत्य के निर्माण का क्रम चलता रहेगा। प्रयोजनवाद जिसका आज शिक्षा में बहुत प्रभाव है, कहता है कि मानव अपने अनुभव के आधार पर बहुत से सत्य बनाता है और उनकी परीक्षा करता है। अपनी परिस्थिति में वह उनका उपयोग करता है। यदि वह उपयोगी होते हैं तो उन्हें स्वीकार करता है और उनको सत्य मान लेता है अन्यथा निरुपयोगी समझकर उन्हें त्याग देता है।

प्रयोजनवाद सत्य को निश्चल और स्थिर नहीं मानता परन्तु वास्तविक सत्य को मानव का अनुभव और उसके आधार पर उसकी क्रियाशीलता को मानता है और चूंकि इनका अन्त नहीं है अतः अन्तिम सत्य भी कोई नहीं है। इसी आधार पर शिक्षा में वह एक उद्देश्य, एक पाठ्यक्रम, एक पद्धति, एक क्रिया—किसी में विश्वास नहीं करता। व्यक्ति का अनुभव प्रधान है और उसके अनुभव से जो उपयोगी है, जो लाभदायक है, जो सत्य है जो झूठ है, जो व्यर्थ है वह वही है जो उसका अनुभव बतलाता है। इसीलिए प्रयोगवाद गतिशील आदर्शवाद (dynamic idealism) भी कहा जाता है जो प्रकृतिवाद आदर्शवाद के आधार पर यह नहीं मानता है कि अंतिम सत्य निश्चित है। वह पदार्थवाद से ऊँचा उठकर मानव की इन्द्रिय जन्य ज्ञान की अपेक्षा उसके अनुभव-जन्य ज्ञान को सत्य मानता है परन्तु आदर्शवादियों की तरह आत्म-जनित या केन्द्रित दार्शनिक विचार-धारा को स्वीकार नहीं करता, जिसके आधार पर अन्तिम सत्य निश्चित है और वह आत्मा है।

इन तीनों दर्शनों के सम्बन्ध में इतना कहना हमारे अभिप्राय को सिद्ध करने के लिए आवश्यक था। हमें शिक्षा दर्शन के रूप व प्रकृति पर विचार करना है और हम बिना उन दार्शनिक विचार-धाराओं के सम्बन्ध में कुछ विचार किए हुए जिनकी प्रकृति की हमें अपने लिए व्याख्या करनी है हम शिक्षा दर्शन की प्रकृति को नहीं समझ सकते।

शिक्षा की दृष्टि से हमें दर्शन की आवश्यकता क्यों प्रतीत होती है? इसलिए सर्वप्रथम हमें इस प्रश्न का उत्तर देना है कि हम शिक्षा क्यों देते हैं? तत्पश्चात् शिक्षा की व्यवस्था में प्रत्येक पग पर हमें 'क्यों' का उत्तर देना है। ऐसा कर रहे हैं तो क्यों और ऐसा कर रहे हैं तो क्यों। उनमें सब प्रश्नों के उत्तर दार्शनिक दृष्टि से नहीं भी दिए जा सकते हैं परन्तु कुछ के दिए जाना आवश्यक है। कुछ प्रश्नों का उत्तर मनोविज्ञान देगा, कुछ का समाज-विज्ञान और कुछ का अन्य विज्ञान जो मानव की क्रियाओं व व्यवहारों से सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु सबसे प्रमुख प्रश्न जिसका शिक्षा दर्शन को ही उत्तर देना है वह है शिक्षा के उद्देश्य। हम शिक्षा देते हैं तो हमारे क्या उद्देश्य हैं?

उद्देश्यों के सम्बन्ध में हम कह चुके हैं कि हमारे कोई भी उद्देश्य हों वे प्राप्य अवश्य हों, ऐसे न हों कि हम उनको देखते ही रहें अथवा देखने भी न पावें बल्कि उनकी कल्पना भी न कर पावें और उद्देश्य हम उनको बना ही लें। ऐसे उद्देश्य बनाना निरर्थक है और वे उत्साह के स्थान पर निरुत्साह और आशा के स्थान पर निराशा पैदा करते हैं। अतः उद्देश्यों की प्राप्यता उद्देश्यों का एक गुण है। हमारा शिक्षा-दर्शन हमें ऐसे ही उद्देश्य बतलाने की ओर प्रवृत हो। जो दर्शन जीवन से सम्बन्ध रखता है और उसका आधार बनता है वह जीवन को पग-पग पर छूता रहता है। जीवन से किसी भी समय पलभर को भी उसका स्पर्श अलग नहीं होता। मानव की क्रियाएँ उस दर्शन की झलक देती रहती हैं जो दर्शन उसका

जीवन दर्शन है। शिक्षा में शिक्षा की क्रियाएँ, उसके अंग, उसका स्वरूप, उसकी व्यवस्था उस दर्शन की झलक देती रहती हैं जिसके आधार पर वह खड़ी है। दूसरे शब्दों में शिक्षा-दर्शन शिक्षा व्यवस्था व प्रक्रिया का सैद्धान्तिक आधार है जो सैद्धान्तिक आधार मानव के विगत अनुभव व वर्तमान परिस्थितियों के अन्तर्गत हुए अनुभवों, विचारों व तर्कों का परिणाम है, जिसे परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार संशोधित कर लिया गया है और जो भविष्य में परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार संशोधित कर लिया जावेगा। शिक्षा-दर्शन इस प्रकार व्यवहार-रूप का सैद्धान्तिक आधार है। व्यवहार रूप और उसमें घनिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं है बल्कि जितना उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध होगा, उतनी ही शिक्षा व्यवस्था पूर्ण और उसके परिणाम सफल होंगे। व्यवहाररूप सिद्धान्तरूप का परिचायक है और उसका प्रतिबिम्ब देता है। सिद्धान्तरूप व्यवहाररूप का आधार है और उसको बल देता है। बिना व्यवहाररूप के सिद्धान्तरूप कोरी कल्पना व मानसिक क्रिया रह जाती है और बिना सिद्धान्त-रूप के आधार के व्यवहार रूप चल नहीं सकता, उसकी जड़ खोखली रहती है। व्यवहार-रूप में सिद्धान्तरूप अन्तर्निहित (implicit) है और सिद्धान्तरूप के लिए व्यवहाररूप आवश्यक ही नहीं है वह उसको प्रगट करने का माध्यम (explicit) भी है।

उपर्युक्त कथन के आधार पर हम शिक्षा-दर्शन की परिभाषा बना सकते हैं और हम कह सकते हैं शिक्षा-दर्शन शिक्षा के व्यवहार-रूप के पीछे सैद्धान्तिक आधार है।[1] विज्ञान और दर्शन में यह भेद किया जाता है कि विज्ञान 'ज्ञान' (Knowledge) है और दर्शन सम्मति (opinion) है। यह भेद बहुत कुछ अंश में स्पष्ट और सत्य है। विज्ञान के द्वारा हम संसार का ज्ञान प्राप्त करते हैं और विज्ञान हमें दुनियाँ के बारे में तथ्यों को बतलाता है परन्तु वह हमारी उनके बारे में सामान्य धारणा नहीं बनाता। जब उस तथ्य अथवा उन तथ्यों का पता लगाकर हम उनके प्रति कोई धारणा बनाते हैं तो हमारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण दार्शनिक दृष्टिकोण का रूप ले लेता है। अतः दार्शनिक दृटिकोण तथ्यों, व्यवहारों व हमारी भावनाओं के प्रति हमारी धारणाओं से सम्बन्ध रखता है और इस प्रकार वह उनका सैद्धान्तिक आधार बन जाता है। शिक्षा-दर्शन शिक्षा के व्यवहार-रूप के तथ्यों के प्रति हमारी धारणाओं और मनोवृत्तियों का समूह है जो उनका सिद्धान्त रूप है और उनको

---

1 The most penetrating definition of Philosophy which can be given is, that it is the theory of education in its most general phases." [*Dewey John* : Democracy and Education, p. 386]
Since education is the process through which the needed transformation may be accomplished and not remain a mere hypothesis as to what is desirable, we reach a justification of the statement that philosophy is the theory of education as a deliberately conducted practice" [*Ibid* p. 387]

बल देता है। व्यापक रूप में दर्शन हमेशा जीवन को प्रेरणा देता रहा है और जीवन ही उसका सबसे प्रमुख क्षेत्र रहा है। इसलिए शिक्षा दर्शन के लिए भी शिक्षा का जीवित रूप—उसका व्यवहार रूप ही महत्वपूर्ण विषय है और उसके बिना उसका कोई मूल्य नहीं। शिक्षा दर्शन के वास्तविक मूल्य के निर्धारण में यह महत्वपूर्ण बात है।[1]

सारांश

दर्शन की परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई हैं परन्तु सबका निष्कर्ष यही है कि दर्शन का क्षेत्र सत्य की खोज है। सत्य की खोज में मानव मस्तिष्क चिर-काल से लगा हुआ है। दो प्रमुख विचार-धाराएँ इसमें बहुत महत्व रखती हैं। एक के अनुसार आत्मा और दूसरी के अनुसार पदार्थ सत्य हैं। इन दोनों विचार-धाराओं के आधार पर आध्यात्मवाद, अथवा आदर्शवाद (शिक्षा में) और पदार्थवाद, इन दो दार्शनिक विचार-धाराओं का जन्म हुआ। एक के अनुसार इस पदार्थ रूप जगत् के परे और इसमें समाई हुई आत्मा है जो अन्तिम सत्य है और दूसरी के अनुसार पदार्थ ही अन्तिम सत्य है। सारी सृष्टि उसी का भिन्न-भिन्न रूप है। बहुत से दार्शनिक आत्मा और पदार्थ दोनों को सत्य मानते हैं। इस प्रकार दर्शन में एक वाद व द्विवाद, दो विचार-धाराओं की प्रधानता रही है।

एक और विचार-धारा जिसका आधुनिक शिक्षा पर बहुत प्रभाव है वह है बहुवाद जिसका शिक्षा में प्रयोगवाद प्रतीक है। इस विचार-धारा के अनुसार मानव अनुभव सत्य की स्थापना करता है और चूँकि मानव अनुभव का अन्त नहीं है, वह चलता ही रहता है अतः सत्य निश्चित नहीं है बल्कि निर्मित होता रहता है। वास्तविक सत्य वही है जो मानव अनुभव के द्वारा साबित कर दिया जाता है। प्रयोजनवाद प्रकृतिवाद और आदर्शवाद के मध्य आता है और अपनी प्रकृति के कारण गतिशील आदर्शवाद कहा जा सकता है।

शिक्षा व दर्शन में बहुत सम्बन्ध है। दर्शन जीवन से बँधा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना दर्शन होता है जो उसके जीवन में उसे अपने समस्त व्यवहार का आधार देता है। प्रत्येक व्यक्ति में अपने दर्शन को प्रचार करने की प्रवृत्ति भी होती

---

1 To a problem raised by himself in the Essay entitled 'Education and the Realistic outlook." Can philosophy help education'? Frederick S. Breed writes : "Whatever the writer's philosophic attainments may be, his respect for such attainments in others has never been hampered by the suspicion that generalisations which he does not comprehend must therefore be mere verbalisms, conceptual impostors that circulate in the field of thought without denoting anything genuinely real."

[Forty-first Year-Book, op. cit., pp. 89-90]

है। यह कार्य शिक्षा द्वारा होता है। अतः शिक्षा दर्शन की गति-रूप क्रिया है जिसके द्वारा दर्शन की धारा संवाहित रहती है। सामान्य रूप में अनेक व्यक्ति एक विचार-धारा के अनुयायी भले ही हों परन्तु किसी सीमा तक पहुंचने के बाद उनकी अलग-अलग 'स्व' उनके अलग-अलग विभाजन कर देती है और प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग जीवन दर्शन बन जाता है जो बहुत रूपों में दूसरे के दर्शन से मिलता है परन्तु कुछ रूप में दूसरों से भिन्न होता है।

शिक्षा दर्शन में तीन प्रमुख दर्शनों का अस्तित्व है और उनका शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर प्रभाव है : वे हैं आदर्शवाद, प्रकृतिवाद व प्रयोजनवाद। इनमें प्रथम आत्मा को सत्य मानता है और इस प्रकार आत्मा केन्द्रित है, दूसरा प्रकृति व पदार्थ को सत्य मानता है और प्रकृति-केन्द्रित है और तीसरा मानव अनुभव को सत्य मानता है अतः मानव-केन्द्रित है।

शिक्षा-दर्शन के कितने ही रूप हों शिक्षा दर्शन यथार्थ में शिक्षा के व्यवहार रूप का सैद्धान्तिक आधार है। व्यवहार रूप और सैद्धान्तिक रूप में घनिष्ट सम्बन्ध है। हमारा व्यवहार किसी सिद्धान्त पर आधारित होकर ठोसता प्राप्त करता है और सिद्धान्त व्यवहाररूप में आकर अधिक सार्थक बनता है, अतः शिक्षा दर्शन शिक्षा के व्यवहार रूप का सैद्धान्तिक आधार है और वह उसे बल देता है। इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि जब-जब दर्शन की विचार-धाराओं ने जन्म लिया तो उन्होंने मानव जीवन को प्रभावित किया और इस प्रकार उन्होंने अपनी सार्थकता सिद्ध की। यदि शिक्षा दर्शन व्यवहाररूप में प्रदर्शित नहीं होता तो वह शिक्षा दर्शन निरर्थक है, वह कोरी मानसिक कसरत का माध्यम है।

५

शिक्षा में आदर्शवाद

हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं कि दर्शन व्यापक रूप में जीवन के प्रति दृष्टिकोण है और शिक्षा में उसका प्रभाव सामान्य रूप में न कि विशिष्ट रूप में होता है। अतः शिक्षा-दर्शन किसी एक विशेष दार्शनिक विचार-धारा का अंग मात्र है और उसमें और प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित हो सकती हैं। किसी भी युग का शिक्षा दर्शन उस युग की विचार-धाराओं तथा अन्य विचार-धाराओं द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में प्रभावित होता है परन्तु मानव-जीवन का कोई दर्शन पूर्ण रूप में किसी भी शिक्षा दर्शन को प्रभावित नहीं कर सकता। कारण स्पष्ट है। शिक्षा एक व्यावहारिक-कला है और उसमें दार्शनिक विचारों तथा व्यवहाररूपों का समन्वय करके ही शिक्षा दर्शन की उत्पत्ति होती है। अस्तु।

आदर्शवाद जीवन की एक बहुत पुरानी दार्शनिक विचार-धारा है और इसने चिरकाल से मानव-जीवन को प्रभावित किया है। शिक्षा में भी इसका प्राचीन-काल से प्रभाव स्पष्ट रहा है और अब भी शिक्षा के कई पहलुओं में इसका प्रभाव स्पष्ट होता है। हम पहले आदर्शवाद को मानव-जीवन के दर्शन के रूप में देखेंगे। तत्पश्चात् हम उसे शिक्षा के दर्शन के रूप में देखेंगे। हमारा आदर्शवाद के सम्बन्ध में तीसरा कदम उसका शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर क्या प्रभाव पड़ा है, इसकी व्याख्या होगी।

आदर्शवाद जीवन-दर्शन के रूप में

दर्शन में आदर्शवाद के कई रूप हैं और बहुत से दार्शनिकों के आदर्शवादी होते हुए भी अनेक मतभेद हैं। हमें इन दार्शनिक मतभेदों से प्रयोजन नहीं, परन्तु हमें उनके उन विचारों से प्रयोजन है जिन पर वे एकमत हैं और जो आदर्शवाद की जड़ हैं। वे विचार निम्नलिखित हैं :—

(अ) आदर्शवाद पदार्थ से सृष्टि का अन्तिम सत्य स्वीकार नहीं करता बल्कि वह सत्य को मानसिक रूप देता है। आदर्शवादियों का विश्वास है कि यह जगत् जिसे हम आँखों से देखते हैं या स्पर्श करते हैं, जिसके बारे में हमें अपनी इन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्त होता है, किसी आत्मा व बुद्धि की उपज है। यह स्वयं में सत्य नहीं है

बल्कि किसी का दृश्य रूप होकर स्थित रहने में सत्य है। वास्तविक सत्य तो वह आत्मा है जो पूरी सृष्टि में समाई हुई है और जो पूरी सृष्टि का नियंत्रण करती है। उसकी स्वयं शारीरिक स्थिति नहीं है, परन्तु सारी सृष्टि उसी का रूप है और सबकी शक्ति का वही स्रोत है। यह सत्य अटल है। उस आत्मा का ज्ञान ही सत्य है, सुन्दरता का प्रतीक है और वही शिव है। जो सत्य है, वही सुन्दर है और वही शिव है—आदर्शवाद के ये प्रमुख आधार हैं।

(ब) आदर्शवाद विकास में और उसके क्रम में विश्वास करता है परन्तु पदार्थवादियों के विकास के सिद्धान्त को अपूर्ण बतलाता है। पदार्थवाद की दृष्टि से तो विकास नीचे प्राणि-स्तर (lower organism) से ऊंचे प्राणि-स्तर की ओर होता है परन्तु आदर्शवाद की दृष्टि से विकास का उद्देश्य क्रमिक रूप में चलते-चलते अंत में उस आत्मा या शक्ति का बोध कर लेना है जो सारे विश्व को नियंत्रित करती है और जो अन्तिम सत्य है।

(स) आदर्शवाद इस प्रकार मानव-जीवन का वास्तविक उद्देश्य आध्यात्मिक बतलाता है। आदर्शवाद की दृष्टि में मानव के वातावरण के दो भेद किए जाते हैं: एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। आध्यात्मिक वातावरण अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वह मानव को छोड़ और किसी का नहीं होता। वही मानव को मानव बनाता है और उसी के आधार पर वह मानव कहलाता है। अतः यह आध्यात्मिक वातावरण ही अधिक महत्वपूर्ण है। इस वातावरण के सम्बन्ध में हम अभी और विचार करेंगे।

(द) आदर्शवाद इन्द्रियों की अपेक्षा मस्तिष्क को अधिक महत्व देता है। उसके आधार पर वास्तविक सत्य मस्तिष्क से ही बुद्धि के बल पर ग्रहण किया जा सकता है। मस्तिष्क जो जगत् में प्रक्षिप्त करता है वही सत्य है।

(य) आदर्शवाद व्यक्ति के व्यक्तित्व को जो विचारों और अभिप्रायों का संयोग है अधिक महत्व देता है।

(र) विज्ञान के द्वारा भौतिक-जगत् और पदार्थ के सम्बन्ध में दिया गया ज्ञान अपूर्ण है। वास्तविक सत्य विज्ञान बतला ही नहीं सकता। वह तो व्यक्ति द्वारा स्वयं ही जाना जा सकता है।

(ल) यह कहना कि प्रकृति स्वयं में पूर्ण है भ्रमात्मक कथन है। प्रकृति स्वयं में अपूर्ण है। वास्तविक सत्य ही उसे पूर्णता की ओर अग्रसर करता है।

(व) मनुष्य अन्य प्राणियों से इसी रूप में भिन्न नहीं है कि वह मनुष्य है और वह अधिक विकसित प्राणी है बल्कि इस रूप में भी भिन्न है, और यही भिन्नता अधिक महत्वपूर्ण है, कि उसकी स्थिति का वास्तविक मूल्य उसके भौतिक वातावरण में नहीं बल्कि आध्यात्मिक वातावरण में है जो वातावरण विज्ञान की देन अथवा

उसका बनाया हुआ नहीं बल्कि मानव का स्वयं विज्ञान से स्वतंत्र होकर अपनी बुद्धि, आत्म-बोध, आत्म-ज्ञान के आधार पर बनाया हुआ है।[1]

इस वातावरण के सम्बन्ध में हम ऊपर संकेत भी कर आए हैं और इसी के सम्बन्ध में अब हमें विचार करना है। आदर्शवादियों ने वातावरण के दो भाग किये हैं : भौतिक और आध्यात्मिक। इन दोनों में आध्यात्मिक वातावरण आदर्शवाद का प्रमुख आधार है और उसी के कारण मानव मानव बनकर रहता है उसके दो कारण हैं : एक तो यह वातावरण मानवकृत है, अन्य प्राणी इसे नहीं बना सकते; दूसरे यही वातावरण मानव को उसके असली मूल्य देता है और इसी वातावरण में रहकर, उसका लाभ उठाकर मानव के व्यक्तित्व का वास्तविक विकास सम्भव हो सकता है और मनुष्य अपने जीवन के असली लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। यह वातावरण विज्ञान द्वारा न तो बनाया जाता है और न विज्ञान उसकी व्याख्या कर सकता है। वैज्ञानिक जगत् से यह परे है और मानव अपनी बुद्धि, अपना मस्तिष्क और आत्म-ज्ञान से इसे बनाता है और उन्हीं के माध्यम से उसे समझा सकता है।

आदर्शवाद इस बात पर जोर देता है कि भौतिक शक्तियों प्रवृत्तियों आदि जो अन्य प्राणियों में हैं, के अलावा मानव में कुछ अन्य मानसिक शक्तियाँ हैं जो और प्राणियों में नहीं है और इसलिए मानव सब प्राणियों से भिन्न है। वे शक्तियाँ उसे संस्कृति, सभ्यता, कला, धर्म, नीति आदि को जन्म देने व उनका विकास करने में सहायक होती हैं। यही उसके आध्यात्मिक वातावरण के अंग बनते हैं जिनकी कोई विज्ञान व्याख्या नहीं कर सकता और जिस शक्ति को कोई मनोविज्ञान नाप नहीं सकता। वह अपरिमित है और उसके अनेक रूप हैं।[2] आदर्शवादी विचार-धारा के अनुसार मानव की विचार-शक्ति—उसका मस्तिष्क-प्रकृति को वेधकर उसे अपने रूप

---

1 "Idealism is the conclusion that the universe is an expression of intelligence and will, that the enduring substance of the world is of the nature of mind, that the material is explained by the mental Idealism as a philosophy stands in contrast with all those systems of thought that centre in nature (naturalism) or in man (humanism).
[*Horne H. H.* : An Idealistic Philosophy of Education, the Forty-first Year Book, op. cit., p. 139]

2 "These powers are peculiar to man and differentiate him from other animals ; they lie beyond the range of positive sciences-biological and even psychological ; they raise problems which only philosophy can hope to solve, and make the only satisfactory basis of education, a philosophical one. [*Rusk R.R.* : Philosophical Bases of Education]

में बदल कर उसकी अन्तिम सत्ता को समाप्त कर देता है। अतः प्राकृतिक वातावरण तो अपूर्ण है और वह आध्यात्मिक वातावरण के अधीन है।[1]

मानव का यह आध्यात्मिक वातावरण भौतिक वातावरण से कई रूपों में भिन्न है।

(1) भौतिक पदार्थ मात्रा में सीमित हैं और उसकी वस्तुओं के वितरण में प्रतियोगिता होती है परन्तु आध्यात्मिक वातावरण के अंगों की मात्रा असीमित है और बाँटने से वह घटते नहीं बल्कि बढ़ते हैं।[2]

(2) यदि मानव अपना उद्देश्य भौतिक पदार्थों की प्रगति को छोड़ आध्यात्मिक विजय को बनाले तो विश्व से प्रतिद्वन्दिता, विरोध, सामाजिक असन्तोष आदि बीमारियाँ भाग जावेंगी क्योंकि वास्तविक विजय आध्यात्मिक क्षेत्र में होगी जहाँ वस्तु की मात्रा की सीमा नहीं है।

(3) आध्यात्मिक क्षेत्र में विजय और आध्यात्मिक वस्तुओं का प्राप्त करना भौतिक क्षेत्र की विजय और वस्तुओं के प्राप्त करने से भिन्न है। वहाँ प्रत्येक को जो कुछ भी मिलता है वह अपने परिश्रम से मिलता है। पैतृक सम्पत्ति के आधार पर कुछ प्राप्त नहीं होता।[3]

(4) चूँकि इस क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिश्रम से ही प्राप्यवस्तु प्राप्त हो सकती है अत· यह कहा जा सकता है कि इस आध्यात्मिक वातावरण में ही न्याय है जहाँ प्रत्येक अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार प्राप्त कर सकता है और किसी की किसी के साथ प्रतियोगिता नहीं है। वहाँ हमें वास्तविक जनतन्त्र का अनुभव होता है।[4]

---

1 "....'life—true life—is man's free creation,...." [*Gentile* : Reform of Education]

2 Cf. Rusk. : "....it is a sublime though obvious truth that the highest goods are not diminished by being diffused."

3 "Man is not the passive recipient of any spiritual gift. We cannot inherit or bequeath virtues. A man's moral and intellectual possessions are the conquests of his own sword. All the spiritual learning, its enterprises, its growing purpose will pass him by, leaving him utterly poor in soul, unless he arrests it and personifies it anew in his own attainments." [*Henry Jones* : Social Responsibilities]

4 "As these spiritual possessions have to be re-acquired by each one for himself, men are more nearly equal in respect to them than is the case with material possessions. This is the real basis of the democracy of knowledge." [*Rusk, R. R.* : Philosophical Bases of Education.]

इस आध्यात्मिक वातावरण के तीन प्रमुख तत्व हैं और तीन तत्वों का आधार मानव मस्तिष्क और उसकी प्रकृति है। मनोविज्ञान की दृष्टि से मस्तिष्क की तीन क्रियाएँ हैं—जानना (knowing), अनुभव करना (feeling) और क्रिया करना (doing)। हम इन्हें ज्ञान, अनुभूति और क्रिया कह सकते हैं। आदर्शवाद की दृष्टि में मानव के मस्तिष्क के ये तीन तत्व वास्तविक सत्य की प्रकृति बतलाते हैं। मस्तिष्क सत्य को जानता है और झूठ को त्यागता है, यह सुन्दरता को पहचानता है उसकी अनुभूति में आनन्द लेता है और कुरूपता को त्यागता है। वह सन्मार्ग पर चलना चाहता है और कुमार्ग को छोड़ता है। आध्यात्मिक दृष्टि से मस्तिष्क की निर्मल प्रकृति सत्य, सौन्दर्य और कल्याणकारी—इन तीनों की ओर झुकी हुई है और इन तीनों की प्राप्ति ही उसका असली उद्देश्य है। अतः आदर्शवाद की दृष्टि से सत्य, सुन्दर और शिव ये अटल सत्य हैं और मानव के आध्यात्मिक वातावरण के तत्व हैं।[1] कुछ दार्शनिकों ने जिनमें रस्क (Rusk) भी है, धर्म को इस वातावरण का चौथा तत्व माना है। इन चार चार तत्वों के आधार पर ही इस वातावरण का मूल्य स्थित है।[2] आदर्शवाद इस प्रकार मानव को, उसके जीवन को एक विशिष्ट

---

1 "The elements in the spiritual environment are three in number. The reason of this number lies in the nature of mind. The spiritual environment is the achievement of the mind of the race; these elements are consequently declaratory of the nature of the mind of the race; but the racial mind is the individual mind writ large; psychologists are agreed that the different ultimate modes of being conscious, the final phases of mental life, are three in number viz., the mind knows, and feels and wills, that is, it has an acquaintanceship with the external world in which it takes a certain pleasure or displeasure ; and on which it works certain energetic reactions. Consequently the three elements of the spiritual environment are the intellectual, what is known ; the emotional what is felt ; and the volitional, what is willed. Considering the objects of these mental activities, the mind knows truth and avoids error, it feels as it highest object, beauty and avoids ugliness and it wills in momentous issues goodness and avoids evil....truth, beauty and goodness are, then, race's spiritual ideals, and the adjustment of the child to these essential realities that the history of the race has disclosed is the task of supreme moment that is set for education." [*Horne H. H.* : Philosophy of Education]

2 "Idealism confers on human life a significance and dignity denied it by scientific naturalism." [*Rusk* : Philosophical Bases of Education]

उद्देश्य देता है जो प्रकृतिवाद से भिन्न है और जो उसकी महत्ता को एक प्राणी होने के नाते स्वीकार नहीं करता परन्तु एक मानव होने के नाते स्वीकार करता है जिसमें वास्तविक सत्य को जानने की इच्छा है, और जो उसे जान सकता है तथा जिसके लिए वह प्रयत्न करता है। वास्तविक सत्य पदार्थ के रूप में नहीं है बल्कि पदार्थ उस सत्य का रूप है जो इस जगत् में विद्यमान है, पदार्थ स्वयं सत्य नहीं है। आदर्शवाद का प्रमुख प्रवर्तक प्लेटो था परन्तु हमारी भारतीय संस्कृति में आदर्शवाद एक प्रमुख दार्शनिक विचारधारा के रूप में प्रारम्भ से ही रहा है। आदर्शवादी विचारधारा ने प्राचीनकाल से आज तक दर्शन के क्षेत्र में बहुत प्रभाव डाला है।

शिक्षा में आदर्शवाद

शिक्षा में आदर्शवाद ने कई प्रकार से प्रभाव डाला है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं आधुनिक शिक्षा में किसी एक विशिष्ट दर्शन का प्रभाव नहीं है बल्कि सभी दर्शनों का थोड़ा बहुत प्रभाव है। आदर्शवाद का भी शिक्षा में प्रभाव पड़ा है जैसा कि अन्य दर्शनों का पड़ा है। हम आगे चलकर आधुनिक शिक्षा की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते समय उनका करेंगे। यहाँ हम यह विचार करना चाहते हैं कि आदर्शवादी विचारधारा की पृष्ठभूमि के आधार पर शिक्षा का क्या रूप होना चाहिए। आदर्शवाद की दृष्टि से शिक्षा क्या है? उसका क्या उद्देश्य है उसके अनुसार क्या पाठ्यक्रम हो, क्या शिक्षण विधि हो और क्या शिक्षण संगठन हो? इन प्रश्नों के उत्तर में हम शिक्षा में आदर्शवाद की व्याख्या कर सकते हैं।

शिक्षा का उद्देश्य

आदर्शवाद की दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य मानव को अपने वातावरण की अनुभूति की क्रमिक क्रिया के चलते हुए और उसके द्वारा वास्तविक सत्य का ज्ञान प्राप्त करा देना है। विकास का क्रम वही है जो अन्य दार्शनिकों ने स्वीकार किया है परन्तु लक्ष्य दूसरा है। हम इस सम्बन्ध में कुछ दार्शनिकों की परिभाषाओं को उद्धृत करेंगे जो आदर्शवादी दर्शन की प्रतीक हैं :—

(1) सा विद्या या विमुक्तये। (भारतीय दृष्टिकोण)

(2) ज्ञान ही गुण है (Knowledge is virtue) : (सुकरात)

(3) ज्ञान आकृति और वस्तु के समन्वय का बोध होना है। (Knowledge is the recognition of the harmony between phenomenon and form).

(4) शिक्षा का उद्देश्य बालक को सत्य के विभिन्न अंगों को समझाना है केवल प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल ही अपने को बनाना नहीं है।[1] (Rusk).

---

1 "The purpose of education is to enable the child to reconcile himself to reality in all its manifestations, nor merely to adapt himself to a natural environment. Such a reconciliation is not impossible, because...the cultural environment is the pro-

(पृष्ठ 35 देखिये)

(5) मैं उसे मनुष्य बनना पहले सिखाना चाहता हूँ। (एमील)[1]

(6) पवित्र, अनश्वर, शुद्ध जीवन बिताना तथा उस दैवी शक्ति को पहचानना जो हम में समा रही है, यह शिक्षा का उद्देश्य है।[2] (फ्रोवेल)

(7) शिक्षा का उद्देश्य शरीर व आत्मा को उतनी पूर्णता देना है जितनी वे प्राप्त कर सकते हैं।[3] (प्लेटो)

(8) शिक्षा का उद्देश्य मानव को अपने वातावरण, प्रकृति व साथी तथा विश्व की अन्तिम प्रकृति के साथ समन्वय करने की क्षमता प्रदान करना है।[4]

इन तथा अन्य परिभाषाओं के आधार पर हम आदर्शवादी दृष्टिकोण से शिक्षा के उद्देश्यों के बारे में निष्कर्ष निकाल सकते हैं और वह यह है कि शिक्षा

(पृष्ठ 84 का शेष)

duct of man's creation activity, and the physical environment has been likewise fashioned by his inventive powers. The conflict is not something quite alien to man, it is with those of his household : it is a fight that has begun within himself. When we recognise the priority of man's cultural environment, when we realise that in the transmission and increase of this cultural inheritance through its constant recreation lies the supreme task of education, that man possesses spiritual powers adequate to the task, then our philosophy of education is idealistic and doubtless only then adequate." [*Rusk, R. R.* Philosophical Bases of Education]

1 "To live is the trade I wish to teach."
"In the natural order of things, all men being equal, their commen vocation is manhood". [*Rousseau* : *Emile*]

2 In all things there lives and reigns an eternal law....This all pervading law is necessarily based on an all-pervading, energatic self-conscious, and hence eternal Unity is God....The divine effluence that lives in each thing is the essence of each thing ...The object of education is the realisation of a faithful, pure *invisible*, and hence holy life....Education should lead and guide man to clearness concerning himself and in himself, to face with nature, and to unity with God." [from *Education of Man*' by Froebel.]

3 "Education consists in giving to the body and the soul all the perfection of which they are susceptible." [*Plato*]

4 "Education should be thought of as a process of man's reciprocal adjustment to nature, to his fellows, and to the ultimate nature of the cosuios" [*Horne H. H.* Essay on "On Idealistic Philosophy of Education : Forty-first Year-Book, op cit., p. 140]

व्यक्ति के अपने नैतिक और आध्यात्मिक दोनों वातावरणों को समझने, उनके साथ अपना समन्वय स्थापित करने तथा विश्व की वास्तविक आधार सत्ता के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ने की क्षमता देती है। आदर्शवादी विचारधारा निश्चल, अटल व सर्वदा के लिए निश्चित सत्य में विश्वास करती है और उसी को शिक्षा के उद्देश्यों को निर्धारित करने का मापदण्ड मानती है। वह व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत स्तर से ऊँचा उठा कर विश्व की अन्तर्भूत्त सत्ता के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ने को प्रेरित करती है और इस प्रकार इस बदलते हुए विश्व के रूप तथा सारी प्रकृति की परिवर्तनशील आकृति में एक स्थिर निश्चल, अनश्वर, स्थायी सत्ता का आभास देती है। आदर्शवादी विचारधारा का यह स्वरूप आज की प्रगतिशील विचारधारा या प्रकृतिवादी दर्शन के विपरीत है जो एक स्थायी, अगोचर, निश्चल सत्य की कल्पना नहीं करता बल्कि प्रकृतिवादियों की तरह या तो पदार्थ को सत्य मानता है और इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में इन्द्रिय-ज्ञान को प्रधानता देता है, या प्रयोगवादियों की तरह मानव अनुभव को प्रधानता देकर स्थिर सत्य को मानता ही नहीं बल्कि जो अनुभव द्वारा सत्य साबित हो जाय उसे ही सत्य की संज्ञा देता है।

उपर्युक्त कथन का यह आशय नहीं है कि शिक्षा का उद्देश्य आदर्शवाद की दृष्टि से इतना ऊँचा है कि वह साधारण अनुभव के व्यक्ति की समझ में भी नहीं आ सकता अथवा आदर्शवाद की दृष्टि से स्वास्थ्य, चरित्र, सामाजिक व्यवहार, न्याय, प्रेम, ध्यान आदि शिक्षा के उद्देश्यों की सूची में नहीं आते। वास्तव में आदर्शवाद भी इन सब को उतना ही मूल्य देता है जितना अन्य दर्शन देते हैं, अन्तर यही है कि वह ऊपर कहे हुए मूल्य को इनसे अधिक मूल्य देता है। शिक्षा केवल विकास का क्रम ही नहीं है। विकास किसी लक्ष्य की ओर है और वह लक्ष्य अन्तिम सत्य है। शिक्षा के कुछ शीघ्र प्राप्य उद्देश्य हैं परन्तु अन्तिम उद्देश्य वही है जिसके प्राप्त होने पर व्यक्ति को आत्मबोध हो जाय और वह अपनी आत्मा का जगत् की आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सके और अपने को उसी का रूप अनुभव कर सकें।[1]

आदर्शवाद और पाठ्यक्रम

आदर्शवाद की दृष्टि से पाठ्यक्रम आदर्श-केन्द्रित (Ideal-centred) होना चाहिये। हम पहले कह आए हैं कि शिक्षा के तीन तत्व हैं : शिक्षक, शिक्षार्थी और

---

[1] "Education is not simply growing, it is growing toward a goal. It is not simply an on-going process, it is a process going on toward an objective. The immediate objective is the realisation of the values .....The remote objective, the absolute goal, is likeness to the spiritual order of the universe. Education in the final analysis is the upbuilding of humanity in the image of divinity" [*Horne H. H.* : Essay on "An Idealistic Philosophy of Education, Forty-first Year Book, op. cit. p. 185]

पाठ्यक्रम। तीनों का पृथक्-पृथक् बहुत महत्व है परन्तु पाठ्यक्रम निर्माण करने की दृष्टि से शिक्षा को बालकेन्द्रित और जीवन-केन्द्रित बनाने की विचारधारा का आधुनिक काल में काफी जोर है। आदर्शवाद आदर्शों को केन्द्र मानकर पाठ्यक्रम बनाने के पक्ष में है। ये आदर्श वही हैं जिनका हम पहले संकेत कर आए हैं और जो सर्वदा के लिए सत्य हैं। इस परिवर्तनशील जगत् में वे आदर्श ही निश्चल और अटल हैं जो कभी बदलते नहीं और न नष्ट होते हैं। यद्यपि मानव जीवन की अनेक आवश्यकताएँ हैं और आदर्शवाद भी यही समर्थन करता है कि पाठ्यक्रम ऐसा हो कि मानव उन सब आवश्यकताओं की पूर्ति करने में क्षमता प्राप्त कर सके परन्तु उन आवश्यकताओं की पूर्ति के परे अधिक महत्वपूर्ण मानव द्वारा उन आदर्शों की अनुभूति है जिनके द्वारा वह अपना विश्व की अंतर्हित आत्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ सकता है। प्रकृतिवाद या प्रयोगवाद से आदर्शवाद सामान्य रूप में पाठ्यक्रम की दृष्टि से मतभेद नहीं रखता क्योंकि जिन विषयों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने के लिए प्रकृतिवाद और प्रयोगवाद जोर देते हैं उन पर आदर्शवाद भी जोर देता है। अन्तर केवल महत्व का है कि जिन विषयों पर जितना महत्व प्रकृतिवाद देता है उतना आदर्शवाद नहीं देता। यदि प्राथमिकता के आधार पर विषयों की सूची बनाई जाय तो प्रकृतिवाद की दृष्टि से विज्ञान का सबसे अधिक महत्व होगा परन्तु आदर्शवाद उसको महत्व देता हुआ उससे अधिक महत्व मानव की उन क्रियाओं को देगा जो उसके आध्यात्मिक वातावरण से सम्बन्ध रखते हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तथा दार्शनिक विचार से भी पाठ्यक्रम के तीन अंग हैं और ये तीन अंग मानव मस्तिष्क की प्रक्रिया के ऊपर आधारित हैं : मस्तिष्क सोचता है, अनुभव करता है, तथा क्रिया करता है और इन क्रियाओं के आधार पर पाठ्यक्रम के भी तीन भाग हैं : विज्ञान, कला तथा व्यावहारिक कला (Sciences, Fine Arts and Practical Arts)। विज्ञान हमको ज्ञान देता है। कला हमको कार्य करना सिखाती है दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। दोनों का अभिप्राय मानव को उसकी प्रकृति के अनुकूल शिक्षा देकर उसे अपने वातावरण के साथ समन्वय स्थापित करने की क्षमता देना है। सभी दार्शनिक विचार इस कथन का समर्थन करते हैं परन्तु आदर्शवाद कुछ आगे और बढ़ जाता है। उसके अनुसार सम्पूर्ण ज्ञान देना आवश्यक है और इसके द्वारा मनुष्य को कुशल नागरिक बनाना, उसे अपने विकास और अपने समाज के विकास में योग देने के लिए क्षम बनाना शिक्षा का उद्देश्य है, परन्तु इन सबके परे और इनसे आगे अन्तिम उद्देश्य तक भी उसे ले जाना है। शिक्षा केवल उसे मार्ग में ही न छोड़े परन्तु अन्तिम लक्ष्य की पूर्ति तक उसको ले जाय। अतः पाठ्यक्रम में उन क्रियाओं को अधिक महत्व दिया गया है जो मनुष्य की इस उद्देश्य पूर्ति में सहायक होती हैं। ये क्रियाएँ उसकी बौद्धिक, कलात्मक तथा नैतिक रुचियों से सम्बन्ध रखती हैं जिनका आध्यात्मिक वातावरण की व्याख्या में हम संकेत कर आए हैं। निम्नलिखित चार्ट से यह बात स्पष्ट हो जावेगी :—

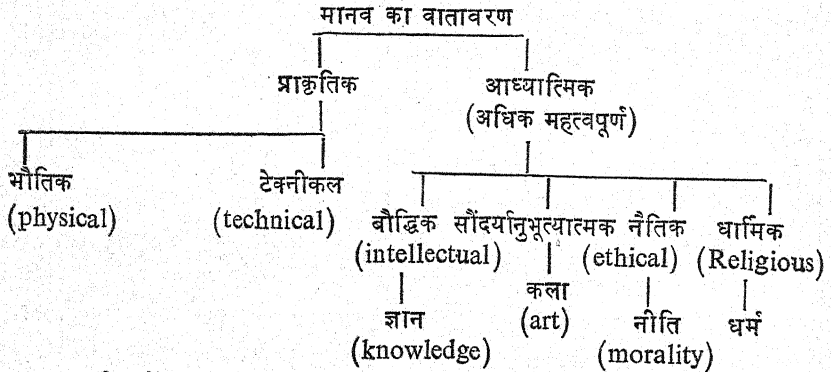

विषयों की सूची इस विभाजन के ऊपर बनाई जा सकती है। प्रथम भाग में विज्ञान आता है और वे सब विषय जो भौतिक और टेक्नीकल विज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं, आते हैं जैसे भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, गणित आदि जो प्रकृति के ज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं। दूसरे शीर्षक में वे विषय आते हैं जो ज्ञान, नीति, कला तथा धर्म से सम्बन्ध रखते हैं। यहाँ ज्ञान उन विषयों का है जो मानव ने अपनी रचनात्मक बुद्धि द्वारा बनाया है जैसे, दर्शन, साहित्य, इतिहास आदि। आदर्शवादियों का कहना है कि सब प्रकार का ज्ञान मानव के लिए आवश्यक है परन्तु ज्ञान के विभिन्न अंगों को प्राथमिकता देने के लिए शिक्षा के उद्देश्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है। आध्यात्मिक क्रियाएँ व विषय,—कला, साहित्य नीति-शास्त्र, धर्म, मानव-सम्बन्ध विषयक विषय आदर्शवाद की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

आदर्शवाद व शिक्षण पद्धति

आदर्शवादी दार्शनिक विचार-धारा अपनी प्रकृति से ही शिक्षा के आदर्शों और उद्देश्यों पर अधिक बल देती है और उसकी वास्तविक देन उसी क्षेत्र में अधिक है। शिक्षण पद्धपि या पाठ्यक्रम निर्माण के क्षेत्र में उतनी उसकी देन नहीं है। हाँ इतना अवश्य है कि आदर्शवादी दृष्टिकोण से शिक्षण पद्धति ऐसी हो कि वह बालक को अपने व्यक्तित्व के विकास में सहायता दे। वास्तव में शिक्षण पद्धति के अच्छे होने का मापदण्ड यही है कि वह बालकों को अपनी रुचि, अभिरुचि, शक्ति, योग्यता दृष्टिकोण, आवश्यकता आदि के आधार पर ज्ञान प्राप्त कराने में सहायक हो। शिक्षक होने के नाते हमारा यह धर्म है कि बालकों को हम उनके व्यक्तित्व के विभिन्न अङ्गों के सन्दर्भ में समझें और उनको अपने व्यक्तित्व को दृढ़ बनाने में सहायता दें। अच्छा शिक्षक वही है जो बालकों को अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से उनके व्यक्तित्व को बनाने में सहायता करता है।[1]

---

[1] "To lift a material body we may need to be below it, to lift a human spirit, we need to be above it, in knowledge, taste, love,

(शेष पेज 89 पर)

आदर्शवाद और शिक्षक

जैसा कि ऊपर कहे हुए आर्शवादी दर्शन के रूप से अनुमान लगाया जा सकता है, शिक्षा में आदर्शवाद शिक्षक को बहुत महत्व देता है। वास्तव में शिक्षक ही पढ़ाने वाला है, बालक तो पढ़ने वाला है। चूँकि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास और उसका उन्नयन (exaltation) है अत: शिक्षक का आदर्शवाद में बहुत ऊँचा स्थान है। वही बालक के व्यक्तित्व को खींचता है, आगे बढ़ने को प्रेरित करता है और सही मार्ग पर रखता है। वह स्वयं अपने व्यवहार व आचरण से अपने उन्नत व्यक्तित्व का परिचय देता है। अच्छे शिक्षक, अच्छे दार्शनिक, शिक्षार्थी के नेता होते हैं। वह उनसे प्रेरणा लेता है। आदर्शवादी दृष्टिकोण से शिक्षक शिक्षा में बहुत महत्व रखता है।

अच्छा शिक्षक बालक के व्यक्तित्व को एक मोड़ दे देता है। वह अपना अनुयायी या अपने विचारों का समर्थक बनाने का प्रयत्न नहीं करता बल्कि बालक की नैसर्गिक प्रवृत्तियों के रुख को व उनकी शक्ति को देख और उनका अनुमान लगा कर उनको मानवीय रूप देता हुआ निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में प्रयुक्त करता है। अच्छे शिक्षक अपने अन्दर से प्रभावित करते हैं अपने व्यक्तित्व के उस अंग से जो अध्ययन, चिन्तन व तर्क के द्वारा संस्कृत हो गया है और जिसमें उनके चिन्तन और क्रिया के समन्वय की झलक दिखाई देती है। एक संतुलित, सम्बद्ध समन्वित (integrated) व्यक्तित्व वही है जिसमें व्यक्ति ने अपने मन, वचन और कर्म में समन्वय स्थापित कर लिया है जो सोचता है, वही अनुभव करता है और वही करता है।[1]

(पेज 88 का शेष)

maturity, and character. Our personalities count most in the work of cultivating personalities. It is a great art to be able to suggest to an individual something to read or to do that will develop, reconstruct or cultivate his personality. Goethe said of his old teacher of art, Baumgarten, 'under him we learnt nothing but become something'.... The truly great teacher has the deeds, and the words of eternal life...." [*Ibid.* p. 172]

[1] "The great distinction between teachers sacred or literary—between poets like Herbert and poets like Pope—between philosophers like Spinoza, Kant and Coleridge, and philosophers like Locke, Paley, Mackintosh, and Stewart—between men of the world who are reckoned accomplished talkers, and here and there a fervent mystic, prophesying half insane under the infinitude of his thought—is that one class speak *from within*, or from experience, as parties and possessors of the fact; and

(पेज 90 देखिये)

आदर्शवाद और अनुशासन

आदर्शवादी अनुशासन के पक्ष में हैं। अनुशासन के विपक्ष में तो हो कौन सकता है परन्तु अनुशासन रखने के लिए साधनों में मतभेद हो सकता है। अनुशासन के सिद्धान्तों को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है : दमनात्मक (Repressionistic), प्रभावात्मक (Impressonistic) और निरंकुशात्मक (Emancipationistic)। हम इनके ऊपर यहाँ विचार नहीं कर रहे और न उसकी आवश्यकता है। आदर्शवादी दृष्टि-कोण प्रभाववादी अनुशासन का पक्ष-पाती है जो एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की बालकों पर छाप डाल कर स्थापित करता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार स्थापित किया हुआ अनुशासन श्रेष्ठ है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से हमें जरा यह सोचना होगा कि आज हममें कितने ऐसे शिक्षक हैं जो इस आदर्श तक पहुँच सकते हैं ? अस्तु।

उपसंहार

आदर्शवाद दर्शन की बहुत प्राचीन विचार-धारा है और उसकी नींव बहुत दृढ़ है। क्षिशा में सामान्य रूप में आदर्शवाद ने प्रभाव डाला है, विशिष्ट रूप में नहीं। सभी दर्शन शिक्षा में सामान्य रूप में ही प्रभाव डाल सकते हैं विशिष्ट रूप में नहीं। दर्शन का सम्बन्ध समस्त जीवन से है, सारे जीवन व सृष्टि के रूप प्राणि दृष्टिकोण से है, शिक्षा तो एक कला है जिस पर उसका प्रभाव पड़ता है परन्तु किसी एक दर्शन से एक समय पर वह रंजित नहीं दिखलाई देती। आज शिक्षा में केवल एक विचार धारा का प्रभाव नहीं है बल्कि जैसा कि हम आगे देखेंगे बहुत विचारधाराओं के प्रभावों का सम्मिश्रण है। आदर्शवाद मौलिक रूप में जीवन का दर्शन होने के नाते शिक्षा में उद्देश्यों के ऊपर अपनी अधिक छाप दिखलाता है। शिक्षा के अन्य पहलुओं पर उसकी उतनी छाप नहीं है।

सारांश

आदर्शवाद मौलिक रूप में जीवन-दर्शन है। इसका शिक्षा में सामान्य रूप में प्रभाव है, विशिष्ट रूप में नहीं। आदर्शवाद के कई रूप हैं और उनके दृष्टिकोण में कई मतभेद हैं परन्तु मौलिक रूप में वे एकमत हैं और वह यह कि सत्य को वे पदार्थ के रूप में नहीं बल्कि आत्मा के रूप में देखते हैं। दूसरे शब्दों में, आदर्शवाद की दृष्टि से इस परिवर्तनशील जगत में एक अपरिवर्तनशील, अटल सत्य है जो इसे बाँधता है

(पेज 89 का शेष)

the other class *from without*, as spectators merely, or perhaps as acquainted with the fact on the evidence of third persons. It is of no use to preach to me from without. I can do that too easily myself. Jesus speaks always from within, and in a degree that transcends all others, In that is the miracle." [*Emerson R. W.* : The Over-Soul in *Works*, Quoted by Ulich R. in History of Educational Thought, p. 295]

और इसमें समाया हुआ है। उसका बोध इन्द्रिय ज्ञान के ऊपर नहीं बल्कि आत्मानुभूति के आधार पर होता है। इस दृश्य, भौतिक पदार्थ के परे और उसमें समाया हुआ वह सत्य किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है परन्तु वह पदार्थ नहीं है बल्कि पदार्थ उसका एक वाह्य रूप है। प्रकृतिवाद से आदर्शवाद का यहाँ मतभेद है। प्रकृतिवाद पदार्थ को ही अन्तिम सत्य मानता है। पदार्थ के भी विभिन्न रूप हैं और वे उससे ही उत्पन्न होकर उसी में अन्त में समा जाते हैं।

आदर्शवाद की दृष्टि में मानव का व्यक्तित्व एक अमूल्य वस्तु है और उसके व्यक्तित्व का विकास और उन्नयन ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। मानव के वातावरण के दो भाग हैं : भौतिक वातावरण तथा आध्यात्मिक वातावरण। आध्यात्मिक वातावरण भौतिक वातावरण की अपेक्षा अधिक महत्व रखता है यद्यपि भौतिक वातावरण भी आवश्यक है। आध्यात्मिक वातावरण ही मानव को अपने व्यक्तित्व को उँचा उठाने व मानव कहलाने के लिए अवसर देता है। आध्यात्मिक वातावरण भौतिक वातावरण से श्रेष्ठ है, उसके क्षेत्र में प्रतियोगिता नहीं है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार उससे लाभ उठा सकता है। उस वातावरण की विशेषता यह है कि उसका जितना बाँट किया जाय उतना ही वह बढ़ता है। भौतिक क्षेत्र में यह बात बिल्कुल उल्टी होती है।

आदर्शवाद की दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाना, सीमित से असीमित की ओर ले जाना, और उसे विश्व की परम आत्मा से अपनी आत्मा का सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता देना है। शिक्षा के वर्तमान मूल्य अनेक हैं जैसे स्वास्थ्य वृद्धि, व्यवसाय की क्षमता प्राप्त करना, सामाजिक कुशलता, आदि परन्तु अन्तिम उद्देश्य आत्मानुभूति है जिसका तात्पर्य मानव का आत्म बोध और अन्तिम सत्य की प्राप्ति है।

पाठ्यक्रम में आध्यात्मिक वातावरण को सम्पन्न बनाने वाले विषय जैसे साहित्य, कला, मानव विज्ञान, नीति शास्त्र, धर्म-शास्त्र, सामाजिक विज्ञान आदि पर अधिक जोर है। आदर्शवाद शिक्षा के उद्देश्यों पर अधिक प्रभाव डालता है, उसके अन्य पहलुओं पर उतना नहीं डालता।

शिक्षक का स्थान बहुत उँचा है। वह अपने व्यक्तित्व को उँचा उठाकर उसके प्रभाव से बालकों को प्रभावित करता है और उन्हें अपने व्यक्तित्व के उन्नयन करने की क्षमता देता है।

अनुशासन की दृष्टि से आदर्शवाद प्रभाववादी विचारधारा का समर्थक है।

आदर्शवाद दर्शन की बहुत पुरानी और दृढ़ विचारधारा है और शताब्दियों से इसने जीवन के साथ शिक्षा को भी प्रभावित किया है। इसकी महत्वपूर्ण देन शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में है।

६
शिक्षा में प्रकृतिवाद और रूसो

शिक्षा में प्रकृतिवाद का अध्ययन करने में हमें एक सावधानी बरतनी है और वह यह कि हमें प्रकृतिवाद को दो रूप में देखना है : प्रथम दर्शन के रूप में और द्वितीय एक शैक्षिक विचारधारा के रूप में। एक रूप में प्रकृतिवाद शिक्षा के आदर्शों को प्रभावित करता है और दूसरे रूप में शिक्षा की पद्धति को। इस भेद की ओर हम इसलिए संकेत कर देना चाहते हैं कि दर्शन के रूप में प्रकृतिवाद शिक्षा के उद्देश्य के प्रति हमारे दृष्टिकोण को प्रभावित करता है और शैक्षणिक पद्धति के रूप में हमारे पढ़ाने की विधियों को। यह आवश्यक नहीं है कि हम दोनों रूपों के पूर्व रूप में स्वीकार करें। तभी अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि हम उसके द्वारा प्रदर्शित उद्देश्य को भले ही स्वीकार न करें परन्तु शैक्षणिक पद्धति में हमें उसके प्रभाव को स्वीकार करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि 'प्रकृति' को दो अर्थ में प्रयोग में लाया जाता है। पदार्थ रूप में समस्त प्रकृति तथा बालक की प्रकृति। जब हम प्रकृति के पदार्थ रूप का अध्ययन करते हैं तो हमें दर्शन मिलता है और हम अपने जीवन के उद्देश्य या शिक्षा के उद्देश्यों का संकेत पाते हैं और जब हम बालक की प्रकृति का ध्यान करते हैं तो हमें उसकी इच्छाओं, शक्तियों, मूल प्रवृत्तियों, रुचियों आदि का बोध होता है और हम शैक्षणिक पद्धति की बात सोचते हैं। अतः प्रकृतिवाद से दो अर्थ निकलने के नाते दो तरह से हमें उसके ऊपर विचार करना है। हम दोनों को स्वीकार करें या एक को—यह दूसरी बात है। ऐसे शिक्षा दार्शनिक भी हुए हैं जिन्होंने अपने शिक्षा का आदर्श निर्धारित करने में अपनी आदर्शवादी प्रवृत्ति का आभास दिया परन्तु शिक्षण पद्धति में प्रकृतिवादी पद्धति का। उदाहरणार्थ रूसो। जहाँ तक शिक्षा के आदर्श का सम्बन्ध है रूसो आदर्शवाद की ओर झुका हुआ है।[1] परन्तु शिक्षा का पद्धति और प्रणाली में वह पक्का प्रकृतिवादी है। यथार्थ में शिक्षण-पद्धति में प्रकृतिवादी प्रवृत्ति का वह मूल प्रवर्तक है।

आधुनिक शिक्षा प्रकृतिवाद से बहुत प्रभावित है और प्रगतिशील शिक्षा प्रकृतिवाद का ही संस्कृत रूप है। हम प्रकृतिवाद का अध्ययन करने में तीन शीर्षकों में

---

1 To live is the trade I wish to teach him.

उस पर विचार करेंगे : (1) प्रकृतिवाद-दर्शन रूप (2) प्रकृतिवाद-शिक्षा में प्रभाव (3) आधुनिक शिक्षा में प्रकृतिवाद। हाँ, सावधानी के लिए एक बात और कह देनी है और वह यह कि प्रकृतिवाद और आदर्शवाद या प्रयोजनवाद या यथार्थवाद या किसी और 'वाद' में तुलना करते समय यह कभी नहीं सोंचना चाहिए कि ये सब एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। दर्शन के रूप में इनमें मौलिक भिन्नताएँ हैं परन्तु बहुत से ऐसे पहलू भी हैं जिनमें दोनों में हमारे अभिप्राय के लिए (शिक्षा के क्षेत्र) में एकमति है। प्रकृतिवाद और आदर्शवाद में मौलिक भिन्नता लक्ष्य में है प्रक्रिया या क्रम के रूप में नहीं, दोनों ही मानव-जीवन का महत्व, व्यक्तित्व का विकास, क्रमिक रूप में विकास, मानव के अन्य प्राणियों की अपेक्षा उत्कृष्टता, शिक्षा की आवश्यकता आदि पर समान विचार रखते हैं परन्तु एक बिन्दु पर आकर दोनों अलग हो जाते हैं और वह यह कि इस सबका उद्देश्य क्या है ? अन्त में धूल में मिल जाना ? (Dust thou art to dust returnest) प्रकृतिवाद इसी का समर्थक है कि अन्त वही है और वही सत्य है। परन्तु आदर्शवाद यहीं पर उससे भिन्न हो जाता है और कहता है कि यह सबके लिए सत्य हो मानव के लिए सत्य नहीं है (Dust thou art to dust returnest—*was not spoken of the soul*)। मानव का मस्तिष्क उसकी बुद्धि उसे उस पूर्णता की ओर ले जा रही है जिससे वह निश्चित है और जो अन्तिम सत्य है। प्रकृतिवाद की व्याख्या करते हुए यह बात स्पष्ट हो जावेगी।

प्रकृतिवाद-दर्शन के रूप में

पिछले एक अध्याय में हम कह आए हैं कि अन्तिम सत्य की खोज में दर्शन में दो जबर्दस्त विचारधाराओं ने जन्म लिया है : एक विचारधारा पदार्थ को ही अन्तिम सत्य मानती है और यह निश्चित रूप में स्वीकार करती है कि पदार्थ और उसके रूप ही वास्तविक तथ्य हैं। जो भी इस विश्व में है वह सब पदार्थ का ही रूप है उसमें से ही निकलता है और अपने विकास क्रम को पूरा करता हुआ उसमें ही मिल जाता है। यह विचारधारा पदार्थवादी विचारधारा है और इसी को प्रकृतिवादी विचारधारा कहते हैं। दूसरी विचारधारा के अनुसार वास्तविक तथ्य इस पदार्थ रूप से परे है। पदार्थ तो उसका रूप है जो दृश्य है। वह तथ्य नष्ट नहीं होता और सर्वदा के लिए निश्चित है। पदार्थ रूप में परिवर्तन है, परन्तु वह अपरिवर्तनशील है। उसकी प्रकृति इन्द्रियों से नहीं बल्कि मस्तिष्क की ऊँची क्रियाओं-आत्मानुभूति तथा आत्मबोध से जानी जाती है। यह विचारधारा आदर्शवादी दर्शन की प्रतीक है। प्रकृतिवादी मस्तिष्क या आत्मा (mind or soul) की पदार्थ के रूप में ही व्याख्या करते हैं और कहते हैं कि दिमाग (brian) और उसकी क्रिया ही मस्तिष्क है और दिमाग (brain) पदार्थ का रूप है। आदर्शवादी मस्तिष्क या आत्मा की भौतिक स्थिति को स्वीकार नहीं करते परन्तु उसकी सत्ता मानते हैं। दूसरे रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रकृतिवादी यह कहते हैं कि शरीर मुख्य है और जैसे उसके अन्य अवयव व अंग हैं वैसे ही दिमाग (brain) भी है जिसकी क्रिया मानसिक क्रिया

कहलाती है। आदर्शवादी कहते हैं कि शरीर है परन्तु उसकी क्रिया को नियन्त्रित और निर्दिष्ट करने वाली सत्ता शरीर का कोई अवयव नहीं है बल्कि उस सत्ता का अंश है जो समस्त विश्व या ब्रह्माण्ड को नियन्त्रित करने वाली सत्ता है और शरीर के नष्ट होने पर भी उस सत्ता का नाश नहीं होता। वह जिस सत्ता में से आती है उसी में मिल जाती है और पुनः इसी रूप में आ जाती है। सारांश यह कि प्रकृतिवादी यह कहते हैं कि शरीर ही मस्तिष्क को भी रखता है (The body possesses the mind or soul)। आदर्शवाद या आध्यात्मवाद कहता है कि आत्मा या मस्तिष्क शरीर को रखता है (The mind or soul possesses the body)।

हम इस भेद पर थोड़ा और विचार करेंगे ताकि यह स्पष्ट हो जाय। आदर्शवाद की दृष्टि से मस्तिष्क ही सब बातों की व्याख्या करता है और वही सत्य असत्य का भेद बताता है, वही अन्तिम सत्य की प्रकृति भी बताता है। इससे आदर्शवादी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जब वही सत्य को बताता है तो वह स्वयं सत्य है। वह है क्या ?—इसके सम्बन्ध में आदर्शवादी विचार यह है कि मस्तिष्क का अर्थ वह है जो हम स्वयं को अपनी अन्तर्दृष्टि से देखते हैं और समझते हैं। हम सोचते हैं, विचार करते हैं, अनुभव करते हैं, हमें आत्म ज्ञान होता है, हम अपनी क्रियाओं के करते समय यह समझते रहते हैं कि हम क्या कर रहे हैं। सारांश यह कि हमें प्रत्येक समय अपनी 'स्व' (ego) का बोध रहता है और हम यह भी समझते हैं कि दूसरों की अपनी-अपनी 'स्व' है। जब सबकी अपनी-अपनी 'स्व' है तो वह 'स्व' किसी बड़ी 'स्व' का रूप है क्योंकि प्रकृतिवाद की दृष्टि से भी 'स्व' या 'व्यक्तित्व' इनकी कोई भौतिक स्थिति नहीं है। इस सबको हम मस्तिष्क से समझते हैं और उसी के माध्यम से समझते हैं।

मस्तिष्क और पदार्थ के भेद और उनकी अलग-अलग प्रकृति के ऊपर आदर्शवाद में बड़े-बड़े पोथे लिखे गए हैं और उनकी व्याख्याएँ हमारे लिए यहाँ कोई महत्त्व नहीं रखतीं। अब हम यह कह देना चाहते हैं कि प्रकृतिवादी मस्तिष्क की पदार्थ के रूप में और आदर्शवादी पदार्थ की मस्तिष्क के द्वारा व्याख्या करते हैं और इस प्रकार एक पदार्थ को दूसरा मस्तिष्क को सत्य मानता है। दोनों का विवाद बहुत टेढ़ा है और हमारे विचार-क्षेत्र के यहाँ बाहर है।

प्रकृतिवादी दर्शन के निम्नलिखित प्रमुख विचार हैं :—

(1) पदार्थ सत्य है। सब उसी में से पैदा हुआ है और उसी में मिल जाता है। पाँच तत्व मुख्य हैं, किसी अनुपात में मिलकर वे कुछ बन जाते हैं और किसी अनुपात में कुछ रूप नष्ट होने पर वे अपने-अपने मूल रूप में मिल जाते हैं।

(2) मस्तिष्क दिमाग (brain) की क्रिया है या उसका गुण है। दिमाग का गतिशील रूप ही मस्तिष्क है और दिमाग पदार्थ का रूप है।

(3) अनुभव, कल्पना, चिन्तन, तर्क आदि मानसिक क्रियाएँ मस्तिष्क की

क्रियाएँ हैं और मस्तिष्क दिमाग (brain) की क्रिया या गुण है और चूँकि दिमाग पदार्थ का रूप है अतः पदार्थ मुख्य है।

(4) प्रकृति के अपने नियम हैं और वे परिवर्तित नहीं होते। वे प्रकृति के सब रहस्य की व्याख्या करते हैं। उन नियमों को विज्ञान स्पष्ट करता है।

(5) इन्द्रिय-ज्ञान प्रमुख है। पदार्थ इन्द्रियों के क्रिया क्षेत्र से बाहर नहीं है, अतः इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर सब ज्ञान व सत्य का पता लग सकता है।

(6) विज्ञान सब ज्ञान की जड़ है और सबका स्रोत है।

(7) आत्मा, दूसरी दुनिया, चमत्कार, दैवी प्रेरणा, भाग्य, प्रार्थना की शक्ति, आदि भ्रमात्मक कथन हैं जिनका कोई आधार नहीं है।

(8) मस्तिष्क का अध्ययन भी विज्ञान से हो सकता है और मनोविज्ञान उसकी व्याख्या करता है।

प्रकृतिवाद के रूप

जिस प्रकार आदर्शवाद के कई रूप हैं उसी प्रकार प्रकृतिवाद के भी कई रूप हैं जिनमें मौलिक भेद नहीं है परन्तु रूपों के विस्तार में चलकर भेद हो जाते हैं। इन भेदों में तीन प्रमुख हैं :

(1) **भौतिक विज्ञानवादी प्रकृतिवाद** (Naturalism of Physical universe)—जो भौतिक विज्ञान के आधार पर समस्त जगत् को समझने की चेष्टा करता है। मानव के अनुभव, उसके विचार, उसके व्यक्तित्व आदि को यह उसी के आधार पर समझने का प्रयत्न करता है। शिक्षा की दृष्टि से उसका कोई मूल्य नहीं हैं क्योंकि शिक्षा मानव की क्रिया है, भौतिक विज्ञान का रूप नहीं है और न उससे प्रभावित है।

(2) **यन्त्रवादी प्रकृतिवाद** (Mechanical naturalism)—जो सारे विश्व को एक यन्त्र (machine) मानता है जो पदार्थ की बनी हुई है और जिसमें गति है। मानव भी एक मशीन है, उसकी कुछ सहज-क्रियाएँ (Reflex actions) हैं जो वातावरण के सम्पर्क में उसके आने पर होती हैं। प्रत्येक क्रिया वातावरण से किसी न किसी प्रकार का उत्तेजन (Stimulus) होने पर होती है। यदि उत्तेजन नहीं होगा तो मानव की कोई क्रिया न होगी। मनोविज्ञान में इस विचार-धारा ने 'व्यवहारवादी मनोविज्ञान (Behaviourism) को जन्म दिया। व्यवहारवादी मनोविज्ञान मनुष्य के वाह्य वातावरण से उत्तेजन से उत्पन्न क्रियाओं का अध्ययन करता है और शिक्षा में इस बात पर जोर देता है कि यदि उत्तेजन का रूप और उसकी प्रकृति ठीक होगी तो क्रियाएँ ठीक होंगी। व्यवहारवाद की दृष्टि से मानव पशु की क्रियाओं में कोई भिन्नता नहीं, दोनों ही वाह्य वातावरण के उत्तेजन के रूप हैं। व्यवहारवाद का मानव को यन्त्र रूप मानना और उसके समस्त आचरण की उसी के आधार पर व्याख्या करना आज दार्शनिकों को स्वीकार नहीं है।

(3) **जीव विज्ञानवादी**—प्रकृतिवाद के इस रूप ने दर्शन के रूप में तथा शिक्षा के क्षेत्र में बहुत प्रभाव डाला है। इस प्रकृतिवाद के अनुसार सारी प्रकृति की न तो भौतिक विज्ञान के नियम के द्वारा व्याख्या हो सकती है और न यन्त्रवादी प्रकृतिवाद के सिद्धान्त के आधार पर। मानव व अन्य सब जीवित प्राणियों की व्याख्या विकास के सिद्धान्त के आधार पर होती है। समस्त प्राणियों में विकास की प्रवृत्ति व उसका क्रम अंतर्हित है और सब उसको पूरा करने की चेष्टा करते हैं। उद्भूत होने के समय से नष्ट होने के समय तक यह क्रम चलता रहता है। किसका क्या रूप होगा यह सब प्राणी में निहित है और विकास अंतर्हित नियम व क्रम का परिणाम है यह क्रम इसलिए चलता है कि प्रत्येक प्राणी जीवित रहना चाहता है और उसके लिए प्रयत्न करता है। मानव के जगत में यह विकास का क्रम शारीरिक और मानसिक स्तरों के अलावा आत्मिक स्तर पर भी चलता है क्योंकि मानव का सामाजिक वातावरण भी है और वह सुन्दर ढंग से रहने के लिए अपने वातावरण को सुन्दर बनाना चाहता है और दूसरों के लिए उसे सुन्दर बनाता है। परन्तु विकास के क्रम की प्रकृति वही है जो अन्य प्राणियों के जीवन में लागू होती है।

इस प्रकृतिवाद के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं और उनका आधार प्राणी की जीवित रहने की नैसर्गिक चेष्टा है। प्रत्येक प्राणी जीवित रहने के लिए संघर्ष करता है और इस संघर्ष में समर्थ की विजय होती है। जीवन के लिए संघर्ष (Struggle for existence) और समर्थ की विजय (Survival of the fittest) ये दो सिद्धान्त जीव-विज्ञानवादी प्रकृतिवाद की आधार शिला हैं। इन सिद्धान्तों की सीमा के आधार पर भी इस प्रकृतिवाद में भेद हैं। डारविन (Charles Darwin) दोनों सिद्धान्तों का मूल प्रवर्तक है। लैमार्क (Lamarck) एक दूसरा प्रसिद्ध विद्वान था जिसने इस प्रकृतिवाद की व्याख्या की।

प्रकृतिवाद के अनुसार शरीर-रक्षा सबसे बड़ा धर्म और प्रकृति का नियम है (Self-preservation is the first law of nature)। प्रकृतिवाद मानव की समस्त क्रियाओं का स्रोत उसकी शरीर-रक्षा की प्रवृत्ति को मानते हैं।

प्रकृतिवाद और शिक्षा

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं शिक्षा में प्रकृतिवाद को दो दृष्टि से देखना है : प्रथम, शिक्षा के उद्देश्यों को व उसके रूप को निर्धारित करने के रूप में और द्वितीय शिक्षण पद्धति पर पड़े उसके प्रभाव के रूप में। इनमें प्रथम के ऊपर प्रकृतिवादी दर्शन का प्रभाव है और द्वितीय के ऊपर प्रकृतिवादी प्रवृत्ति का प्रभाव है जो बालक की प्रकृति से सम्बन्ध रखती है। प्रकृति के दो अर्थों का संकेत हम ऊपर कर आए हैं।

शिक्षा में प्रकृतिवाद और रूप

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं प्रकृतिवाद के तीन रूप हैं। आधुनिक काल में प्रकृतिवाद का रूप और भी अधिक व्यापक है और वह प्रगतिशील शिक्षा के अर्थ

में प्रयोग में लाया जाता है। आज प्रकृतिवाद से उस शिक्षा का अर्थ लगाया जाता है जिस शिक्षा में पुस्तकीय ज्ञान पर जोर नहीं है बल्कि बालक के समस्त अनुभव के ऊपर जोर है। अतः प्रकृतिवादी शिक्षा बालक के प्राकृतिक विकास पर जोर देती है और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के पक्ष में है जो बालक के प्राकृतिक विकास को सहज बनाती हैं। प्रकृतिवाद कठोर, परम्परागत, पुराने ढंग की समस्त प्रणालियों पर कुठाराघात करता है और इस बात पर जोर देता है कि परिवर्तन के साथ-साथ हमारी शिक्षा में भी समुचित परिवर्तन हो। रूढ़िवाद प्रकृतिवाद का बिल्कुल उल्टा है। बालक की मूल-प्रवृत्तियों, प्रगतिशील विचार-धाराओं, मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्धतियों, समाज व शिक्षा संस्थाओं का सहयोग, प्राकृतिक विभाग आदि बातों पर जोर देकर आज का प्रकृतिवाद व आदर्शवाद प्रयोजनवाद पारस्परिक विचार-भेदों को कम करके एक रूप में आते जा रहे हैं।[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकृतिवाद का जन्म यूरोप में सांस्कृतिक पुनरुत्थान के विकृत रूप के विरुद्ध विद्रोह के रूप में हुआ। सांस्कृतिक पुनरुत्थान स्वयं मध्यकालीन विद्वद्वाद और बाल की खाल खींचने वाले दर्शन के विरोध के स्वरूप में हुआ था। इसी प्रकार सन् 1918 के बाद पुनः परम्परागत प्रणालियों के विरुद्ध आन्दोलन हुआ और द्वितीय महायुद्ध के बाद फिर पुरानी शिक्षा पद्धति को परिवर्तित करने की आवाज उठी। कहने का तात्पर्य यह है कि जब किसी युग की परिस्थितियाँ किसी प्रचलित परिपाटी या परम्परा की निरर्थकता सिद्ध कर देती हैं तो उनके विरुद्ध आन्दोलन होना और परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन करना प्रकृतिवाद का प्रतीक है। प्रकृतिवाद इस प्रकार आज शिक्षा में बहुत व्यापक रूप में प्रयोग में लाया जाता है। बाल केन्द्रित शिक्षा, बालक को स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत भेदों के ऊपर शिक्षा

---

1 "Naturalism as Adams points out is a term loosely applied in educational theory, to systems of training that are not dependent on books but on manipulation of the actual life of the educand. It reacts against study and aims at creating conditions in which natural development will take place. It always comes on the scene as a protest against well-established systems that have become stereotyped; always it pleads for greater simplicity, always it seeks to banish sophistication, by sweeping away paraphernalia. Its watchword is "Back to Nature and its fighting adjective is 'artificial.' Thus when an educational movement has exhausted its mandate, when it has lost its original impetus and spent itself, retaining only the letter and not the spirit of its original form, it is normally succeeded by a wave of naturalism."

[*Ross* : Groundwork of Educational Theory.]

पद्धतियों का निर्माण, सामाजिक व व्यक्तिगत विकास का समन्वय, क्रिया करके सीखना, व्यक्ति की शक्तियों का संतुलित विकास आदि समस्त शिक्षा की धाराएँ प्रकृतिवाद के ऊपर आधारित हैं। इसीलिए हमने ऊपर कहा है कि प्रकृतिवाद और आदर्शवाद आज अपने व्यापक रूप में उतने भिन्न नहीं हैं जितने पहले थे। केवल अन्तिम उद्देश्य की दृष्टि से उनमें मतभेद है, निकट उद्देश्यों (immediate objectives) की दृष्टि से वह भी नहीं है।

प्रकृतिवाद और शिक्षा के उद्देश्य

प्रकृतिवाद के तीन रूपों में जीव विज्ञानवादी प्रकृतिवाद ने शिक्षा में प्रभाव डाला है, यन्त्रवादी प्रकृतिवाद अथवा भौतिक विज्ञानवादी प्रकृतिवाद का शिक्षा में प्रभाव न के बराबर है। इनमें यन्त्रवादी प्रकृतिवाद का तो कुछ है भी परन्तु भौतिक विज्ञानवादी प्रकृतिवाद का कुछ नहीं है। प्रकृतिवादी दृष्टिकोण से हम शिक्षा के उद्देश्यों की गणना करते हैं।

(1) यन्त्रवादी प्रकृतिवाद मानव को भी एक मशीन तुल्य मानता है और उस मशीन को बढ़िया चलने वाली बनाना उसका उद्देश्य है। इस प्रकृतिवाद की दृष्टि से मानव की सब क्रियाएँ वातावरण से उत्तेजन होने पर चलती रहती हैं। प्रत्येक क्रिया के लिए एक प्रकार का उत्तेजन आवश्यक है और उस उत्तेजन के होने पर वही क्रिया होगी दूसरी नहीं। अतः इस दृष्टि से मानव की समस्त क्रियाएँ उत्तेजन-जनित सहज क्रियाएँ (Conditioned Reflex actions) हैं, जिनका आधार वातावरण से उत्तेजन है। इस विचार-धारा ने मनोविज्ञान में व्यवहारवादी मनोविज्ञान (Behaviouristic Psychology) को जन्म दिया परन्तु इस विचार-धारा को आज का प्रकृतिवाद जो इतना व्यापक है आंशिक रूप में मानता है। व्यवहारवादी मनोविज्ञान शिक्षा का उद्देश्य उन उत्तेजन-जनित क्रियाओं को मानता है जो मानव की आदत के रूप में स्थिर हो जायँ और जो आधुनिक जीवन में उसके लिए लाभप्रद हो।

(2) जीव विज्ञानवादी प्रकृतिवाद में हमें शिक्षा के उद्देश्यों की कई प्रकार से व्याख्या मिलती है :

(अ) मैकेडुगल (Mcdougall) के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य नैसर्गिक प्रवृत्तियों का उन्नयन तथा उनका अभिप्रेरण व समन्वय है जिससे वे वांछनीय मार्ग में चलें।

(ब) डारविन के अनुसार जीवन का संघर्ष बहुत महत्त्वपूर्ण है अतः शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को इस संघर्ष के लिए योग्य बनाना है जिससे वह जीवित रह सके।

(स) लैमार्क के अनुयायी इस बात पर जोर देते हैं कि शिक्षा व्यक्ति को वातावरण के साथ अपना समन्वय स्थापित करने के लिए क्षमता दे।

(द) जार्ज बर्नार्ड शा का मत है कि शिक्षा विकास की क्रिया को अधिक

शीघ्रता से चलने के लिए प्रेरित करे और यह कार्य शिक्षा के द्वारा ही हो सकता है।

(य) हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण जीवन (Complete living) बिताने की योग्यता देना है।

(र) नन महोदय जो बहुत व्यापक रूप में प्रकृतिवादी हैं शिक्षा को व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास व सामाजिक विकास के साथ समन्वय मानते हैं।

हम यहाँ अनेक शिक्षाशास्त्रियों के विचारों को रख सकते हैं परन्तु उनका विशेष मूल्य नहीं है क्योंकि उद्देश्य या उद्देश्यों के कथन-मात्र से प्रकृतिवाद के शिक्षा में वास्तविक प्रभाव को हम नहीं देख सकते। हाँ यह कह सकते हैं कि सब प्रकृतिवादी शिक्षा को मानव विकास की आवश्यकता मानते हैं और चूँकि सब प्रकृतिवादी जीवन के लिए संघर्ष और जीवित रहने की प्रवृत्ति पर जोर देते हैं अतः शिक्षा को वे जीवन की भौतिक व बौद्धिक दोनों ही दृष्टि से आवश्यक समझते हैं। आदर्शवाद में और प्रकृतिवाद में यहीं मौलिक मतभेद है। आदर्शवादी शिक्षा को शरीर-केन्द्रित बनाकर नहीं आत्मा-केन्द्रित बनाकर शरीर रक्षा पर आते हैं। प्रकृतिवाद शरीर रक्षा को प्राथमिकता देते हैं और फिर बौद्धिक व आत्मिक विकास पर आते हैं। विकास दोनों स्वीकार करते हैं और दोनों उसकी प्रक्रिया पर भी सहमत हैं परन्तु अन्तिम लक्ष्य पर जाकर मतभेद हो जाता है। अवस्था दो यात्रियों की सी है जो साथ-साथ मिलकर चलते जाते हैं और अन्त में चलकर एक दूसरे से थोड़े ही समय को विमुख हो अपने-अपने दरवाजों में घुस जाते हैं। मार्ग दोनों का एक है। क्रिया एक है, पद्धति एक है, परन्तु अन्तिम घर अलग-अलग हैं।

प्रकृतिवादी शिक्षा

प्रकृतिवादी शिक्षा व्यापक रूप में शिक्षा के समस्त पहलुओं पर बहुत प्रभाव डालती है। इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

(1) शिक्षा इस दृष्टि से प्राकृतिक विकास का साधन है और उस विकास को सहज और प्राकृतिक बनाना शिक्षा का कार्य है।

(2) शिक्षा बालक की प्रकृति के अनुकूल हो। बालक के प्राकृतिक विकास के नियमों, उसकी प्रवृत्तियों, प्रेरणाओं, भावनाओं, शक्तियों आदि को ध्यान में रखकर शिक्षा दी जाय।

(3) बालक की प्रकृति व उसकी आवश्यकताओं पर जोर देकर प्रकृतिवाद ने शिक्षा में विकासवादी मनोविज्ञान को जन्म दिया है जिसके क्षेत्र में बालक के विकास का पूरा अध्ययन आता है।

(4) चूँकि विकास जीवन का मूल सिद्धान्त है और शिक्षा विकास के क्रम को सरल और बिना अवरोध चलने के लिए है अतः प्रकृतिवादी दृष्टिकोण से स्वतन्त्रता बहुत आवश्यक है। स्वतन्त्रता विकास के लिए आधार है व उसके लिए प्रथम आव-

श्यकता है। स्वतन्त्रता न होने पर विकास हो ही नहीं सकता। फिर जो चीज ऊपर से फेंकी जा सकती है, अन्दर से स्वयं प्राकृतिक रूप में नहीं निकल सकती।

(5) बालक की प्रकृति, उसकी विकास की आवश्यकताओं व उसकी शक्तियों आदि पर जोर देकर प्रकृतिवाद बालक-केन्द्रित शिक्षा पर जोर देता है जिसे एडम्स डा० स्टेनले हॉल के आधार पर 'बालक-केन्द्रित' (Paidocentric) शिक्षा कहते हैं।

(6) प्रकृतिवादी प्रवृत्ति ने शिक्षा में मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, समाजवादी तथा बहुबिम्बवादी (eclectic) आदि सभी प्रवृत्तियों व धाराओं को जन्म दिया जिनके सम्बन्ध में हम आगे चलकर विचार करेंगे। आज जो मनोविज्ञान, विज्ञान-शिक्षा, बाल-केन्द्रित शिक्षा, पाठ्यक्रम का व्यापक रूप, पाठ्यक्रमातिरिक्त तथा सह-गामी क्रियाएँ, प्रगतिशील शिक्षण पद्धतियाँ, श्रव्य-दृश्य उपकरण आदि पर जो जोर है वह सब प्रकृतिवादी विचार का जोर है। शिक्षा में ही नहीं प्रकृतिवादी दर्शन ने राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में क्रान्ति पैदा कर दी है। मानव स्वतन्त्रता के नारे ने राज्यों के तख्ते पलट दिए, धर्माधिकारियों की सत्ता को चुनौती दे दी और सभी क्षेत्रों में वैज्ञानिक विचार-धारा की सत्ता को स्थापित किया। यह विषय हमारे विचार-क्षेत्र से यहाँ बाहर है परन्तु हम पाठकों का ध्यान 17 वीं शताब्दी से 19 वीं शताब्दी तक के राजनैतिक इतिहास की ओर आकर्षित करना चाहते हैं और यह कहना चाहते हैं कि रूसो के द्वारा प्रकृतिवाद की व्याख्या ने किस प्रकार मानव के मस्तिष्क में तहलका मचा दिया और एक शताब्दी पर किस प्रकार जनता प्रकृतिवादी विचारों के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रभाव में आकर अपनी पुरानी व्यवस्थाओं के उलटने में लगी रही। अस्तु।

(7) प्रकृतिवादी शिक्षा बालकों के प्रत्यक्ष अनुभव, इन्द्रिय ज्ञान, क्रिया द्वारा सीखने, शब्द ज्ञान से पहले वस्तु ज्ञान, आदि पर जोर देती है।[1]

(8) शिक्षा-पद्धति में अधिकाराधारित सभी पद्धतियों का तिरस्कार किया जाता है। प्रकृतिवादी शिक्षा-पद्धति पूर्ण रूप में जनतन्त्रीय शिक्षा-पद्धति है। जिस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में मानव की दासता से मुक्ति पर प्रकृतिवाद ने जोर दिया उसी प्रकार शिक्षा में बालक की स्वतन्त्रता पर जोर दिया और अधिकार व शक्ति के प्रयोग का खण्डन किया।

(9) शिक्षा में अनुशासन के अर्थ और रूप की व्याख्या प्रकृतिवाद ने उसी दृष्टिकोण से की। आज अनुशासन का जो व्यापक अर्थ लिया जाता है और उसके जो सिद्धान्त हैं वे प्रकृतिवादी दृष्टिकोण के प्रतीक हैं।

(10) प्रकृतिवादी दृष्टिकोण सह शिक्षा के भी पक्ष में है।

---

1 "Give your scholar no verbal lesson; he should be taught by experience alone." *Rousseau.*

(11) शिक्षा में नवीन पद्धतियाँ जैसे प्रोजेक्ट मैथड (Project Method) मान्टेसरी प्रणाली, क्रीड़ा केन्द्रित शिक्षा पद्धति ((play-way) आदि—वे सब प्रकृतिवादी दृष्टिकोण पर आधारित हैं। ये पद्धतियाँ मौलिक रूप में इन्द्रिय-ज्ञान की तथ्यता के ऊपर आधारित हैं। प्रकृतिवाद उस बात पर अधिक जोर देता है कि हमारे ज्ञान की स्रोत हमारी इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियों की शिक्षा और उनके द्वारा ज्ञान प्राप्ति शिक्षा में बहुत महत्व रखते हैं। उपर्युक्त पद्धतियाँ इस आधार पर ही अवलम्बित हैं।

(12) प्रकृतिवाद बालक की सुन्दर प्रकृति को लेकर चलता है। प्राकृतिक रूप में बालक बिल्कुल निष्कलंक है। वातावरण उसे अच्छा या बुरा बनाता है। अतः वातावरण को शुद्ध रखना और बालक को बजाय भली बातें सिखाने से बुरी बातों से दूर रखने पर प्रकृतिवाद जोर देता है। रूसो के कथनानुसार प्रकृति से उत्पन्न हुई सब वस्तुएँ अच्छी हैं। मानव उनको दूषित कर देता है।[1] अतः आवश्यकता इस बात की है कि प्राकृतिक रूप से वस्तु को दूषित न होने दिया जाय। प्राकृतिक व क्रमिक विकास का यह मूल आधार है।

(13) शिक्षक के लिए बालक को समझना और उसकी प्रवृत्तियों, भावनाओं, रुचियों, शक्तियों आदि के अनुसार शिक्षा की योजना बनाना—प्रकृतिवाद इस पर बहुत जोर देता है।

(14) बालकों के विकास के स्तरों—शिशु अवस्था, बाल्यकाल, किशोरावस्था, वयस्कावस्था, प्रौढ़ावस्था—की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं को समझना और प्रत्येक स्तर पर विकास की प्रवृति को समझना और उसे सहज बनाना प्रकृतिवादी दृष्टिकोण का ही प्रभाव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक शिक्षा में प्रकृतिवादी विचार-धारा का बहुत ही अधिक प्रभाव है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं आधुनिक प्रकृतिवाद बहुत व्यापक है और वह आदर्शवाद से मिलता है परन्तु भेद दोनों में अन्तिम लक्ष्य पर ही है। आदर्शवाद का लक्ष्य आध्यात्मिक रूप लिए है परन्तु प्रकृतिवाद का लक्ष्य मानव के नैसर्गिक विकास के क्रम को पूरा करने के अलावा दूसरा नहीं है।[2]

प्रकृतिवाद की आलोचना

प्रकृतिवाद शिक्षा दर्शन के रूप में मानव को पूर्ण रूप में सन्तुष्ट नहीं करता। जहाँ तक शिक्षा पद्धति या प्रकृतिवाद के द्वारा स्वीकृत प्रक्रियाओं का

---

1 "Everything is good as it comes from the author of nature, but everything degenerates into the hands of man."
[*Rousseau* : Emile]

2 ".....self-directed striving after a form to which it has an inherent impulse."

सम्बन्ध है प्रकृतिवाद के पक्ष का कोई खंडन नहीं कर सकता परन्तु आदर्शों और उद्देश्यों की दृष्टि से प्रकृतिवाद आलोचना का पात्र है। मानव की क्रियाएँ शरीर-रक्षा और अपने भौतिक जीवन को सुन्दर बनाने के लिए होती हैं परन्तु मौलिक रूप में वे इस हेतु होती हैं अथवा उसकी समस्त क्रियाओं का ध्येय यही है, यह आलोचना का विषय है। मानव केवल पेट भरने या शरीर-रक्षा के उद्देश्य से ही सब कार्य नहीं करता और न उसको लेकर ही उसके सब कार्यों की व्याख्या की जा सकती है। बड़े-बड़े बलिदान, आत्मोसर्ग, निस्वार्थ सेवा और शरीर त्याग के उदाहरण मानव के अन्य किसी और उद्देश्य की ओर हमें सम्बोधित करते हैं। वास्तव में हम मानव को उसके बलिदान से जितना ऊँचा मानते हैं उतना उसकी अन्य क्रियाओं से नहीं। अतः प्रकृतिवाद को ज्यों का त्यों स्वीकार करने में संसार से वे मापदण्ड उठ जायेंगे जिनके द्वारा हम किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व की परम सीमा को नापते हैं।[1]

दूसरी बात यह है कि प्रकृतिवाद वर्तमान और निकट भविष्य पर बहुत जोर देता है अन्तिम लक्ष्य वाली बात पर नहीं। अन्तिम लक्ष्य भले ही एक काल्पनिक विचार हो परन्तु मानव की बौद्धिक, आत्मिक, कलात्मक, आध्यात्मिक पिपासा को शान्ति प्राप्ति होना मानव के लिए बहुत बड़ी बात है और उसे तब तक जीवन में आनन्द नहीं मिलता जब तक इस पिपासा की तुष्टि नहीं हो जाती।

प्रकृतिवादी का आधार जीवन का मुख्य आधार है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है परन्तु इस आधार के अलावा और भी आधार हैं इसमें भी सन्देह नहीं और वे आधार उतने की ठोस और महत्वपूर्ण हैं जितना प्रकृतिवादी तथा वे इससे स्वतन्त्र हैं।[2] प्रकृतिवाद उनकी व्याख्या नहीं कर सकता। उनकी व्याख्या तो मानवकृत सभ्यता व संस्कृति के मौलिक आधारों में निहित है।

प्रकृविवाद शिक्षा में हमें कितना प्रभावित करता है और उससे हम क्या लाभ उठाते हैं यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम प्रकृतिवाद का क्या अर्थ निकालते हैं। हमने कई बार इस बात पर जोर दिया है कि आधुनिक काल में प्रकृतिवाद का

---

1 In extreme naturalism "everything intrinsically valuable disappears from the world.....the useful that which promotes the interests of living beings, each after its kind, in the struggle for existence, becomes the all dominating value." [*Eucken* : Life's Basis and Life's Ideals, Quoted by Ross in Groundwork of Educational Theory]

2 "Biological factors are basic to our existence and consequently also to our Culure and education. But takes in isolation they are a Completely enadequate esepl.nation of civilization. Wherever man creates education, and is educated, he transecures the merely biological sphere and reaches into other areas of life." [*Ulich, Robert* : Fundamentals of Democratic Education p. 9]

अर्थ बहुत व्यापक है। संकुचित रूप में प्रकृतिवाद व्यतिगत आत्माभिव्यक्ति के रूप में आता है जिसमें विकास के क्रम में कोई अंकुश नहीं और मानव पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं। इस प्रकार के उग्ररूप में प्रकृतिवाद बहुत सन्देह की दृष्टि से देखा जावेगा। आज के युग में प्रकृतिवाद मानव की प्रकृति के ऊपर आधारित है और मानव की प्रकृति में उसकी शारीरिक, बौद्धिक, आत्मिक—तीनों प्रकृति व उनकी आवश्यकताएँ आती हैं। इस प्रकार प्रकृतिवाद आदर्शवाद के बिल्कुल निकट आ जाता है। संगत विचार तो यह होगा कि दोनों एक दूसरे के पूरक व सहायक समझे जायँ।

आधुनिक शिक्षा में प्रकृतिवाद

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आधुनिक शिक्षा में प्रकृतिवाद का बहुत जोर है और आधुनिक प्रकृतिवाद व्यापक अर्थ लिए हुए है। उसे आज बालक व मानव की प्रकृति को लेकर प्रकृतिवाद कहा जाता है और जीवविज्ञानवादी प्रकृतिवाद लेकर नहीं यद्यपि मानव की प्रकृति में जीवविज्ञानवादी प्रकृतिवाद का आधार भी सम्मिलित है। मानव जो क्रियाएँ करता है आज का प्रकृतिवादी दृष्टिकोण उसकी व्याख्या मानव की प्रकृति के आधार पर करता है न कि जीवविज्ञानवादी संघर्ष के नियम या समर्थ की रक्षा के आधार पर। हम प्रकृतिवाद के आज की शिक्षा पर पड़े हुए तथा उसका प्रतिबिम्बित रूप मोटे-मोटे रूप में ऊपर कह आये हैं। यहाँ कुछ विशिष्ट रूप में हमें उनकी व्याख्या करनी है :—

(अ) प्रकृतिवाद और शिक्षा दर्शन तथा प्रकृतिवादी दृष्टिकोण से शिक्षा के क्या उद्देश्य हैं, उनकी व्याख्या हम ऊपर कर आए हैं और उसे फिर दुहराने की आवश्यकता नहीं। हाँ इतना यहाँ विशेष रूप में कहना है कि प्रकृतिवादी दर्शन प्रकृति के नियमों के आधार पर स्थित है परन्तु वह मानव की स्वतन्त्रता व उसकी स्वतन्त्र प्रकृति जो उसके व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब देती है,—इनकी स्थिति और महत्व को कम नहीं करता। प्रकृति के नियम जो हैं सो हैं परन्तु मानव उनसे लाभ भी उठा सकता है, उनसे हानि भी उठा सकता है तथा ऐसा भी हो सकता है कि उसे लाभ या हानि कुछ न हो। प्रकृति के नियमों को शाश्वत कह कर उनको अच्छा या बुरा या न अच्छा न बुरा कह देना अथवा मानव को उनका नियंता बनाकर यह कहना कि मानव ही उनको अच्छा या बुरा बना सकता है मानव व प्रकृति के बीच संघर्ष करना है जो अप्राकृतिक है। दार्शनिक दृष्टि से आज का प्रकृतिवाद स्थितिवाद (existentialisin) के साथ चलता है जिसके द्वारा प्रकृति व मानव अनुभव दोनों को सत्य मानकर प्रकृति के नियम व उसकी क्रियाओं की शृंखला में से अच्छे या भले को चुनना अथवा उनसे लाभ उठाना व उनको अपने नुकसान का स्रोत बना लेना—यह मानव के ऊपर निर्भर है।[1]

[1] ".....Consistently a naturalistic philosophy must recognise, to quote Dewey, that 'empirically, things are poignant, tragic,

(शेष पेज 104 पर)

(ब) जहाँ तक बालक की प्रकृति का सम्बन्ध है प्रकृतिवादी विचार-धारा ने मनोविज्ञान को बहुत प्रोत्साहन दिया और यद्यपि मनोविज्ञान अपनी पूर्ण सीमा पर नहीं पहुँच पाया है तथा अभी भी उसको शिशु अवस्था में ही माना जाता है तथापि मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानों ने व्यक्ति की प्रकृति का बहुत अध्ययन किया है और शिक्षा-पद्धति, पाठ्यक्रम आदि पर प्रभाव डाला है। मनोविज्ञान ने यह स्पष्ट किया है कि बालक की क्या-क्या नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ हैं। उसके क्या भाव व उद्वेग हैं, वे कैसे पैदा होते हैं, कैसे दृढ़ होते हैं, उसके विकास के क्या-क्या स्तर हैं और प्रत्येक स्तर पर किस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है, बालक कैसे सीखता है, सीखने के क्या सिद्धान्त हैं, किस प्रकार वह ज्ञान को अपने मस्तिष्क में ले जाता है, कौन-कौन इन्द्रियाँ किस-किस प्रकार कार्य करतीं हैं, बुद्धि क्या है और किस प्रकार वह कार्य करती है'''' आदि। बालक की प्रकृति आज शिक्षा-शास्त्रियों को समस्त शिक्षा के संगठन के लिए आधार देती है और उसका अध्ययन व उसमें रुचि यह प्रकृतिवाद की देन है।

(स) आज की शिक्षण पद्धतियाँ प्रकृतिवाद के ऊपर आधारित हैं। रूढ़िवादी व परम्परागत विधियों का विरोध करके प्रकृतिवाद ने नवीन-नवीन शिक्षण पद्धतियों को जन्म दिया जो बालक की प्रकृति से सम्बन्ध रखती हैं और उसके प्राकृतिक रूप में सीखने को प्रोत्साहन देती हैं—क्रीड़ा विधि (Playway), ह्यूरिस्टिक विधि (Heuristic Method) जिनमें बालक स्वयं ज्ञान को खोजे, प्रोजेक्ट विधि (Project Method), मान्टेसरी प्रणाली, प्रत्यक्ष प्रणाली (Direct Method), निरीक्षण विधि (Observation Method) आदि सब विधियाँ प्रकृतिवाद की देन हैं और वे सब बालक के सीखने में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के ऊपर आधारित हैं।

(द) शिक्षण के सिद्धान्त भी मनोवैज्ञानिक आधार लिए हुए हैं और वे भी इस प्रकार प्रकृतिवादी (बालक की प्रकृति) दृष्टिकोण के ऊपर आधारित हैं। क्रिया करके सीखना (Learning by doing), साधारण से जटिल की ओर (Simple to complex), दृश्य व स्पृश्य से भाववाचक की ओर (Concrete to abstract) निश्चित से अनिश्चत की ओर (definite to indefinite) आदि जो शिक्षण के सिद्धान्त हैं वे सब प्रकृतिवादी दृष्टिकोण की झलक देते हैं।

(पेज 103 का शेष)

beautiful, humorous, settled, disturbed comfortable, annoying, barren, harsh, consoling, splendid, fearful, are such immediately and in their own right and behalf." Any other interpretation presents that familiar cleavage of nature (and culture) which divides irretrievably hard things from soft qualities, thereby making all consummatory experience suspect, inexplicable, and unnatural." [*Geiger, George R* : An Experimentalist Approach to Education, Fifty-fourth Year Book, op. cit. p. 143]

(य) प्रकृतिवाद का ही यह रूप है कि हम बालक की शक्तियों के विकास व उसके व्यक्तित्व के विकास के क्रम को अन्दर से निकलता हुआ न कि बाहर से थोपा हुआ समझते हैं। वातावरण को उस विकास के लिए अनुकूल बनाना, शिक्षक को उस विकास के क्रम को समझना व उसको सहज बनाना, यह प्रकृतिवादी विचार-धारा का ही प्रभाव है।

(र) पाठ्यक्रम पर प्रकृतिवादी विचार-धारा का बहुत प्रभाव है। पाठ्यक्रम में बालकों के समस्त अनुभवों को शामिल करना, उसको बालकों की शक्ति, रुचि, अभिरुचि व आवश्यकता के अनुकूल बनाना, उसकी श्रेणी बनाना तथा उसका क्रम निश्चित करना, पाठ्यक्रमातिरिक्त तथा सहगामी क्रियाओं का मूल्य यह सब प्रकृति-वादी दृष्टिकोण की ही देन है।

(ल) बालक और शिक्षकों के सम्बन्धों में बालक के व्यक्तित्व के प्रति सम्मान, उसकी स्वतन्त्रता, दमनात्मक तरीकों का अनुशासन में विरोध, घर और स्कूल के सम्बन्ध (बालक की प्रकृति को समझने के लिए) आदि बातें भी प्रकृतिवादी दृष्टिकोण की प्रतीक हैं।

(व) प्रकृतिवाद अनुशासन में दमनात्मक रीति का विरोध करके शमनात्मक रीति का पक्ष लेता है। प्रकृतिवादी दृष्टिकोण में मूल रूप में प्रकृति द्वारा दण्ड को ही वैधानिक माना गया है। जैसा कि रूसो ने कहा है कि यदि कोई बालक शीशा तोड़ देता है तो उसे खिड़की के पास बैठने दो, उसे जुकाम होगा और वह बीमार पड़ेगा। इस प्रकार की विचार-धारा आज स्वीकृत नहीं है। प्राकृतिक दण्ड कभी कम भी हो सकता है कभी उसके परिणाम भयंकर भी हो सकते हैं, कभी प्रत्यक्ष रूप में कोई दण्ड हो भी नहीं सकता। यह सभ्य मानव समाज में मान्य नहीं है, प्रकृति के क्षेत्र में भले ही हो। मानव समाज में मानव के मापदण्ड हैं और उनके आधार पर निश्चित विधियाँ हैं जिनके आधार पर सारे समाज का अनुशासन चलता है। शिक्षा में अनुशासन का आज व्यापक अर्थ है और उसे स्थापित करने तथा बालक को अनुशासन-प्रेमी बनाने के सिद्धान्त हैं जिनका आधार प्रकृतिवाद के सिद्धान्तों पर ही स्थित है। अतः प्रकृतिवाद ने अनुशासन के सम्बन्ध में तथा उसको स्थापित करने के सम्बन्ध में हमारे विचारों में बहुत परिवर्तन व संशोधन किया है। दमनात्मक तरीकों से स्थापित किया हुआ अनुशासन किस प्रकार विकास के क्रम को अवरुद्ध करता है, किस प्रकार मस्तिष्क में ग्रन्थियाँ बनाकर व्यक्तित्व को विकृत कर देता है यह उस मनोविज्ञान की ही देन है जिसको प्रकृतिवादी दर्शन ने जन्म दिया।

(स) चूंकि विकास बालक के व्यक्तित्व में ही निहित है इसलिए शिक्षक का कार्य क्या है और किस प्रकार वह उस क्रम को सहज बना सकता है यह सब भी प्रकृतिवाद के आधार पर समझा जा सकता है। शिक्षक बालक के वातावरण का अंग है और वह उस पर नियन्त्रण करने वाला भी है। उसका वही काम है जो एक बगीचे में माली का है—पेड़ों को उचित भोजन देना, पानी देना तथा उनके क्रमिक

विकास में कहीं बाधा न पड़े यह देखना। प्रकृतिवाद ने कक्षा में और कक्षा के बाहर शिक्षक का क्या स्थान है इस पर हमारे वर्तमान शिक्षक के रूप के सम्बन्ध में विचारों को पुनर्निमित किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार शिक्षा में प्रकृतिवाद ने अपना प्रभाव डाला है। प्रकृतिवाद के फलस्वरूप शिक्षा में (जैसा कि ऊपर के कथन से स्पष्ट हो जाता है) तीन विशिष्ट धाराओं का जन्म हुआ—मनोवैज्ञानिक धारा, वैज्ञानिक धारा तथा समाजवादी धारा। इनके सम्बन्ध में हम आगे चलकर विस्तार में विचार करेंगे। बीसवीं शताब्दी में इन सबका समन्वय हुआ और उसके साथ प्रकृतिवाद का अर्थ बहुत व्यापक हो गया। मूलरूप में प्रकृतिवाद विकृतिवाद का उलटा है। जहाँ कोई व्यवसाय या पद्धति या विचारधारा विकृत हो गई तो उसे अपने प्राकृतिक रूप में लाने की चेष्टा ही प्रकृतिवादी धारा की द्योतक है। आज शिक्षा क्या सभी क्षेत्रों में प्रकृतिवाद विकृत, कठोर, रूढ़िवादी, दिखावटी, विचारों, प्रणालियों, भावों, रस्म रिवाजों के आधारों आदि का विरोधी है। अतः इसका रूप व्यापक है।

प्रकृतिवाद का ऐतिहासिक सिंहावलोकन व उसका प्रमुख प्रवर्तक रूसो

प्रकृतिवाद के सम्बन्ध में अपनी व्याख्या को समाप्त करने से पहले हम उस पर थोड़ा सा ऐतिहासिक सिंहावलोकन करना चाहते हैं और आधुनिक प्रकृतिवाद के प्रमुख प्रवर्तक रूसो के विचारों व उसकी देन के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहते हैं।

अठारहवीं शताब्दी की लहर : यूरोप के इतिहास में अठारहवीं शताब्दी एक बहुत महत्वपूर्ण शताब्दी है। इस शताब्दी में यूरोप में राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, तथा शैक्षिक उथल पुथल हुए और मध्यकालीन युग की विचार धारा तथा संस्थाओं का खात्मा होने लगा। इस शताब्दी ने मध्यकालीन युग से बिल्कुल नाता तोड़ लिया और आधुनिक युग की ओर बड़ी तेजी से कदम बढ़ाया। मध्यकालीन युग की दो बड़ी संस्थाओं—चर्च और राज्य—की सत्ता का भंडा फूटने लगा। इस क्रान्ति का प्रथम क्षेत्र फ्रांस रहा जहाँ बड़े क्रान्ति के नाटक खेले गये और जहाँ सारी जनता में एक आग की ज्वाला दौड़ गई जिसने धीरे-धीरे अपनी लपटों में सारे यूरोप को लपेट लिया। हम यहाँ इसकी चर्चा नहीं कर रहे क्योंकि यह बहुत बड़ा विषय है।

इस क्रान्ति का कारण एक तो चर्च और राज्य के जनता पर अत्याचार और दूसरे कुछ क्रान्तिकारियों के लेखन थे। यह कहा जाता है कि फ्रान्स में राजनैतिक क्रान्ति होने के बहुत पहले मानसिक क्रान्ति हो चुकी थी। इस मानसिक क्रान्ति के नेता दो प्रमुख व्यक्ति थे : एक वाल्टेयर दूसरा रूसो। वाल्टेयर ने चर्च के खिलाफ आवाज उठाई और लोगों को तर्क के मार्ग का अनुसरण करने को प्रेरित किया। परन्तु वाल्टेयर के विचार जनतन्त्रीय न थे और वह साधारण जनता तक न पहुँच सका। इसके विपरीत वह साधारण जनता का मूल्य भी नहीं करता था। उसका यह विचार था कि अधिकांश जनता तो मूर्ख है और उसे तो बुद्धि वाले

व्यक्तियों का दास ही रहना है। रूसो ने इस विचारधारा के खिलाफ आवाज उठाई। उसने लोगों के हृदय को स्पर्श किया और जनतंत्रीय विचारधारा को अपनाया। व्यक्ति के व्यक्तित्व के महत्व, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा लगाकर अपनी क्रान्तिकारी भाषा के ओज व प्रवाह से रूसो ने सारे यूरोप में अपनी आवाज का गुञ्जन कर दिया। नेपोलियन ने कहा था कि अगर रूसो न होता तो फ्रान्स की राजक्रान्ति ही न होती। हमें उस सम्बन्ध में विचार यहाँ नहीं करना है परन्तु हम यह कह सकते हैं कि अगर रूसो न होता तो शिक्षा में भी क्रान्ति न होती। रूसो एक राजनीतिक क्रान्तिकारी ही न था वह एक शैक्षिक क्रान्तिकारी भी था और उसके लगाए हुए पौधे ने इतना जोर पकड़ा कि उन्नीसवीं शताब्दी में वह एक फूलता वृक्ष बन गया जो आज भी लहलहा रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में रूसो की महती देन है और इसी हेतु हमें उस पर यहाँ विचार करना है।[1]

रूसो और उसकी प्राकृतिक अवस्था की व्याख्या : विश्व के इतिहास में ऐसा व्यक्ति मुश्किल से मिलेगा जिसने इतनी बातें कहीं हों जो आधी सत्य हों और आधी न हों, जिनमें सब मान्य न हों, जिनमें विरोधी विचार आकर टक्कर भी खा जाते हों परन्तु जिन्होंने इतना मानव मस्तिष्क पर प्रभाव डाला और उसको वह मोड़ दिया कि शताब्दियों से प्रचलित तथा दृढ़ीभूत संस्थाओं को खत्म कर डाला और एक नए युग की स्थापना के लिए दृढ़ कदम उठाया। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रूसो की कलम से जो साहित्य निकला उसने राजनैतिक ही नहीं बल्कि सारे सामाजिक क्षेत्र में भयंकर विप्लव को जन्म दिया और एक बार सारे यूरोप में जिसकी आवाज गूँज उठी।

रूसो के प्रारम्भिक जीवन व बाल्यकाल के उथल-पुथलमय अनुभवों को विस्तार से अध्ययन करने का यहाँ अवकाश नहीं है। प्रारम्भ से ही यह व्यक्ति प्रकृति का प्रेमी था। उसे झरनों की कलकलाहट और पक्षियों के कलरव में इतना आनन्द आता था कि सारा समय प्रकृति की गोद में बिताना पसन्द करता था। अठारहवीं शताब्दी का फ्रांस का कृत्रिम जीवन–ठाट-बाट, शान शौकत, दिखावा और गरीबी; अत्याचार, भुखमरी, आदि–यह उसके हृदय में शूल की तरह चुभता था। जब इधर उधर भ्रमण करके और अपने सम्बन्धियों व मित्रों के दुर्व्यवहार से पीड़ित

---

[1] That education is a natural, not an artificial process : that it is a development from within, not an accretion from without; that it comes through the working of natural instincts and interests and not through response to external force; that it is an expansion of natural powers, not an acquisition of information, that it is life itself not a preparation for a future state remote in interests and characteristics from the life of childhood—these ideas constitute the fundamental teaching of Rousseau." [*Monroe Paul* : History of Western Education]

होकर वह घूमते घामते पेरिस में आया तो उसने तत्कालीन सभ्यता का जो दृश्य देखा उससे उसे भारी क्षोभ हुआ और उसके विरुद्ध आवाज उठाने की भावना उसके अन्दर प्रबल हो उठी। प्रकृति से ही वह बहुत भावुक था और तर्क से नहीं, जैसी कि भावुक व्यक्तियों की प्रकृति होती है, भावावेश और उद्वेग उसके विचारों में बहुत उग्ररूप में झलकते थे। उसकी शिक्षा बहुत अव्यवस्थित रही थी। उसकी माँ उसके जन्म के बाद मर गई और उसके पिता उसे संतुलित शिक्षा न दे सके। उसके रिश्तेदारों ने उसे बुरी तरह रक्खा। परिणाम यह हुआ कि वह भावुक हो गया और जब वह पेरिस घूमते हुए आया तो वहाँ के जीवन को देखकर सिहर ही नहीं उठा बल्कि विद्रोह की आग उगलने लगा।

अठारहवीं शताब्दी का फ्रांस का जितना विकृत और कलुषित जीवन था उतना शायद कभी रहा हो। चर्च और राज्य की निरंकुशता तथा उसके निकम्मेपन दोनों ही पराकाष्ठा पर पहुँच गये थे। एक ओर धन दूसरी ओर गरीबी ; एक ओर अधिकार दूसरी ओर अत्याचार, एक ओर स्वामी दूसरी ओर दास; एक ओर विशेष वर्ग दूसरी ओर दलित वर्ग—ये मानव समाज के बीभत्स विरोधी रूप फ्रांस में अपने नग्नरूप में वर्तमान थे। आग सुलग रही थी परन्तु भड़काने के लिए कुछ सामिग्री की आवश्यकता थी।

रूसो ने राजनैतिक तथा सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में इस व्यवस्था का घोर विरोध किया और उसकी भाषा व विचारों ने आग को शीघ्र ही प्रचंडरूप धारण करा दिया। उसके राजनैतिक विचार उसकी 'पुस्तक सोशल कन्ट्रैक्ट' (Social Con-) tract) में स्पष्ट हैं और शिक्षा सम्बन्धी विचार 'एमील' (Emile) में। एमील एक काल्पनिक शिक्षार्थी का नाम है जिसे शिक्षा देने की व्यवस्था बताकर रूसो अपने शिक्षासम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करता है। एमील एक उपन्यास के रूप में है और इसके पाँच भाग है। प्रथम चार भागों में बचपन, बाल्यकाल्य, किशोरावस्था, व प्रौढ़ावस्था की शिक्षा का वर्णन है और पाँचवें भाग में सोफी नामक एक काल्पनिक लड़की की शिक्षा बताकर (जो सोफी एमील के साथ विवाही जाती है) रूसो स्त्री शिक्षा के विषय में अपने विचार देता है। हम फिर यह दुहराते हैं कि भावुक होने के नाते रूसो के लेखों में महान् भ्रमात्मक कथन है, कहीं कहीं ऐसा तर्क है जिन्हें कोई स्वीकार ही न करेगा। कहीं उसकी तर्कों में स्पष्ट विरोध भी है—जिन सबका कारण उसका अव्यवस्थित अनुभव और भावुकता की परम सीमा है–परन्तु फिर भी उसके लेखों में जो सत्य निकलता है वह अटल है। धूल में लिपटे हुए पदार्थ में जो कण निकलते हैं वे शिक्षा के ही नहीं मानव के जीवन के सब पहलुओं को देदीप्यमान करते हैं और अमरता का सन्देश देते हैं। रूसो का सन्देश व्यथित मानवता के लिए अमृत है। उसने लोगों के मस्तिष्क को नहीं हृदयों को स्पर्श किया और इस प्रकार जनसाधारण तक उसकी आवाज पहुँच गई। इतिहास में ऐसे व्यक्ति बहुत कम हुए हैं। अस्तु।

रूसो का यह दृढ़ विश्वास था कि दुनियाँ में जितना पाप है, जो तकलीफ है, जो परेशानियां और मानसिक अस्थिरताएँ हैं वे सब इसलिए हैं कि मानव ने प्राकृतिक मार्ग को छोड़कर अप्राकृतिक व कृत्रिम मार्गों को अपना लिया है। प्रकृति के क्षेत्र में सुख है, शान्ति है, आनन्द है, सुन्दरता है। मानव की दुनियाँ में विकृति, दम्भ, पाप, कुरूपता, स्वार्थ, कपट, स्पर्धा आदि बीमारियाँ भरी पड़ी है। इनका कारण सिर्फ एक है और वह यह मानव प्रकृति से अलग होता जा रहा है, वह प्रकृति से अपना मार्ग नहीं पूछता, स्वयं अपना प्रभाव जमाने के लिए प्रकृति के प्रत्येक क्षेत्र मे अपनी टांग लगाता है। परिणाम यह होता है कि उसे सुख के स्थान पर दुख, शान्ति के स्थान पर अशान्ति, सहयोग के स्थान पर प्रतियोग व संघर्ष आदि का सामना करना पड़ता है। प्रकृति के क्षेत्र में दखल देना और उसकी सत्ता को अपनी जिद और अपने स्वार्थ के लिए समाप्त करने का प्रयत्न करना मानव को गर्त में ले जाता है। परन्तु मानव अपनी आदत से भी मजबूर है। आवश्यकता इस बात की है कि उसे ऐसी शिक्षा दी जाय कि वह प्रकृति से प्रेम करना सीखे और प्राकृतिक रूपों में अपनी आस्था प्रगट करे।[1]

अठारहवीं शताब्दी की फ्रांस की अवस्था और तत्कालीन सभ्यता को देखकर उसने यही निष्कर्ष निकाला कि यह सब सभ्यता ढोंग है और इसी सभ्यता का यह परिणाम है कि जीवन विकृत हो गया है और सुख के बदले दुख का राज्य हो रहा है। अतः उसने उस सभ्यता का भारी खंडन किया और कहा कि यह सभ्यता एक भयंकर भूल हो गई है। यह सब बीमारियों की जड़ है, धर्म एक ढोंग बन गया है, सामाजिक जीवन कृत्रिम हो गया है, सरकार निरंकुश और अत्याचारी हो गई है और मानव परिपाटी, परम्परा, रूढ़ि तथा इस दिखावे का शिकार हो गया है। इस सब का कारण उसकी गलत शिक्षा, गलत ट्रेनिंग, गलत सभ्यता, गलत सामाजिक जीवन""सब हैं। अपने एक लेख में उसने सब कलाओं और विज्ञानों का घोर खंडन किया और गणित, नक्षत्रशास्त्र, भौतिक विज्ञान, कला, दर्शन—जो भी इस समय जिस रूप में थे उसकी आलोचना से न बचे।[2] इन सब में हमें रूसो के विचारों में सार्थकता व निरर्थकता के सम्बन्ध में नहीं सोचना है परन्तु उसके इन असंगत और कभी कभी विवेक हीन विचारों में जीवन के वास्तविक तथ्य छिपे हुए हैं।

---

1 "All things are good as they come out of the hands of their creator, but everything degenerates in the hands of man.
[*Rousseau* Emile] (यह उसका प्रथम वाक्य है)

2 "Astronomy was born of superstition; eloquence of ambition, hatred, falsehood and flattery; geometry of avarice; physics of an idle curiosity; and even moral philosophy of human pride. Thus the arts and sciences owe their birth to our vices; we should be less doubtful of their advantages, if they sprang from

(शेष पेज 1 0 पर देखिए)

रूसो का मानव की मौलिक और नैसर्गिक अवस्था के सुन्दर व भले होने में दृढ़ विश्वास था। उसका यह कथन था कि बच्चा दुनिया में जब आता है तो अत्यन्त निर्मल होता है। मानव प्रकृति से बिल्कुल स्वच्छ है परन्तु वातावरण जो मानवकृत है उसे बुरा बना देता है। आवश्यकता इस बात की है कि मानव को इस वातावरण से बचाया जाय। उस वातावरण को समाप्त कर देना तथा बालक को उसके कलुषित प्रभाव में न आने देना आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं कि प्राकृतिक निर्मलता के लिए अच्छा चरित्र व गुण बालक में भरे जायँ। आवश्यकता यह है कि उसे कलुषित वातावरण से अलग रक्खा जाय। ऐसा होने पर यह निर्मल ही रहेगा।[1]

प्रकृति व प्राकृतिक अवस्था के प्रति उसके इतने दृढ़ विचार थे कि उसने अपने एक लेख में लिखा है कि यदि मानव अपने वर्तमान रूप व अवस्था को बिल्कुल उल्टा करदे और अपनी वर्तमान सब संस्थाओं को समाप्त कर दे, अपनी सभ्यता को नष्ट कर दे तो उसे निस्सन्देह आनन्द और सुख प्राप्त हो जावेंगे। रूसो के विचारों में कहीं-कहीं हमें बहुत निराशाजनक भाव मिलते हैं और कहीं-कहीं तो वे हमारे आधुनिक विचारों के बिल्कुल विरोधी हैं तथा उनको आज सभ्य समाज किसी भी रूप में स्वीकार नहीं कर सकता जैसे कि उसके स्त्री शिक्षा के प्रति विचार हैं जिनकी हम आगे चलकर व्याख्या करेंगे परन्तु हम फिर वही बात कहते हैं जो पहले कह आए हैं कि रूसो के विचार उस खान में से निकाले हुए मिश्रित पदार्थ से रूप में हैं जिसमें तमाम मिट्टी और रेत तथा अन्य हानिकारक पदार्थ भी मिले हुए हैं परन्तु जिसको तपाकर जिसमें से स्वच्छ, बहुमूल्य रत्न निकलते हैं जो सर्वदा अपनी चमक धारण किए रहते हैं।

रूसो द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के सिद्धान्त : रूसो ने शिक्षा में जो क्रान्तिकारी विचारधाराओं को जन्म दिया उनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(अ) उसने शताब्दियों से प्रचलित इस विचार-धारा का खंडन किया कि बालक की शिक्षा वयस्कों के मापदण्ड के अनुसार दी जाय। बालक लघु रूप में वयस्क या प्रौढ़ नहीं है। वह बालक है और उसकी प्रत्येक अवस्था में उसकी अलग अलग आवश्यकताएँ हैं। प्रत्येक अवस्था में उसकी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ अपना प्रभाव

(पेज 109 का शेष)

our virtue....Let men learn that nature would have preserved them from science as a mother snatches a dangerous weapon from the hands of her child."

[*Rousseau* : Discourse on the Arts and Sciences]

1 *"The virtue, conscience, a sense of right and wrong, a sense of justice, reverence, and pity are innate in the soul. The great problem is not to implant virtues, but to preserve the soul from the vices which society puts into it."*

दिखलाती हैं। अतः उन आवश्यकताओं को समझ कर ही शिक्षा का आयोजन होना चाहिए शिक्षा किसी भावी जीवन की तैयारी नहीं है, उससे पहले वह स्वयं उस जीवन के स्तर की आवश्यकता है जिस पर एक बालक किसी समय है। व्यक्ति का व्यक्तित्व विभिन्न स्तरों पर बहुत माने रखता है। बालक एक अमूल्य व्यक्तित्व लिए हुए है और उसको स्वतन्त्र विकास के लिए अवसर देना तथा उसके व्यक्तित्व की रक्षा व उसका सम्मान करना शिक्षा में बहुत आवश्यक है। बालक को प्रौढ़ बनाने से पहले हमें बालक के ही रूप में देखना है और यह देखना है कि किस प्रकार हम उसके व्यक्तित्व का सम्मान करें कि वह एक निर्मल प्रकृति का व्यक्ति बने। शिक्षा में व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य इस कथन में स्पष्ट है। तत्कालीन सामाजिक मापदण्डों की रूसो ने घोर आलोचना की और कहा कि यह सभ्यता तो मानव को दास बनाती है और दास बनाने की ही इसकी योजनाएँ व प्रणालियाँ भी हैं।[2]

(ब) विकास के स्तरों के सम्बन्ध में रूसो ने कहा है कि मानव विकास एक क्रम से चलता है। जन्म से लेकर प्रौढ़ावस्था तक जब तक कि एक शिशु धीरे धीरे बढ़कर एक पूर्ण युवक नहीं बन जाता कई अवस्थाएँ आती हैं जिनमें होकर वह गुजरता है। प्रत्येक अवस्था स्वयं में पूर्ण है और वह दूसरी अवस्था में प्रवेश कर जाती है। यद्यपि प्रत्येक अवस्था दूसरी का आधार है परन्तु उसकी स्वयं अलग अलग आवश्यकताएँ हैं। हमारी शिक्षा व्यवस्था ऐसी हो कि वह प्रत्येक अवस्था की आवश्यकताओं को समझ कर उनकी पूर्ति करे न कि किसी आगे की अवस्था को ध्यान में रख कर वर्तमान अवस्था की आवश्यकताओं का बलिदान कर दे। रूसो ने इस विचार-धारा का घोर खण्डन किया कि शिक्षा भावी जीवन की तैयारी है और भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही शिक्षा दी जाय।[3] बालक-केन्द्रित शिक्षा का बीज रूसो के इन विचारों में अंकुरित होता है।

---

1 "The individual is an entity in himself, infinitely precious, and should never be sacrificed to fit the needs of society."

2 A civilized man, said Rousseau, "is born, lives and dies in a state of slavery. At his birth he is stitched in swaddling clothes; at his death he is nailed in coffin; and as long as he preserves the human form he is fettered by our institutions."

3 What must we think, then, of that barbarous education which sacrifices the present to an uncertain future, which loads a child with chains of every sort, and begins by making him miserable in order to prepare for him, long in advance, some pretended happiness which, it is probable, he will never enjoy....The age of mirth is passed in the midst of tears, chastisement, threats, and slavery. The victim is tormented for his good."

(स) **शिक्षा का उद्देश्य :** रूसो अपने शिक्षा के उद्देश्य के कथन में व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास को बहुत महत्त्व देता है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं सामाजिक या राजनैतिक बन्धनों में जकड़े हुए व्यक्ति की कल्पना उसके लिए असम्भव थी परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वह समाज का विरोधी था अथवा समाज को नष्ट करने के पक्ष में था। रूसो समाज की स्थिति व उसकी सार्थकता का पक्षपाती था परन्तु कैसे समाज की ? वह समाज जो समानता, न्याय, स्वतन्त्रता के ऊपर आधारित है, जिसमें वर्ग भेद नहीं हैं, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व की रक्षा करती है—वह जनतंत्रीय समाज जो मानव को प्रकृति की अनुपम व अमूल्य वस्तु मानती है।[1] इसी आधार को लेकर वह शिक्षा के उद्देश्य की व्याख्या करता है। वह कहता है कि शिक्षा का उद्देश्य "किसी व्यक्ति को किसी विशेष व्यवसाय व पेशे के लिए ट्रेनिंग देना नहीं है। पहली आवश्यकता उसके लिए यह है कि वह मानव बने। प्रकृति के क्रमिक रूप में सब व्यक्तियों की समान स्थिति है और उनका सामान्य व्यवसाय मानव को प्राप्त करना है। अतः अपने एमील को मानव बनकर रहना है मैं पहले सिखलाना चाहता हूँ जिससे कि मेरे हाथों से निकलने के बाद वह चाहे मजिस्ट्रेट बने चाहे सिपाही, चाहे पादरी परन्तु प्रारम्भ में वह मानव बने।[2]

रूसो द्वारा एमील में वर्णित शिक्षा की व्यवस्था व योजना : रूसो के प्रकृतिवाद और उसकी प्रकृतिवादी शिक्षा को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसके 'प्रकृति' शब्द के अर्थ को समझ लें। 'प्रकृति' शब्द को रूसो ने एमील में तीन भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है : (1) प्रकृति का मनोविज्ञान का अर्थ जैसे कि हम कहते हैं कि शिक्षा व्यक्ति की प्रकृति के अनुकूल हो न कि किसी सामाजिक मापदण्ड को रखकर।[3] (2) दूसरा अर्थ प्रकृति का बालक की नैसर्गिक प्रवृत्तियों, भावनाओं, भावों जो मूल रूप में हैं उनसे लिया गया है। रूसो इन्हें प्रथम अनुभवों व प्रभावों का आधार मानता है। इन्हीं को विकसित होने देने का कार्य शिक्षा का है। इनके मार्ग में कोई बाधा नहीं डालनी है। कोई आदत इनके प्रवाह को रोककर नहीं डालनी है। रूसो कहता है कि मैं सिर्फ एक आदत डालने के पक्ष में हूँ।[4] (3) तीसरा

---

1 "There is a wide difference between a natural man living in a state of nature and a natural man living in a state of society. Emile is not a savage to be banished to a desert, but a savage made to live in cities."

2 "In the natural order of things all men being equal, their common vocation is manhood...To live is the trade I wish to teach him (Emile). On leaving my hands, he will not, I grant, be a magistrate, a soldier or priest. First of all he will be a man."

3 "We must choose between making a man and a citizen for we cannot make both at once."

4 फुटनोट पेज 113 पर देखिए।

अर्थ भौतिक प्रकृति का है जिसमें प्राणि-पौधों का पूरा जगत् आता है। रूसो इस जगत् में सौन्दर्य व शान्ति व नियमितता—सबका आभास पाता है। इनका स्पर्श और इनसे प्राप्त किए हुए आदर्श ही जीवन को सुखमय बना सकते हैं। शहरी जीवन रूसो की दृष्टि में नारकीय जीवन था।[1]

'प्रकृति' शब्द के इन तीन अर्थों के आधार पर आज हमारा सारा मनोविज्ञान व शिक्षा-शास्त्र खड़ा है। खैर, इस सम्बन्ध में हम आगे चलकर विचार करेंगे। प्राकृतिक शिक्षा व्यवस्था का मूलमन्त्र रूसो की नकारात्मक शिक्षा (Negative education) है। रूसो की यह व्याख्या प्रचलित विचारों के बिल्कुल उलटी थी। प्रचलित विचारधारा तो इस पर अवलम्बित थी कि मानव प्रकृति दूषित है, अतः शिक्षा द्वारा सुधार की आवश्यकता है। रूसो कहता था कि मानव प्रकृति निर्मल है अतः शिक्षा की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि व्यक्ति में गुणों को भरना है बल्कि इसलिए कि उसे दुर्गुण तथा दूषित वातावरण से दूर रखना है। प्रारम्भिक शिक्षा तो रूसो के मतानुसार बिल्कुल नकारात्मक हो यानी वह गुण न सिखावे बल्कि दुर्गुण से दूर रक्खे, सत्य न सिखावे बल्कि असत्य से दूर रक्खे, सुधार की ओर न ले जाय बल्कि भूल से बचावे.....[2] जब बालक बड़ा होगा और उसकी तर्क शक्ति का विकास होगा तब वह स्वयं निश्चित कर लेगा कि क्या अच्छा है क्या बुरा, क्या करना है और क्या नहीं करना है। प्रारम्भ में जबकि उसकी तर्कशक्ति विकसित नहीं हुई है और वह उस अवस्था में है जब उसकी मूल प्रवृत्तियाँ ही उसे प्रेरित करती हैं और उन्हीं के आधार पर उसकी समस्त क्रियाएँ चलती हैं तो उसमें शिक्षा द्वारा वह वस्तु भरने की आवश्यकता नहीं जिसके लिए उसकी विकास की अवस्था तत्पर नहीं। बचपन में तर्क करने की शक्ति सुसुप्तावस्था में है। प्राकृतिक रूप में वह अपने समय पर निकलेगी उससे पहले उसे जगाना अप्राकृतिक है। रूसो का यह कथन प्रारम्भ में शरीर रक्षा,

---

(पेज 112 का फुटनोट)

"The only habit which the child should be allowed to form is to contract no habit whatsoever."

1 "Cities are the graves of human species."

2 "The first education ought to be purely negative. It consists not at all in teaching virtue or truth, but in shielding the heart from vice and the mind from error.....Negative education does not mean idleness – on the contrary, it does not inculcate virtue but it prevents vice; it does not teach truth, but it preserves from going astray. It makes the child fit for everything that can lead it to the truth when it becomes able to understand the truth, and to the good when it becomes able to love the good."

इन्द्रियों की व शरीर के विभिन्न अवयवों की ट्रेनिंग व उनको पुष्ट बनाना, स्वतन्त्र विकास, अच्छा भोजन तथा शरीर-रक्षा आदि बातों की प्रारम्भिक शिक्षा का मूल आधार बनाता है ।

अनुशासन को यह शिक्षा प्रकृति के नियमों के अनुकूल चलाना चाहती है और रूसो का कथन है कि यदि बालक भूल करता है या किसी प्रकार अनुशासन भंग करता है तो उसे उसके प्राकृतिक परिणाम भुगतने होंगे। "यदि वह कपड़े पहनने में देर करता है तो उसे छोड़ दो और अपने साथ घूमने मत ले जाओ। यदि वह खिड़की तोड़ देता है तो उसे वहाँ बैठने दो और जुकाम हो जाने दो ; यदि वह अधिक खाता है तो बीमार होने दो..... उसे अपने कार्यों का प्राकृतिक परिणाम भुगतने दो तो प्राकृतिक शिक्षा का आदर्श पूरा होता है।"

अनुशासन में प्राकृतिक परिणाम का सिद्धान्त आगे चलकर संशोधित रूप में स्वीकार किया गया, यद्यपि रूसो के द्वारा कहे हुए रूप में उसे स्वीकार करना तो खतरे से खाली भी नहीं है परन्तु रूसो का यह विचार उसकी तत्कालीन परिस्थितियों —जिनमें बालकों का पीटा जाना व उनका अपमान करना, उनकी प्रवृत्तियों का दमन करना आदि प्रणालियाँ थीं—के प्रति घृणा व दुःख दोनों का ही परिचायक हैं।

विभिन्न स्तरों के लिए शिक्षा का कार्यक्रम : जैसा कि ऊपर कहा चुका है रूसो का 'एमील' पांच भागों में है। पहले चार भागों में एमील की बचपन से प्रौढ़ावस्था तक की शिक्षा का कार्यक्रम है और पाँचवे भाग में सोफी की शिक्षा बतलाकर रूसो स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट करता है। बालक की चार अवस्थाएँ निम्न हैं :—

(1) शैशव काल (एक वर्ष से पाँच वर्ष की अवस्था तक)
(2) बाल्यकाल (5 वर्ष से 12 वर्ष तक)
(3) किशोरावस्था-तर्क का काल (12 वर्ष से 15 वर्ष तक)
(4) प्रौढ़ावस्था (15 वर्ष से 20 वर्ष तक)

बीस वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते बालक की समस्त मूल-प्रवृत्तियाँ विकसित हो जाती हैं, उसका शरीर पुष्ट हो जाता है, इन्द्रियाँ सक्रिय हो जाती हैं, तर्क शक्ति उसे संकेत देने लगती है और वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कार्य करने को समर्थ हो जाता है।

(1) शैशवकालीन शिक्षा : ऐमील के प्रथम भाग में रूसो ने शैशव-कालीन शिक्षा का वर्णन किया है। यह काल एक वर्ष की आयु से लेकर पाँच वर्ष की आयु तक का है। प्रारम्भ में रूसो ने प्रचलित परम्पराओं और दमनात्मक परिपाटियों का घोर खंडन किया है और फिर खेल कूद, प्रकृति की स्वतन्त्रता, व्यायाम आदि की प्रशंसा की है। इस अवस्था की शिक्षा की प्रमुख विशेषता रूसो के मतानुसार शरीर की ट्रेनिंग में है। वह कहता है कि निर्बलता समस्त बुराइयों की जड़ है अतः प्रारम्भ में माँ बाप को चाहिए कि बच्चों की पुष्ट व तन्दुरुस्त बनावें। किसी प्रकार

का रोग होने पर कोई औषधि देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि (रूसो के शब्दों में), औषधि बच्चे को मार डालेगी। औषधि तभी दी जाय जब यह प्रतीत हो कि जान खतरे में है। बालक को अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार शिक्षा दी जानी चाहिए। रूसो इस बात का बहुत पक्षपाती था कि बच्चे को पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय जिससे वह खूब खेले कूदे और अपने शरीर को पुष्ट बनावे। व्यक्तिगत भेद बहुत माने रखते हैं। किसी की प्रकृति ऐसी होती है कि उसको पूर्ण आजादी चाहिए, किसी के लिये थोड़े प्रतिबन्ध की आवश्यकता हो सकती है, किसी में कुछ विशेषता होती है, किसी में कुछ। प्रत्येक अवस्था में व्यक्तिगत भेदों का ध्यान रक्खा जाना नितान्त आवश्यक है।[1]

(2) **बाल्यकाल** (5 वर्ष से 12 वर्ष तक की आयु तक) : जिस प्रकार शैशव काल की शिक्षा के वर्णन से पहले रूसो ने प्रचलित प्रणालियों का खण्डन किया है उसी प्रकार बाल्यकाल की शिक्षा के वर्णन से पहले भी उसने उस अवस्था में दी जाने वाली तत्कालीन शिक्षा-पद्धतियों का खण्डन किया है। रूसो के समय में व्याकरण की शिक्षा पर बहुत जोर था और पढ़ाने की समस्त-पद्धतियाँ दमनात्मक थीं। उसने उन पद्धतियों का विरोध करते हुए लिखा है, कि उस शिक्षा से क्या मतलब जो बालक के ऊपर जबर्दस्ती थोपी जाती है, जिसमें उसकी कोई रुचि नहीं और जो उसकी शक्ति व रुचि के प्रतिकूल है। यह तो जानवरों की सी शिक्षा हो गई, जिन्हें शिक्षा देने के लिए मानव अपना मतलब देखता है। यद्यपि जानवरों से और मनुष्यों की शिक्षा का अभिप्राय एक ही है। हम घोड़े को यदि स्वतन्त्र छोड़ दें तो वह अपनी इच्छानुसार चलता है—कभी किसी चाल से चलता है और कभी किसी चाल से। परन्तु हमें इससे सन्तोष नहीं होता और हम उसे अपनी इच्छा से चाल चलना सिखाते हैं। यह प्रकृति के नियम के साथ लड़ना है और अन्याय है। बालकों को जो शिक्षा हम देते हैं वह उनकी इच्छा व रुचि के अनुकूल नहीं होती बल्कि हम अपनी इच्छा व आदतों को उनके ऊपर थोपना चाहते हैं—यही अन्याय है। आवश्यकता इस बात की है कि हम बालक की इस अवस्था की आवश्यकताओं और उसकी शक्तियों को समझें और उनके अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करें। रूसो की दृष्टि में तत्कालीन विधियाँ सब मिथ्या तथा हास्यास्पद थीं।[2]

---

1 "One nature needs wings, another shackles; one has to be flattered, another to be intimidated. One man is made to carry human knowledge the farthest point; another may find the ability to read a dangerous power."

2 "Education is the same thing for man and for beast. It can be reduced to two principles; to learn to put up with injustice, to learn to endure *ennui*. What does one do when one breaks

(शेष पेज 116 पर देखिए)

रूसो का मत है कि शैशव काल में शरीर को दृढ़ करने के उपरान्त इंद्रियों की शिक्षा की आवश्यकता होती है अतः बाल्यकाल में ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे इन्द्रियों की शिक्षा हो सके। अतः तैरना, ऊँची कूद, लम्बी कूद, दौड़ना, माप तौल करना, लम्बे-लम्बे सफर करना, ऊँचाई देखना व नापना, संगीत सुनना व गाना आदि अन्य प्रकार की विभिद्ध क्रियाओं द्वारा बालक की ज्ञानेन्द्रियों को खूब ट्रेनिंग दी जाय। किसी भी प्रकार की बौद्धिक शिक्षा—पुस्तकीय ज्ञान अथवा लिखना पढ़ना सिखाना—आदि की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस अवस्था में सिर्फ इन्द्रियों की शिक्षा की ही जरूरत है।

(3) **किशोरावस्था-तर्क का काल** (12 से 15 साल तक) : इस अवस्था में रूसो के मतानुसार अनियमित शिक्षा प्रारम्भ होनी चाहिए। इस अवस्था को रूसो तर्क की अवस्था कहता है। प्रारम्भ में रूसो वाल्टेयर के तर्कवाद का घोर विरोधी था परन्तु बाद में उसने अपनी भूल का अनुभव किया और वह तर्क पर भी जोर देने लगा। परन्तु रूसो का तर्क शक्ति का सिद्धान्त अलग है। वह कहता है कि शैशव काल तथा बाल्यकाल में तो तर्क शक्ति सुसुप्तावस्था में रहती है परन्तु किशोरावस्था में बालक की उत्सुकता में वृद्धि होती है तथा उसमें अधिक शक्ति का भी संचार होता है जिसके फलस्वरूप तर्क शक्ति का विकास होता है। इस अवस्था में बालक को शिक्षा दिया जाना आवश्यक है। परन्तु तीन साल में अधिक शिक्षा नहीं दी जा सकती। इसलिए जो आवश्यक विषय हैं उनको चुनना होगा। रूसो के मतानुसार इस अवस्था में प्राथमिकता भूगोल तथा नक्षत्र शास्त्र को दी जानी चाहिए क्योंकि ये प्रकृति के प्रत्यक्ष ज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं। उनके बाद भौतिक विज्ञान तथा कृषि व हस्तकलाओं की शिक्षा दी जाय। इतिहास व धर्म शास्त्र आदि पढ़ाने की जरूरत नहीं है। पुस्तकीय ज्ञान निरर्थक है। प्रत्यक्ष अनुभव से शिक्षा दी जानी चाहिए।

शिक्षा पद्धति के विषय में रूसो का कथन है कि दमनात्मक पद्धतियाँ किसी भी स्तर पर प्रयोग में न लाई जाएँ। मस्तिष्क को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने के लिए प्रेरणा दी जाय और किसी भी रूप में उसकी स्वतन्त्र गति को अवरुद्ध न

(पेज 115 का शेष)

in a horse ? Left to himself the horse ambles, trots, gallops, walks, but he does it when he wishes, as he pleases. We teach him to move thus or thus, contrary to his own desire, against his own instinct—here is the injustice, we make him keep on at it for a couple for hours – there is the *ennui*. It is just the same thing when we make a child learn Latin, Greek or French.....All present methods of teaching children necessary knowledge are false and ridiculous."

किया जाय। बच्चे को कोई बात बतलाई न जाय बल्कि उसे स्वयं ढूढने के लिए प्रेरित किया जाय। वह अपनी बुद्धि और अपनी शक्ति के ऊपर निर्भर करे। शब्दों के ज्ञान से पहले वस्तु ज्ञान आवश्यक है। रूसो के ये कथन आधुनिक शिक्षा में प्रयोग-विधि, ह्यूरिस्टिक विधि, तथा क्रिया-विधि के आधार बने हुए हैं और शिक्षा में स्वतन्त्र अनुभव, प्रत्यक्ष अनुभव तथा जनतन्त्रीय व्यवस्था के आधार रूप हैं।

(4) **प्रौढ़ावस्था** (15 **वर्ष से** 20 **वर्ष तक**) : एमील के प्रथम तीन भागों में रूसो ने शैशवकाल, बाल्यकाल तथा किशोरावस्था की शिक्षा की योजना की चर्चा की है और शरीर, इन्द्रियों तथा मस्तिष्क की शिक्षा की क्रमशः उसने व्याख्या की है। इन तीनों की शिक्षा हो जाने के उपरान्त आवश्यकता नैतिक शिक्षा की है जिसकी आवश्यकता प्रथम तीन अवस्थाओं में नहीं है। इस अवस्था में इसकी विशेष आवश्यकता है और इस प्रकार शिक्षा का क्रम इसे देने के उपरान्त पूरा हो जाता है। प्रौढ़ावस्था में आकर स्त्री तथा पुरुष दोनों में स्त्री पुरुष सम्बन्धी प्रवृत्ति का विकास हो जाता है और यह आवश्यक है कि अब युवक को नैतिक और सामाजिक शिक्षा दी जाय, जिससे कि उसकी शक्ति अवांछनीय मार्गों में न चली जाय। रूसो नैतिक शिक्षा को प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा देने के पक्ष में है। वह कहता है कि एमील को अस्पतालों, जेलखानों, अनाथालयों आदि को दिखाया जाय, जहाँ जाकर वह मानव के दुष्कर्मों के उसको जो परिणाम भुगतने पड़ते हैं उनको देखें साथ ही साथ उसमें उन्हें देख कर सहानुभूति, उनके लिए दया व प्रेम की भावना जागे जिससे वह स्वयं अपने को सुधारें। प्राकृतिक शिक्षा व उस आधार पर स्थित शिक्षा का रूसो इतना पक्षपाती था कि उसने यहाँ तक कहा कि यदि एमील दम्भ अथवा अहंकार का भाव दिखावे तो उसे चापलूसों, ठगों व मिथ्या खर्च करने वालों के चक्कर में थोड़े समय के लिए डाल दो और अपने कर्म के परिणाम भुगतने दो।

(5) **स्त्री शिक्षा** : एमील के पांचवें भाग में रूसो ने स्त्री शिक्षा के ऊपर अपने विचार प्रगट किए हैं। उसने एक लड़की की कल्पना की है जिसका नाम सोफी है और चूंकि एमील अब बीस वर्ष का हो गया है और उसकी शारीरिक, बौद्धिक व नैतिक शिक्षा हो चुकी है अतः उसको अब शादी कर लेने की भी आवश्यकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि वह लड़की जिससे एमील की शादी हो कैसी हो जिससे दोनों का जीवन सुखमय हो? रूसो जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं तत्कालीन समाज व्यवस्था का पक्का विरोधी था और वह इस बात की कल्पना करता है कि एक अच्छा समाज बनाने के लिए एक अच्छा घर बनाने की आवश्यकता है और एक अच्छा घर तभी बन सकता है जब पुरुष और स्त्री—दोनों अपनी-अपनी जिम्मेदारी निभावें और उनको निभाने की क्षमता प्राप्त करें। रूसो के मतानुसार स्त्री पुरुष की मातहत है और उसका धर्म अपने पति को प्रसन्न रखना है तथा गृहकार्य में दक्षता प्राप्त करना है। पेरिस की फैशनेबुल महिलाओं को देख उसने यह भयंकर निष्कर्ष निकाला कि अधिक शिक्षा स्त्रियों के स्त्रीत्व के लिए अहितकर है। स्त्री का वास्तविक

स्थान घर के अन्दर है—बच्चों को ट्रेनिंग देना, घर का काम काज करना, अपने पति को खुश रखना—यही उनका धर्म है। अधिक शिक्षा उनके लिए हानिकर है। प्रारम्भ में उन्हें शरीर पुष्ट बनाने के लिए, फिर इन्द्रियों को शिक्षित करने के लिए तथा शारीरिक सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए शिक्षा दी जाय। सीना पिरोना, कसीदे का कार्य, संगीत, नृत्य, गृह-कार्य आदि की शिक्षा आवश्यक है। धर्म तथा नीति की शिक्षा उनको नम्र तथा उदार बनाने के लिए आवश्यक है। लेकिन अधिक शिक्षा देना उनके लिए व्यर्थ है। रूसो के शब्दों में "स्त्रियों की सारी शिक्षा पुरुषों के हितों से सम्बन्धित हो। उनको खुश करना, उनके लिए सहायक सिद्ध होना उनका प्रेम पात्र तथा उनसे सम्मानित होना, उनकी हिफाजत करना, उनके जीवन को मधुर बनाने के लिए उन्हें ढाढस बँधाना—ये स्त्रियों के धर्म है और उनको बचपन से उन्हें इस योग्य बनने को शिक्षा दी जाय"।

रूसो के स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में विचार-आधुनिक सभ्य समाज में हरगिज स्वीकृत नहीं हो सकते और वे तर्क पर आधारित है भी नहीं। प्रत्यक्ष रूप में वे उसकी भावुकता के उद्‌गार हैं। अन्यथा कोई कारण नहीं कि वह इतना भयंकर वाक्य लिखे कि एक शिक्षित नारी अपने परिवार, मित्रों बच्चों, व नौकरों—सबके लिए दुखदायी बीमारी है।[1]

रूसो के लेखों को पढ़कर हम स्तम्भित रह जाते हैं और उसके विचारों से सहमत न होते हुए भी हम उसकी प्रशंसा करते हैं। स्त्री शिक्षा के सम्बन्धों में ही आधुनिक मस्तिष्क रूसो की दुर्बल विचार-धारा का संकेत नहीं करता परन्तु उसके अन्य विचारों में भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जो हमें उससे सहमत होने के लिए प्रेरित नहीं करतीं। उसकी विशृंखल विचार-धारा उसकी भावुकता, उसके संस्कार तथा उसका प्रकृति प्रेम उसे एक अनोखा व्यक्तित्व देते हैं और उसे तत्कालीन समाज व समस्त राजनैतिक व सामाजिक संस्थाओं का विरोधी बताते हैं। सारी सभ्यता का खण्डन करके, सब परिपाटियों व प्रथाओं एवं परम्पराओं का विरोध कर रूसो अपनी व्यापकता का नहीं बल्कि संकीर्णता का कहीं-कहीं कटु परिचय देता है। हम बहुतसी ऐतिहासिक परिपाटियों व संस्थाओं को विकृत मान सकते हैं परन्तु बुद्धिमानी उनको पूर्णरूप में नष्ट करने में नहीं है बल्कि उनमें उतना अंश नष्ट करने में है जितना परिस्थितियों के प्रतिकूल है। रूसो का यह नारा कि चालू प्रथा को समाप्त कर दो, प्रकृति के क्षेत्र में जाओ, आधुनिक सभ्यता एक भूल है.....आदि आदि—उसके विचारों के उग्ररूप के प्रतीक हैं परन्तु वस्तुतः मान्य नहीं हैं। फिर भी रूसो ने जितना राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में घटनाओं को मोड़ दिया और जिस प्रकार उसके विचारों ने जनतन्त्रीय युग की ओर मानव को अग्रसर किया वह

---

[1] "A woman of culture is the plague of her husband, her children, her family, her servants—everybody"

पिछली दो शताब्दियों के इतिहास से स्पष्ट है। शिक्षा में उसके विचार स्तम्भ शिला बन गए हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में उसकी विचार-धारा ने तीन प्रमुख धाराओं को जन्म दिया जिनका हम पहले संकेत कर आए हैं और जिनके सम्बन्ध में हम विस्तार में आगे विचार करेंगे।

रूसो का स्थायी प्रभाव : शिक्षा में रूसो के स्थायी प्रभाव का हम निम्न प्रकार से विश्लेषण कर सकते हैं :—

(1) शिक्षा के उद्देश्यों, व्यक्तित्व के विकास का महत्व, व्यक्ति को स्वतन्त्रता उसकी नैसर्गिक शक्तियों व मूल प्रवृत्तियो का प्राकृतिक रूप में विकास।

(2) शिक्षण पद्धतियों में दमनात्मक विधियों का खंडन।

(3) बालक–केन्द्रित शिक्षा जिसमें बालक के व्यक्तित्व का सम्मान तथा उसकी शक्ति, रुचि व योग्यता के अनुकूल शिक्षा।

(4) बालक के विकास स्तर-विभिन्न स्तरों की आवश्यकताएँ तथा उनके अनुकूल शिक्षा। बालक प्रौढ़ का लघुरूप नहीं है।

(5) प्रारम्भिक शिक्षा में शरीर को पुष्ट बनाने तथा फिर इन्द्रियों की ट्रेनिंग पर जोर।

(6) शिक्षा की प्रक्रिया बालक के क्रमिक विकास का रूप।

(7) शिक्षा में प्रत्यक्ष अनुभव, क्रिया करके सीखना, प्राकृतिक नियमों के अनुकूल शिक्षा विधि बनाना—इन पर जोर।

(8) पाठ्यक्रम बालकों की रुचि के अनुकूल हो तथा पाठ्य-वस्तु अरुचिकर न हो।

(9) शब्द ज्ञान से पहले वस्तु ज्ञान की आवश्यकता।

(10) पुस्तकीय ज्ञान का खण्डन और प्रकृति-ज्ञान का महत्त्व।

(11) व्यक्तिगत भेदों की मान्यता, मूल प्रवृत्तियों व भावों को प्रस्फुटित होने की स्वतन्त्रता। रूसो के लेखों ने पूरे मनोविज्ञान के क्षेत्र को विस्तृत बनाकर उसके अध्ययन को भारी प्रोत्साहन दिया।

(12) वर्तमान की आवश्यकताएँ भविष्य की आवश्यकताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। भविष्य अनिश्चित है। शिक्षा भविष्य के लिए नहीं वर्तमान के लिए भी आवश्यक है। शिक्षा जीवन है।

(13) नीति व चरित्र की शिक्षा प्रत्यक्ष अनुभव व अभ्यास के आधार पर हो न कि उपदेशों द्वारा (Example and not precept)

(14) अनुशासन दमनात्मक तरीकों से न रक्खा जाय बल्कि प्राकृतिक परिणामों के रूप में हो।

(15) शिक्षा की प्रक्रिया ज्ञान को अन्दर से बाहर निकलने की है ऊपर से थोपे जाने की नहीं है।

रूसो के विचारों का आधुनिक शिक्षा जगत् में बहुत सम्मान है। उसकी बालक-केन्द्रित शिक्षा का विचार आधुनिक शिक्षा-शास्त्र का मूलमन्त्र बन गया है।[1]

सारांश

प्रकृतिवाद के अध्ययन में उसके दो रूपों का ध्यान रखना है जो प्रकृति शब्द की व्याख्या के आधार पर हैं : (1) प्रकृति सृष्टि के रूप में और (2) प्रकृति मानव की या अन्य प्राणी की प्रकृति के रूप में। दोनों का शिक्षा में विशेष महत्त्व है।

आधुनिक शिक्षा में प्रकृतिवाद का बहुत प्रभाव है परन्तु आधुनिक प्रकृतिवाद बहुत व्यापक है। आधुनिक प्रकृतिवाद आदर्शवाद के समीप है। भिन्नता केवल अन्तिम लक्ष्यों में है, मार्ग व प्रक्रियाओं में नहीं।

दर्शन के रूप में प्रकृतिवाद पदार्थ की वास्तविकता में विश्वास करता है। सब वस्तुएँ व सारी सृष्टि पदार्थ के ही रूप हैं और उसी में मिल जाते हैं। इसके ऊपर कोई सत्य नहीं है। आदर्शवाद से यहाँ इसका मतभेद है। पदार्थ की सत्यता, मस्तिष्क को दिमाग की क्रिया, शरीर रक्षा की प्रधानता, इन्द्रिय ज्ञान की कठोरता विज्ञान की ज्ञान-प्राप्ति में प्रभुता, स्थापित कर प्रकृतिवाद एक व्यापक दर्शन के रूप में आज अपना प्रभाव दिखला रहा है।

प्रकृति के तीन रूप हैं : (1) भौतिक विज्ञानवादी प्रकृतिवाद (2) यन्त्रवादी प्रकृतिवाद (3) जीवविज्ञानवादी प्रकृतिवाद। प्रथम का शिक्षा में कोई महत्त्व नहीं। दूसरे ने व्यक्तिवादी मनोविज्ञान को जन्म दिया। तीसरे का विस्तृत प्रभाव है

शिक्षा में प्रकृतिवाद बालक की प्रकृति का अध्ययन तथा उसके अनुकूल शिक्षा बनाना, परम्परागत, कठोर एवं रूढ़िवादी प्रणालियों को त्याग कर प्रगतिशील प्रणालियों को अपनाना, प्रत्यक्ष अनुभव व बालक के सम्पूर्ण अनुभव के आधार पर शिक्षा योजना व पाठ्यक्रम बनाना, बालक, केन्द्रित शिक्षा, दमनात्मक प्रथाओं का विरोध, विकास के लिए स्वतन्त्रता व वातावरण का नियंत्रण—यह सब प्रकृतिवाद की देन है। कृत्रिमता, रूढ़ि, परम्परा, दिखावा—इनका खण्डन कर प्राकृतिक नियम व रूप को अपनाना-प्रकृतिवाद का सूचक है।

प्रकृतिवाद की आलोचना भी होती है और उसमें प्रमुख विषय प्रकृतिवादी दृष्टिकोण का अत्यधिक पदार्थवाद पर जोर है। मानव का शरीर रक्षा और भौतिक जीवन को सुन्दर बनाने के परे दूसरा लक्ष्य भी है जिसे आदर्शवाद अधिक महत्त्व देता है पदार्थवाद नहीं। वही लक्ष्य मानव को मानव बनाता है।

आधुनिक प्रकृतिवाद बहुत व्यापक है और वह प्रकृतिवाद कहा जा सकता है जो शिक्षा में प्रगतिशील विचार-धाराओं को मानता है।

---

[1] "Made theory by Rousseau, made practice by Pestalozzi, sypmpathy with the child, intellectually, morally, personally, has come to be recognised as an essential in the educative process." [*Monroe Paul* : A Brief Course in the History of Education]

ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक प्रकृतिवाद का जन्म १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ। इसका जन्मदाता रूसो था। रूसो राजनैतिक ही नहीं बल्कि शैक्षिक क्रान्तिकारी भी था। उसके राजनैतिक विचार 'सोशल कन्ट्रेक्ट' (Social Contract) तथा शैक्षिक विचार 'ऐमील' (Emile) नामक पुस्तकों में हैं जिन्होंने फ्रान्स में ही नहीं बल्कि सारे विश्व में क्रान्ति को जन्म दिया। प्रकृतिवाद के जन्म के बाद ही मध्यकालीन विचारों का बिल्कुल लोप हो गया। स्वतन्त्रता, व्यक्तित्व का सम्मान, मानव विश्व की अमूल्य सम्पत्ति, समानता—ये रूसो के नारे थे जिन्होंने उसकी प्रभाव पूर्ण भाषा में व्याख्या पाकर सारे यूरोप को ही हिला दिया और एकतन्त्रीय व्यवस्थाओं को समाप्ति कर जनतन्त्रीय व्यवस्था की ओर मानव समाज को मोड़ा।

शिक्षा में रूसो की महती देन है। वह शिक्षा शास्त्री नहीं था। उसका ज्ञान उसके भावों व अनुभवों की उपज थी न कि उसके अध्ययन व चिन्तन की। रूसो अत्यन्त भावुक था और उसकी यह भावुकता उसके लेखों में स्पष्ट झलकती है। बालकेन्द्रित शिक्षा, और उसके सिद्धान्त रूसो की परम देन है। वह स्वयं शिक्षक नहीं था, अतः व्यवहार में अपने सिद्धान्तों को न लाया, परन्तु उसके बाद उसके इस मूल सिद्धान्त पर पेस्तालॉजी तथा अन्य शिक्षकों ने सारा शिक्षा शास्त्र खड़ा कर दिया। रूसो का नाम शिक्षा के इतिहास में अमर है।

७

शिक्षा में प्रयोगवाद व जॉन ड्यूई

प्रयोगवाद आधुनिक शिक्षा में प्रगतिशील शिक्षा का प्रतीक माना जाता है। प्रगतिशील शिक्षा का दूसरा प्रतीक व्यापक अर्थ में आधुनिक प्रकृतिवाद भी है। इस शिक्षा की कई विशेषताएँ हैं। सर्वप्रथम यह शिक्षा बालक की स्वतन्त्रता पर जोर देती है। स्वतन्त्रता का अर्थ निरंकुशता या उद्दण्डता नहीं है। स्वतन्त्रता मानवीय स्वतन्त्रता है और अपनी और दूसरों की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध के रूप में व्यक्ति को प्राप्त है। तभी व्यक्ति अपना और समाज का हित कर सकता है। प्रगतिशील शिक्षा बालकों की रुचियों और उनकी अभिरुचियों के अनुकूल शिक्षा देने में विश्वास करती है। आधुनिक काल में पाठ्यक्रम तथा शिक्षण-पद्धतियों को ऐसा बनाना कि व्यक्तिगत बालक उनसे अपनी इच्छानुसार लाभ उठा सके प्रगतिशील शिक्षा के दृष्टिकोण का परिचायक है। तीसरी बात जिस पर यह शिक्षा जोर देती है वह है समाजहित। जनतन्त्रीय व्यवस्था में व्यक्ति और समाज के हितों का समन्वय बहुत आवश्यक है। कोई किसी के ऊपर नहीं है। व्यक्ति को स्वतन्त्रता देते हुए प्रगतिशील शिक्षा उसको समाजहित से ऊँचा नहीं उठाती। वह दोनों को बराबर रखती है जिससे व्यक्ति अपना कल्याण करता हुआ समाजहित में भी अपना पूरा योग दे सके। परिवर्तन प्रगति के लिए आवश्यक है। प्रगति का स्वरूप किसी न किसी प्रकार के परिवर्तन के होने पर ही मालूम पड़ता है। परिवर्तन नवीन परिस्थितियों को जन्म देता है और उनकी नई-नई आवश्यकताएँ होती हैं। अतः प्रगतिशील विचारधारा के अनुसार शिक्षा में कोई स्थिर उद्देश्य नहीं है। परिस्थितियों और परिवर्तित नवीन आवश्यकताओं के अनुसार उद्देश्य भी बदलते रहते हैं। एक उद्देश्य हमेशा के लिए हितकर नहीं हो सकता। प्रकृतिवाद तथा आदर्शवाद दोनों से मौलिक रूप में यहाँ प्रयोगवाद की भिन्नता है।

प्रगतिशील शिक्षा क्रिया द्वारा सीखने, अनुभव द्वारा प्रत्यक्ष रूप में ज्ञान प्राप्त करने तथा वास्तविकता की जाँच करने, तथा निरन्तर विकास करने में विश्वास करती है। इसके अन्तर्गत शाश्वत व सर्वदा के लिए निश्चित उद्देश्यों के लिए स्थान नहीं है। शिक्षा के उद्देश्य क्रिया के रूप में ही हैं। जब एक क्रिया व्यवस्थित रूप में

प्रारम्भ होकर समाप्त हो जाती है और इसकी क्रिया प्रारम्भ हो जाती है तो एक उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है।[1] अतः प्रगतिशील शिक्षा इस बात में विश्वास नहीं करती है कि शिक्षा के उद्देश्य किसी मार्ग पर चलते-चलते उसके किनारे पर मिलेंगे। शिक्षा के उद्देश्य तो मार्ग में ही हैं, आप चलते जाएँ और जैसे-जैसे आप बढ़ते जायँ वैसे-वैसे आपको कुछ-कुछ उद्देश्य-प्राप्ति होती जायगी। एक मंजिल पार कर दूसरी का मार्ग साफ हो जाता है।[2] प्रयोगवाद इस प्रगतिशील शिक्षा का एक प्रमुख रूप है और आधुनिककाल में शिक्षा में उसका बहुत प्रभाव है।

प्रयोगवाद-अर्थ व्याख्या

प्रयोगवाद (अंग्रेजी में Pragmatism) शब्द का सम्बन्ध एक यूनानी भाषा के शब्द से है जिसका अर्थ है क्रिया (action)। शाब्दिक अर्थ के अनुसार प्रयोगवाद उस विचारधारा का सूचक है जो क्रिया की प्रधानता में विश्वास करती है। क्रिया आधार है उससे जन्य अनुभव और तब विचार या चिन्तन आते हैं। सिद्धान्त और व्यवहार रूप में प्रयोगवाद व्यवहार रूप को प्रधानता देता है। इस विचार-धारा के अनुसार सत्य की खोज में व्यक्ति का अनुभव प्रधान है। उसी के आधार पर वह अपने लिए गुणों व तत्वों की खोज करता है। गुण या तत्व स्वयं में स्थित नहीं हैं। यदि उनकी खोज नहीं हो पाई है और व्यक्तित्व के अनुभव से वे सिद्ध नहीं हो गए हैं तो उनकी कोई स्थिति नहीं है। इस प्रकार, जैसा कि हम पिछले एक अध्याय में कह चुके हैं, प्रयोगवाद मानव-अनुभव-केंद्रित दर्शन है। मानव के अनुभव ने जो सत्य सिद्ध कर लिया वह सत्य है और जो असत्य पाया वह असत्य। मानव का अनुभव ही भला या बुरा, संगत या असंगत, न्याय या अन्याय, गुण या अवगुण—इन सबका सिद्धि-कर्ता है। अपने में न कुछ सत्य है न असत्य, न अच्छा न बुरा। जो आज की परिस्थितियों में सार्थक है वह कल निरर्थक भी हो सकता है। सत्य हमेशा के लिए स्थिर नहीं है। वही सत्य है, वही अच्छा है जो सत्य अच्छा सिद्ध हो जाता है। इस परिवर्तनशील जगत् में अपरिवर्तनशील विचार भ्रमात्मक हैं, उनको भी परिस्थितियों के अनुकूल बदलना है। प्रयोगवाद इस प्रकार एक प्रगतिशील विचार-धारा में विश्वास करता है।

प्राचीन काल में यूनान में सोफिस्ट विचारक मानव को बहुत मूल्य देते थे। उनका कहना था कि मानव ही सब वस्तुओं का मापदण्ड है (Man is the mea-

---

1 "Progressive education is not progressive because it is making steady advance towards some definite goal but because it is growing in whatever direction a novelly emerging future promises development." [*Brubacher, John* : Modern Philosophies of Education, ed. 1950, p. 301]

2 .....educational ends are not termini to the road of education, but they are, paradoxically enough, employed as means or instruments for finding the way." - [*Ibid* : p. 301]

sure of all things)। प्रयोगवाद उसी विचार-धारा का रूप है। मानव के अनुभव और उसकी क्रियाओं को मूल्य देकर प्रयोगवाद एक मानवीय दर्शन (human philosophy) का रूप धारण करता है।

आधुनिक प्रयोगवाद की व्याख्या

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह अनुभव किया गया कि फ्रॉबेल, पेस्टालॉजी, हर्बार्ट, इमर्सन आदि शिक्षा शास्त्रियों के शैक्षिक विचारों के व्यवहार में लाने में कठिनाइयाँ हैं। उसके कई कारण थे। निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा उनमें एक थी। उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते वह अनुभव किया जाने लगा कि राज्य की ओर से इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। इधर वैज्ञानिक अविष्कारों ने भी जोर पकड़ा और विज्ञान की शिक्षा पर जोर दिया जाना प्रारम्भ हुआ। नए-नए व्यवसाय खुले जिनके लिए ट्रेनिंग की आवश्यकता पड़ी। मनोविज्ञान में काफी प्रगति हुई और शिक्षा की पद्धतियों को मनोविज्ञान के आधार पर पुनर्निमित करने की आवश्यकता हुई। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व शैक्षिक सभी क्षेत्रों में परिवर्तन होने लगे और विज्ञान की उन्नति के कारण जीवन का ढंग ही परिवर्तित होने लगा। वैज्ञानिक दृष्टिकोण लोगों को रुचिकर होने लगा और अवैज्ञानिक में से आस्था हट गई। इन बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल शिक्षा में परिवर्तन करने के लिए आवाज उठी। साथ ही शिक्षा-दर्शन को नया रूप देने की माँग ने जोर पकड़ा। परम्परागत शिक्षा व्यवस्था, शिक्षा विधियाँ नई आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल प्रतीत होने लगीं। परिणाम यह हुआ कि विभिन्न देशों में विभिन्न विचारों व दृष्टिकोणों का जन्म हुआ। अमेरिका में प्रयोगवाद ने जन्म लिया। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्रयोगवाद के अलावा अमेरिका में और किसी विचार-धारा ने प्रभाव नहीं डाला। वास्तव में अमेरिका में बहुत से ऐसे दार्शनिक भी हुए जिन्होंने आदर्शवाद का पक्ष लिया, जैसे जोनाथन एडवर्डस, आर० डब्ल्यू० इमर्सन, जोशिया रौयस आदि। कुछ ऐसे विचारक भी हुए जिन्होंने अपने विचारों में आदर्शवाद तथा प्रयोगवाद का समन्वय स्थापित किया जैसे वेन्जामिन फैन्कलिन तथा टामस जैफर्सन। कहने का तात्पर्य यह है कि समय की गति व परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार शिक्षा में जो परिवर्तन करने की आवश्यकता समझी गई, उसके सम्बन्ध में विभिन्न देशों में विभिन्न विचार-धाराओं ने जन्म लिया और चूँकि प्रयोगवाद के प्रमुख प्रवर्तक विलियम जेम्स और जॉन ड्यूई अमरीका के थे अतः प्रयोगवाद का जन्म-स्थान अमरीका रहा। आज प्रयोगवाद का शिक्षा में बहुत प्रभाव है, यद्यपि इस विचार-धारा के सम्बन्ध में भी आलोचना काफी होती है। परन्तु आलोचना का विषय उसका दार्शनिक रूप है व्यवहार रूप नहीं। हम पहले कह चुके हैं कि व्यवहाररूप में आधुनिक प्रकृतिवाद, प्रयोगवाद तथा आदर्शवाद बहुत भिन्न नहीं हैं। वे आज बहुत व्यापक अर्थ

में प्रयोग लाए जाते हैं। उनके मतभेद दार्शनिक रूप में हैं, व्यवहाररूप में नहीं। यदि हैं तो उनके समन्वय की ओर ही शिक्षा शास्त्रियों का प्रयत्न है।

जैसा कि पिछले एक अध्याय में हम कह आए हैं प्रयोगवाद 'बहुवादी' (Pluralistic) विचारधारा का द्योतक है। प्रकृतिवाद तथा आदर्शवाद तो एकवादी (Monistic) है, क्योंकि वे एक सत्य में विश्वास करते हैं—एक पदार्थ के रूप में और दूसरा आत्मा के रूप में। परन्तु प्रयोगवाद उसी सत्य में विश्वास करता है जो सत्य सिद्ध हो जाता है। उसके अनुसार अनेक सत्य हैं। मानव अनुभव प्रधान है जो उसके द्वारा सत्य सिद्ध हो जाता है, वही सत्य है। सत्य निश्चित नहीं है, बल्कि यह निश्चित किया जाता है कि क्या सत्य है। उसका आधार विचार या तर्क या दर्शन नहीं, बल्कि मानव का अनुभव है। प्रकृति मानव की क्रियाओं का क्षेत्र है! और मानव में क्रियात्मक शक्तियाँ हैं जो अपने अनुभव के द्वारा सब छाँट लेती हैं कि क्या सत्य है, क्या असत्य, क्या हितकारी है क्या अहितकारी, क्या लाभदायक है और क्या हानिप्रद ... आदि।

प्रयोगवाद इस दृष्टि से दर्शन नहीं कहा जा सकता। यह केवल एक विचार-धारा है जो व्यवहार के आधार पर उसके सिद्धान्त रूप को प्रगट करती है। विलियम जेम्स जो इसका प्रमुख विचारक था अपने लेखों में खुद कहता है कि यह एक प्रकार की विधि (method) है। यह किसी दार्शनिक विचारधारा की तरह जीवन के दर्शन के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता। प्रयोगवाद तो केवल एक प्रकार की मनोवृत्ति है जिसका मूल आधार मानव का अनुभव है और जो उसी के आधार पर प्रत्येक वस्तु, विचार व क्रिया की व्याख्या करता है।[1] हम पहले भी कह चुके हैं कि प्रयोगवाद मानव-अनुभव केन्द्रित विचारधारा है जो परिणामों या निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए एक विशेष प्रकार की विधि पर जोर देती है और वह विधि है क्रिया व अनुभव के आधार पर सिद्धान्त निरूपण। प्रयोगवादी विधि के अनुसार चिन्तन व तर्क एक मनोवैज्ञानिक आधार पर खड़े हो जाते हैं। प्रयोग सब मामलों में प्रमुखता लेता है और प्रयोग के आधार पर ही सत्य व असत्य साबित होते हैं। हमारे निर्णय, निष्कर्ष, नैतिक भाव व विचार, विश्वास—ये सब प्रयोग के आधार पर ही अवलम्बित हैं। अनुभव के द्वारा उनको उपयोगिता सिद्ध होने पर ही उनको वह संज्ञा दी जाती है। यदि अनुभव ने उनको अनुपयोगी साबित किया तो वे

---

1 There is absolutely nothing new in the pragmatic method." It is just "an empiricist attitude". "It has no dogmas, and no doctrines, save its methods"....."The pragmatic method is to try to interpret each notion by tracing its respective practical consequence". [*William James*; Lectures on Pragmatism]

निरर्थक ही हैं। स्वतन्त्र रूप में सत्य कुछ नहीं हैं। अपने निर्णयों को जो मूल्य हम देते हैं उसी का नाम सत्य है।[1]

प्रयोगवाद प्रकृतिवाद के यन्त्रवादी रूप का विरोध करता है। विज्ञान के क्षेत्र में कारण और परिणाम का क्रम चलता है। प्रत्येक वस्तु के कारणरूप की वैज्ञानिक आधार पर व्याख्या हो सकती है परन्तु मानव के जगत् में परिणाम का स्रोत वैज्ञानिक कारण नहीं है बल्कि मानव का अभिप्राय है। प्रकृतिवाद और प्रयोगवाद में यहाँ भिन्नता स्पष्ट है। प्रकृतिवाद प्रकृति-केन्द्रित है और प्राकृतिक नियम से आधार पर वस्तु की व्याख्या करता है। प्रयोगवाद मानव अनुभव केन्द्रित है और मानव के अभिप्राय को अधिक मूल्य देता है।[2] इस रूप में प्रयोगवाद आदर्शवाद के निकट आ जाता है। प्रयोगवाद जीवन के प्रति प्रकृतिवादी दृष्टिकोण का खण्डन करता है। जेम्स कहता है कि भौतिक रूप केवल एक आंशिक रूप है। भौतिक रूप के अलावा आध्यात्मिक रूप भी है परन्तु उस रूप को हम समझ नहीं सकते क्योंकि उसे समझने के लिए हमारे पास कोई माध्यम नहीं है। इसलिए उसे केवल विश्वास पर ही स्वीकार कर सकते हैं। चूँकि मानव के अनुभव के वह बाहर है अतः उसको हम अनुभव के आधार पर नहीं जान सकते। चिन्तन या तर्क का आधार व्यर्थ है। जिस चिन्तन और तर्क का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं है वह निरर्थक है। शिलर (Schiller) जो प्रयोगवाद का दूसरा प्रमुख विचारक है कहता है कि "वह तर्क जिसका कोई व्यवहार की दृष्टि से मूल्य नहीं एक मानसिक प्रमाद है;', और वह स्वतः ही नष्ट हो जावेगा।[3] सार्थक बात वह है जिसका व्यवहार की दृष्टि से मूल्य है और जिसकी जड़ मानव के अनुभव और उनकी उपयोगिता में है।

प्रयोगवाद इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टिकोण का जो कारण और परिणाम के सिद्धान्त पर अवलम्बित है व्यक्ति की क्रियाओं की दृष्टि से खण्डन करता है और कहता है कि मानव की समस्त क्रियाओं का आधार उसका अभिप्राय है और क्रियाओं

---

1 According to William James, "truth is not an independent or real thing or substance, but a value attached to judgment. A judgment or an opinion, as such, acquires for us the character of truth only in so for as it is evaluated and "found to be' true" [*Robert Ulich* : Fundamentals of Democratic Education, p. 109]

2 "For the category of causality which rules in science, he (pragmatist) would substitute 'human purpose,' as the dominating conception in the interpretation of experience". [*Rusk R. R.* : Philosophical Bases of Education]

3 "..... a reason which has not the practical value for the purposes of life is a monstrosity, a morbid aberration or failure of adaptation which natural selection must sooner or later wipe away". [*Schiller*]

के आधार पर वह अपना दर्शन बनाता है। उसकी जड़ यह है कि कौन वस्तु, विचार भाव उपयोगी हैं और कौन नहीं, किसका व्यवहार रूप है और किसका नहीं। जो उपयोगी हैं और जो व्यवहार रूप में है वही सत्य है, तर्क या चिन्तन के आधार पर वास्तविकता का पता लगाना या लगाने का प्रयत्न करना एक व्यर्थ की मानसिक क्रिया है। स्थिर, निश्चित, शाश्वत तथ्य कुछ नहीं है। जो तथ्य व गुण जैसे सिद्ध हो जाते हैं वैसे ही वे हैं।[1]

आदर्शवाद की तरह प्रयोगवाद व्यक्ति के व्यक्तित्व की महत्ता व उसके उन्नयन पर बहुत जोर देता है परन्तु व्यक्तित्व को प्रयोगवाद आदर्शवादी दृष्टिकोण से नहीं बल्कि प्रकृतिवादी दृष्टिकोण से देखता है। आदर्शवादी दृष्टिकोण व्यक्तित्व को एक सर्वव्यापी रूप का अंग मानता है, जो सर्वव्यापी रूप शाश्वत है। प्रयोगवाद उस सर्वव्यापी रूप के झमेले में नहीं पड़ता है। वह न उसका पक्ष लेता है और न उसका खण्डन करता है। परन्तु व्यक्ति के व्यक्तित्व की स्थिति व उसकी सत्ता को स्वतन्त्र रूप में मानता है और यह कहता है कि विश्व के रहस्य को खोलने की कुँजी मानव का व्यक्तित्व ही है।[2] जेम्स कहता है कि जिस प्रकार पहाड़ों और कन्दराओं में से होकर पृथ्वी के अन्दर से वह जल निकलता है जो झरनों और नदियों का स्रोत बन जाता है उसी प्रकार हमारे व्यक्तित्व में हमारे समस्त कार्यों व निर्णयों व क्रिया-कलापों का स्रोत है। इस स्रोत को छोड़ अन्य स्रोतों का ढूंढ़ना अथवा चिन्तन व तर्क के आधार पर दूसरे स्रोतों की स्थिति सिद्ध करने का प्रयत्न करना निरर्थक है।[3]

---

1 The pragmatist "turns away from abstraction and insufficiency, from verbal solutions, from bad *a priori* reasons, from fixed principles, closed systems, and pretended absolutes and origins. He turns towards concreteness and adequacy, towards facts, towards action and towards power; he likewise demands a universe wish 'real possibilities, real indeterminations, real beginnings, real ends, real crises, catastrophes, and escapes, a real God, a real moral life, just as commonsense conceives these things". [*Rusk R. R.* : Philosophical Bases of Education]

2 "Man is the surest datum and our only clue to the mystery of existence" (*Ibid*).

3 "As through the cracks and crannies of caverns those waters exude from the earth's bosom which then form the fountain-heads of springs, so in these crepuscular depths of personality the sources of all our deeds and decisions take their rise. Here is our deepest of communication with the nature of things; and compared with these concrete movements of our soul all abstract statements and scientific arguments.... sound to us like mere chattering of teeth." [*William James*]

प्रयोगवाद इस प्रकार एक प्रकार का स्वगत आदर्शवाद (impersonal idealism) है जो व्यक्तित्व को प्रधानता देता है जैसा कि आदर्शवाद देता है परन्तु साथ ही साथ वह उसे स्वतन्त्र मानता है। प्रत्येक व्यक्ति की 'स्व' (self) है। आदर्शवाद की दृष्टि से वह दूसरों की 'स्व' से सम्पर्क में है तथा सब 'स्व' एक महान 'स्व' के अंग है। प्रयोगवाद 'स्व' की स्थिति मानता है परन्तु स्वतन्त्र रूप में। जेम्स कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति की एक 'स्व' (self) या व्यक्तित्व होता है जो दूसरे व्यक्तियों के व्यक्तित्व से भिन्न होता है तथा उसमें और दूसरे व्यक्तियों के व्यक्तित्व में भेद होता है। प्रत्येक का अपना-अपना केन्द्र है। ईश्वर भी उससे अलग है। वह केवल उसी व्यक्ति का है जिसका वह है।[1]

प्रयोगवाद ईश्वर की सत्ता को खत्म नहीं करता परन्तु साथ ही साथ वह उसे धर्म का विषय मानता है, मानव दर्शन का नहीं। मानव दर्शन मनुष्य के अपने जगत् के सम्बन्धों के सम्बन्ध रखता है और धर्म मनुष्य के और ईश्वर के सम्बन्धों से। दोनों को मिलाने में प्रयोगवाद को कोई तुक नजर नहीं आती।

प्रयोगवाद की आलोचना

प्रयोगवाद का शिक्षा में बहुत प्रभाव पड़ा है। परन्तु इस विचारधारा के ऊपर आलोचना के अस्त्र भी बहुत पड़े हैं जिनके सम्बन्ध में उसकी व्याख्या के साथ साथ कुछ कह देना उचित होगा। प्रयोगवाद की व्याख्या सिद्धान्त और व्यवहार के रूप में जॉन ड्यूई ने विशद रूप में की है और आधुनिक काल में ड्यूई ने शिक्षा जगत् को अपने विचारों से अत्यधिक प्रभावित किया है। इसमें सन्देह नहीं कि ड्यूई एक बहुत ही कुशल, विचारशील तथा विद्वान शिक्षा-शास्त्री था। परन्तु उसकी शाश्वत तथ्यों व सत्य के बारे में विचार-धारा प्रयोगवाद के बहुत बड़े समर्थकों को भी भाती नहीं है। वास्तव में ड्यूई का मानव अनुभव के आधार पर तथ्य की व्याख्या करना एक अविश्वसनीय विचार प्रतीत होता है। आखिर, मानव का अनुभव भी तो सीमित ही है और उसके द्वारा सब सत्य का पता लगाया जाना उस सत्य की व्याख्या भी करता है जिसका वह पता लगाता है। कितना और कहाँ तक मानव अनुभव और उपयोगिता का सिद्धान्त जायगा ? इस जगत् में तथ्यों को इस प्रकार ढूंढने निकला जाय तो पार नहीं और मानव को यही प्रतीत होता जायगा कि वह तो सागर में से एक बूंद ही प्राप्त कर पाया है। यह अन्त में मानना ही पड़ेगा कि मानव अनुभव की सत्य की व्याख्या सीमित है और शाश्वत सत्य व तथ्य के बिना जन-मन को सन्तोष नहीं होता।

मानव अनुभव से सत्य का आधार मानने वाली विचार-धारा ने मानव के मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है। वह समझने लगा है कि

---

1 "I have a centre of my own—a will of my own—which no one shares with me, nor can share—a centre which I maintain even in my dealings with God Himself".

शाश्वत तथ्यों की कल्पना और खोज भ्रमात्मक और मिथ्या है और उसमें संलग्न होना अन्धविश्वास को बढ़ावा देना है। यह विचार-धारा बहुत ही घातक प्रतीत होती है और मानव के चित्त को एक उत्कट चंचलता का शिकार बनाती है। प्रयोगवादी कहते हैं कि शाश्वत और कट्टर धर्माधिकारियों की धर्मान्धता ने मानव मस्तिष्क को खोखला बनाकर उसमें अन्धविश्वासी परम्पराओं को भर दिया है। क्या इस प्रकार का तर्क व्यथित हृदय को सान्त्वना देता है? यदि आज धार्मिक संस्थाएँ अथवा पहले की धार्मिक संस्थाएँ अन्धविश्वास व पोपलीला का घर बन गई हैं या थीं तो इसमें धर्म का क्या कसूर? यह तो मानव की दुर्बलता है कि वह अच्छी वस्तु व विचार का दुरुपयोग करके उसको दूषित कर देता है। धर्म मानव को चिर-काल से प्रेरणा देता रहा है और शाश्वत तत्वों की स्थिति हमेशा से उसको अपने कर्मों के मापदण्ड के लिए आधार देती रही है। हम अपनी सभ्यता का मूल्यांकन उन्हीं के आधार पर करते हैं। यदि हमने उनको छोड़ दिया तो हम किस प्रकार अपनी सम्पूर्ण सभ्यता का मूल्यांकन करेंगे जबकि मूल्यांकन का कोई मापदण्ड ही न होगा? क्या इसी प्रकार की अत्यधिक प्रयोगवादी विचार-धारा ने मनुष्यों का शाश्वत् मूल्यों और तत्वों में से विश्वास हटाकर सभ्यता को पतन की ओर उन्मुख नहीं कर दिया है? क्या उनको समाप्त करके हमने समाज में वह रिक्त स्थान नहीं कर दिया जिसमें स्वार्थ, प्रतियोगिता, दम्भ, संघर्ष आदि जैसी बीमारियाँ घर कर बैठी हैं? ड्यूई ने स्वयं अपनी विचार-धारा के उन परिणामों को अनुभव किया और अपने पिछले लेखों में उसकी मनोवृत्ति शाश्वत तथ्यों की ओर झुकी। मानव विश्व की अमूल्य सम्पत्ति है; यह निश्चित रूप में सत्य है परन्तु वह विश्व की कुँजी नहीं है। उसका अनुभव ही सृष्टि के समस्त रहस्य का खोलने वाला नहीं है। इसके अलावा मानव का अभि-प्राय ही उसकी सब क्रियाओं का स्रोत नहीं है। यदि मानव का हित, उसका स्वार्थ अथवा अभिप्राय ही उसकी सब क्रियाओं का स्रोत हो जाय तो फिर मानव बड़े-बड़े बलिदान कर किस प्रकार अपनी स्वार्थ रहित, फल वासना रहित प्रवृत्ति का परिचय दे। सत्य स्वयं में सत्य है और वह स्वतन्त्र रूप में स्थिर रह सकता है। प्रयोगवादी विचार-धारा ने मानव को दम्भी बना दिया है और संघर्ष तथा प्रतियोगिता को भड़का दिया है। आधुनिक काल में जन-मन अपनी भूल का अनुभव भी करता जा रहा है कि किस प्रकार शाश्वत मूल्यों व सत्य की आध्यात्मिक व शाश्वत सत्ता को अस्वीकार कर समाज में अत्यधिक स्वार्थ-सिद्धि, अनुशासन हीनता, अनैतिकता व संघर्ष का वातावरण बन गया है जो सभ्यता व संस्कृति को खतरे में डाल रहा है। यदि सभ्यता की रक्षा करनी है तो इस उग्र रूप में चलते हुए प्रयोगवाद को नम्र बनाना होगा।[1] वैसे प्रयोगवाद ने व्यावहारिक दृष्टि से शिक्षा में बहुत प्रभाव डाला है और

---

[1] "If culture is to be saved, it must be by developing in pupils a love of knowledge for its own sake; the pragmatist is right

(शेष पेज 130 पर देखिए)

शिक्षा चूँकि एक व्यावहारिक कला है अतः प्रयोगवाद की इसको जो देन है वह अमूल्य है। वास्तव में प्रयोगवाद को कुछ लोगों ने गलत भी समझा और समझाया। यहाँ तक कि कुछ ने उसे अमरीकी साम्राज्यवाद के दर्शन (Philosophy of American imperialism) की संज्ञा भी दे डाली। यदि हम तनिक निष्पक्ष भाव से इसकी समीक्षा करें तो बात स्पष्ट हो जायगी। प्रयोगवाद तीन बातों पर जोर देता है : प्रथम यह मानव जगत् खुला हुआ है और इसमें अनेक सम्भावनाएँ हैं जो सत्य हैं। द्वितीय यह कि इस जगत में मानव अनुभव के आधार पर यह निश्चित होता है कि क्या ठीक है, क्या गलत; क्या सत्य है क्या असत्य, क्या उपयोगी है और क्या अनुपयोगी आदि। मानव की दैवी शक्ति द्वारा चालित नहीं है बल्कि स्वयं स्वतन्त्र रूप में स्वनियन्त्रित प्राणी है। तृतीय यह कि वस्तु, अनुभव, चिन्तन आदि की मानव के लिए उपयोगिता व अनुपयोगिता उसके गुणों और दोषों के मापन की मापदण्ड है। यह तीसरा सिद्धान्त वास्तव में प्रयोगवाद की आलोचना का सबसे बड़ा कारण हुआ। उपयोगिता से लोगों ने उद्देश्य बनाकर उसे ही प्रधान मान लिया और साधन की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। प्रयोगवाद किसी भी रूप में लक्ष्य और साधन के समन्वय का तिरस्कार नहीं करता। बल्कि वह तो साधन को प्रमुख मानता है। यदि मानव ढंग से और अनुशासन से साधन यानी क्रिया करता जाता है तो उद्देश्य तो अपने आप ही प्राप्त होते जाते हैं। यदि इस दृष्टिकोण को हम स्वीकार करते हैं तो प्रयोगवाद अधिक आलोचना का पात्र नहीं रहता। अस्तु।

प्रयोगवाद का शिक्षा में प्रभाव

(अ) **शिक्षा दर्शन के रूप में :** शिक्षा-दर्शन प्रयोगवादी दृष्टि से शिक्षा के व्यवहार रूप का सैद्धान्तिक आधार है जो उसे सहारा देता है और जो उसका प्रगट रूप है। शिक्षा-दर्शन व्यवहाररूप की अनुपस्थिति में निरर्थक है, एक व्यर्थ की मानसिक क्रिया है। जो बात सिद्धान्त में कही जाती है वह व्यवहार में आने योग्य हो अन्यथा वह कुछ माने नहीं रखती और जो व्यवहार में आती है उसका सैद्धान्तिक आधार हो। सिद्धान्त और व्यवहार रूपों का पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनका समन्वय प्रयोगवादी शिक्षा-दर्शन का मूलमन्त्र है।

(पेज 129 का शेष)

in maintaining that practical activities must provide the incentives to learning; but the end must be the development of a disinterested activity. It may be that America, owing to its dependence upon a pragmatic philosophy, is paying the penalty for its failure to recognise this fact in the generally admitted unsatisfactory state of its secondary education."

[*Rusk R. R.* : Philosophical Bases of Education]

जहाँ तक शाश्वत मूल्यों व तथ्यों का सम्बन्ध है हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रयोगवादी दर्शन यह नहीं कहता कि मूल्य नहीं है अथवा सत्य नहीं है परन्तु वह यह कहता है कि मूल्यों में से अपने लिए चुनना और इस प्रकार अपने लिए उन्हें सार्थक बनाना यह मनुष्य का कार्य है। मूल्य भले ही हो परन्तु वे तब तक माने नहीं रखते जब तक मानव ने अपने अनुभव से उनको स्वीकार नहीं कर लिया। मानव के लिए मूल्य उसी प्रकार बनते बिगड़ते हैं, जिस प्रकार स्वास्थ्य। वही उनको बनाता है और वही बिगाड़ता है। शिक्षा में इस विचार-धारा ने शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में आधुनिक काल में संशोधन किया है और आज शिक्षा-शास्त्री इस बात पर जोर देते हैं कि शिक्षा के उद्देश्य मानव को परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए क्षमता दें तथा उसको अपने हित के साथ-साथ एक प्रगतिशील समाज के जीवन में भाग लेने की क्षमता दें। यह दृष्टिकोण एक प्रगतिशील आदर्शवाद का न कि स्थिर आदर्शवाद का, परिचायक है। वैसे दार्शनिक रूप में प्रयोगवाद ने उतना असर नहीं दिखलाया है जितना व्यवहार रूप में। प्रयोगवादी प्रयोगवाद को शिक्षा-दर्शन कहते भी नहीं हैं। वे तो यह कहते हैं कि मानव की क्रियाओं व समस्याओं को हल करने की प्रयोगवादी विधि एक विधि के रूप में ही है जिसका आधार अनुभव है। अनुभव से पता लगाओ कि क्या ठीक है क्या नहीं, क्या सत्य है क्या नहीं। विश्वास पर मत चलो क्योंकि अधिक विश्वास अन्धविश्वास का रूप ले लेता है। व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व है, उसकी इन्द्रियाँ हैं, उसके पास बुद्धि है, बल है, विचार-शक्ति है, तर्क शक्ति है। उनका प्रयोग कर अपने अप्रत्यक्ष अनुभव से वह ज्ञात कर ले कि उसके लिए क्या ठीक है। सबके लिए सब बातें ठीक हों, ऐसा नहीं। सब समय सब बातें ठीक हों, ऐसा भी नहीं। एक प्रगतिशील जगत् में प्रगतिशील विचार तथा प्रगतिशील धाराएँ ही सार्थक हो सकती हैं।

(ब) शिक्षा के उद्देश्य : प्रयोगवादी दृष्टिकोण से शिक्षा का कार्य व्यक्ति में व्यापक रूप में कुछ परिवर्तन लाना है। किसी भी प्रकार का परिवर्तन—शारीरिक विकास, मानसिक विकास अथवा आत्मिक विकास, जो सब परिवर्तन व वृद्धि के सूचक हैं—शिक्षा के ही परिणाम हैं। विकास प्राणी की जीवन-गति का भी सूचक है। बालक जैसे-जैसे शिक्षा प्राप्त करता जाता है उसमें कुछ न कुछ वृद्धि होती जाती है—उसके अनुभव में हो, विचारों में हो, कल्पनाओं में हो भावनाओं में हो, तर्क शक्ति में हो—सारांश यह कि वृद्धि का क्रम निरन्तर चलता रहता है। शिक्षा का कार्य यह है कि वह इस वृद्धि को सामाजिक रूप दे न कि उसे असामाजिक रूप में चलने दे। यदि कोई अपराधी बनता है तो वृद्धि तो उसके अनुभव में भी होती है परन्तु वह वृद्धि अवांछनीय है। विकास अथवा वृद्धि के लिए वांछनीयता आवश्यक है। जो वृद्धि हो वह सामाजिक दृष्टि से वांछनीय हो—अर्थात् वह व्यक्ति के हित के लिए हो और साथ ही साथ समाज के हित के लिए भी हो। अवांछनीय वृद्धि को रोकना तथा वांछनीय वृद्धि को प्रेरणा देना तथा उसके लिए उचित अवसर व परिस्थितियाँ पैदा

करना शिक्षा का कार्य है ।[1] वांछनीय वृद्धि को इस प्रकार हम शिक्षा का लक्ष्य बना सकते हैं और वांछनीय वृद्धि वह वृद्धि है जो अपनी वृद्धि के साथ-साथ दूसरों की वृद्धि को नहीं रोकती है। अपनी-अपनी शक्ति व आन्तरिक प्रेरणा के आधार पर सब अपना-अपना विकास करें तथा वह विकास समाज में रहकर हो और समाज को दृढ़ बनाने के लिए हो जिससे समाज व्यक्ति को विकास के लिए उचित अवसर और सुविधाएँ दे सके और व्यक्तियों का यह धर्म हो कि वे अपने विकास के साथ समाज को इस योग्य बनावें कि वह ऐसा कर सके। व्यक्ति अपनी शक्त्यानुसार समाज को दें और समाज अपना अधिक से अधिक योग व अपने फल व्यक्ति को दे। शिक्षा के कार्यक्रम का यही लक्ष्य उसको सार्थक बनाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रयोगवादी दृष्टिकोण में स्थिर व शाश्वत उद्देश्यों व लक्ष्यों के लिए स्थान नहीं है।[2] जो बुद्धि, जो विकास, जो मूल्य वांछनीय प्रतीत होते हैं वही सत्य हैं, वही ठीक हैं और वही शिक्षा के उद्देश्य हैं। शिक्षा का एक उद्देश्य नहीं है बल्कि जैसे जैसे बालक में वांछनीय वृद्धि होती जाती है वैसे वैसे एक के बाद एक उद्देश्य की पूर्ति होती चलती है। किसी भी प्रकार की वृद्धि किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति की परिचायक है। शिक्षा के उद्देश्य शिक्षा के मार्ग के बाहर किसी सिरे पर नहीं हैं। उनको तो पग पग पर हासिल करते चलते हैं और वह क्रम चलता रहता है क्योंकि शिक्षा का क्रम नियमित शिक्षा के समाप्त होने पर भी चलता रहता है। प्रत्येक प्रकार की शिक्षा के वही उद्देश्य हैं जो हमने बनाये हैं और जिन्हें हम प्राप्त कर सकते हैं। दूसरों के बनाये उद्देश्य हमारे लिए हमारी परिस्थितियों में ठीक नहीं भी हो सकते हैं और वे प्राप्य भी नहीं हो सकते हैं। प्रयोगवादी विचार-धारा के इस रूप में शिक्षा के व्यवहार रूप को बहुत प्रभावित किया है। शिक्षक होने के नाते हमें पग पग पर क्या पढ़ाना है, यही नहीं सोचना है बल्कि यह भी निश्चित

---

1 "Education for crime or for sadistic persecution means growth which checks other growth in both the individual and the group ; life that is parasitic is the frustration of other life. Growth must signify growth in general, a continuum of growth".
[*Geiger George R*: An Experimentalist Approach to Education, Fifty-fourth Year Book, op. cit. p. 148]

2 "An adequate educational program will thus be concerned to help each individual child grow up from his state of initial dependence into full participation in the richest available group life, including in a democratic country a full share in the active management of group affairs" [*W. H. Kilpatrick* : Philosophy of Education from the Experimentalist Outlook, Forty-First Year Book, op. cit., p. 40]

करना है कि क्या पढ़ाना है। किस उद्देश्य या किन उद्देश्यों को उसको पढ़ा है कर हासिल करना है तथा फिर यह देखना है कि उनकी पूर्ति हुई कि नहीं। आधुनिक काल में लक्ष्य तथा लक्ष्य की प्राप्ति के साधन तथा लक्ष्य प्राप्ति की जाँच—इन तीनों का सह-सम्बन्ध तथा तीनों को एक चक्र में स्थित एक दूसरे को प्रभावित करते हुए स्वीकार करना प्रगतिशील प्रयोगवाद का प्रभाव है।

(स) **प्रयोगवाद और शिक्षा की समस्याएँ** : प्रयोगवाद शिक्षा की समस्याओं के सम्बन्ध में प्रगतिशील विचारधारा का समर्थक है। प्रगतिशील विचार-धारा के शिक्षा के सम्बन्ध में दो प्रमुख आधार हैं : (1) चूँकि हमारी समाज परिवर्तनशील है और आज की वैज्ञानिक खोजें और जीवन के ढंग उसके भविष्य में भी परिवर्तन की घोषणा करते हैं अतः शिक्षा में स्थिर विचारों, पद्धतियों, पाठ्यक्रम व व्यवहारों के लिए स्थान नहीं है। हमारी समस्त शिक्षा लचकदार हो जो एक निश्चित भविष्य के लिए नहीं बल्कि अनिश्चित भविष्य के लिए हमें क्षमता दे जिससे हम किसी भी प्रकार की परिस्थितियों में अपना कार्य कर सकें। आज से 50 वर्ष पूर्व अधिकांश वर्ग के लोगों के लिए यह कहा जा सकता था कि उनके बच्चे भी किसी व्यवसाय व धन्धे को करेंगे जिसे वे करते हैं। किसान का लड़का खेती करता था, व्यवसायी का व्यवसाय। परन्तु आज यह नहीं कहा जा सकता कि कौन क्या करेगा। जमाना बड़ी तेजी से बदल रहा है और वैज्ञानिक आविष्कार तथा आर्थिक क्रान्ति जीवन के ढंग को बदलते जा रहे हैं। अतः इस बदलती हुई दुनियाँ में शिक्षा के ऊपर जबर्दस्त दायित्व है। उसका यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह परिवर्तनशील समाज के सदस्य तैयार करे। यह शिक्षा के लिए एक भारी समस्या है। परन्तु साथ ही साथ उसकी योजना बनाने के लिए यह एक प्रमुख आधार है। (2) दूसरी समस्या जो शिक्षा के सामने है, वह है जनतन्त्रीय व्यवस्था के अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था करना। जनतन्त्रीय व्यवस्था मानव को विश्व की अमूल्य सम्पत्ति मानती है और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्त्यानुसार विकास करने के अवसर देना जनतन्त्रीय व्यवस्था का मूल आधार है। इसके बिना वह चल नहीं सकती। मानव एक दूसरे से भिन्न है परन्तु सब में अलग अलग अपनी अपनी वृद्धि करने की शक्ति है। किसी में कम, किसी में ज्यादा, परन्तु है सब में। सबको अपनी-अपनी शक्तियों का विकास करने के लिए समुचित वातावरण की आवश्यकता है। तो दूसरी समस्या शिक्षा के सामने अनिवार्य शिक्षा की है जो समस्या होते हुए भी प्रगतिशील शिक्षा का आधार है क्योंकि सबकी शिक्षा व्यवस्था न होने का परिणाम यह होगा कि किसी की वृद्धि होगी और किसी की नहीं, अथवा किसी की वृद्धि के लिए किसी की वृद्धि को रोक दिया जावेगा। परिणाम यह होगा कि वृद्धि समान रूप और गति न प्राप्त कर सकेगी। सामाजिक दृष्टि से वह आंशिक वृद्धि होगी पूरी समाज की न होगी और इसलिए प्रगतिशील विचार-धारा में उसका समन्वय न होगा।

परिवर्तनशील समाज के लिए तैयारी तथा समाज के सब सदस्यों को उस

तैयारी के लिए अवसर देना प्रगतिशील शिक्षा की समस्याएँ हैं, साथ ही साथ यही उसके आधार भी हैं। इनके बिना वह प्रगतिशील शिक्षा नहीं कही जा सकती।[1]

इन समस्याओं के सम्बन्ध में प्रगतिशील शिक्षा सैद्धान्तिक रूप में तीन दृष्टिकोण रखती है। (1) शिक्षा में लक्ष्य और साधनों में परिवर्तन के साथ साथ समन्वय होता रहे। यदि लक्ष्य स्थिर नहीं है तो साधन भी स्थिर नहीं हैं वे भी परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं और इस प्रकार उनमें समन्वय होता रहता है। आधुनिक-काल में शिक्षण विधियों के नए-नए रूप व उनको परिवर्तित करने की माँग प्रगतिशील विचारधारा की परिचायक है। इससे साधन लक्ष्य से अलग भी नहीं हैं बल्कि एक लक्ष्य की प्राप्ति होने पर वह आगे के लक्ष्य के लिये साधन बन जाता है। साधन व लक्ष्य इस प्रकार एक चक्र में घूमते रहते हैं। साधनों से लक्ष्य की प्राप्ति होती है और लक्ष्य प्राप्ति होने पर वह दूसरे लक्ष्य का साधन बन जाता है। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है।[2] (2) चूँकि आज के जगत में जनतंत्रीय व्यवस्थाओं

---

1 "This is the philosophical setting for many of the key principles of progressive education.....the conception of evolutionary change as being purpose-generating, rather than being purposely preplanned, means that educational aims as well as content should be continually refashioned for a particular society in a particular place and for a particular time the emphasis of education should be on helping students to live happily and well, here and now, while preparation for the future receives secondary consideration as a by-product of these satisfying experiences.....[*Prof. Laurence G. Thomson,* Quoted by Geiger George R. : op. cit., p. 160].

"A society which makes provision for participation in its good of all its members on equal terms and which secures flexible readjustment of its institutions through interaction of the different forms of associated life is in so far democratic. Such a sociey must have a type of education which gives individuals a personal interest in social relationships and control, and the habits of mind which secure social changes without introducing disorder." [*Dewey John,* : Democracy and Education, p. 115]

2 "Ends in view", when reached become means in a continuing serial process. "Ends in View" that can *never* be reached but function only as absolute, unattainable ideals would seem at best Pickwickian. Change can be controlled and meaningful only if ends, like means, are free to change."

[*Geiger, George, R.* : op. cit., p. 149]

का बोलबाला है अतः शिक्षा भी जनतंत्रीय व्यवस्था के अनुकूल हो और शिक्षा का समस्त ढाँचा—उसके उद्देश्य, शिक्षण पद्धतियाँ, पाठ्यक्रम, शिक्षा संस्थाओं का वातावरण,—सब जनतंत्रीय आदर्शों के अनुकूल हों जिनका आशय प्रत्येक व्यक्ति में अपने विकास के साथ-साथ उन कौशलों, ज्ञान के क्षेत्रों, कलाओं, आदतों व मनोवृत्तियों का संचार करना है कि जिनके द्वारा वह समाज में अपना स्थान लेकर एक योग्य नागरिक बन सके। आज पुरानी पद्धतियों व पाठ्यक्रमों व व्यवहारों का जो खंडन किया जा रहा है वह इसलिए नहीं कि वे बुरे हैं परन्तु इसलिए कि वे एक दूसरे युग की परिस्थितियों के लिए ठीक थे आज की परिवर्तित परिस्थितियों के लिए वे ठीक नहीं है। आज जनतंत्र का युग है, हमारी अनेक पद्धतियाँ, प्रणालियाँ व व्यवहार जनतंत्र के प्रतीक हैं, हमारी शिक्षा बहुत कुछ अंश तक मध्यकालीन है। हमें अपनी परिवर्तित व्यवस्था जो जनतंत्रीय आधार पर है को देखकर उसी के अनुकूल अपनी शिक्षा को रूप देना होगा। इस प्रकार की जो आज माँग बढ़ रही है और शिक्षा में आन्दोलन हो रहा है वह प्रगतिशील दृष्टिकोण का सूचक है। (3) प्रगतिशील शिक्षा का तीसरा महत्त्वपूर्ण रूप शिक्षा के क्षेत्र को विस्तृत करने में स्पष्ट होता है। प्रत्येक व्यक्ति शिक्षा पाने का अधिकारी है और प्रत्येक में शिक्षा प्राप्त करने की क्षमता है। अतः शिक्षा के विषय यानी पाठ्यक्रम को इतना विस्तृत बनाया जाय कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी शक्ति, रुचि व योग्यता के आधार पर उससे लाभ उठा सके। शिक्षा एकांगी न हो बल्कि सर्वांगी हो, उसका कोई सिरा भारी न हो बल्कि वह विस्तृत हो जिससे सब सिरों पर बल हो। अपने जीवन को सुदंर ढंग से बिताने के लिए व्यक्ति को कई प्रकार की क्षमताओं की आवश्यकता होती है—उदाहरणार्थ वह स्वस्थ रह सके व उसे स्वास्थ्य सम्बन्धी ज्ञान हो, वह परिवार का सदस्य रह सके व पारिवारिक सम्बन्धों के विषय में उसे ज्ञान हो, वह समाज का सदस्य रह सके व समाज के सम्बन्ध में उसे ज्ञान हो। वह अपनी उदर पूर्ति कर सके व अपने अधीनस्थ परिवार के सदस्यों का पालन-पोषण कर सके, वह अपने अवकाश केस मय का सदुपयोग कर सके, उसकी शक्तियाँ बल पकड़ें और उसकी शान वृद्धि करें, आदि आदि। शिक्षा का क्षेत्र इतना विस्तृत हो कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी शक्त्यानुसार वे सब योग्यताऐं प्राप्त करने का अवसर मिल जाय जिससे वह सुन्दर ढंग से जीवन बिता सके। आज हमारे देश में शिक्षा में पाठ्यक्रम को विस्तृत करने, पाठ्यक्रमातिरिक्त क्रियाओं पर जोर देने, स्कूल व समाज का सम्बन्ध स्थापित करने, बालकों की रुचि व बुद्धि आदि की परीक्षा करने के केन्द्र स्थापित करने आदि पर जो जोर है और उसके लिए जो देश व्यापी आन्दोलन चल रहा है वह प्रगतिशील शिक्षा के दृष्टिकोण का परिचायक है। हमारा देश स्वतंत्र हो गया है और हमारे नेताओं ने बड़े सोच-विचार के बाद जनतंत्रीय व्यवस्था को अपनाया है। अतः यह आवश्यक है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था ऐसी हो जो हमारे जनतंत्र के अनुकूल हो और उसको पुष्ट बनावे।

(द) **प्रयोगवाद और शिक्षा की प्रक्रिया :** प्रयोगवादी दृष्टिकोण से शिक्षा की समस्त प्रक्रिया बालक के अनुभव के ऊपर आधारित है। ड्यूई शिक्षा को अनुभव के पुनर्निर्माण तथा संशोधन के क्रम की क्रिया कहता है। अनुभव का क्रम जीवन के क्रम के साथ साथ चलता है। प्रत्येक पग पर हमें कुछ न कुछ अनुभव होता है। इस अनुभव का आधार प्राणी और उसके वातावरण का सम्पर्क है। यदि दोनों में एक न होगा तो अनुभव का कोई स्थान नहीं और जहाँ दोनों होंगे वहाँ किसी न किसी प्रकार का अनुभव होगा जिसे प्राणी अनुभव करेगा। अनुभव करने की सबसे अधिक शक्ति मानव में है। उसका अनुभव जन्म से चलता है और मृत्यु पर्यन्त चलता रहता है। अनुभव के आधार पर ही उसकी ज्ञान वृद्धि होती रहती है। इस प्रकार जीवन भर शिक्षा का क्रम चलता रहता है।

चूंकि अनुभव प्रधान है अतः शिक्षा की प्रतिक्रिया अनुभव को प्राथमिकता देकर चलती है। विचार, चिन्तन, तर्क आदि मानसिक क्रियाएँ भी उसी के ऊपर आधारित हैं। प्रयोगवादी इस विषय में इस बात पर जोर देते हैं कि अनुभव क्रिया-प्रधान है और इसलिए क्रिया रूप पहले है विचार-रूप बाद में। कहने का तात्पर्य यह है कि बातावरण के साथ सम्पर्क में आने पर व्यक्ति के समक्ष पहले कोई समस्या आती है जिसे वह नहीं जानता। वह उसको हल करने के लिए विभिन्न कल्पनाएँ करता है और एक एक को हल करने की या तो मानसिक क्रिया करता है या प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा उसे हल करने की कोशिश करता है। बिना किसी समस्या के मानसिक क्रिया चलती है परन्तु वह अव्यवस्थित रहती है, जैसे ख्याली पुलाव पकाना अथवा इधर उधर की निरर्थक बातें सोचना। समस्या चिन्तन शक्ति को एक निर्दिष्ट दिशा में लगाती है। अतः समस्या और उसका अनुभव प्रधान है, चिन्तन और तर्क उसके बाद में चलते हैं। यह प्रयोगवादी विचार-धारा आज शिक्षा में बहुत प्रभाव डाल रही है। समस्यात्मक स्थिति पैदा करना तथा बालकों को चिन्तन के लिए प्रेरित करना, क्रिया करके सीखना, क्रिया को केन्द्र बना कर सीखना आदि प्रवृत्तियाँ आधुनिक शिक्षा के मूल आधार हैं। अतः प्रयोगवादी दृष्टिकोण से शिक्षा की प्रक्रिया बालकों को अधिक से अधिक उपयोगी अनुभव देने में है जिनसे उनकी विस्तृत और वांछनीय वृद्धि हो।

(य) **प्रयोगवाद और शिक्षण पद्धति :** जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्रयोगवाद प्रगतिशील पद्धतियों का पक्षपाती है। उनका सार यह है :

(1) बालक शिक्षण की दृष्टि से ही महत्व नहीं रखता बल्कि उसे यह भी निश्चित करने में भाग लेना है और उसमें यह क्षमता है कि वह क्या सीखे। शिक्षक और शिक्षार्थी अपनी कक्षा में अपने पढ़ने व पढ़ाने के लक्ष्यों में भाग लेने के अधिकारी हैं।

(2) शिक्षण में बालकों के अनुभवों को प्रधानता दी जाय। शिक्षक का कार्य उपदेशक व निर्देशक का है, नियन्ता का नहीं।

(3) शिक्षा देते समय बालक की शक्ति, रुचि, योग्यता का ध्यान रक्खा जाय।

(4) शिक्षा विधियाँ सामाजिक आवश्यकताओं के लक्ष्य की पूर्ति में सहायक हो व उनके अनुकूल हो।

(5) वे प्रगतिशील हों।

(6) परम्परागत पद्धतियाँ व विचारधाराएँ निरर्थक हैं, उनमें उतना ही स्वीकार किया जाय जो आज उपयोगी सिद्ध होता है।

(7) शिक्षा में पाठों के सह-सम्बन्ध, क्रिया-विधियों, दृश्य काव्य उपकरणों, कक्षा के बाहर और अन्दर के अनुभवों के समन्वय, प्रत्यक्ष अनुभव आदि पर जोर है। प्रारम्भिक-कक्षाओं में समाज-शास्त्र जिसमें भूगोल, इतिहास, नागरिक शास्त्र, अर्थशास्त्र का सम्बन्ध, ज्ञान देने की योजना प्रगतिशील प्रयोगवाद का ही प्रभाव है।

(8) शिक्षा विधि व विषय जीवन से अलग न हों। जो ज्ञान दिया जाय वह प्रयोग में आ सके। जिस ज्ञान का प्रयोग रूप सम्भव नहीं है वह व्यर्थ मस्तिष्क में सड़ जावेगा।

(9) नैतिक शिक्षा सामूहिक जीवन में रहना सिखाकर दी जाय। आज इस प्रकार की शिक्षा पर जोर है।

(10) स्कूल समाज का लघु रूप है। स्कूल को समाज ने किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित किया है और वह यह कि वह बालकों को वे गुण, आदतें, ज्ञान व व्यवहार कौशल दे जिससे वे उस समाज के वातावरण का श्रेष्ठ व प्राकृतिक रूप हो जिसमें रहकर बालक सामाजिक जीवन में उपयोगी आदर्शों, आदतों व गुणों को ग्रहण कर सके। यह दृष्टिकोण आज बहुत बल पकड़ रहा है और शिक्षालय व्यवस्था के सम्बन्ध में इसने महत्त्वपूर्ण साहित्य को जन्म दिया है।

प्रयोगवाद का ऐतिहासिक सिंहावलोकन व इसका प्रमुख प्रवर्तक जॉन ड्यूई

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं प्रयोगवाद नई विचार-धारा नहीं है। प्राचीन यूनानी सभ्यता के काल में यूनानी विचारक जो फोस्ट कहलाते हैं प्रयोगवाद के पक्ष-पाती थे। उनका नारा कि "मानव सब वस्तुओं का मापदण्ड है" (Man is the measure of all things) प्रयोगवादी विचार-धारा को प्रतिबिम्बित करता है। अठारहवीं शताब्दी से प्रयोगवाद ने विभिन्न नामों का रूप लेकर दुनियाँ के अनेक आगे बढ़े हुए देशों में पुनर्जन्म लिया। अतः केवल अमेरिका को ही प्रयोगवाद की जन्म-भूमि कहना उचित नहीं है वैसे आज के काल में प्रयोगवाद को अमेरिका का दर्शन कहते हैं और लोगों का विचार है कि अमेरिका के लोग ही इस दार्शनिक-विचार धारा के समर्थक हैं। यथार्थ में बात यह है कि अमेरिका की ही यह एक विशेष विचार-धारा नहीं है और अमेरिका में बहुत से लोग—जैसे आर० डबल्यू इमर्सन, जोनाथन एडवर्ड्स, जोशिया रौयस आदि पक्के आदर्शवादी थे और अब भी अमेरिका

में आदर्शवाद का उतना ही प्रभाव है जितना प्रयोगवाद का परन्तु अधिकांश विचारक दोनों के उग्र रूप के समर्थक नहीं हैं बल्कि दोनों के समन्वित रूप के समर्थक हैं। साथ ही साथ यह भी यहाँ कह देना उचित है कि प्रयोगवाद को किसी दर्शन के रूप में लेना संगत भी नहीं है। यह तो एक कार्य व समस्या को करने व हल करने की विधि और मनोवृति है जिसमें यह स्वीकार किया गया है कि मानव अनुभव प्रधान है। आज प्रयोगवाद की कई प्रकार से व्याख्या की जाती है। जॉन ड्यूई के समर्थकों ने प्रयोगवाद के साथ और कई 'वाद' जोड़ दिए हैं जैसे 'अनुभववाद' (experimentilist), आपरेशनलिज्म (operationalism), इन्स्ट्रूमैन्टूलिज्म (instrumentalism), फन्क्सशनलिज्म (functionalism) आदि (जिनका हिन्दी में शब्दानुवाद ढूँढना कठिन है) जो सब के सब प्रयोगवाद के नाम पर ही आते हैं परन्तु जिनकी एक प्रकार की विशेषता के ऊपर उनका नाम परिवर्तित कर दिया है। हम नामों के सम्बन्ध में उनकी व्याख्या में नहीं जाते परन्तु इतना कह देना चाहते हैं कि ये नाम विधि से सम्बन्ध रखते हैं किसी दर्शन से नहीं। चूँकि प्रयोगवाद में अनुभव को प्रधानता दी जाती है अतः उसे 'अनुभववाद' कह दिया, चूँकि उसमें क्रिया और ज्ञान की क्रियात्मक उपयोगिता को महत्त्व दिया जाता है अतः उसे फन्कशनलिज्म (Functionalism) की संज्ञा दे डाली। मूल आधार सबका एक है और वह यह कि जीवन प्रगतिशील और परिवर्तनशील है और इन परिवर्तनशील व परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों में अपरिवर्तित व अपरिवर्तनशील प्रथाओं, विश्वासों, क्रियाओं, विधियों, आदर्शों, आदि की कल्पना करना निरर्थक है। सार्थक वही है जो परिस्थितियों में सार्थक सिद्ध हो जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से जब वैज्ञानिक उन्नति काफी हो गई और जीवन का ढंग बड़ी गति के साथ बदलना प्रारम्भ हो गया तब से प्रयोगवाद ने और अधिक जोर पकड़ा हालांकि आधुनिक काल में अत्यधिक प्रयोगवाद के समर्थन के कारण और शाश्वत तत्वों व मूल्यों का खंडन करने के कारण मानव-समाज के पतन के लक्षण भी स्पष्ट हो रहे हैं और लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि अत्यधिक प्रयोगवादी मनोवृति मानव को अत्यधिक पदार्थवादी और भौतिकवादी दृष्टिकोण देती है तथा उसके स्वार्थ और अहंकार में वृद्धिकर समाज के उन स्तम्भों की जड़ खोदती है जिन पर वह टिक सकता है। अस्तु।

प्रयोगवाद का जबर्दस्त प्रवर्तक जैसा कि हम कह चुके हैं, जॉन ड्यूई था और उसने अपनी सूक्ष्मता से प्रयोगवाद की व्याख्या कर शिक्षा को उसकी दृष्टि से देखा है उतना अन्य किसी लेखक ने नहीं। जॉन ड्यूई के विचारों का आधुनिक शिक्षा में बहुत प्रभाव पड़ा है। उनके बारे में हम कुछ विस्तार में विचार करेंगे।

जॉन ड्यूई के दार्शनिक दृष्टिकोण को समझने में लोग भूल कर बैठते हैं। हम प्रारम्भ में ही उस भ्रम को दूर कर दें और उसके उपरान्त ड्यूई के शिक्षा-दर्शन व उसके प्रभाव पर विचार करें।

इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक प्रयोगवाद के समर्थकों में ड्यूई का बहुत

महत्व है। यद्यपि विलियम जेम्स भी प्रयोगवाद का प्रमुख विचारक है परन्तु ड्यूई ने जितने विस्तार में उसके ऊपर लिखा है और जितना व्यावहारिक उसे बनाने का प्रयत्न किया है उतना किसी और लेखक ने नहीं। अतः शिक्षा में प्रयोगवाद के साथ ड्यूई का नाम आता है और वही उसका व्याख्याता माना जाता है। ड्यूई के अमेरिका में अनेक समर्थक हुए और उन्होंने उसके विचारों को लेकर आगे व्याख्या की और प्रयोगवाद को अनेक रूप दिए जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं। परन्तु मूल तत्व सबका एक ही है और वह यह है कि परिवर्तनशील, प्रगतिशील तथा परिवर्तित जगत में जीवन के किन्हीं स्थिर मूल्यों की कल्पना करना व्यर्थ है। जहाँ जो भ्रम की बात है और जिसका निराकरण हम करना चाहते हैं वह यह है कि यद्यपि ड्यूई ने अपने प्रारम्भिक लेखों व पुस्तकों (जिनमें 'डेमोक्रेसी एण्ड ऐजूकेशन' प्रमुख है) में प्रयोगवादी विचारधारा की व्याख्या में स्थिर मूल्यों, आदर्शवादी शाश्वत तत्वों, अपरिवर्तनशील गुणों का खंडन किया है आगे चलकर उसने उनकी ओर अपनी रुचि दिखलाई है। ड्यूई के विचारों में सन् 1930 से पहले और उसके बाद में स्पष्ट परिवर्तन नजर आता है। सन् 1894 से 1930 तक ड्यूई पक्का प्रयोगवादी है और वह प्रत्येक विचार जो उसकी कसौटी पर नहीं उतरता उसका खंडन करता है। उसके इस काल के समस्त विचारों का पूर्ण आभास उसकी पुस्तक 'डेमोक्रेसी एन्ड ऐजूकेशन (Democracy and Education) में हमें मिलता है जिसमें उसने शिक्षा के दर्शन की अपने दृष्टिकोण से, जो प्रयोगवादी दृष्टिकोण है, व्याख्या की है। परन्तु सन् 1930 के बाद से उसके विचारों में कुछ परिवर्तन नजर आता है जिसकी ओर हम पिछले पृष्ठों में संकेत कर चुके हैं। इस काल में वह उद्देश्यों और आदर्शों के प्रति अपने पूर्व विचारों में संशोधन करता है और अब उनको अनुभव का आधार न देकर स्थायी मूल्यों में स्वीकार करता है। उसके लेखों में आदर्शवाद की ओर झुकी हुई उसकी प्रवृत्ति नजर आती है। वह ईश्वर की सत्ता, आदर्श व स्थायी उद्देश्य, नैतिक प्रवृत्तियाँ, सौन्दर्य और ज्ञान सभ्यता के आधार, विश्वास—आदि के मूल्यों को मानता है और विश्व में उस देवी शक्ति का समावेश पाता है जिसको, इन्द्रियाँ या मानव अनुभव नहीं समझ सकते।[1] ड्यूई के ये विचार कान्ट (Kant)

---

1 See "A Common Faith". Yale University Press, New Haven Cown, 1934, 'Experience and Education' and 'Reconstruction in Philosophy.

"The community f causes and consequences in which we together with those not born, are enmeshed is the widest and deepest symbol of the mysterious totality of being the imagination calls the universe. It is the embodiment for sense and thought of that encompasing scope of existence the intellect

(पेज 140 पर देखिए)

हीगल (Hegel) तथा इमर्सन (Emersen) के विचारों के समीप आ जाते हैं और हम देखते हैं कि वह मौलिक रूप में अपनी प्रारम्भिक विचार-धारा की दुर्बलता का अनुभव करता है। आज ड्यूई की दार्शनिक विचार-धारा को समझने तथा उसका ठीक रूप से जानने के लिए ड्यूई के दोनों कालों (1894 से 1930 और 1930 से 1951) के विचारों का समन्वय करना होगा वरना उसके प्रारम्भिक लेखों, प्रधानतः 'डेमोक्रेसी एण्ड ऐजूकेशन' के आधार पर ही उसको उग्र प्रयोगवादी कहना उसकी दार्शनिक विचार-धारा को समझने के बजाय न समझना होगा जैसा कि उसके बहुत से समर्थक कर गए हैं।

(1) **दार्शनिक दृष्टिकोण :** जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं ड्यूई की दार्शनिक विचार-धारा को समझने के लिए उसकी विचार-धारा के दोनों रूपों (सन् 1930 से पहले का और उसके बाद का) को समझना होगा। प्रथम काल में ड्यूई पक्का प्रयोगवादी है और यह प्रयोगवाद उसकी पुस्तक 'डेमोक्रेसी एण्ड एजूकेशन' में पूर्ण रूप में प्रतिबिम्बित है। वह जीवन को निरन्तर परिवर्तन के चक्र में घूमता हुआ देखता है। दैवी विचार, इस लोक के परे दूसरे लोक की कल्पना, दैवी शक्ति, शाश्वत तथ्य व सत्य, स्थिर मूल्य, ये सब उसके लिए कोरी कल्पना हैं, जिनका कोई आधार नहीं है। चार्ल्स डार्विन के प्रकृतिवाद में वह विश्वास करता है। आध्यात्मिक व आदर्शवाद की बात को वह वास्तविकता से बचने का बहाना बतलाता है। आदर्शों व सिद्धान्तों को वह लक्ष्य नहीं कहता बल्कि जीवन की प्रक्रिया को संवाहित रखने की विधियाँ बतलाता है। उन्हें वह लक्ष्य के स्थान पर साधन के रूप में देखता है। लक्ष्य केवल एक ही है और वह है विकास या वृद्धि। स्थिर लक्ष्यों व शाश्वत तत्वों के ऊपर वह प्रहार करता है और कहता है कि इन्होंने अनेक अन्धविश्वासों, कठोर प्रवृत्तियों, मिथ्या विचारों को जन्म देकर सभ्यता की प्रगति को रोका है। यह प्रगति सिर्फ एक आधार पर ही चलती रहती है और वह है अनुभव का आधार। मानवजीवन अनुभवात्मक प्रक्रिया है और जिस समय अनुभव की प्रवृत्ति अवरुद्ध होती है और विश्वास, या कोई स्थिर विचार उसका स्थान ले लेता है मानव-जीवन व सभ्यता का विकास अवरुद्ध हो जाता है, मानसिक क्रिया जम जाती है, वह आगे नहीं बढ़ती क्योंकि उसकी प्रगति को स्थिर विचार ने रोक दिया। ड्यूई के मतानुसार अनुभव करते रहना और अनुभव के आधार पर आगे बढ़ना ही विकास का

(पेज 139 का शेष)

cannot grasp. It is the matrix within which our ideal aspirations are born and bred. It is the source of the values that the moral imagination projects as directive criteria and as shaping purposes". ["A Common Faith" pp. 87 and 85. Quoted by *Ulich*, History of Educational Thought, p. 333—334].

चिन्ह है। विकास का कोई स्थिर लक्ष्य भी नहीं है परन्तु विकास का लक्ष्य विकास ही है। एक स्तर के बाद दूसरा स्तर आता है, फिर तीसरा, और इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है।

ड्यूई की इस विचार-धारा में सन् 1930 के बाद से परिवर्तन मालूम पड़ता है। अब वह उग्ररूप में प्रयोगवादी नहीं रहा, उसके विचार में लचीलापन आता हुआ स्पष्ट होता है और उसका दर्शन बहुविम्बवाद (eclecticism) का आभास देता है। जिसमें अन्य दार्शनिक विचार-धाराओं का समन्वय है। इसका क्या कारण है, यह कहना कठिन है, शायद उसने चिन्तन के बाद अपनी भूल को स्वयं अनुभव किया हो अथवा जब विश्वास का आधार अनुभव ही है तो उसने विचारों के अच्छे परिणामों के साथ कुछ दुष्परिणाम देखे हों, अथवा अन्य कोई कारण हो। ड्यूई के दार्शनिक विचारों में अब इमर्सन, हीगल, प्लेटो, कान्ट—इनसे सामीप्य नजर आता है। वह प्रयोगवादी अवश्य है और शिक्षा के क्षेत्र में उसकी प्रारम्भिक और बाद की विचार धाराओं के परिवर्तन, उसके शिक्षा के रूप, कार्यक्रम, शिक्षण-विधि सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन नहीं करते परन्तु दार्शनिक दृष्टि से वह उग्र प्रयोगवादी न रहकर मिश्रित प्रयोगवाद में विश्वास करता हुआ नजर आता है जो प्लेटो, इमर्सन, वर्गसन, जोशिया रौयस, आदि आदर्शवादियों के शाश्वत तत्वों व मूल्यों की स्थिति को मान्यता देता है।[1]

(2) **शिक्षा-दर्शन :** शिक्षा-दर्शन की व्याख्या ड्यूई ने अपनी पुस्तक 'डेमोक्रेसी एण्ड एजूकेशन' के 24 वें अध्याय में की है। दर्शन की परिभाषा कई प्रकार से की गई है परन्तु सबका सार यह है कि दर्शन-जीवन के उन तथ्यों की खोज है जिनको अनुभव के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सका है। जो तथ्य सिद्ध हो जाते हैं और जिनका जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ने लगता है वे तो विज्ञान के क्षेत्र में आ जाते हैं। जब विज्ञान जगत् के तथ्यों को सिर्फ खोजकर निकलता ही नहीं बल्कि उनके प्रति एक सामान्य दृष्टिकोण का रूप धारण करता है तब वह दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। विज्ञान और दर्शन में भेद यह है कि विज्ञान विशिष्ट व निश्चित रूप में निष्कर्षों की वास्तविकता व तथ्यता को स्थापित करता है परन्तु दर्शन उनके प्रति हमारी क्या मनोवृत्ति हो उनके सम्बन्ध में हमारा क्या स्थायी विचार हो, इसको बतलाता है।[2] दूसरे शब्दों में विज्ञान संकलित किया हुआ, अनुभव द्वारा सिद्ध ज्ञान है, दर्शन उस ज्ञान के प्रति दृष्टिकोण है। विज्ञान बतलाता है कि क्या करना है, दर्शन

---

1 C f. A "Common Faith" and "From Absolution to Experimentalism" in *Contemporary American Philosophy*, edited by G. P. Adams and W. P. Montague.

2 Ref. Democracy and Education, p. 379.

बतलाता है कि क्या करने योग्य है। एक पूर्ण रूप में व्यावहारिक ज्ञान है दूसरा उसके साथ-साथ उसका आधारभूत सिद्धान्त रूप है।

यहाँ हम एक बात को स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि प्रयोगवाद की दृष्टि से दर्शन बाल की खाल निकालने वाली प्रवृत्ति नहीं है कि दार्शनिक महोदय कुर्सी पर बैठे-बैठे आसमान पाताल की बात सोचते रहें। वास्तविक रूप में दर्शन का सम्बन्ध जीवन से है और यदि दर्शन जीवन की समस्याओं व जीवन के रूप से अलग रहता है तो उसका कोई मूल्य नहीं है। आधुनिक काल में ही बल्कि सब युगों में जहाँ-जहाँ दर्शनों की व्याख्याएँ हुईं वहाँ दर्शन को जीवन से अलग नहीं माना गया बल्कि दर्शन जीवन को प्रभावित करता हुआ माना गया। इससे यह निष्कर्ष हम निकालते हैं कि दर्शन जीवन की व्याख्या है तथा यह जीवन को सुन्दर ढंग से चलने के लिए प्रेरणा व सैद्धान्तिक आधार भी देता है। दूसरे शब्दों में जीवन के व्यावहारिक रूप में दर्शन का सिद्धान्त रूप दिया हुआ है। उस व्यवहाररूप को देखकर, उसके सिद्धान्त रूप का निरूपण किया जा सकता है और सिद्धान्तरूप के आधार पर व्यवहाररूप को अधिक सुन्दर बनाया जा सकता है।

इस कथन का शिक्षा-दर्शन को समझने में बहुत महत्व है। शिक्षा के दो रूप हैं व्यवहाररूप और सिद्धान्तरूप। दोनों में समन्वय होना आवश्यक है। व्यवहाररूप में सिद्धान्तरूप उस व्यवहाररूप का आधार बनता है और सिद्धान्तरूप को सार्थक बनाने के लिए व्यवहाररूप की आवश्यकता है। दोनों का पारस्परिक मेल व सम्बन्ध प्राकृतिक है। सिद्धान्तरूप जीवन की परिस्थितियों, समाज की आवश्यकताओं, व्यक्ति की आवश्यकताओं आदि के आधार पर बनता है और व्यवहार रूप में आता है और व्यवहार रूप ही सिद्धान्तरूप को सार्थकता देता है। कोरा सिद्धान्तरूप जिसका व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं, जीवन से सम्बन्ध नहीं रखता अतः निरर्थक मानसिक क्रिया है जिसका ज्ञान व दर्शन व विज्ञान किसी की दृष्टि से कोई महत्व नहीं। अतः वह त्याज्य है। वास्तविक शिक्षा-दर्शन जीवन की वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर निर्मित उचित मानसिक व नैतिक आदतों का समूह है जो उस व्यवहाररूप में प्रत्यक्ष होता है जो व्यवहाररूप उन परिस्थितियों का सामना करने तथा उनके साथ अपना समन्वय करने की व्यक्ति को क्षमता देता है। शिक्षा-दर्शन शिक्षा के वे सिद्धान्त हैं जो व्यावहारिकता को दृष्टि में रखकर निर्मित किए गए हैं।[1]

[1] "Philosophy of education is not an external application of ready-made ideas to a system of practice having a radically different origin and purpose; it is only an explicit formation of the problems of the formation of the right mental and moral habitudes in respect to the difficulties of the contemporary social life. The most penetrating definition of philosophy which can be given is, then, that it is the theory of education in its most general phases." [*Dewey, John* : Democracy and Education, p. 386]

(3) **शिक्षा : अर्थ और आधार :** ड्यूई के मतानुसार शिक्षा जीवन के लिए एक महती आवश्यकता है। प्रत्येक प्राणी में जीवित रहने के लिए एक आन्तरिक प्रेरणा होती है और वह अपने वातावरण को अपने जीवित रहने के लिए प्रयोग में लाता है। पेड़ पौधे भी जीवित रहने के लिए वातावरण से ही जल, वायु, भोजन आदि प्राप्त करते हैं। मानव जीवन के लिए भौतिक वातावरण तो है ही परन्तु सामाजिक वातावरण भी आवश्यक है और वह अधिक आवश्यक है क्योंकि उसके बिना मानव की नैसर्गिक शक्तियों का विकास नहीं हो सकता। जीवन की धारा संभावित रहने की कुंजी वातावरण के साथ प्राणी की टक्कर और उससे अद्भुत अनुभव हैं। हम देखते हैं कि जगत् में सब मरणशील हैं परन्तु सबके मरणशील होने पर भी जीवन की धारा बहती ही रहती है। जीवन नष्ट नहीं होता। कुछ मरते हैं तो दूसरे पैदा होते हैं। भौतिक वातावरण में हम देखते हैं कि जो जीव वातावरण से अपना समन्वय नहीं स्थापित कर सकते वे नष्ट हो जाते हैं और दूसरे पैदा हो जाते हैं, जो वातावरण से अधिक समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार जीवन चलता रहता है। पेड़ पौधे प्रतिवर्ष अपने पुराने पत्तों को गिरा देते हैं और नए पत्ते धारण करते हैं और इस प्रकार उनका जीवन चलता है। प्रकृति के क्षेत्र में पुराने प्राणी नष्ट होते रहते हैं और नए जन्म लेते हैं। इस प्रकार जीवन चलता रहता है। हमारा कहने का मतलब यह है कि जीवन के चालू रहने की कुँजी अविरल गति से पुराने रूपों का नष्ट होना तथा नए रूपों का पैदा होना है। जीवन की धारा संभावित ही इसी प्रकार रहती है कि वह स्वयं को सर्वदा नवीन बनाने का प्रयत्न करती रहती है और यह प्रक्रिया पुराने रूपों को त्याग कर नए रूपों को लेते रहने के द्वारा चलती रहती है।

मानव के जगत् में भौतिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन भी है जिसमें उसके भौतिक अनुभव नहीं सामाजिक अनुभव आते हैं जैसे उसके विचार, विश्वास, आदर्श, संस्कृति, सुख, दुःख, व्यवहार आदि। इनके जीवित रहने की कुँजी वही है जो शारीरिक जीवन के स्थित रहने की कुँजी है। इनको भी जीवित रहने के लिए पुराने रूपों को छोड़कर नवीन रूपों को धारण करते चले जाना है। तभी ये जीवित रह सकते हैं। यह काम शिक्षा के द्वारा होता है। ड्यूई का मत है कि व्यापक रूप में शिक्षा जीवन के इस सामाजिक रूप की अविरलता है।[1] समाज का प्रत्येक सदस्य जन्म लेते समय समाज के आदर्शों, विचारों, भावों, विश्वासों आदि से अनभिज्ञ रहता है। जो लोग उनसे भिज्ञ रहते है वे धीरे-धीरे संसार से विदा होते हैं परन्तु उन आदर्शों, विश्वासों, आदि को वे दूसरों को देते जाते हैं जिनसे उनकी रक्षा हो सके और सामाजिक जीवन चल सके। यदि

---

1 "Education in its broadest sense, is the means of this social continuity of life." [*Dewey, John* : Democracy and Education p. 3.]

वे ऐसा नहीं करते तो सामाजिक जीवन भी उनके साथ ही नष्ट हो जायगा। उस जीवन को चलते रहने देने के लिए समाज के सदस्य बालकों को शनैः शनैः समाज के आदर्शों, मूल्यों, मापदण्डों, भावों, विचारों आदि से परिचित कराते हैं और फिर वे जब बड़े हो जाते हैं तो अपने बालकों को उनसे परिचित कराते रहते हैं। यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है और इसी के आधार पर समाज जीवित रहता है। यही क्रिया शिक्षा कहलाती है और जीवन की धारा के संवाहित रहने की आधार शिला है। शिक्षा के बिना सामाजिक जीवन चल नहीं सकता।[1] अपने जीवित रहने के लिए जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी प्रयत्न करता है उसी प्रकार समाज भी प्रयत्न करता है। ड्यूई शिक्षा को पूर्ण रूप में एक सामाजिक क्रिया कहता है जो समाज की जीवित रहने की इच्छा का प्रतीक है। स्कूल या विद्यालय समाज इसलिए स्थापित करता है कि बालकों को वे आदर्श चरित्र की विशेषताएँ, गुण व आदतें दी जायँ जिनको प्राप्त कर वे समाज के योग्य सदस्य बन सकें और अपने विकास के साथ-साथ समाज विकास में योग दे सकें।

इस प्रकार समाज अपने आदर्शों, भावों, मापदण्डों, विचारों आदि को दूसरों को देकर और उनको दूसरों को देते हुए ही जीवित रहता है। इसका आशय यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों से लेता है और दूसरों को देता है। जो वह लेता है और जो वह देता है वह एक दूसरे के अनुभव हैं। दूसरे के अनुभव लेकर वह उनसे अपने अनुभवों की वृद्धि करता है और अपने अनुभवों को सामाजिक रूप देकर दूसरों को उन्हें देता है। सामाजिक जीवन में इस प्रकार अनुभवों का आदान प्रदान चलता रहता है और यही शिक्षा की प्रक्रिया है। प्रत्येक व्यक्ति पग-पग पर अनुभव प्राप्त करता है और इस प्रकार उसके अनुभवों में वृद्धि होती रहती है। कुछ पुराने अनुभव उसे सार्थक नहीं मालूम पड़ते तो वह उनमें संशोधन या परिवर्तन भी करता रहता है। उसके अनुभवों की सार्थकता का मापदण्ड है उन अनुभवों का सामाजिक मूल्य। यदि उनका सामाजिक दृष्टि से कोई मूल्य नहीं तो वे अनुभव निरर्थक हैं क्योंकि वे समाज-हित से अलग हैं और व्यक्ति को समाज का योग्य सदस्य होने से रोकते हैं। अतः अनुभवों का सामाजिक दृष्टि से मूल्य होना आवश्यक है। शिक्षा की प्रक्रिया इस प्रकार ड्यूई के शब्दों में अनुभवों की वृद्धि व संशोधन है। शिक्षा व्यक्ति को अपनी कुशलता बढ़ाने के साथ-साथ उन अनुभवों के सामाजिक मूल्य को बढ़ाने में उत्तरोत्तर सहायता करती है।[2]

---

1 "What nutrition and reproduction are to physiological life education is to social life." [*Ibid*, p. 11.]

2 Education is "the process of reconstruction or reconstitution of experience, giving it a more socialised value through the medium of increased individual efficiency."

ड्यूई के मतानुसार शिक्षा पूर्ण रूप में सामाजिक प्रक्रिया है और इसके दो आधार हैं : व्यक्तिगत और समाजगत, व्यक्ति की शक्तियों, रुचियों, योग्यताओं आदि को ध्यान में रखकर उनके अनुकूल उसे शिक्षा देनी है परन्तु साथ ही साथ उसकी समस्त शक्तियों, रुचियों आदि को सामाजिक मूल्य देना है। बालक की शक्तियों व रुचियों का वास्तविक मूल्य वही है जो समाज उन्हें देता है। सामाजिक वातावरण में ही उनका विकास होता है और उसे अक्षुण्ण बनाए रखने में उनकी सार्थकता है।[1]

(4) **स्कूल शिक्षा के लिए एक विशिष्ट संस्था :** चूँकि शिक्षा एक सामाजिक क्रिया है अतः समाज ने शिक्षा देने के लिए विभिन्न शिक्षा संस्थाएँ स्थापित की हैं। वैसे तो समूचा सामाजिक वातावरण ही शिक्षा का स्रोत है, परन्तु सामाजिक दृष्टि से उपयोगी और हितकारी शिक्षा देने के लिए विशिष्ट शिक्षा संस्थाओं की आवश्यकता है जो एक नियंत्रित वातावरण में बालकों को उन सामाजिक आदर्शों, हितों, विचारों, विश्वासों, गुणों, कौशलों व आदतों को दे सकें जिन्हें प्राप्तकर वे अपने हित के साथ-साथ समाज के योग्य सदस्य बन सकें। अतः स्कूल एक सामाजिक संस्था है जिसमें वे सब क्रियाएँ एकत्रित की जाती हैं जिनमें भाग लेकर बालक सामाजिक जीवन की क्रियाओं से अभ्यास द्वारा परिचय प्राप्त करता है और उसमें सफलतापूर्वक भाग लेने की क्षमता प्राप्त करता है।[2] स्कूल का यह कार्य है कि वह इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपने को योग्य सामाजिक संस्था के रूप में साबित करे। इसके लिए उसकी तीन प्रकार की जिम्मेदारी हैं : (अ) स्कूल समाज का लघु रूप हो और सामाजिक क्रियाओं से उसकी क्रियाएँ भिन्न न हों। चूँकि वह समस्त सामाजिक क्रियाओं को अपने यहाँ स्थान नहीं दे सकता अतः उसे यह चाहिए कि वह उनको सरल बना कर लघु रूप में उनके नमूने अपने यहाँ रक्खे जिनमें भाग लेकर बालकों को भावी जीवन की विस्तृत क्रियाओं में भाग लेने की योग्यता प्राप्त हो। स्कूल का जीवन वास्तविक

---

1 "Education must begin with a psychological insight into the child's capacities, interests and habits"....but the child's instincts and capacities can have full play and meaning only "when we can translate them into their social equivalents. We must be able to carry them back into a social past and see them as the inheritance of previous race activities. We must also be able to project them into the future to see what their outcome and end will be."

2 "In the school, therefore, should be concentrated all those activities which help and teach the child to share in the process and the fostering of civilization."
[*Ulich Robert*: History of Educational Thought, p 318]

जीवन से दूर रहकर उसका अंग हो।[1] (ब) दूसरी जिम्मेदारी यह है कि स्कूल बालकों को समाज के जीवन से परिचित कराते हुए उसके अवांछनीय अंगों को उनसे अलग रक्खे। स्कूल का जीवन सामाजिक जीवन का लघु रुप अवश्य हो परन्तु वह जीवन नियंत्रित हो और उसमें समाज के जीवन के केवल वांछनीय अंग ही स्थान पावें। स्कूल का वातावरण समाज से कलुषित रूप को त्याग कर उसमें से शुद्ध और वांछनीय अंशों को ही अपने यहाँ स्थान दे जिससे बालकों को समाज के कालुष्य के प्रति घृणा हो और उसको धोने के लिए मानवजागृत हो उठे। स्कूल अपने वातावरण में केवल वही अंग लावे जिसके द्वारा समाजोपयोगी गुणों, मनोवृत्तियों, चारित्रिक विशेषताओं, आदतों आदि को बालकों को सिखाना चाहता है। स्कूल समाज के नैतिक बौद्धिक जीवन के आधार-शिला हैं, वे उसके केन्द्र हैं और उन्हीं के द्वारा वह रोशनी फेंकी जाती है जो समाज के अन्धेरे मार्ग को भी प्रकाशित करदे।[2] (स) तीसरी जिम्मेदारी स्कूल की यह है कि वह वातावरण को ऐसा सन्तुलित बनावे कि उसमें बालकों की समस्त शक्तियों का विकास हो सके और सबको अपनी अपनी शक्ति अनुसार, अपनी अपनी योग्यता तथा रुचि के अनुसार अपना अपना विकास करने का प्रवसर प्राप्त हो सके। स्कूल का कार्यक्रम समाज की आवश्यकताओं और उसके बालकों की आवश्यकताओं को पूरा करने वाला हो। जनतंत्रीय विद्यालय अपने कार्य-क्रम को इतना विस्तृत और सन्तुलित बनावें कि सब बालकों को अपनी अपनी गति

---

1 Compare : Report of the Secondary Education Commission, Ministry of Education, Govt. of India [Oct. 1952—June1953] "The school will, no doubt, be a community but it will be a small community within a larger community and its success and vitality will depend on the constant interplay of healthy influences between it and the larger community outside. What we would like to see is a two-way traffic so that the problems that arise in the home and community life and realistic experiences gained there should be brought into school so that education may be based on them and be intimately connected with real life, and on the other hand the new knowledge, skills, attitudes and values acquired in the school should be carried into the home-life to solve its problems, to raise its standards, and link up the teachers, parents children into one compect and naturally helpful group....Outside life will flow into the school and lower, if not knock 'down' the walls that at present isolate it from the currents of life operating outside." [p. 221]

2 Compare : "....the school should be an *Idealised* epitome or model of the world, not merely the world of ordinary affairs, but the whole of humanity, body and soul, past, present, and future." [*Branford*]

के अनुसार चलने की सुविधा मिल सके और वे स्वतन्त्र रूप में उससे लाभ उठा सकें।[1]

(5) **सीखने की प्रक्रिया व शिक्षण विधि :** सीखने में अनुभव प्रधान है। बालक अपने अनुभव के द्वारा सीखता है और अनुभवों की वृद्धि करना, उनको परिमार्जित करना तथा संशोधित करना ही सीखना है। प्रत्यक्ष अनुभव क्रियाओं में भाग लेने से होते हैं और उनमें भाग लेकर बालक के चिन्तन को प्रेरणा मिलती है और चिन्तन के साथ ज्ञान की वृद्धि होती है। ड्यूई का कहना है कि सीखने की पूरी प्रक्रिया क्रियाओं में भाग लेने के परिणाम से बँधी हुई है और जब तक क्रियाओं में बालक भाग नहीं लेते तब तक उनको कोई अनुभव नहीं होता और न वे सीखते हैं। क्रियाओं का अर्थ ड्यूई ने व्यापक रूप में लिया है। क्रियाएँ सिर्फ वही नहीं है जिन्हें बालक अपनी ज्ञानेन्द्रियों—हाथ, कान, नासिका, मुँह आदि—के द्वारा करता है बल्कि क्रियाओं में वे मानसिक क्रियाएँ भी आती हैं जो समस्या के रूप में शिक्षक उनके सामने रखता है और जिन्हें बालक अपने अध्ययन, वाद-विवाद, विचार-विनिमय आदि के आधार पर हल करने की सोचते हैं। परन्तु ज्ञानप्राप्ति का आधार है क्रिया। पहले क्रिया है फिर चिन्तन और ज्ञान प्राप्ति। ड्यूई के मतानुसार प्रत्येक प्रकार के चिन्तत में तीन स्तर हैं : प्रथम, समस्या का आभास, द्वितीय परिस्थितियों का अध्ययन, तृतीय परिस्थितियों के आधार पर समस्या हल करने के लिए साधनों की खोज। अतः समस्या प्रथम है और वही विचार करने, सोचने, तर्क करने अध्ययन करने विचार-विनिमय करने आदि के लिए आधार देती है।[2]

अतः शिक्षण विधि ऐसी हो कि बालकों को सीखने के लिए उनकी रुचि, अभिरुचि, शक्ति व योग्यता के आधार पर अनुभव दिये जाएँ। ड्यूई के विचार से स्कूल एक

---

1 Cf. *Dewey, John* : Democracy and Education.
"As a society becomes more complex, however, it is found necessary to provide a special social environment which shall specially look after nuturing the capacities of the immature. Three of the more important functions of this special enviroment are : simplifying and ordering the factors of the desposition it is wished to develop; purifying and idealising the existing social customs, creating a wider and better balanced environment than that by which the young would be likely, if left to themselves, to be influenced." [p. 27]

2 "Action is primordial, and is followed by experience, also action is modified by experience either by being inhibited or being repeated." [*Dewey John* : How We Think ?]
"All learning must come as a by-product of actions and never as something learned directly for its own sake." [*Ibid*]

सक्रिय स्कूल (Activity school) हो जिसमें बालकों को वे क्रियाएँ करने व उनमें भाग लेने के लिए अवसर मिले जिनके आधार पर उनकी ज्ञान वृद्धि हो। यह ज्ञान उनके मस्तिष्क में ठूँसकर न भरा जाय बल्कि उनको उसे स्वयं प्राप्त करने का प्रयत्न करना पड़े। तभी वे उस ज्ञान का प्रयोग सीखेंगे और अपने जीवन में प्रयोग में लावेंगे। चूँकि यह ज्ञान उन क्रियाओं के परिणाम का फल होगा जो क्रियाएँ सामाजिक क्रियाओं से भिन्न नहीं हैं अतः बालक समाजोपयोगी ज्ञान प्राप्त करेंगे और वे अपने को समाज का योग्य सदस्य बनायेंगे।

शिक्षण विधियाँ ऐसी हों जो बालकों की सीखने की इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को मान्यता दे। आज शिक्षा में क्रिया करके सीखने (Learning by doing), प्रोजेक्ट पद्धति (किसी क्रिया में केन्द्र मानकर ज्ञान-प्राप्त कराना), क्रीड़ा-विधि (रुचिकर क्रियाओं को खेल के रूप में लेना) आदि पद्धतियों पर जोर है वह ड्यूई व अन्य प्रयोगवादी दार्शनिकों की विचार-धारा का प्रभाव है। ड्यूई के मतानुसार शिक्षण विधि सीखने की प्रक्रिया के ऊपर आधारित होनी चाहिए। किसी भी सफल शिक्षण का मापदण्ड बालकों द्वारा सीख जाने में है। अच्छा शिक्षण वही है जिसके द्वारा बालक अधिक से अधिक सीख गये हों और चूँकि बालक क्रिया द्वारा सीखते हैं अतः शिक्षण विधियाँ बालकों की क्रियाओं पर आधारित हों। वे शिक्षक के मन की उपज न हों बल्कि वास्तविक परिस्थितियों के अध्ययन के आधार पर हों। शिक्षक के द्वारा व्यावहारिकता, बालकों के सीखने की प्रक्रिया, व पाठ्य वस्तु का रूप आदि का तिरस्कार करके जो भी शिक्षण विधियाँ बनाई जाती हैं वे औपचारिक, निष्फल व कठोर होती हैं। शिक्षक अपनी ओर से भले ही सोचता रहे कि वह ज्ञान दे रहा है, बालक वास्तव में ज्ञान प्राप्त नहीं करते हैं। प्रत्येक बालक की अलग-अलग शक्ति होती है। उसकी रुचियाँ, योग्यताएँ व प्रवृत्तियाँ दूसरों से भिन्न होती हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षण विधि अधिकाधिक रूप में वैयक्तिक हो परन्तु पूर्ण रूप में वैयक्तिक बनाना भी सम्भव नहीं है। लेकिन पृथक्-पृथक् बालकों के लिए पृथक्-पृथक् पद्धति हो तो भी पद्धतियों के विषय में कुछ सामान्य मापदण्ड बनाए जा सकते हैं। ड्युई के अनुसार शिक्षण विधियों में वैयक्तिक आधार के अतिरिक्त कुछ गुणों की आवश्यकता है जिससे वे स्पष्टता, लचीलेपन अभिप्राय-सिद्धि के लिए उपयोगिता, सरलता व प्रभावोत्पादकता का परिचय दे सकें।[1]

---

[1] "Expressed in terms of the attitude of the individual the truth of good method are straightforwardness, flexible intellectual interest or open-minded will to learn, integrity of purpose, and acceptance of responsibility for the consequences of one's activity including thought." [*Dewy John* : Democracy and Education, p. 211]

(6) **शिक्षा के उद्देश्य और पाठ्यक्रम का स्वरूप**—शिक्षा के ड्यूई के मतानुसार क्या उद्देश्य हैं, इनकी चर्चा हम दूसरे अध्याय में कर चुके हैं। ड्यूई के विचार से उद्देश्य के बारे में लोगों में एक भ्रमात्मक विचार चलता रहता है। लोग जिसे उद्देश्य कहते हैं वह वास्तव में उद्देश्य नहीं है। एक उदाहरण जो ड्यूई का ही है देकर हम उसके मत को स्पष्ट करना चाहते हैं। जब हम किसी लक्ष्य को देखकर उस पर आँख गढ़ाकर निशाना मारना चाहते हैं तो हम कहते हैं कि अमुक हमारा लक्ष्य है। वास्तव में हमारा लक्ष्य जिस जगह पर हम निशाना मारते हैं वह जगह नहीं है बल्कि 'निशाना मारना' ही हमारा लक्ष्य है। हम अपनी कथाओं में से एक उदाहरण लें। अर्जुन ने चक्र में घूमती हुई मछली का प्रतिविम्ब देखकर उसकी आँख में निशाना लगाया तो उसका क्या लक्ष्य था ? मछली की आँख अथवा ठीक निशाना लगाना ? वास्तव में यदि हम ध्यान से विचार करें तो हमारा लक्ष्य अपनी क्रियाओं को व्यवस्थित ढंग से सम्पादित करना है ताकि जिस अभिप्राय को लेकर हम चले हैं उसकी सिद्धि हो सके। क्रिया को व्यवस्थित व उचित ढंग से चलाना ही लक्ष्य है। अतः लक्ष्य कोई निश्चित, अटल, स्थिर स्थान या वस्तु नहीं है बल्कि सफलता पूर्वक, अपनी शक्तयानुसार व्यवस्थित ढंग से क्रिया के सम्पादन करने में है और जब एक क्रिया समाप्त हो जाती है और एक अभिप्राय की सिद्धि हो जाती है तो दूसरी, फिर तीसरी क्रियाएँ चलती रहती हैं और एक लक्ष्य के बाद दूसरे लक्ष्य की पूर्ति होती रहती है। जिस प्रकार क्रियाओं का अन्त नहीं उसी प्रकार लक्ष्यों का अन्त नहीं। चूँकि शिक्षा जीवन की संवाहिकता की क्रिया है अतः शिक्षा का एक उद्देश्य नहीं बल्कि प्रत्येक शैक्षिक क्रिया के सफलता पूर्वक सम्पादित होने में ही शिक्षा के उद्देश्य निहित हैं। इसीलिए ड्यूई कहता है कि शिक्षा के उद्देश्य की बात करना मूर्खता है। शिक्षा का एक उद्देश्य नहीं बल्कि अनेक हैं क्योंकि जैसे-जैसे बालक क्रियाएँ करते हुए अपने अनुभव व ज्ञान को बढ़ाता जाता है वैसे-वैसे वह शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करता जाता है। शिक्षा के उद्देश्य शिक्षा की प्रक्रिया में ही हैं, वे उस मार्ग के किसी सिरे पर स्थिर व अटल रूप में नहीं खड़े हैं जिनकी ओर धीरे-धीरे बालक बढ़ता जा रहा है। शिक्षा का उद्देश्य शिक्षा प्राप्त करने की निरन्तर शक्ति देना है। जैसे-जैसे बालक शिक्षा प्राप्त करता जाता है वैसे-वैसे और शिक्षा प्राप्त करने की शक्ति उसमें बढ़ती जाती है। क्रिया करते हुए और क्रिया करने की शक्ति प्राप्त करना शिक्षा का मूल्य है। उद्देश्य क्रिया में है क्रिया से बाहर नहीं है। शिक्षा की प्रक्रिया और शिक्षा का लक्ष्य एक ही वस्तु हैं, वे अलग-अलग नहीं हैं और शिक्षा की प्रक्रिया से बाहर शिक्षा के लक्ष्य को मानना शिक्षा की समस्त प्रक्रिया के मूल्य को समाप्त कर देना है।[1]

---

[1] "The process and the goal of education are one and the same thing." [*Dewey John*; My Pedagogic Creed, p. 13]

(शेष पेज 150 पर)

(7) **पाठ्यक्रम और शिक्षक का कार्य**—प्रयोगवादी विचार-धारा के प्रभाव के फलस्वरूप जिस प्रकार शिक्षण विधियों के सम्बन्ध में हमारे विचारों में बहुत परिवर्तन हुए हैं उसी प्रकार पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में भी महान् परिवर्तन हुए हैं। शिक्षा के प्रगतिशील तथा सामाजिक रूप के ऊपर जोर देकर जॉन ड्यूई तथा अन्य प्रगतिशील शिक्षा के समर्थकों ने जिनका आज की शिक्षा पर बहुत प्रभाव है पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में हमारे विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिए हैं और उनको संकीर्णता के गड्ढे में से निकाल कर एक विस्तृत क्षेत्र में लाकर रख दिया है। चूँकि स्कूल एक सामाजिक संस्था हैं और उसे सामाजिक क्रियाओं के सरल तथा शुद्ध बनाकर संतुलित रूप में बालकों के समक्ष रखना है जिससे वे उन क्रियाओं में भाग लेकर ज्ञान प्राप्त करें तथा उन गुणों, आदतों व मनोवृत्तियों को अपनावें जो उन्हें समाज का योग्य सदस्य बनावेंगी अतः एक ओर शिक्षक का कार्य स्कूल में ऐसे वातावरण व क्रियाओं का संकलन करना है जिनमें रहकर तथा जिनमें भाग लेकर उक्त उद्देश्य की पूर्ति हो सके और दूसरी ओर स्कूल का कार्यक्रम इतना विस्तृत हो जाता है कि जिसमें केवल विषय-ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले विषय ही नहीं आते बल्कि बालक के वे समस्त अनुभव आते हैं जो स्कूल में उसे प्राप्त होते हैं और जिनके द्वारा वह ज्ञानोपार्जन करता है तथा उक्त गुणों व आदतों को सीखता है। पाठ्यक्रम इस प्रकार सारे स्कूल के जीवन का स्वरूप है। उसमें विषय ज्ञान ही नहीं बल्कि वे सब अनुभव—गुणों की प्राप्ति के रूप में, आदतें ग्रहण करने के रूप में, चरित्र निर्माण करने के रूप में, क्रियाओं द्वारा जो क्रियाएँ व्यक्तिगत रूप में अथवा सामूहिक रूप में सम्पादित होती हैं और जिनमें लिखने पढ़ने के अलावा खेलना, कूदना, स्कूल के कार्य में भाग लेना, समाज के कार्य में भाग लेना,—ये और इनके अलावा अन्य जो भी अनुभव हों वे सब आते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि स्कूल का कार्यक्रम बालकों के समस्त अनुभवों से सम्बन्ध रखता है और उनके अनुभवों

(पेज 149 का शेष)

"The educational process has no end beyond itself; it is its own end; and the educational process is one of continual reorganising, reconstructing, manufacturing....Since in reality there is nothing to which growth is relative save more growth, there is nothing to which education is subordinate save more education."

[*Dewey John* : Democracy and Education, pp. 59-60]

"....to set up any end outside of education, as furnishing its goal and standard, is to deprive the educational process of much of its meaning, and tends to make us rely upon false and external stimule in dealing with the child."

[My Pedagogic Creed, p. 13]

को सुन्दर बनाना तथा स्कूल के समस्त जीवन को उन्नत कर उसके स्तर को ऊँचा उठाना जिससे बालकों के जीवन का स्तर ऊँचा हो सके स्कूल की जिम्मेदारी है।[1]

उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकला कि पाठ्यक्रम या पाठ्य वस्तु—इसका बालकों के वातावरण से सम्बन्ध है और इनका प्रयोजन यही है कि बालकों को ऐसा वातावरण दें जिसमें रहते हुए उनको ज्ञान प्राप्ति हो तथा वे सामाजिक क्षमता भी प्राप्त कर सकें। अब प्रश्न यह उठता है कि इस पाठ्यक्रम का क्या स्रोत है? ड्यूई के मतानुसार पाठ्यक्रम सामाजिक जीवन की प्रमुख धाराओं का संकलन है जिसे प्रत्येक स्तर पर बालकों की शक्ति, योग्यता व रुचि के अनुसार सरल व संतुलित बनाना स्कूल का कार्य है। उसके दो आधार हैं: एक तो व्यक्तिगत और दूसरा सामाजिक। सामाजिक जीवन को बालकों के समक्ष खोलना और उसकी रुचि व योग्यताओं के अनुसार उसमें से अपने कल्याण व हित के लिए ज्ञान, कौशल, आदतें मनोवृत्तियाँ प्राप्त करने के लिए उसे प्रेरणा देना—यह शिक्षक का कार्य है। जो ज्ञान बालकों की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों व रुचियों आदि को ध्यान में रखकर नहीं दिया जाता वह अरुचिकर व व्यर्थ होता है तथा जो ज्ञान समाज से सम्बन्ध नहीं रखता वह बालक को समाज का योग्य सदस्य नहीं बनने देता। अतः पाठ्यक्रम में इन दोनों आधारों को स्थान देना अनिवार्य है और शिक्षक को दोनों का समन्वय करना है। एक प्रगतिशील समाज में पाठ्यक्रम सदा लचीले और प्रगति के अनुकूल परिवर्तित व परिमार्जित होने के योग्य होंगे; तभी वे प्रगतिशील समाज के प्रतीक कहे जा सकते हैं और प्रगति के क्रम को चालू रखने में सहायक हो सकते हैं।[2]

---

1 Compare: Report of the Secondary Education Commission, Ministry of Education, Govt. of India:
"It must be clearly understood that, according to the best educational thought, curriculum does not mean only the academic subjects traditionally taught in the school, butit includes totality of experiences that a child recieves at school. In this sense the whole life of the school becomes the curriculum which can touch the life of students at all points and help in the evolution of a balanced personality." [p.80]
Also,
"It (curriculum) is the whole living of the pupils or students so far as the school accepts responsibility for its quality."
[*Kilpatrick, W.H.*: Philosophy of Education from the Experimentalist Outlook, Forty-first Year Book, op. cit. p. 76]

2 "The scheme of curriculum must take account of the adaptation of studies to the needs of the existing community life; it must select with the intention of improving the life we live in common so that the future shall be better than the past."
[Democracy and Education, p. 275]

जब पाठ्यक्रम को ड्यूई ने इतने विस्तृत रूप में लिया है और उसे स्कूल का सारा जीवन कहा है तो पाठ्यक्रम को अलग-अलग विषयों के ज्ञान के रूप में समझना अथवा अलग-अलग विषय-ज्ञान का विभाजन उसके सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल है। बालक को स्कूल के समस्त वातावरण में रहना है और उसमें भाग लेकर सीखना है। अतः पाठ्यवस्तु और उसका क्रम बहुत लचीला होना चाहिए। ड्यूई विषयों के सह-सम्बन्ध (Correlation) पर बहुत जोर देता है और साथ ही साथ वह यह भी कहता है कि चूँकि समाज पेचीदा होता जा रहा है इसलिए पाठ्यक्रम में वस्तु को चुनने, छाँटने व संगठित करने की महती आवश्यकता है। शिक्षक की इस क्षेत्र में बहुत बड़ी जिम्मेदारी है और उसे अपनी शिक्षण विधियों को स्कूल व पाठ्यक्रम ही नहीं बल्कि समस्त शिक्षा के नए रूप को ध्यान में रखकर निश्चित करना है।[1]

(8) **अनुशासन व रुचि**—किसी क्रिया को सफलतापूर्वक सम्पादित करने के लिए दो आवश्यकताएँ हैं और दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। वे हैं रुचि और अनुशासन। यदि किसी कार्य के करने में किसी व्यक्ति की रुचि उत्पन्न हो गई तो वह उसके करने में अपनी सारी शक्ति लगा देगा और इस प्रकार अपनी शक्ति का सदुपयोग करेगा। उसे व्यर्थ में नष्ट न करेगा। कार्य में रुचि शक्ति के प्रक्षेपण की निशानी है और यही अनुशासन है। अनुशासन शक्ति का सदुपयोग, दुरुपयोग से उसे बचाना, यह जानना कि क्या करना है और उसको करने में प्रवृत्त होना तथा उसको सफलतापूर्वक सम्पादित करने के लिए समुचित तथा सभी उपलब्ध साधनों को इकट्ठा करना—इनमें ही है।[2] और यह सब तभी होता है जब किसी व्यक्ति की किसी कार्य में रुचि उत्पन्न हो गई। रुचि अनुशासन की जड़ है। शिक्षा में इसका बहुत महत्व है। यदि बालकों को अनुशासन सिखाना है तो उनके वातावरण को रोचक बनाओ ऐसा बनाओ कि प्रत्येक बालक को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उसमें से क्रियाएँ चुनने व उनको करने का अवसर मिले। यदि बालकों की क्रियाओं में रुचि उत्पन्न हो गई तो वे स्वयं ही अनुशासित होकर अनुशासन का मूल्य समझ लेंगे।

---

1 Compare :
"Help him to express himself constructively in relation to the tasks accruing to him from his sharing in the life of the school and the human community at large; help him to control his action for the purpose of greater effectiveness; discover his interests and regard them as signposts indicating his future development; use examinations not for checking on externally acquiring knowledge but for testing in fitness for social life—then you have the right method."
[*Ulich, Robert*: History of Educational Thought, p. 320]

2 "Discipline means power at command; mastery of the resources available for carrying through the action undertaking. To know

(शेष पेज 153 पर)

रुचि (अँग्रेजी में 'interest') शब्द का साधारणतया कई अर्थों में प्रयोग किया जाता है उदाहरणार्थ, हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति की राजनीति में रुचि है, अमुक की धर्म में, अमुक की समाज-सेवा में, आदि। दूसरे अर्थ में हम रुचि शब्द का प्रयोग, प्रधानतया अंग्रेजी के शब्द का, तब करते हैं जब किसी कार्य के परिणाम से हम किसी का सम्बन्ध जोड़ते हैं, जैसे यदि दो आदमियों में झगड़ा हो रहा है और यदि कोई एक का पक्ष लेता है तो हम कहते हैं कि 'भाई तुम्हारा क्या मतलब है (क्या interest है ?) जो बीच में बोल रहे हो। तीसरे प्रयोग में हम रुचि से उस स्थिति का बोध करते हैं जब कोई व्यक्ति किसी कार्य में लीन रहता हुआ नजर आता है और हम कहते हैं कि वह व्यक्ति अपने को उसमें भूल बैठा है। तीनों ही परिस्थितियाँ पृथक्-पृथक् रूप में सामान्य अनुभव में आती हैं और तीनों परिस्थितियों में व्यक्ति की मनोवृत्ति अथवा क्रिया की हम उसकी रुचि (interest) के आधार पर व्याख्या करते हैं। शिक्षा में रुचि शब्द का अर्थ व महत्व कुछ भिन्न है परन्तु वह शिक्षा की क्रिया को सफल बनाने के लिए तदर्थ में लिया गया है। ड्यूई इसकी व्याख्या इस प्रकार करता है।

रुचि (interest) शब्द बीच में है—यह दो वस्तुओं अथवा स्थितियों के बीच की दूरी है। किसी विचार, क्रिया व कार्य को लीजिए। उसकी प्रथम अवस्था वह है जब वह अपूर्ण रूप में है और किया जाने को है, इसकी तीसरी अवस्था वह है जब वह पूर्ण हो चुका है और किया जा चुका है। इन दोनों के बीच की अवस्था वह है जब क्रिया का क्रम चल रहा है, कठिनाइयों को हटाया जा रहा है, साधन इकट्ठे किए जा रहे हैं, उनका प्रयोग हो रहा है, आदि। इस परिस्थिति में होकर ही पूर्णता की स्थिति पर पहुँचना होता है। ड्यूई कहता है कि रुचि यह बीच की परिस्थिति है। यही इसका वास्तविक महत्व है। यदि यह यहाँ लगी रहती है तो तीसरी स्थिति में आ जाती है जो पूर्णता की है, अन्यथा वह स्थिति नहीं आती।

रुचि इस प्रकार क्रिया को चलाने की शक्ति है। सबकी एकसी रुचि नहीं होती, न सब एक ही कार्य में रुचि रखते हैं। अतः शिक्षक का कार्य यह है कि वह ऐसा पाठ्यक्रम बालक के सामने रक्खे और इस प्रकार उसे चलावे कि उसकी उसमें रुचि हो जाय। रुचि क्रिया में लगने की संलग्नता की प्रवृत्ति है और रुचि उत्पन्न होने पर ध्यान व सहन-शक्ति भी उसमें लग जाते हैं जिनकी उस क्रिया को सफलता तक ले जाने की भारी आवश्यकता है, और ध्यान व सहन-शक्ति अनुशासन के सूचक

(पेज 152 का शेष)

what one is to do and to move to do it promptly and by use of the requisite means is to be disciplined, whether we are thinking of an army or a mind." [Democracy and Education, p. 151]

हैं क्योंकि अनुशासन निरन्तर ध्यान व संलग्नता का परिचायक है।[1] रुचि और अनुशासन इस प्रकार एक दूसरे के ऊपर आधारित हैं। रुचि होने पर अनुशासन स्वयं आ जाता है और जहाँ अनुशासन है वह रुचि का सूचक है।

(9) **आधुनिक शिक्षा पर ड्यूई का प्रभाव**—आधुनिक शिक्षा पर ड्यूई का बहुत प्रभाव पड़ा है। ड्यूई केवल एक विचारक ही नहीं था बल्कि वह एक शिक्षक भी था। शिकागो में उसने एक यूनिवर्सिटी एलीमैन्टरी स्कूल (University Elementary School) खोला जिसमें अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों को व्यावहारिक रूप दिया और जिसने अनेक शिक्षा-शास्त्रियों को आकर्षित किया। उसकी विचार-धारा विश्व के अनेक देशों में फैली और चीन, जापान, तुर्की आदि देशों में उसे शिक्षा-संगठन के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिए आमंत्रित किया गया। अपने स्कूल को उसने एक आदर्श के रूप में निर्माण किया जिसे उसने अपने विचारों की प्रयोगशाला बनाया, जिसमें शिक्षा के सिद्धान्तों व विचारों की जाँच, उनका प्रयोग और गुणों व अवगुणों की जाँच हो सके। ड्यूई प्रयोगवादी होने के नाते उन शिक्षा के सिद्धान्तों में विश्वास नहीं करता था जिनका व्यावहारिक रूप सम्भव न हो। सारी शिक्षा का जीवन से सम्बन्ध है और यदि शिक्षा इस सम्बन्ध को नहीं निभाती, यदि शिक्षा की प्रक्रिया, उसका पाठ्यक्रम, शिक्षण विधियाँ, स्कूल का वातावरण, शिक्षकों के आदर्श उस कसौटी पर नहीं उतरते तो वे हवा में लटके हुए हैं, जमीन पर उनका कोई अस्तित्व नहीं, अतः वे निरर्थक हैं।

(अ) दर्शन रूप में ड्यूई ने एक क्रान्तिकारी विचार को जन्म दिया। प्रयोगवादी विचारधारा दर्शन को व्यावहारिक रूप का सैद्धान्तिक रूप मानती है। ईश्वर की सत्ता, धर्म, दैवी चमत्कार आदि को वह दर्शन के क्षेत्र में नहीं लाती। अतः इसके सम्बन्ध में प्रयोगवाद जैसा शिक्षा में प्रचलित है, चर्चा करना नहीं चाहता। यह सब धर्म के विषय हैं दर्शन के नहीं। प्रयोगवाद की दृष्टि से दर्शन मनुष्य के चिन्तन से सम्बन्ध रखता है और धर्म मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति व भक्ति भाव से। दर्शन का आधार मानव की क्रियाएँ हैं। क्रियाएँ ही बल पाने के लिए सिद्धान्त रूप को देखती हैं और सिद्धान्त रूप सार्थक होने के लिए व्यवहार रूप को धारण करता है। ड्यूई का शिक्षा दर्शन उसके प्रयोगों, निरीक्षणों, अभ्यासों के आधार पर निर्मित सिद्धान्तों का समूह है।

---

1 "To have an interest is to take things as entering into such a continuously developing situation, instead of taking them in isolation. The time difference between the given incomplete state of affairs and the desired fulfilment exacts efforts in transformation; it demands continuity of attention and endurance. This attitude is what is practically meant by will. Discipline or development of power of continuous attention is its fruit."

[*Ibid* : p. 162]

(ब) शिक्षा के व्यवहार रूप को ड्यूई ने बहुत ही प्रभावित किया है। उसका सबसे अधिक प्रभाव स्कूल के नए रूप व नए आदर्श में प्रतिबिम्बित होता है। शिक्षा को एक सामाजिक प्रक्रिया बतलाकर स्कूल को एक समाज की प्रतिनिधि संस्था बतलाकर तथा उसके आदर्शों, कार्यक्रमों, वातावरण की व्यवस्था कर ड्यूई ने जनतंत्रीय शिक्षा के रूप को बहुत बल दिया है। उसके क्रियाशील स्कूल (Activity school) का आदर्श जिसमें बालक क्रिया द्वारा ही नहीं सीखते बल्कि जो स्कूल नये वैज्ञानिक दृष्टि से क्रिया को ज्ञान की जननी व ज्ञान का स्रोत मानकर अपना पूरा कार्यक्रम बनाता है, आज जनतन्त्रीय शिक्षा की स्तम्भ शिला माना जाता है।

(स) स्कूल को एक सामाजिक संस्था स्वीकार किया जाना और उसके द्वारा उन गुणों, आदतों व चारित्रिक विशेषताओं को बालकों को सिखाना जिनके द्वारा वे जनतन्त्र के सफल नागरिक बन सकते हैं ड्यूई के प्रभाव का प्रतीक है। जनतंत्रीय शिक्षा के रूप को बल देने में ड्यूई का बहुत प्रभाव है।[1]

(द) पाठ्यक्रम को व्यापक अर्थ में लेना और उसकी बालक के समस्त अनुभवों के आधार पर व्याख्या करना तथा उसका रूप निश्चित करना—यह ड्यूई की बहुत बड़ी देन है। आधुनिक काल में पाठ्यक्रम को केवल विषयों के ज्ञान तक ही संकुचित नहीं रक्खा जाता बल्कि उसको बहुत व्यापक अर्थ में लिया जाता है। जीवन केन्द्रित शिक्षा आज के जनतंत्रीय युग की आवश्यकता है और इस विचार-धारा को ड्यूई ने बहुत बल दिया है।[2]

(य) स्कूल के आदर्श, व पाठ्यक्रम के साथ साथ ड्यूई ने शिक्षण विधियों व सीखने के अनुभवों के सम्बन्ध में आधुनिक शिक्षा जगत् को बहुत प्रभावित किया है।

---

1 Compare : "To describe the school as a 'community' is to emphasise the corporate, social character of education."
[*Greene T. M.* : op. cit., p. 117 quoted by Gaind & Sharma, School Administration, p. 93]

2 Compare: "It is only through realistic—and therefore through life-centred education that is great gulf between thinking and doing, between school and community, can be permanently bridged and therefore forgotten. And unless the gulf is speedily eleminated democracy in the Global Air Age may not long endure." [*Olsen Edward G.* : School and Community, p. 20, quoted by Gaind and Sharma, op cit., p. 88]
Also "The starting point of educational reform must be the relinking of the school to life and the restoring of the intimate relationship between them which has broken down with the development the formal tradition of education."
[Report of the Secondary Education Commission op. cit. p. 220]

यह स्वाभाविक भी है। किसी भी शिक्षा-शास्त्री के विचारों को किसी एक क्षेत्र में स्वीकार कर लेने का अर्थ उसे अन्य क्षेत्रों में भी स्वीकार कर लेना है। शिक्षा एक व्यावहारिक कला है और यदि इसके एक क्षेत्र में कहीं कोई परिवर्तन अथवा संशोधन होता है तो उसका प्रभाव दूसरे क्षेत्रों में भी पड़ता है। अतः ड्यूई का प्रभाव शिक्षा के सम्पूर्ण क्षेत्र में है—क्या शिक्षा के आदर्श, क्या उसकी प्रक्रिया, क्या स्रोत और क्या शिक्षा विधि। यद्यपि ड्यूई की प्रत्येक क्षेत्र में हम मौलिकता को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उसके अनेक विचार ऐसे हैं जिन्हें उससे पहले कई शिक्षाशास्त्रियों ने प्रतिपादित किया है और अनेकों ने उनका समर्थन किया है परन्तु उनको उस रूप में रखना जिसमें वे आज हैं तथा उनकी उपयोगिता मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक दृष्टि से सिद्ध करना और उन्हें बल देना—इसमें ड्यूई की मौलिकता है। इस विषय में हम आज शिक्षण विधियों के सामान्य प्रगतिशील रूप, उनके लचीलेपन तथा क्रिया को सम्पादित करने के लिए उपयुक्तता, शिक्षण में प्रत्यक्ष अनुभव का प्रभाव, सामाजिक जीवन में भाग लेकर सीखना, प्रकृति के अनुभव से सीखना, क्रिया करके सीखना, प्रत्यक्ष अनुभवों के अभाव में अप्रत्यक्ष अनुभवों का महत्व (दृश्य-श्रव्य उपकरण)—इनका उल्लेख कर देना चाहते हैं और हमने पिछले पृष्ठों में देखा है कि ड्यूई ने इन सब बातों के सम्बन्ध में कितना प्रभाव डाला है। पाठों का सह-सम्बन्ध, पाठों में रुचि उत्पन्न करना तथा रुचि उत्पन्न करके बालकों को शक्ति का सदुपयोग सिखाना और इस प्रकार उन्हें अनुशासन का पाठ सिखाना—ये ड्यूई के प्रमुख विचार हैं जो शैक्षिक क्रिया को बल देते हैं।

सारांश यह कि ड्यूई ने शिक्षा की सामाजिक दृष्टि से व्याख्या की है, उसे सामाजिक जीवन के स्थित रहने के लिए समाज का भोजन बतलाया है। इसी दृष्टिकोण को लेकर उसने जो शिक्षा दर्शन, स्कूल का रूप, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, शिक्षा के अंग आदि की व्याख्या की है वह आज की जनतंत्रीय व्यवस्था के सर्वथा अनुकूल है और जनतंत्रीय शिक्षा को बल देती है। आज का युग जनतंत्रीय युग है और इसलिए ड्यूई की विचार-धारा ने जन-मन पर बहुत प्रभाव डाला है। ड्यूई आधुनिक युग के बहुत जबर्दस्त विचारकों में हुआ है और उसकी कृतियाँ जो अनेक हैं विश्व में बड़ी रुचि से पढ़ी जाती है।[1]

(10) **ड्यूई की आलोचना** : (अ) ड्यूई की आलोचना उसके शिक्षा के व्यवहार रूप के विषय में इतनी नहीं होती जितनी उसके दार्शनिक विचारों की होती है। इसके सम्बन्ध में हम पहले संकेत कर भी चुके हैं। ड्यूई का प्रयोगवाद उग्ररूप में बहुत आलोचना का पात्र बन गया है और अमेरिका में उसके समर्थकों ने उसकी

---

1 ड्यूई की प्रमुख कृतियाँ ये हैं। (1) Democracy and Education (2) School and Society (3) My Pedagogic Creed (4) How We Think (5) Education To-day (6) Reconstruction in Philosophy (7) Interest and Effort in Education (8) Quest for Certainty.

जो व्याख्या की है उसके आधार पर उसकी आज काफी आलोचना हो रही है। जैसा कि उलिच (Ulich) ने कहा है ड्यूई सत्य की मानव अनुभव के आधार पर व्याख्या करते समय यह भूल जाता है कि "मानव द्वारा सत्य की व्याख्या उसकी सीमा को भी निर्धारित करती है।"[1] मानव अनुभव के परे कुछ नहीं है, यह मानना मानव की ही नहीं पूरी मानव संस्कृति की प्रकृति के विरुद्ध है। प्रयोगवाद के फलस्वरूप उत्पन्न हुई भौतिक प्रवृति ने संसार में संघर्ष, प्रतियोगिता, द्वेष, कलह, प्रतिद्वन्द्विता आदि जैसी बीमारियों को अधिक प्रोत्साहन दिया है। जब मानव ही सब संस्कृति का मापदण्ड हो गया तो वह उसे विकृत भी कर सकता है, उस स्थिति में संस्कृति की रक्षा कौन करेगा ? संस्कृति का आधार मानव अनुभव के परे है। उसके अनुभव व कृतियों को तौलने वाली तथा उनकी सार्थकता सिद्ध करने वाली तराजू दूसरी है, और वह शाश्वत है। शायद इसीलिए अपनी प्रयोगवादी विचार-धारा के प्रारम्भिक रूप को ड्यूई ने बाद में समझा और अपनी भूल का संशोधन किया। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, सन् 1930 के बाद के ड्यूई की विचार-धारा में हमें परिवर्तन मालूम पड़ता है और वह प्रयोगवादी होने के बजाय बहुबिम्बवादी होता हुआ प्रतीत होता है। उसकी सन् 1930 के बाद की विचार-धारा में प्रयोगवाद तथा आदर्शवाद का स्पष्ट समन्वय प्रतीत होता है।

(ब) शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में ड्यूई के विचारों की आलोचना की जाती है। यह सब स्वीकार करते हैं कि क्रिया प्रधान है। परन्तु उद्देश्यों ड्यूई द्वारा अन्तिम उद्देश्यों की अवहेलना उसे आलोचना का पात्र बनाती है। शिक्षा के दो प्रकार के उद्देश्य हैं—एक वे जिनकी प्राप्ति क्रिया के सम्पादित होते ही हो जाती है (immediate), और दूसरे वे जो अन्तिम उद्देश्य कहे जा सकते हैं जिनको मानव अपने व्यक्तित्व के विकास के क्रम को पूरा करता हुआ प्राप्त करने की कोशिश करता है। वे उद्देश्य शाश्वत हैं, अटल हैं, वास्तविक तथ्य हैं। उनकी पूर्ति भौतिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने पर नहीं बल्कि आध्यात्मिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने पर होती है। वे मानव की संस्कृति की स्तम्भ शिला हैं और मानव को मानव कहलाने का अधिकारी बनाते हैं। आज के अशान्त, कलहपूर्ण विक्लान्त वातावरण में जो भौतिकवाद की उपज है वे उद्देश्य रोशनी, शान्ति व सुख का आभास देते हैं और इसीलिए अमेरिका में ही नहीं समस्त विश्व में उनके प्रति लोगों की आस्था बढ़ती जा रही है। मानव के अनुभव ने ही सिद्ध कर दिया है कि प्रयोगवादी दृष्टिकोण की क्या सीमाएँ हैं और किस क्षेत्र में इसकी दुर्बलताएँ हैं। दूसरे महायुद्ध ने तो प्रयोग-

---

1 "..... Dewey's philosophy provides no exception to the rule that every human expression of truth is at the same time a limitation of it."[*Ulich, Robert* : History of Educational Thought, p. 326]

वाद और पदार्थवाद में बीभत्स रूप को और भी खोल दिया है और शान्त मानव मस्तिष्क आदर्शवाद की ओर प्रवृत्त हो रहा है।

(स) जहाँ तक शिक्षण विधियों, स्कूल के आदर्शों, पाठ्यक्रमों, आदि का सम्बन्ध है आधुनिक जगत् ड्यूई की विचार-धारा से बहुत प्रभावित है और इसके ऊपर हम पिछले पृष्ठों में पर्याप्त विचार कर चुके हैं। यह दूसरी बात है कि ड्यूई के विचार सब देशों की परिस्थितियों में पूर्णरूप में व्यवहार न लाए जा सकें। प्रत्येक देश की अपनी-अपनी परम्परा, अपनी-अपनी संस्कृति, विश्वास, सामाजिक ढाँचे आदि होते हैं और एक देश की शिक्षा पद्धति दूसरे देश में ज्यों की त्यों स्वीकार करना बड़ी भूल होती है। अतः ड्यूई के विचार अमेरिका में भले ही मान्य हों परन्तु अपने देश में हमें उनमें से वही अंश लेने होंगे जो हमारी परिस्थितियों में ठीक बैठते हैं और उनको उन्नत बनाने में हमारी सहायता करते हैं। किसी भी विचारक के विचारों की व्यावहारिकता भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में समान रूप में स्पष्ट नहीं होती। परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही उनकी उपयोगिता का लाभ उठाया जा सकता है।

सारांश

प्रयोगवाद का आधुनिक शिक्षा में बहुत प्रभाव है और यह प्रगतिशील शिक्षा का सूचक है। प्रगतिशील शिक्षा क्रिया द्वारा सीखने, पाठ्यक्रम को बालकों के समस्त अनुभव का रूप देने, शिक्षण विधियों के लचकदार तथा प्रगतिशील होने तथा उद्देश्यों के क्रिया के क्रम में निहित रहने में विश्वास करती है।

प्रयोगवाद नई विचार-धारा नहीं है। प्राचीन यूनान में सोफिस्ट भी प्रयोगवादी थे। मानव के अनुभव को प्रधानता देना और उसी के आधार पर वस्तु, क्रिया, निर्णय, सत्यासत्य, आदि का मूल्यांकन करना प्रयोगवादी विचारधारा की आधार शिला है। इस परिवर्तन शील जगत में परिवर्तन ही सत्य है। अतः शाश्वत सत्यों व तत्वों में प्रयोगवाद विश्वास नहीं करता। स्थिरता, अटलता ये मानसिक जड़ता के चिन्ह हैं।

आधुनिक प्रयोगवाद ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से जोर पकड़ा जब कि वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा परिवर्तित जीवन के ढंग और नये विचारों में मध्यकालीन परम्पराओं व संस्थाओं के रूपों में टक्कर हुई। अनेक देशों में जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों के स्वरूप नए-नए वादों ने जन्म लिया। अमेरिका में प्रयोगवाद ने जोर पकड़ा। विलियम जेम्स तथा जॉन ड्यूई अमेरिका के प्रयोगवाद के प्रमुख विचारक थे।

दर्शन के रूप में प्रयोगवाद शाश्वत तत्वों व सत्यों का खंडन करता है। यह बहुवादी दर्शन है, अतः प्रकृतिवाद व आदर्शवाद दोनों भिन्न हैं क्योंकि वे एक वादी हैं। यह मानव-अनुभव को केन्द्र बनाकर चलता है। मानव अनुभव ही यह सिद्ध करता है कि क्या सत्य है, क्या नहीं, क्या उपयोगी है, क्या नहीं, क्या तथ्य है क्या नहीं

आदि। वास्तविकता निश्चित नहीं है बल्कि निर्माण के क्रम में है। वह बदलती रहती है। मानव अभिप्राय समस्त क्रियाओं के स्रोत हैं और मानव ही उनके विषय में मूल्यांकन कर सकता है। प्रयोगवाद व्यक्ति के व्यक्तित्व पर जोर देता है परन्तु आदर्शवाद की तरह उसे व्यापक अर्थ में किसी बड़े व्यक्तित्व का अंश नहीं मानता। प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग व्यक्तित्व है और वह उसी का है। ईश्वर भी उससे अलग है। प्रयोगवाद इस प्रकार एक प्रकार का वैयक्तिक आदर्शवाद (personal idealism) है।

शाश्वत तत्वों के खण्डन का मानव अभिप्राय को प्रधानता देने के आधार पर प्रयोगवाद की बहुत आलोचना होती है और यह कहा जाता है कि अत्यधिक भौतिकवादी प्रवृत्ति इसका परिणाम है जिसने विश्व में संघर्ष, प्रतिद्विन्द्विता, व कलह आदि को जन्म दिए हैं और मानव की अत्यधिक भौतिकवादी प्रवृत्ति बनाकर सभ्यता की जड़ को खोखला कर दिया है।

दर्शन के रूप में नहीं व्यवहार की दृष्टि से प्रयोगवाद ने आधुनिक शिक्षा पर बहुत प्रभाव डाला है। शिक्षा एक व्यावहारिक कला है और व्यावहारिक दृष्टि से प्रयोगवाद शिक्षा से पुनर्निर्माण में बहुत सहायक सिद्ध हुआ है। प्रयोगवादी शिक्षा की निम्नलिखित धाराएँ आज की शिक्षा में स्पष्ट हैं :—

(1) शिक्षा व्यापक रूप में विकास या वृद्धि या व्यवहार परिवर्तन का रूप लेती है।

(2) शिक्षा के निकट के उद्देश्य बहुत महत्व रखते हैं और उनकी प्राप्ति के लिए शिक्षण विधियाँ प्रगतिशील हों।

(3) शिक्षा जीवन-केन्द्रित हो और एक प्रगतिशील समाज में वह भी प्रगति का परिचय दे। शिक्षा में स्थिर व कठोर मनोवृत्तियों का स्थान नहीं है।

(4) शिक्षा एक सामाजिक क्रिया है और समाज का भोजन है।

(5) समाज शिक्षा संस्थाओं को अपने आदर्शों की पूर्ति के लिए स्थापित करता है अतः शिक्षा संस्थाएँ समाज का लघुरूप हों।

(6) जनतन्त्रीय समाज के लिए जनतन्त्रीय शिक्षा की आवश्यकता है।

(7) ज्ञान की उत्पत्ति क्रिया के द्वारा होती है। क्रिया प्रधान है। सफलतापूर्वक क्रिया का सम्पादन करने से ही ज्ञान आता है और बालक उसका प्रयोग भी सीखता है। क्रिया द्वारा सीखना महत्वपूर्ण है।

(8) शिक्षा बालक की नैसर्गिक प्रवृत्तियों, रुचियों, शक्तियों आदि को केन्द्र बनाकर दी जाय परन्तु उनको साथ ही साथ सामाजिक रूप दिया जाय। बालक अपने हित के साथ-साथ समाज का हित करने की क्षमता भी प्राप्त कर सके।

(9) परम्परागत, रूढ़िगत तथा कठोर विधियों, विचारों को शिक्षा में स्थान नहीं। एक लचकदार समाज के लिए लचकदार शिक्षा की आवश्यकता है।

(10) शिक्षा जीवन की तैयारी नहीं, जीवन है भविष्य अनिश्चित है, अतः वर्तमान अधिक मूल्य रखता है। शिक्षा द्वारा बालकों को वे गुण, ज्ञान, मनोवृत्तियाँ व कौशल दिए जावें जो उन्हें एक बदलते हुए समाज में परिस्थितियों के अनुकूल अपना समाज में स्थान लेने के योग्य बनायें।

जॉन ड्यूई : प्रयोगवाद का प्रमुख प्रवर्तक है और उसने आधुनिक शैक्षिक विचार-धारा को बहुत प्रभावित किया है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से ड्यूई प्रयोगवादी है। परन्तु ड्यूई के विचारों का अध्ययन करने में हमें उसके सन् 1896 से 1930 तक तथा 1930 के बाद के विचारों का भेद जानना आवश्यक है। 1930 के बाद ड्यूई बहुबिम्बवाद को अपने विचारों में प्रतिबिम्बित करता है और वह अपने प्रयोगवाद का आदर्शवाद से समन्वय करता हुआ नजर आता है।

व्यावहारिक दृष्टि से शिक्षा को ड्यूई ने बहुत प्रभावित किया है। उसकी निम्न देन है :—

(1) शिक्षा का अर्थ : शिक्षा सामाजिक जीवन की संवाहिकता का रूप है।

(2) शिक्षा के उद्देश्य : शिक्षा की प्रक्रिया से बाहर नहीं हैं।

(3) शिक्षा का आधार : दो हैं (1) मनोवैज्ञानिक और दूसरा (2) सामाजिक।

(4) स्कूल : समाज द्वारा स्थापित विशिष्ट संस्था है।

(5) स्कूल के कार्यक्रम में समाज का लघुरूप प्रतिबिम्बित है।

(6) स्कूल की जिम्मेदारी : व्यक्तिगत विकास तथा समाजोपयोगी गुणों को सिखाना।

(7) शिक्षण विधियों में प्रत्यक्ष अनुभव, क्रिया द्वारा सीखने की प्रधानता।

(8) स्कूल का पाठ्यक्रम : समाज की क्रियाओं का सरल, शुद्ध और संतुलित रूप। सक्रिय स्कूल का आदर्श वातावरण उपस्थित करना तथा बालकों को अपनी रुचि व शक्ति के अनुसार कार्य करके सीखने के लिए अवसर देना।

(9) शिक्षक का कार्य : वातावरण का चिन्वय और बालकों को उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्रियाओं का अभ्यास। वातावरण का व्यापक अर्थ जिसमें क्रियाओं के दोनों रूप सम्मिलित हैं—इन्द्रियों द्वारा की गई तथा मानसिक शक्तियों के प्रयोग द्वारा की गई।

(10) पाठ्य-विषयों के सह सम्बन्ध पर जोर।

(11) अनुशासन व रुचि का सम्बन्ध और उनकी व्याख्या रुचि अनुशासन का आधार है।

(12) जनतन्त्रीय शिक्षा का आदर्श व उसकी व्यवस्था।

ड्यूई की आलोचना : उसके प्रयोगवाद के दार्शनिक रूप की ही की जाती है सम्भवतः ड्यूई ने स्वयं आगे चलकर अपनी भूल को अनुभव कर प्रयोगवाद और आदर्शवाद का समन्वय स्थापित कर अपने विचारों में बहुबिम्बवाद की झलक दिखलाई।

आधुनिक शिक्षा में ड्यूई द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का उनके व्यवहार रूप में बहुत प्रभाव है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जो बात उसने अमेरिका की शिक्षा व्यवस्था के लिए उपयोगी बताई है, वह हमारे देश में भी होगी। शिक्षा का रूप अपने-अपने देश की सामाजिक स्थितियों, परम्पराओं संस्कृति आदि के ऊपर आधारित रहता है और दूसरे देशों की विचार धाराओं को उतने अंश तक किसी देश में स्थान प्राप्त होता है जितना उस देश की परिस्थितियाँ स्वीकार करती हैं। संयत दृष्टिकोण विचारों और व्यवहारों का परिस्थितियों से समन्वय करता है।

८
शिक्षा में यथार्थवाद

विषय प्रवेश—मनुष्य के जीवन में उसके विश्वासों का बहुत मूल्य है। अपने विश्वासों के सहारे मानव को एक सहारा मिलता है और अपनी क्रियाओं के प्रति उसे सन्तोष प्राप्त होता है। विश्वास का आधार वैज्ञानिक भी हो सकता है तथा संस्कारात्मक भी। बहुत से विश्वास अनुभव सिद्ध होते हैं तथा बहुत से अनुभव के आधार पर नहीं बल्कि परम्परा, संस्कृति तथा सामाजिक विधि के आधार पर भी खड़े होते हैं। हम एक ऐसे जगत् में रहते हैं जिसमें हम विश्वास का प्राधान्य देखते हैं और ये विश्वास व्यक्तिगत रूप में नहीं बल्कि समाज-गत रूप में, प्रचलित नजर आते हैं। स्थान-स्थान पर युग-युग में मानव-समाज को उसके विश्वास बल देते हैं और उनके आधार पर ही वह प्रगति करता है। परन्तु साथ ही साथ विश्वास मानव-समाज की दुर्बलता के सूचक भी बन जाते हैं। जब कोई मानव-समाज अपने विश्वासों को दूसरे के ऊपर लादना या थोपना चाहता है तो संघर्ष भी उत्पन्न हो जाते हैं और मानव-समाज युद्ध के पाश में फँस जाते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि किस प्रकार धार्मिक विश्वासों के संघर्षों ने मध्यकालीन यूरोप में वीभत्स रूप धारण किए और किस प्रकार आज राजनैतिक विश्वास विश्व को उसी प्रकार विनाशकारी प्रवृत्तियों की ओर झुका रहे हैं। हमारे धार्मिक, राजनैतिक व सामाजिक विश्वास हमें उन्नति करने के लिए प्रेरणा व बल देते हैं। परन्तु वे हमारी पाशविक प्रवृत्तियों को भी उभारते हैं। हमें उन पर नियन्त्रण रखना बहुत आवश्यक है। अपने विश्वासों को उस सीमा तक न ले जायें कि वे बल के स्थान पर हमें दुर्बलता दें और समाज को शक्त बनाने के बदले उसे अशक्त बनावें।

आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, प्रयोगवाद, ये सब एक रूप में दार्शनिक विचार धाराएँ हैं। परन्तु दूसरे रूप में ये हमारे मूल विश्वासों के आधार हैं। ये हमें जीवन के प्रति दृष्टिकोण निर्माण करने के लिए ही प्रेरित नहीं करते बल्कि अपने व्यवहार की समीक्षा करने का आधार भी देते हैं। इनके ऊपर ही हम अपने-अपने विश्वासों को, चाहे हमने उन्हें चिन्तन करने के बाद अथवा अनुभव के द्वारा अथवा परम्परा के आधार पर बनाया है, आधारित करते हैं और उनकी सार्थकता की अनुभूति

करते हैं। हम आगे भी बढ़ जाते हैं और अपने-अपने विश्वासों के लिए लड़ भी बैठते हैं। यथार्थवाद उस रूप में दर्शन नहीं जिस रूप में आदर्शवाद या प्रकृतिवाद हैं परन्तु उस रूप में है जिस रूप में प्रयोगवाद है। यह प्रयोगवाद से अधिक भिन्न नहीं है। यह उसकी तरह हमारे विश्वासों का आधार है जिसके आधार हम अपने व्यवहार को रूप देते हैं। जैसा कि 'शब्द' (यथार्थ) से बोध होता है, यथार्थवाद वस्तु या विचार की यथार्थता के सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण है। इसका मूल्य दर्शन के रूप में उतना नहीं जितना व्यवहार के रूप में है। प्रयोगवाद की तरह यथार्थवाद शिक्षा में उसकी प्रक्रिया और उसके रूप से सम्बन्ध रखता है। शिक्षा के दर्शन के रूप में उसका महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं है। यह हमारे शिक्षा के प्रति विश्वास और उनको बल देने वाला सैद्धान्तिक आधार है। प्रकृतिवाद अथवा आदर्शवाद से इसकी हम कोई दार्शनिक तुलना नहीं कर सकते बल्कि शिक्षा की दृष्टि से उनके प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं।

यथार्थवाद कोई नया 'वाद' नहीं है बल्कि कई शताब्दियों पुराना है यद्यपि उसके पहले और आज के रूप में उसी प्रकार भिन्नता है जिस प्रकार प्रकृतिवाद के प्रारम्भ के और आज के रूप में। अतः हमें यथार्थवाद का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व समझ लेना आवश्यक है, परन्तु उससे पहले हम उसके अर्थ को स्पष्ट कर देना चाहते हैं और उसके आधुनिक रूप की समीक्षा कर देना भी उचित समझते हैं।

यथार्थवाद : अर्थ व व्याख्या

आधुनिक काल में यथार्थवाद के भी दो रूप हैं। एक के समर्थकों में प्रसिद्ध विद्वान जार्ज सांट्याना (George Santayana) और लवज्वॉइ (Lovejoy) का नाम आता है। ये आलोचनात्मक यथार्थवादी (Critical Realists) हैं और दूसरे के समर्थकों में मौन्टेग्यू (Montague) तथा पैरी (Perry) का नाम है जो नवीन आदर्शवादी हैं (Neo-Realists)। दोनों में रूपों की व्याख्या के आधार पर भेद है परन्तु मौलिक आधार पर भेद नहीं है। यथार्थवाद का मूल सिद्धान्त वस्तु की स्वतन्त्र स्थिति का सिद्धान्त है (Principle of independence) चाहे वह मानव के अनुभव में हैं अथवा नहीं। यदि हम यह प्रश्न करें कि क्या कोई वस्तु हमारे ज्ञान क्षेत्र के परे स्वतन्त्र रूप में भी स्थित है? तो यथार्थवादी का उत्तर यह होगा, कि, हाँ। वस्तु की स्वतन्त्र स्थिति है, हमें चाहे उसका ज्ञान हो अथवा न हो। हमारा ज्ञान हमको उसकी स्थिति को स्पष्ट करना है, हमारा उसके सम्बन्ध में ज्ञान न होना उसकी स्थिति की सत्ता को नष्ट नहीं करता। हम इस विचार को दूसरी प्रकार स्पष्ट करते हैं। अनुभव में दो बातें आती हैं: अनुभव करना और किसी का अनुभव होना। पहली बात में मानव का अनुभव प्रधान है और वही वस्तु की यथार्थता का परिचायक है। दूसरी स्थिति में वस्तु प्रधान है और मानव का अनुभव उसको जानने की क्रिया है। किसी वस्तु का जान लिया जाना अथवा उसके सम्बन्ध में अनुभव होना उस वस्तु की पूर्ण स्थिति पर प्रभाव नहीं डालता। मानसिक क्रिया दोनों

स्थितियों में एक ही है और वह है बुद्धि द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान होना। परन्तु एक दृष्टि से वस्तु की स्थिति का मानसिक क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं, उसका अस्तित्व है चाहे मानसिक क्रिया द्वारा वह समझी जाय या नहीं। दूसरी परिस्थिति में उसकी वास्तविक मानसिक क्रिया द्वारा ही सिद्ध होती है और उसका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है क्योंकि मानसिक क्रिया के द्वारा उद्भूत अनुभव ने उसको स्थापित कर दिया है। पहला दृष्टिकोण यथार्थवादी है और दूसरा प्रयोगवादी। यथार्थवाद वस्तु की स्वतंत्र स्थिति व अस्तित्व को मानता है और प्रयोगवाद अनुभव के आधार पर उसे स्वीकार करता है। दोनों ही अनुभव व मानसिक क्रिया द्वारा वस्तु बोध पर जोर देते हैं, परन्तु उस मानसिक क्रिया की व्याख्या के सम्बन्ध में दोनों में भेद हो जाता है। प्रयोगवादी दृष्टिकोण से मानसिक क्रिया द्वारा उपलब्ध अनुभव वस्तु की स्थिति को साबित करता है; परन्तु यथार्थवादी दृष्टिकोण वस्तु की स्थिति को पहले मानता है, मानसिक क्रिया उसे साबित करे या न करे। उदाहरणार्थ. सत्य है चाहे वह जाना जाय या नहीं यह यथार्थवादी दृष्टिकोण है। सत्य तभी है या वही है जो साबित हो जाता है, यह प्रयोगवादी दृष्टिकोण है। अब संदेह यह हो सकता है कि फिर आदर्शवाद और यथार्थवाद में क्या अन्तर हुआ ? हमारा उदाहरण तो यह संकेत करना है कि दोनों एक भी हो सकते हैं क्योंकि दोनों ही सत्य को मानते हैं, वस्तु की स्थिति को स्वतंत्र रूप में स्वीकार करते हैं, उसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि यदि हम सत्य की प्रकृति और रूप के ऊपर प्रश्न करें—कि क्या सत्य है, उसकी क्या प्रकृति है ? तो आदर्शवाद और यथार्थवाद का भेद स्पष्ट हो जावेगा। यथार्थवाद भौतिक सत्य में विश्वास करता है—वह सत्य जो यहाँ है, इस जगत् में है न कि वह सत्य जो दार्शनिकों की कल्पना में और मानसिक क्रियाओं व तर्क-वितर्कों के चक्करों में फँसा रहता है। यथार्थवादी इस दृष्टिकोण में प्रकृतिवाद के समीप आते हैं परन्तु प्रकृतिवादियों की तरह वे पदार्थ पर जोर नहीं देते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यथार्थवाद एक पृथक् विचार-धारा है जो वस्तु, विचार, सिद्धान्त की यथार्थता, उसकी स्थिति व अस्तित्व के आधार पर स्थित है। अनुभव द्वारा बल देने के कारण वह प्रयोगवाद से मिलता है, वस्तु की स्वतन्त्र स्थिति एवं अस्तित्व पर बल देने के रूप में वह आदर्शवाद से भी मिलता है और दृश्य जगत् के ऊपर बल देने से वह प्रकृतिवाद के समीप आता है। प्रयोगवाद की तरह वह उग्र-रूप में प्रगतिशील नहीं है बल्कि परम्परागत तथ्यों व विश्वासों में भी विश्वास करता है। वह मानव अभिप्राय और अनुभव की प्रधानता (जो प्रयोगवादी दृष्टिकोण है) के स्थान पर वैज्ञानिक सत्य की आस्था को मानता है। अतः क्रिया और वस्तु—दोनों में प्रयोगवाद क्रिया को प्रधानता देता है और यथार्थवाद वस्तु को। दोनों ही बातों को मानते हैं परन्तु प्रश्न प्राथमिकता का है : क्रिया के आधार पर वस्तु स्थिति का ज्ञान अथवा वस्तु की स्थिति है और क्रिया द्वारा उसका ज्ञान ? प्रयोगवाद और

यथार्थवाद का यह मौलिक मतभेद है।[1] यह स्वाभाविक है कि शिक्षा में यथार्थवाद ने पाठ्य वस्तु पर विशेष जोर दिया और ऐतिहासिक दृष्टिपात करने पर स्पष्ट भी हो जावेगा कि किस प्रकार यथार्थवादी विचार-धारा का जन्म हुआ और क्यों यथार्थवाद शिक्षा में आया।

यथार्थवाद ऐतिहासिक दृष्टिपात

यथार्थवादी विचार-धारा का जन्म सत्रहवीं शताब्दी में हुआ। 16 वीं शताब्दी तक मानव विचार-धारा के रूप का विश्लेषण करने पर हमें विदित होता है कि उसका बल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सांस्कृतिक पुनरुत्थान, धर्म व समाज के सुधार पर था। मध्यकालीन विद्वद्वाद के विरोध में तथा प्राचीन यूनानी और लैटिन साहित्य के पक्ष में हुए मानवतावादी आन्दोलन के विकृत रूप, धर्म सुधार के आन्दोलन की धार्मिक संकीर्णता व कट्टरता के रूप में उत्पन्न हुई कठोर मनोवृत्ति, शिक्षालयों की परम्परागत विधियाँ व परम्पराएँ— ये वह पृष्ठभूमि हैं जिनमें यथार्थवादी विचार-धारा का जन्म हुआ। 17 वीं शताब्दी में आविष्कारों तथा नवीन खोजों ने लोगों के मन में उथल-पुथल पैदा कर दी। कौपर्नीकस का पृथ्वी का सूर्य की परिक्रमा लगाने का सिद्धान्त, न्यूटन का आकर्षण का नियम, हर्वे का शरीर में रक्त-संचार का सिद्धान्त, गैलीलिओ की दुरबीन, कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज, फ्राँसिस बेकन द्वारा निर्मित वैज्ञानिक विधि, रानी एलिजाबेथ के समय की भौतिक उन्नति, विश्व की खोजें आदि—इन सबने मानव के मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार की उथल-पुथल

---

1 Ref: Education and the Realistic outlook.

(Article by *Frederick S. Breed* contributed to the Forty-first Year Book of the National Society for the study of Education). Cf. "They (pragmatism and realism) differ, however, in their interpretation of what takes place in the noetic, cogoitive, or intellectual response. Does one attribute to intellectual activity an impression or prehensio1 of the pre-existent ? If so, he is a realist. Does one attribute to this activity the creation of the existent ? If so, he is not realist." [p. 94]

Again : "Experience is a double-barreled term, implying the *experiencing* and the *experienced*. The first denotes the activity of thought; the second, its content. The *content* of experience is the original of all that is referred to as subject-matter in education, and, according to the veiw here expounded, is not manufactured by mental functioning. And within particular psychological functions the conclusion is the same. Always there is the act of perceiving and something perceived, the act of remembering and something remembered, and similarly with other functions."

[p. 105]

मचा दी। वह विश्व के आकर्षणों के सम्बन्ध में आश्चर्य करने लगा और यह अनुभव करने लगा कि विश्व में अनन्त नियम, सिद्धान्त, चमत्कार, दृश्य व श्रव्य वस्तुएँ हैं जो स्थित हैं, जिनका अस्तित्व है परन्तु जिनके बारे में उसे अनुभव नहीं है।[1] उसके थोड़े-थोड़े अनुभव उसे अधिक अनुभवों की आवश्यकता की ओर प्रेरित करने लगे। विश्व के सौन्दर्य में उसकी उत्सुकता उत्पन्न हो गई। वह प्राचीन साहित्य का औपचारिक रूप और व्यक्तिगत विचारों के स्थान पर जगत् की व्याख्या और वैज्ञानिक आविष्कारों की आवश्यकता को अधिक महत्वपूर्ण समझने लगा। उसे यह अनुभव होने लगा कि अपनी शक्तियों व इन्द्रियों के उपयुक्त प्रयोग द्वारा वह विश्व के बारे में बहुत कुछ जान सकता है। मानव की इस उत्कंठा ने शिक्षा में यथार्थवाद को जन्म दिया जिसका वस्तु-ज्ञान को केन्द्र बनाकर उसकी मानसिक क्रिया को कार्य करने के लिए प्रेरित किया।

शिक्षा में इस यथार्थवाद ने तीन रूप लिए (1) मानवतावादी यथार्थवाद (Humanistic Realism) जिसमें तत्कालीन जीवन की व्याख्या करने के लिए प्राचीन यूनानी और लैटिन साहित्य को साधन बनाया गया। यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि मानवतावाद सांस्कृतिक पुनरुत्थान का परिणाम था और उसने प्राचीन यूनानी व लैटिन साहित्य के अध्ययन पर बहुत बल दिया। परन्तु वह मानवतावादी यथार्थवाद से भिन्न था। मानवतावाद (Humanism) अपने तत्कालीन विकृत रूप में प्राचीन यूनानी व लैटिन साहित्य की भाषा शैलियाँ प्रधानतया सिसरो—का अनुकरण करना मात्र रह गया था। अतः तत्कालीन मानवतावाद में भाषा की आकृति, व्याकरण, शैली आदि पर जोर था, परन्तु मानवतावादी यथार्थवाद ने प्राचीन साहित्य के आधार पर उसको लक्ष्य न बनाकर बल्कि उसे साधन बनाकर तत्कालीन जीवन की व्याख्या पर जोर दिया। अतः यह मानवतावादी यथार्थवाद कहलाया।

(2) सामाजिकतावादी यथार्थवाद में जीवन को समझने के लिए और विश्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए परम्परागत शिक्षण विधियों के स्थान पर प्रत्यक्ष ज्ञान व अनुभव को महत्वपूर्ण बतलाया गया। इस विचार के समर्थकों ने यात्राओं के ऊपर बहुत जोर दिया।

(3) तीसरा रूप ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद का था जिसमें इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्ति पर जोर दिया गया और फ्रांसिस बेकन द्वारा निर्मित नवीन आगमन-विधि को ज्ञान प्राप्ति का साधन बताया गया।

जैसा कि उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होगा यथार्थवाद के ये तीन प्रारम्भिक रूप ज्ञान-प्राप्त करने की विधि के आधार पर हैं। साधनों के सम्बन्ध में एक रूप किसी

---

1 पीछे देखो : यथार्थवाद के इस मूल आधार की हम पिछले पृष्ठों में व्याख्या कर आए हैं।

पर बल देता है और दूसरा किसी पर। उसी के आधार पर ये तीन रूप स्थित हैं। परन्तु उद्देश्य और सैद्धान्तिक आधार एक हैं और वह यह कि जगत् के बारे में अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त किया जाय और ज्ञान को वैज्ञानिक आधार पर करना ही ज्ञान की सच्ची प्रकृति को बताना है। आधुनिक यथार्थवाद जैसा कि यथार्थवाद की प्रारम्भिक व्याख्या से स्पष्ट होगा अधिक विस्तृत है जिसका एक ओर आदर्शवाद, प्रयोगवाद व प्रकृतिवाद के सम्बन्ध है तो दूसरी ओर वह अपना पृथक्त्व लिए हुए है।

यथार्थवाद का शिक्षा में क्या प्रभाव पड़ा है और क्या है इसे। समझने से पूर्व उपर्युक्त तीनों रूपों के सम्बन्ध में थोड़ी व्याख्या कर देना आवश्यक है क्योंकि यथार्थवादी विचार-धारणा का शिक्षा में ऐतिहासिक महत्व है। आधुनिक शिक्षा की प्रवृत्तियों, विचार-धाराओं, रूपों व शिक्षण विधियों के कई श्रोत हम सत्रहवीं शताब्दी में उद्भूत यथार्थवादी दृष्टिकोण और उसके रूपों में देखते हैं।

(1) **मानवतावादी यथार्थवाद :** जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है मानवतावादी यथार्थवाद सांस्कृतिक पुनरुत्थान की लहर से सम्बन्धित था परन्तु इसका उद्देश्य दूसरा था। यथार्थवाद ने तत्कालीन जीवन व प्रकृति के अध्ययन पर जोर दिया और प्राचीन साहित्य को उसके अध्ययन का साधन बनाया। अतः शिक्षा में इसका प्रभाव स्पष्ट रूप में परिवर्तित शिक्षण विधि पर पड़ा। परम्परागत शिक्षा प्रणाली भाषा-शैलियों व व्याकरण के रटने पर जोर देती थी परन्तु नवीन विचार-धारा ने इनका खंडन कर उस वस्तु-ज्ञान के पढ़ाने पर जोर दिया जो तत्कालीन जीवन की व्याख्या करने में समर्थक था। जैसा कि मुनरो ने लिखा है "यदि सैनिक विज्ञान का अध्ययन करना था तो सीजर और जैनोफन (Xenophon) से बढ़कर और कोई साहित्य न था, अगर कृषिविज्ञान का अध्ययन करना था तो वर्जिल (Virgil) तथा कौलूमेला (Columella) से बढ़कर और कोई निर्देशक न था, अगर गृह-निर्माण कला का ज्ञान कराना था तो विट्रुवियस (Vitruvius) से बढ़कर कोई न था, यदि भूगोल पढ़ाना था तो मेला (Mela) या सोलीसन (Solinus) के साहित्य के द्वारा पढ़ना था, यदि चिकित्सा पढ़नी थी तो कैलनर (Celanr) से बढ़कर कोई श्रोत न था, यदि प्राकृतिक इतिहास पढ़ना था तो प्लिनी (Pliny) और सेनेका (Seneca) से बढ़कर कहीं अधिक ज्ञान न था। अरस्तू सब विज्ञानों का, प्लेटो सब दर्शनों का सिसरो सब संस्थागत जीवन का और धर्म के अधिकारी तथा धर्म-ग्रन्थ रूप धार्मिक जीवन के आधार थे।[1] मानवतावादी यथार्थवाद ने इस प्रकार पाठ्य-वस्तु के समस्त क्षेत्र का विश्लेषण कर उसके अध्ययन की आवश्यकता पर जोर दिया और प्राचीन साहित्य की उपयोगिता को सिद्ध कर उसे उसका अध्ययन करने का मूल स्रोत बताया।

---

1 *Monroe Paul :* A Brief Course in the History of Education p. 444.

मानवतावादी यथार्थवाद के प्रमुख समर्थक हॉलैण्ड का प्रसिद्ध विद्वान इरैसमम (Erasmus, 1446-1536,) फ्रांसीसी विद्वान रैवेले (Rabelais, 1483-1553) और इग्लैंड के प्रसिद्ध कवि मिल्टन (Milton, 1608-1674) थे।

(अ) इरैसमस ने अपनी पुस्तकों में संकीर्ण मानवतावाद का घोर खण्डन करके दो प्रकार की शिक्षा के भेदों को स्पष्ट किया है : शब्द बोध और वस्तु बोध। उसने कहा है कि शब्दों को हम पहले सीखते हैं; परन्तु वस्तु का ज्ञान अधिक महत्व-पूर्ण है (यह यथार्थवादी दृष्टिकोण है)। अपनी पुस्तक 'सिस्टम ऑफ स्टडीज' (System of Studies) में उसने वस्तु-ज्ञान ही आवश्यकता को स्पष्ट किया है। इरैसमस ने शिक्षा के विषय में व्यक्तिगत विकास के ऊपर बहुत बल दिया है और उसके वह तीन प्रमुख आधार बतलाता है : व्यक्ति की प्रकृति, ट्रेनिंग और अभ्यास। इरैसमस उन पहले शिक्षकों में से था जिसने शिक्षक की ट्रेनिंग के ऊपर बहुत जोर दिया। परन्तु इरैसमस का जोर अधिकतर प्राचीन साहित्य और भाषा द्वारा विचारों की अभिव्यक्ति के ऊपर है। अतः उसके द्वारा निर्दिष्ट पाठ्यक्रम एकांगी है। विज्ञान के अध्ययन पर अधिक जोर नहीं है। सम्भवतः इसका यह भी कारण हो सकता है कि इरैसमस के युग में वैज्ञानिक आविष्कारों के चमत्कार स्पष्ट नहीं हो पाए थे। इरैसमस के जीवन की यह दुखप्रद बात है कि उसके समय तक प्रकृति-विज्ञान का उत्सर्ग न हो पाया और साहित्यक विषयों और वैज्ञानिक विषयों के समन्वित अध्ययन के रूप को अन्य कोई विद्वान निश्चित न कर सका। बीसवीं शताब्दी तक पाठ्यक्रम में इन दोनों में विरोध चलता रहा और 19 वीं शताब्दी में विज्ञान का पल्ला भारी हो गया। एवं संतुलित पाठ्यक्रम क्या हो इसकी व्याख्या बीसवीं शताब्दी तक न हो सकी।

(ब) रैवेले एक जबर्दस्त व्यंगात्मक लेख लिखने वाला था। उसने गरगंटुआ का जीवन (Life of Gargantua) और पेन्टेग्रुसल के बीर कार्य (Heroic Deeds of Pantegruel) में अपने काल की कृत्रिम और पिछली पद्धतियों का खाका उड़ाकर व्यक्ति के शारीरिक, सामाजिक, वैयक्तिक व धार्मिक विकास के लिए प्राचीन साहित्य के अध्ययन पर जोर दिया। लक्ष्य को उसने स्पष्ट किया और प्राचीन साहित्य को उसकी प्राप्ति का साधन बनाया। उसका बल पुस्तकीय ज्ञान पर था परन्तु साथ ही साथ शिक्षा पद्धतियों को रुचिकर बनाने पर था। रटने की क्रिया का उसने खण्डन किया उसकी पुस्तकें बड़े चाव से आज पढ़ी जाती हैं।

(स) मिल्टन के शैक्षिक विचार उसकी पुस्तक ट्रैक्टेट ऑन एजूकेशन (Tractate on Education) में संकलित हैं। उसने भी परम्परागत विधियों का खण्डन करके 12 वर्ष की अवस्था से 21 वर्ष तक की अवस्था के पाठ्यक्रम को निर्धारित किया है। प्रथम वर्ष में व्याकरण, गणित, ज्यामिति और साधारण ग्रीक व लैटिन का ज्ञान, द्वितीय वर्ष से पाँचवीं वर्ष तक कृषि, भूगोल, स्वास्थ्य-विज्ञान, शरीर विज्ञान, प्रकृति विज्ञान, गणित, इन्जीनियरिंग, गृह-निर्माण कला, साहित्य व कला का अध्ययन और शेष वर्षों में धार्मिक शिक्षा, रोमन व सैक्सन कानून, अर्थ

शास्त्र, तर्क शास्त्र, राजनीतिशास्त्र, छन्द शास्त्र, कविता—इनके अध्ययन को उसने महत्त्व दिया है। उसने चुने हुए लेखकों के अध्ययन पर जोर दिया है।

मानवतावादी यथार्थवाद का मानवतावाद के साथ कुछ सम्बन्ध होने के कारण इसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। इसका प्रभाव व्यक्तिगत शिक्षक व कुछ संस्थाओं पर पड़ा। परन्तु फिर भी मानवतावाद से पृथक होने के कारण अपने लक्ष्य को भिन्न बनाकर मानवतावादी यथार्थवाद ने नवीन विचार-धारा को बल ही दिया।

(2) **सामाजिकतावादी यथार्थवाद :** सामाजिकतावादी यथार्थवाद पुस्तकीय ज्ञान के विरुद्ध था। इस विचार-धारा के समर्थकों ने पुस्तकों के ज्ञान को कृत्रिम बताया और कहा कि यह एक विद्वान को तो बना सकता है परन्तु व्यवहार कुशल व्यक्ति को नहीं बना सकता। इसके प्रसिद्ध समर्थक मौन्टेन (Montaigne) का कहना था कि "यदि शिक्षा ने मस्तिष्क की प्रकृति को सुन्दर न बनाया और निर्णय को अधिक संतुलित न बनाया तो पढ़ाने से अच्छा तो यह होता कि बालक टेनिस खेलता रहता"। मौन्टेन आगे चलकर कहता है कि "लैटिन और ग्रीक पढ़ाने का नतीजा केवल यही होता है कि विद्यार्थी एक स्वयं को धोखा देने वाला, दम्भी पुरुष बन जाता है।" सामाजिकतावादी यथार्थवाद का लक्ष्य शिक्षा को व्यावहारिक कुशलता देने की क्षमता देने का साधन बनाना था। अतः इस विचार-धारा के लोगों ने यात्रा, प्रत्यक्ष अनुभव, घुड़सवारी, कसरतें, तत्कालीन भाषाओं का अध्ययन, आस-पड़ोस के देशों के जीवन का अध्ययन, उनकी परम्पराओं व रीति रिवाजों का अध्ययन, आदि पर अधिक बल दिया।

सामाजिकतावादी यथार्थवाद के प्रमुख समर्थकों में फ्रांसीसी विद्वान लॉर्ड मॉन्टेन (Lord Montalgne) और अंग्रेजी दार्शनिक जॉन लॉक (John Locke) का नाम आता है। दोनों ने प्रयोगात्मक, व्यावहारिक शिक्षा पर जोर दिया और परम्परागत शिक्षा की प्रणाली का खण्डन किया। मान्टेन ने कहा "कि संसार एक दर्पण है जिसमें हम अपने को देखते हैं। मेरे विद्यार्थी के लिए सबसे अधिक ध्यान से अध्ययन करने की यही पुस्तक है।" लॉक कहता है कि "लैटिन और ग्रीक केवल शोर मचाने वाले विषय हैं। वस्तु-ज्ञान पर बहुत जोर देना है। वही एक भले आदमी के लिए आवश्यक है जिससे वह अपना स्थान समाज में ले सकता है और अपने देश के लिए हितकारी सिद्ध हो सकता है।" सामाजिकतावादी यथार्थवादी पुस्तकीय ज्ञान को भी महत्त्व देते हैं परन्तु उसको लक्ष्य पूर्ति का साधन बताते हैं। लक्ष्य है दुनियादारी में सफलता प्राप्त करने के लिए व्यवहार कुशल व्यक्ति बनाना। केवल पुस्तकीय ज्ञान रटाकर ही इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती। ज्ञान-प्राप्ति के स्रोत इन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा मानव सीखता है। इन्द्रिय ज्ञान पर जोर देकर सामाजिकतावादी यथार्थवाद ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद के निकट आ जाता है।

सामाजिकतावादी यथार्थवाद को स्कूलों में अधिक स्थान न मिल सका क्योंकि उनकी विधि को अपनाना, उसके लिए ही सम्भव हो सकता था जिनके पास पर्याप्त

साधन हों। दूसरी बात यह भी है कि मॉन्टेन तथा लॉक, दोनों ने शिक्षा के संस्थागत रूप की व्याख्या नहीं की है। वे व्यक्ति विद्यार्थी के लिए एक शिक्षक—एक शिक्षक, एक विद्यार्थी—को लेकर चलते हैं और उसकी शिक्षा की व्याख्या करते हैं। सामाजिक यथार्थवाद के आधार पर अनिवार्य सार्वजनिक शिक्षा की तो कल्पना भी नहीं हो सकती है। इस विचार-धारा की सबसे बड़ी देन शिक्षण की विधि को आधार देने में है। लॉक की विचार-धारा का आगे चलकर रूसो के ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा और शिक्षा के सिद्धान्तों की व्याख्या में उसका प्रभाव स्पष्ट नजर आया।

(3) **ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद** : यथार्थवाद के तीनों रूपों में ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद का बहुत महत्व है और इसका शिक्षा के ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। इसे शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति का जिसने 19वीं शताब्दी से जोर पकड़ा और जिसके सम्बन्ध में हम आगे चलकर विस्तार में विचार करेंगे प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर ज्ञान प्राप्त करना, वैज्ञानिक तथा सामाजिक विषयों का अध्ययन करना, लैटिन के अध्ययन के महत्व को घटाकर बोलने की भाषा के अध्ययन पर बल देना, प्रकृति के ज्ञान को अधिक से अधिक प्राप्त करना, पाठ्यक्रम में उन्हीं विषयों को महत्व देना, वैज्ञानिक विधि-आगमन विधि (Inductive Method) जिसकी बेकन (Bacon) ने व्याख्या की हो के द्वारा पढ़ाना—इन सब बातों पर जोर देने के कारण ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद वैज्ञानिक प्रवृत्ति (Scientific Tendency in Education) का अग्रगामी दूत कहा जा सकता है। इस यथार्थवाद ने निम्नलिखित पर विशेष जोर दिया :—

(1) आगमन विधि (Inductive method) द्वारा शिक्षा।

(2) सरल से जटिल और स्पृश्य, दृश्य रूप से भावात्मक रूप की ओर चलना—पहले सरल, फिर जटिल।

(3) वस्तु ज्ञान शब्द ज्ञान से महत्वपूर्ण है, और नियम देना नहीं है, ढूँढ़ना है।

(4) बालकों की विश्लेषण करने, अध्ययन करने, वर्गीकरण तथा निष्कर्ष निकालने की शक्ति को बढ़ाया जाय।

(5) रटने की जगह समझने पर जोर।

(6) इन्द्रियों की शिक्षा व ट्रेनिंग और उनकी शक्ति को बढ़ाना तथा ज्ञान प्राप्ति का स्रोत बनाना।

(7) शिक्षा का माध्यम अपनी भाषा हो।

(8) प्रकृति के नियमों को देखकर पाठन विधि बनाई जाय।

(9) शारीरिक शिक्षा का महत्व और उसका अभिप्राय।

(10) अधिकाधिक संख्या में बालकों को शिक्षा दी जाय।

(11) लैटिन और ग्रीक केवल उन्हें पढ़ाई जाय जो अन्य शिक्षा पूरी कर चुके हों और उन्हें पढ़ना चाहते हों। पढ़ाने का माध्यम अपनी भाषा हो।

(12) शिक्षा की समस्त पद्धतियाँ वैज्ञानिक आधार पर हों। यह वैज्ञानिक आधार फ्रांसिस बेकन द्वारा बताया गया आधार था और ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादियों में फ्रांसिस बेकन का बहुत ऊँचा नाम है।

ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद, जैसा कि ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट है, बहुत लोकप्रिय हुआ और शीघ्र ही इसके समर्थन में बहुत लोगों ने अपने विचार प्रगट करने शुरू किये। इसके समर्थकों में हम इंग्लैण्ड के विद्वान् फ्रांसिस बेकन, जर्मनी का प्रसिद्ध विद्वान् वूल्फगैन्ग रैटीशिअश (Wolfgang Retichius or Ratke) जो राटके के नाम से प्रसिद्ध है, तथा जैकोस्लोवैकिया का प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री जोहेन एमोस कॉमीनियस (Johann Amos Comenius) के विषय में संक्षेप में हम यहाँ कुछ विचार प्रगट करना चाहते हैं।

(अ) फ्रांसिस बेकन : फ्रांसिस बेकन अपनी आगमन विधि (Inductive method) की व्याख्या के आधार पर आधुनिक विज्ञान का पिता कहा जाता है। शिक्षा के प्रति अपने विचारों को प्रकट करते हुए उसने एक ओर तो तत्कालीन शिक्षा व शिक्षण विधियों का खण्डन किया है और दूसरी ओर उसने अपने रचनात्मक सुझाव दिए हैं। उसके शिक्षण विधि सम्बन्धी विचारों का संकलन उसकी पुस्तक 'नोमम ऑर्गेनम' (Novum Organum) में है जो सन् 1600 ई० में प्रकाशित हुई।

अपनी नई विधि की व्याख्या करने से पहले बेकन तत्कालीन शिक्षा की पाठ्य-वस्तु की तीव्र आलोचना करता है और मध्यकालीन विद्वद्वाद के आधार पर प्रचलित पाठ्यक्रम का खण्डन करता है। तदुपरान्त वह अपनी नई विधि की व्याख्या करता है। यद्यपि इस विषय में उसकी मौलिकता तो नहीं है क्योंकि अपनी विधि की व्याख्या में वह अपने से पहले के कई विद्वानों के विचारों का आभारी है परन्तु उसकी मौलिकता उसकी व्याख्या करने तथा जनता को उसके महत्व को समझने के लिए ध्यान आकर्षित करने में है। जैसा कि मैकॉले ने कहा है, बेकन "किसी नए मार्ग का बनाने वाला न था और न उसने किसी नए मार्ग का पता ही लगाया अथवा उसका चित्र बनाया। परन्तु वह सबसे पहला व्यक्ति था जिसने (शिक्षा के पाठ्यवस्तु रूपी) उस धन की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया जिसकी अब तक अवहेलना हो रही थी और जिस पर उसी मार्ग से पहुँचा जा सकता था जो उसने प्रदर्शित किया।"

फ्रांसिस बेकन ने उसी बात का समर्थन किया जिसका उसके समकालीन विलियम गिल्बर्ट और अन्य विद्वानों ने किया। उसने प्रकृति के ज्ञान व प्राकृतिक विधि से ज्ञान प्राप्त करने पर बहुत बल दिया। उसने यह कहा कि यह बड़े-खेद की बात है कि लोग प्राचीन साहित्य के अध्ययन में ही फँसे रहते हैं और प्रकृति के ज्ञान की उपेक्षा करते हैं। "प्रकृति की ओर उन्मुख हो, प्रयोग करो और प्रकृति तुम्हें वह आँकड़े देगी जो तुम चाहते हो।" बेकन ने इन शब्दों में प्रकृति के ज्ञान पर बल दिया।

अपनी पुस्तक 'दि न्यू अटलांटिस' (The New Atlantis) में उसने वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए एक नई योजना का सुझाव दिया।

बेकन का शिक्षा में अपनी नवीन पद्धति के कारण बहुत प्रभाव है परन्तु उसका वास्तविक प्रभाव विज्ञान के क्षेत्र में है। निगमन विधि (Inductive Method) विज्ञान के अध्ययन का प्रमुख आधार है।

(ब) वुल्फगैन्ग रैटीशिअश अथवा राटके : राटके जर्मनी का विद्वान था और उसने इंग्लैण्ड में शिक्षा प्राप्त करते समय फ्रांसिस बेकन की पुस्तक 'एडवान्समेन्ट ऑफ लर्निंग' (Advancement of Learning) का अध्ययन किया और बेकन के विचारों का अध्ययन कर उसने अपने विचारों को शिक्षा के सम्बन्ध में रूप देने का प्रयत्न किया। सन् 1617 में उसने भी एक पुस्तक 'मेथड्स नोवा' (Methods Nova) प्रकाशित की जिसमें उसने शिक्षण के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट किए। उसने निम्न बातों पर बहुत जोर दिया :—

(1) प्रकृति के नियमों का पता लगाया जाय और उन्हीं के आधार पर शिक्षण विधि बनाई जाय।

(2) पढ़ाने में एक बार में एक ही वस्तु बताई जाय और उसके हृदयंगम होने पर दूसरी बात बतलाई जाय।

(3) मस्तिष्क में किसी बात को दृढ़ करने के लिए बार-बार दुहराना आवश्यक है।

(4) मातृ-भाषा के अध्ययन पर बल दिया जाय और उसके माध्यम से सब विषय पढ़ाए जायँ।

(5) बिना समझे हुए रटना खतरनाक है। पढ़ाने में बालकों को प्रश्न करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

(6) शब्द-ज्ञान से पहले वस्तु-ज्ञान आवश्यक है।

(7) नियन्त्रण के स्थान पर व्यक्तिगत अनुभव की स्वतन्त्रता अधिक महत्व रखती है।

(8) अनुशासन की पढ़ाने में बहुत आवश्यकता है।

जैसा कि इन सिद्धान्तों से स्पष्ट है राटके के सुझाव भी सबके सब आधुनिक विचारधारा में समाये हुए हैं। आगे चलकर पैस्टालॉजी के विचारों में राटके ने पर्याप्त बल दिया।

(स) कोमीनियस : कोमीनियस का आधुनिक शिक्षा के विकास के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। वह पहला शिक्षक था जिसने शिक्षा के उद्देश्य की व्याख्या करके बेकन के सिद्धान्त का व्यवहाररूप में अनुसरण किया और आधुनिक

शिक्षा की नींव को जमाया।[1] कोमीनियस ने जो कुछ लिखा है उसमें सबके बीज किसी न किसी पुरोगत विद्वान के लेखों में हैं चाहे वह प्लेटो हो, चाहे अरस्तू, चाहे सिसरो, प्लूटार्व, इरैसमस अथवा अन्य प्राचीन विद्वान। उसके लेखों में वस्तु की मौलिकता नहीं है परन्तु उसकी मौलिकता उन सब विचारों को समन्वित रूप देने में है। यह उसकी अनौखी विचारशक्ति का परिणाम है। उसने दूसरे लोगों के विचारों को सीखा है परन्तु उनकी नकल नहीं की है, उसने दूसरे से बातें उधार ली हैं परन्तु उन्हें अपनी विचार-बुद्धि द्वारा दूसरा रूप दिया है और भावी पीढ़ी को प्रेरणा दी है।[2]

कोमीनियस के शैक्षिक विचारों का संकलन हमें उसकी पुस्तक "ग्रेट डाइडेक्टिक" (Great Diadactic) में मिलता है जो सन् 1632 ई० में प्रकाशित हुई। शिक्षा के उद्देश्य की व्याख्या में हमें कोमीनियस ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादी नहीं बल्कि एक महान् धार्मिक प्रवृत्ति वाला आदर्शवादी प्रतीत होता है। अपनी शिक्षण-विधि की व्याख्या के आधार पर वह ज्ञानेंद्रिय यथार्थवादियों की गणना में आता है अन्यथा शिक्षा के उद्देश्य की व्याख्या करते हुए वह एक महान् धर्मोपासक नजर आता है। अपनी उक्त पुस्तक में वह कहता है कि शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य ईश्वर के साथ चिरंतन सुख की प्राप्ति करना है और उस सुख की प्राप्ति क्षुधाओं, प्रवृत्तियों व भावनाओं को दबाकर प्राप्त नहीं हो सकती बल्कि अपने आप नैतिक नियन्त्रण रख कर हो सकती है। शिक्षा का उद्देश्य हमें ज्ञान के साथ गुण व धर्म को सिखाना है जिससे युवक जीवन में उन गुणों और क्षमताओं को लेकर प्रवेश करें जिनके आधार पर वे अपने जीवन को वास्तविक रूप में सुखी बना सकते हैं। कोमीनियस की धार्मिक प्रवृत्ति उसे इस जीवन के परे दूसरे लक्ष्य में आस्था रखने को प्रेरित करती है और उसका विश्वास था कि मानव जीवन का लक्ष्य इस जीवन को भोग लेने पर ही प्राप्त नहीं हो जाता बल्कि इस जीवन के बाद भी उस दिशा में प्रगति होती रहती हैं यद्यपि अन्तिम चोटी कभी भी प्राप्त नहीं होती।[3]

---

1 "What Petrarch was to the Revival of Learning, what Wycliffs was to religious thought, what Copernicus was to modern science, and what Bacon and Descartes were to modern philosophy, Commenius was to educational practice and thinking."
[*Cubberby* : History of Western Education]

2 "What makes him outstanding is the fact that he combines an usual degree of susceptibility to foreign influences with an equally strong faculty of systemetic integration."
[*Ulich, Robert* : History of Educational Thought, p. 188]

3 "All our actions and affections in this life show that we do not attain our ultimate end here, but that everything connected with us, as well as we ourselves, has another destination. For

(शेष पेज 174 पर)

शिक्षा के कार्य-क्रम व रूप के सम्बन्ध में कोमीनियस का कथन है कि शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति के लिए तीन आवश्यकताएँ हैं (1) अच्छे शिक्षक (2) अच्छी शिक्षण विधियाँ और (3) अच्छी पुस्तकें। स्कूल के कार्य-क्रम को उसने चार श्रेणियों में विभक्त किया है :

(1) शैशवकाल में माँ की गोद ही स्कूल है और प्रारम्भिक शिक्षा देना उसी की जिम्मेदारी है।

(2) बचपन की शिक्षा के लिए वर्नाक्यूलर स्कूल।

(3) बाल्यकाल के लिए लैटिन ग्रामर स्कूल या जिमनेजियम (Gymnausium)

(4) युवक के लिए विश्वविद्यालय और यात्राओं द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव।

इनमें द्वितीय प्रकार के स्कूल में उसने पढ़ना, लिखना, गणित, संगीत, थोड़ा भूगोल, थोड़ा व्यापार विधि के ज्ञान पर बल दिया। लैटिन स्कूल के प्रोग्राम को उसने छः भागों—व्याकरण, भौतिकविज्ञान, गणित, नीतिशास्त्र, छन्दशास्त्र और तर्कशास्त्र—में बाँटा। विश्वविद्यालय में सभी क्षेत्रों के उच्च ज्ञान की व्यवस्था के लिए उसने कहा।

शिक्षण विधि के विषय में कोमीनियस ने प्राकृतिक नियमों को अपना श्रोत माना और उसने कहा कि पूर्णरूप से, निश्चित ढंग से, स्पष्ट तौर पर तथा आनन्द के वातावरण में शिक्षा देने के लिए प्रकृति से सबक लेना आवश्यक है। प्रकृति के क्षेत्र में उसने छः बातें देखीं और उनसे अपनी शिक्षण विधि को रूप दिया। वे ये हैं।

(अ) प्रकृति के क्षेत्र में प्रत्येक कार्य के लिए एक उपयुक्त समय है।

(ब) प्रकृति किसी रूप को तैयार करने से पहले उसके लिए उपयुक्त वातावरण बनाती है।

(स) प्रकृति के प्रत्येक रूप में विकास की क्रिया अन्दर से चलती है।

(द) प्रकृति अपनी रचना के कार्यों में सामान्य रूप से विशिष्ट रूपों की ओर चलती है।

(य) प्रकृति के क्षेत्र में प्रगति क्रमिक रूप में है, झटकों से नहीं।

(पेज 173 का शेष)

whatever we are, do, think, speak, contrive, acquire, or possess contains a principle of gradation, and, though we mount perpetually and attain higher grounds, we still continue to advance and never reach the highest."

[The Great Didactic by Commenius, translated and edited by *M. W. Keatings* in 2 voles., p. 28]

(र) प्रकृति किसी को विकसित होने के लिए मजबूर नहीं करती। अपनी-अपनी शक्ति और अपने-अपने निहित क्रम के अनुसार सब अपनी-अपनी गति से चलते हैं।

इन प्राकृतिक नियमों के आधार पर कोमीनियस ने शिक्षण के निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया :—

(1) शिक्षा शीघ्र प्रारम्भ कर दी जाय जिससे मस्तिष्क में और कोई दूषित बात स्थान न कर जाय।

(2) शिक्षा के लिए मस्तिष्क को तैयार कर दिया जाय।

(3) शिक्षण में सामान्य से विशिष्ट की ओर प्रगति की जाय।

(4) सरल से कठिन की ओर चला जाय।

(5) विद्यार्थी पर अधिक विषयों का भार न डाला जाय।

(6) मस्तिष्क पर जबर्दस्ती उस वस्तु को याद करने के लिए दबाव न डाला जाय जिसमें उसका झुकाव नहीं है।

(7) इन्द्रियों के द्वारा सब ज्ञान प्रविष्ट कराया जाय।

(8) ज्ञान के प्रयोग पर जोर दिया जाय।

(9) शिक्षण पद्धति एक ही नियम के आधार पर खड़ी हो।

अपनी पुस्तक में इन नियमों को शर्त बनाकर कोमीनियस ने कहा कि यदि इन्हें शिक्षण में स्वीकार किया जाता है तो शिक्षण विधि सरल और आनन्ददायक होगी।

कोमीनियस के विचारों का शीघ्र ही बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ा। उसकी पुस्तक का कई भाषाओं में अनुवाद किया गया और यद्यपि अपने समय में उसकी इतनी मान्यता नहीं हुई परन्तु आगामी पीढ़ियों ने उसके विचारों के महत्व को समझा और आज हम उसके प्रभाव को भली प्रकार समझ रहे हैं।

यथार्थवादी विचार-धारा का प्रभाव

यथार्थवादी विचार-धारा का विश्वविद्यालयीय शिक्षा पर अधिक प्रभाव न पड़ा और न उसका तात्कालिक प्रभाव ही बहुत पड़ा। परन्तु शनैः शनैः प्रारम्भिक शिक्षा पर उसका प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हुआ और जर्मनी में तो प्रत्यक्ष रूप में प्रारम्भिक शिक्षा के पुनर्निर्माण में जनता की रुचि उत्प-न हुई। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में विज्ञान के पढ़ने-पढ़ाने में लोगों की रुचि उत्पन्न हुई और इंग्लैंड तथा अमेरिका में अकादमियों (Academies) ने अपने पाठ्यक्रम में विज्ञान को स्थान दिया। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में जैसे-जैसे उन्नति होती गई उसको अधिकाधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाने लगा परन्तु जैसा कि आगे चलकर हम देखेंगे विज्ञान की शिक्षा को महत्व देने को आन्दोलन ने 19वीं शताब्दी में जाकर जोर पकड़ा।

यथार्थवाद का आधुनिक शिक्षा में रूप व उसका प्रभाव

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं आधुनिक यथार्थवाद बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग में आता है और शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में उसका प्रभाव है। यथार्थवाद के मूल आधार निम्नलिखित हैं :

(1) चूँकि हम परिवर्तनशील जगत् में रहते हैं। अतः हमें मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, बौद्धिक, अन्य दृष्टियों से प्रत्येक समय परिस्थिति के अनुकूल तैयार (preparedness) रहने की आवश्यकता है।

(2) शिक्षा-दर्शन यथार्थ के ऊपर आधारित हो और वह वास्तविक जगत् की क्रियाओं के व्यवहार रूप को बल दे।

(3) उग्ररूप में कोई 'वाद' शिक्षा की समस्याओं को हल नहीं कर सकता। प्रयोगवाद भी इस दृष्टि से असमर्थ है। शिक्षा में परम्परा और वर्तमान दोनों के समन्वय की आवश्यकता है।

(4) वस्तु ज्ञान प्रमुख है। मानव अनुभव और मानव द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान न होने पर भी उस वस्तु की स्थिति के अस्तित्व का खंडन नहीं हो सकता। प्रयोगवादी विचार इस दृष्टि से अपूर्ण है। हम जानते हैं कि अमुक वस्तु है, यह ठीक है परन्तु अनेक ऐसी वस्तुएँ भी हैं जो मानव अनुभव में नहीं आई हैं। उनकी स्थिति है और उनको जानना आवश्यक है।

(5) ज्ञान प्राप्त करने की विधि वैज्ञानिक ढंग ही है परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वैज्ञानिक ढंग ने सब ज्ञान की खोज करली है। विज्ञान के द्वारा निकाला हुआ ज्ञान भी अभी अपूर्ण है।

(6) यथार्थवादी दृष्टिकोण पाठ्यक्रम के विस्तृत रूप पर बहुत बल देता है। बहुमुखी रुचियाँ (many-sided interests) उत्पन्न करना आवश्यक है।

(7) इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्ति, विज्ञान की शिक्षा, पाठ्य वस्तु का वर्गीकरण तथा श्रेणी-विभाजन, प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में रुचियों को बहुमुखी बनाना, पाठन विधियों को प्रकृति के अनुसार निश्चित करना आदि सिद्धान्त ऐसे हैं जिनमें प्रयोगवाद, यथार्थवाद, प्रकृतिवाद सबका एक मत है। परन्तु—

(8) प्रयोगवादी क्रिया के ऊपर जोर देते हैं और वस्तु और क्रिया में क्रिया को प्रधानता देते हैं परन्तु यथार्थवादी वस्तु (Content) पर बल देते हैं।[1] शिक्षा का अभिप्राय व्यापक रूप में व्यवहार-परिवर्तन है; परन्तु क्या व्यवहार ? यह प्रश्न है, और कैसा व्यवहार ? उचित व्यवहार परिवर्तन की प्रथम आवश्यकता

---

1 "Education may be defined as behaviour training, but there is no possibility of proper behaviour training without regard to the content of experience, the terms that enter into relation."
[*Frederic S. Breed* : op. cit., p. 109]

पाठ्य वस्तु की प्रधानता को निश्चित करती है। शिक्षक और बालक का कार्य उसी के ऊपर चलता है।

(9) दार्शनिक दृष्टि से प्रयोगवाद और यथार्थवाद की सत्य व्याख्या में एक जबर्दस्त अन्तर है। प्रयोगवादी सत्य को 'निर्मिता' बताते हैं अर्थात् सत्य उनकी दृष्टि से वह है जिसे मानव मस्तिष्क ने अनुभव के आधार पर सत्य बताया है। यथार्थवाद की दृष्टि से सत्य वस्तु का यथार्थ गुण है जिसका मानव मस्तिष्क ने पता लगाया है। एक दृष्टि से अनुभव व क्रिया प्रधान है और सत्य गौण है क्योंकि वह अनुभव की तराजू पर तौला गया है। दूसरी दृष्टि से वस्तु का गुण जो सत्य है वही प्रधान है। मानव अनुभव व क्रिया गौण है क्योंकि सत्य तो है अनुभव ने उसका पता लगा लिया है। वस्तु के 'स्वतन्त्र अस्तित्व' (principle of independence) का सिद्धान्त इस दृष्टिकोण को पुष्ट करता है और जैसा कि हम पहले कह चुके हैं आधुनिक यथार्थवाद का यह प्रमुख आधार है।

(10) इसी सिद्धान्त के आधार पर यथार्थवादी प्रयोगवाद की क्रिया, मानव अभिप्राय व अनुभव की अत्यधिक प्रधानता का समर्थन नहीं करते। यथार्थवादी दृष्टिकोण इस रूप में अधिक संतुलित है और पाठ्य वस्तु तथा शिक्षण विधि दोनों के सम्बन्ध में यथार्थवादी मनोवृत्ति अधिक उदार है।

(11) यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रत्येक क्षेत्र में संतुलन में विश्वास करता है। प्राकृतिक जगत् संतुलन के सिद्धान्त पर ही स्थित है। संतुलन, समन्वय जीवन की वास्तविक स्थिति में सफलता की कुंजी है। चूँकि यथार्थवाद 'यथार्थ', 'वास्तविक', इन पर जोर देता है अतः प्रत्येक क्षेत्र में उग्रता का खण्डन कर समन्वय को अपनाता है और यही प्रगति का सूचक है। परम्परागत तथा वर्तमान, व्यक्तिगत तथा समाज, स्वतन्त्रता तथा नियन्त्रण, शिक्षण तथा क्रिया—सबको संतुलित रूप में स्वीकार कर यथार्थवादी दृष्टिकोण दर्शन के रूप में नहीं बल्कि जीवन की परिस्थितियों के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर जीवन को सफल बनाने तथा प्रगति करने वाले मूल सिद्धान्तों का निरूपण करता है और शिक्षा में उनका प्रक्षेपण करता है।

सारांश

मानव के विश्वासों को बल देने वाली जीवन की वास्तविक परिस्थितियों और जगत् के कौतूहलों की समीक्षा के आधार पर स्थित विचारधारा है। प्रयोगवाद, आदर्शवाद, प्रकृतिवाद—इनके साथ इसका सम्बन्ध भी है और यह उनसे कुछ रूप में पृथक् भी है।

१६ वीं शताब्दी से इसका प्रारम्भ हुआ। विज्ञान के आविष्कार, नई खोजों व विचारों ने एक ओर मानव की विश्व में रुचि उत्पन्न कर दी दूसरी ओर मध्यकालीन व परम्परागत परम्पराओं में उसकी घृणा। यथार्थवाद के प्रारम्भ में तीन रूप हुए : मानवतावादी यथार्थवाद, सामाजिकतावादी यथार्थवाद तथा ज्ञानेन्द्रिय

यथार्थवाद। प्रथम के समर्थक मिल्टन, इरैसमस और रैबेले जैसे विद्वान थे, दूसरे के मान्टेन तथा जॉन लॉक और तीसरे के फ्रांसिस बेकन, राटके तथा कोमीनियस। यथार्थवाद के इन तीन रूपों में सबसे अधिक प्रभाव ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद का पड़ा है और आधुनिक शिक्षा में वह स्पष्ट है। ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद शिक्षण में प्रकृति के नियमों का अनुसरण तथा इन्द्रियों द्वारा ज्ञान-प्राप्ति पर जोर देता है। इसे शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति का अग्रसर भी कहा जाता है। ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादियों में बेकन की निगमन पद्धति और कोमीनियस के शिक्षण के सिद्धान्त आज की वैज्ञानिक शिक्षा पद्धति पर बहुत छाप डालते हैं।

आधुनिक यथार्थवाद बहुत व्यापक अर्थ में लिया जाता है। वस्तु और क्रिया में यह वस्तु और उसके गुण को प्रधानता देता है। प्रयोगवाद से इस विषय में यह मतभेद रखता है और उसकी आलोचना भी करता है। सत्य वस्तु का आन्तरिक गुण है जिसको मानव अनुभव बनाता नहीं; बल्कि वह उसका पता लगाता है। दोनों—प्रयोगवाद तथा यथार्थवाद में यही मतभेद है। पहला दृष्टिकोण प्रयोगवादी है, दूसरा यथार्थवादी। यथार्थवाद शिक्षण की विधि में उन सब वैज्ञानिक ढंगों पर, जोर देता है जिन पर प्रयोगवाद देता है।

९

शिक्षा में प्रवृत्तियाँ–(१) मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति

उन्नीसवीं शताब्दी शिक्षा के विकास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है और आधुनिक शिक्षा के रूप को निश्चित करने की दृष्टि से और भी अधिक महत्व रखती है। इस शताब्दी में शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों—समाज शास्त्र, विज्ञान, राजनीति, दर्शन, अर्थशास्त्र आदि में बहुत बड़े-बड़े विचारकों ने साहित्य निर्माण व वृद्धि में योग दिया और जीवन की धारा को एक नया रूप दिया। हमारे यह क्षेत्र के बाहर है कि इस शताब्दी की समस्त विचारधाराओं का हम अध्ययन करें। हमारे लिए शिक्षा में हुए परिवर्तन और उनमें भी वे प्रमुख प्रवृत्तियाँ जिन्होंने स्पष्ट रूप में शिक्षा के रूप को बदला और उस पर अपना प्रभाव डाला, महत्व रखते हैं। इस शैक्षिक आन्दोलन को जन्म और प्रेरणा देने वाले दो कारण थे। प्रथम तत्कालीन भौतिक उन्नति, विज्ञान के आविष्कार व उसकी प्रगति, जीवन का ढंग-परिवर्तन, साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति, राजनैतिक व्यवस्थाओं में महान क्रान्ति आदि, और द्वितीय, आन्दोलन के पूर्व की घटनाएँ और शिक्षा-विचारकों के विचार। उन्नीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक उन्नति ने स्कूलों के पाठ्यक्रम, शिक्षा के उद्देश्यों, शिक्षा व्यवस्थाओं आदि में और 18 वीं शताब्दी के विचारकों जिनमें प्रमुख रूसो है, ने शिक्षा को एक मोड़ देने में सहायता दी। इन दोनों के फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा में कई धाराएँ स्पष्ट रूप में आईं जिन्होंने पूरी शिक्षा को एक नवीन मोड़ दी और बीसवीं शताब्दी की शिक्षा की पृष्ठ भूमि तैयार की। इन विचारधाराओं में तीन प्रमुख है : (1) मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति (2) वैज्ञानिक प्रवृत्ति और (3) सामाजिक प्रवृत्ति। हम एक अध्याय में इन प्रवृत्तियों के बारे में विचार करेंगे। प्रस्तुत अध्याय में हम मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति पर अध्ययन करेंगे।

मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की उत्पत्ति तथा विशेषताएँ

शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को, जिसका आधुनिक रूप बालक की प्रवृत्ति और उसकी शक्तियों का अध्ययन करना ही नहीं है बल्कि शिक्षा के समस्त रूपों और अंगो की मनोवैज्ञानिक ढंग से समीक्षा करनी है, रूसो के प्रकृतिवाद से प्रेरणा

मिली। रूसो ने बहुत ही क्रान्तिकारी भाषा में शिक्षा के तत्कालीन रूप का खंडन कर उसे अप्राकृतिक बतलाया और शिक्षा को प्राकृतिक ढंग से पुनर्निमित करने के ऊपर बल दिया। यद्यपि रूसो की विचारधारा उसके अध्ययन व चिन्तन का परिणाम न थी क्योंकि उसकी शिक्षा व्यवस्थित ढंग से नहीं हुई थी परन्तु उसकी भावावेश से उत्पन्न विचार-शृंखला शिक्षा विशारदों के शान्त चिन्तन के आधार पर बहुत उपयोगी प्रतीत हुई और उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षकों ने उससे प्रेरणा लेकर शिक्षा सुधार की लहर को आगे बढ़ाया। रूसो ने बालक के व्यक्तित्व के विकास और प्राकृतिक ढंग से शिक्षा व्यवस्था करने के सिद्धान्तों पर अपने विचार रखकर केवल मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को ही प्रेरणा न दी, बल्कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में उसने 19 वीं शताब्दी के समस्त शिक्षा आन्दोलनों को बल दिया। मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति ने तो प्रत्यक्ष रूप में उससे बल प्राप्त किया और उसके फलस्वरूप शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधारों के अध्ययन में रुचि उत्पन्न हुई। यदि शिक्षा को बालक के विकास के स्तरों के उपयुक्त बनाना है तो बालक के विकास के सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाय और प्रत्येक स्तर की विशेषताओं तथा उसके अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था की जाय। इस प्रकार शिक्षा सुधार की विचारधारा मनोविज्ञान के अध्ययन की रुचि के साथ सम्बद्ध हो गई। उन्नीसवीं शताब्दी से मनोविज्ञान के अध्ययन ने बल पकड़ा और आज तक इस क्षेत्र में अध्ययन बराबर जारी है। इन आन्दोलन के 19 वीं शताब्दी में दो रूप रहे; एक दार्शनिक जिसके प्रतिनिधि कान्ट (Kant), हीगल (Higel), शिलिंग (Shilling), फिश्टे (Fichte) थे और दूसरा व्यावहारिक जिसके प्रतिनिधि पेस्टालॉजी (Pestalozzi) हरबर्ट (Herbart) और फ्रोबेल (Froebel) थे। इस अध्याय में दार्शनिक रूप हमारे लिए महत्व का नहीं है, अतः उस पर हम विचार नहीं करेंगे परन्तु व्यवहार रूप हमारे लिए प्रमुख अध्ययन का विषय है और इस अध्याय में हम इस मनोवैज्ञानिक आन्दोलन को शिक्षा के व्यवहार रूप की पृष्ठभूमि में अध्ययन करेंगे और उसके साथ ही साथ इसके तीनों प्रमुख विचारकों–पेस्टालॉजी, हरबार्ट तथा फ्रोबेल के शिक्षा सम्बन्धी विचारों पर विचार करेंगे।

मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की सामान्य विशेषतायें

यद्यपि इस आन्दोलन के समय हमें इसके प्रमुख समर्थकों के विचारों में भिन्नताएँ नजर आयेंगी परन्तु सामान्य रूप में इसकी कुछ विशेषतायें हैं जिनको उन सबके विचारों में स्थान मिलता है। वे निम्नलिखित हैं—

(अ) मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति ने शिक्षा के उद्देश्यों में व्यक्ति के संतुलित विकास शरीर, मस्तिष्क व आत्मा—पर जोर दिया।

(ब) इसके लिए यह आवश्यक हो गया है कि बालक के तीनों प्रकार के विकास के लिए उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण, उसका अध्ययन, उसकी प्रकृति उसकी विशेषताएँ आदि का अध्ययन किया जाय।

(स) शिक्षक के लिए बालक के व्यक्तित्व को समझना, उसका सम्मान करना, उसको सिखाने के लिये सीखने के सिद्धान्तों का समझ लेना आवश्यक हो गया।

(द) इस विचारधारा ने तत्कालीन परम्परागत शिक्षण पद्धतियों, जिनमें रटना प्रधान था, व्यक्तित्व का दमन किया जाता था, अनुशासन को दमनात्मक तरीकों से रक्खा जाता था, पाठ्यक्रम में पुस्तकीय वस्तु के रटने पर अधिक जोर था, शिक्षालय में कठोर नियंत्रण का वातावरण था, का खंडन किया और शिक्षा को एक रुचिकर क्रिया बनाने के लिए प्रयत्न किया।

(य) बालक को शिक्षा में प्रधानता दी गई। बालक-केन्द्रित शिक्षा (Paido-centricism) का सूत्रपात यहाँ से हुआ।

(र) मनोवैज्ञानिक विचारधारा ने शिक्षा की प्रक्रिया को बालक की नैसर्गिक शक्तियों के विकसित (Unfolding process) होने का क्रम बतलाया। शिक्षा बालक के अन्दर से विकास की क्रिया है न कि उसके ऊपर बाहर से ज्ञान थोपने की।

(ल) चूंकि बालक को केन्द्र मानकर यह शिक्षा चली अतः इस मनोवैज्ञानिक आन्दोलन ने प्रारम्भिक शिक्षा के सुधार पर अधिक बल दिया और उसके सुधार के लिए ही इसके समर्थकों ने अधिक प्रयत्न किये। प्रारम्भिक शिक्षा पर अभी तक लोगों का ध्यान न था।

(व) शिक्षा को रुचिकर बनाने पर इस आन्दोलन ने बहुत जोर दिया और शिक्षक के लिए बाल मनोविज्ञान का समझना तथा बालक के साथ सहानुभूतिपूर्ण वर्ताव रखना बहुत आवश्यक समझा गया।

(श) शिक्षण पद्धतियों में कृत्रिमता तथा परम्परा का खंडन किया गया।

इस प्रकार शिक्षा के उद्देश्यों, रूप, पद्धतियों व बालक की शक्तियों के अध्ययन के ऊपर विशेष जोर देकर मनोवैज्ञानिक आन्दोलन ने शिक्षा को एक नया मोड़ दिया जो मध्यकालीन व्यवस्था के बिल्कुल प्रतिकूल दिशा में था और जिसने आधुनिक शिक्षा के रूप को निश्चित करने में तेजी से कदम बढ़ाया। इस मनोवैज्ञानिक आन्दोलन में सर्वप्रथम पेस्टालॉजी का नाम आता है जो आधुनिक मनोवैज्ञानिक शिक्षा का जन्मदाता कहलाता है और जिसने सर्वप्रथम सिद्धान्त रूप में ही शिक्षा विधि की व्याख्या नहीं की बल्कि जिसने अपने सिद्धान्तों का व्यवहार रूप में परीक्षण भी किया। अगले पृष्ठों में हम इस मनोवैज्ञानिक आन्दोलन के तीन प्रमुख समर्थकों का अध्ययन करेंगे : पेस्टालॉजी, हरबार्ट तथा फ्रोबेल। हम सबसे पहले पेस्टालॉजी की शैक्षिक विचारधारा से चलेंगे।

(1) पेस्टालॉजी (Pestalozzi) (1746-1827)

(1) संक्षिप्त परिचय—पेस्टालॉजी का जन्म स्विटजरलैंड के ज्यूरिक (Zurich) नगर में हुआ। पिता के देहान्त के कारण उसके पालन-पोषण का भार उसकी

माँ पर पड़ा। बचपन से ही एक धार्मिक वातावरण में वह पला और वैसे ही उसके संस्कार बन गये। दरिद्र कृषकों के जीवन को देखने का उसे अवसर मिला और उनकी दयनीय दशा ने सहानुभूति, प्रेम, भावोद्वेग, उदारता, दया—इन गुणों को उसमें उमाड़ दिया। उसकी स्वयं की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी और प्रारम्भ में उसने कृषि की ओर अपना ध्यान लगाया जिससे अपनी दशा को सुधारे तथा कृषकों के साथ रहकर उनकी दशा को सुधारे। परन्तु इसमें उसे सफलता न मिली। इसी बीच उसे पुत्र प्राप्ति हुई और रूसो से आदर्श ग्रहण कर उसने उसको शिक्षा देना चाहा। सन् 1774 के अन्त में उसने लगभग बीस बालक और इकट्ठे कर लिए और शिक्षा के अपने प्रयोग को सफल बनाने की धुन में लग गया। उसकी आर्थिक स्थिति तो ठीक थी ही नहीं अतः उसने लिखने का कार्य भी आरम्भ कर दिया। यहाँ यह बात कह देना बहुत आवश्यक है कि पेस्टालॉजी ने केवल शिक्षा-सम्बन्धी साहित्य ही नहीं लिखा बल्कि उसने राजनीति, दर्शन तथा सामाजिक समस्याओं पर बहुत से साहित्य की रचना की। उसके इन विषयों में लेख उतना ही महत्व रखते हैं जितना शिक्षा के विषय में लिखा हुआ उसका साहित्य, वास्तव में पेस्टालॉजी रूसो की तरह पूरे समाज का सुधार करना चाहता है। उसका उद्देश्य केवल शिक्षा का सुधार न था। शिक्षा-सुधार तो सामाजिक सुधार का साधन था पेस्टालॉजी जनता की दीन अवस्था को दूर कर उनके जीवन के स्तर को ऊँचा उठाना चाहता था और इस उद्देश्य की प्राप्ति में शिक्षा उसके लिए एक बहुत प्रबल शस्त्र थी। अतः पेस्टालॉजी के शिक्षा सम्बन्धी सुधार व उसके सुधारों को समझने से पहले हम उसके अन्दर समाज सुधार के लिए प्रज्वलित ज्वाला की चमक को देख लेना आवश्यक समझते हैं।

(2) **अन्तर्ज्वाला**—ज्यूरिक के पास न्यूहौफ (Neuhof) में पेस्टालॉजी ने अपना कृषिफार्म बनाया परन्तु उसका आर्थिक संकट बढ़ता ही गया। मानसिक कष्ट ऐसे समय में कितना होता है और क्या-क्या उद्वेग ऐसी अवस्था में आते हैं पाठकों में से बहुतों को अनुभव होगा। ऐसी परिस्थिति में कभी-कभी एक अवसर में ही बड़ी से बड़ी बातें, ऊँचे से ऊँचे निर्णय भी आ जाते हैं और घोर से घोर निराशा भी हो जाती है। पेस्टालॉजी के जीवन में एक जबर्दस्त अवसर आया जबकि एक दिन शाम को अपनी आर्थिक स्थिति के जर्जरित रूप पर विचार करते-करते उसे एक आन्तरिक प्रेरणा का आभास हुआ और उसने अपने बिखरे विचारों को लिख डाला। ये विचार उसकी एक छोटी पुस्तक 'दी ईवनिंग ऑवर आफ एन हर्मिट' (The Evening Hour of an Hermit) में संकलित हैं। पेस्टालॉजी के समस्त विचारों—क्या शैक्षिक, क्या सामाजिक क्या दार्शनिक और क्या राजनैतिक—सबके इस में सूत्र हैं। उसके बाद के लेख उन्हीं की व्याख्या हैं। इन विचारों को एक बार नहीं कई बार पढ़िए और उनमें नई-नई विचार की शृंखलाएँ नजर आती हैं। पूरे संकलन में एक प्रमुख विचार समाया हुआ है और वह 'रूसो' है। रूसो की नकल नहीं है और न उसका शिष्यत्व ही नजर आता है परन्तु विचारों की समानता है। प्रकृति प्रधान है, सब मनुष्य बरा-

बर हैं चाहे वह सिंहासन पर हैं चाहे झोंपड़ी में; मनुष्य, मनुष्य से काम लेता है। अतः एक का दूसरे को जानना आवश्यक है। कृषक अपने बैलों को जानता है, उनकी हिफाजत करता है तभी तो उनसे काम लेता है। चरवाहा अपनी भेड़ों की फिकर करता हैं, उनकी हिफाजत करता है, तो क्या मानव को मानव जाति को जानना आवश्यक नहीं है ?[1]

(3) **मानव कल्याण का मार्ग**—मानव कल्याण का मार्ग मानवता की स्थिति और उसकी प्रकृति को समझने में है। सब मनुष्य समान हैं, चाहे राजा हो चाहे रंक, प्रकृति में उनका यही रूप है। प्रकृति के मार्ग में विषमता को स्थान नहीं समानता का है। इस मार्ग पर चलने से ही मानव समाज का कल्याण हो सकता है। यहाँ भी रूसो के विचार प्रतिबिम्बित हैं।

शिक्षा की दृष्टि से यह मूल-सूत्र बहुत महत्व रखता है और पेस्टालॉजी के समस्त शैक्षिक विचारों की जड़ है।

(4) **शिक्षा में प्रकृति के मार्ग का रूप**—पेस्टालॉजी के शैक्षिक विचारों को हम उसकी पुस्तकों, 'हाऊ गर्ट्रूड टीचेज़ हर चिल्डरैन' (How Gertrude teaches her children), 'ल्योनार्ड एण्ड गर्ट्रूड' (Leonard and Gertrude) तथा 'स्वानसौंग' (Swansong) में पाते हैं। इनमें भी प्रमुख विचार वही है कि मानव मानव को समझे, उसकी हिफाजत करे, उसके प्रति सहानुभूति, दया और भलमनसाहत का बर्ताव करे, प्रकृति के मार्ग को अपनावे और इस प्रकार सत्य के मार्ग पर चले क्योंकि प्रकृति का मार्ग ही सत्य है। शिक्षक के लिए इसका यह मतलब है कि वह बालक को अपने व्यक्तित्व से दूर न फेंके, उनके व्यक्तित्व का सम्मान करे और उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण तथा प्रेम मय व्यवहार करे, उनके मस्तिष्क को पहले सत्य और ज्ञान की खोज करने के लिए शिक्षित करे न कि उन पर शब्दों और सम्मतियों की

---

1 "Man who is the same whether on the throne or in a hut, what is he in his innermost nature ? Why do not the wise tell us ? Why are the greatest of our thinkers not concerned to know what their race is ? Does a peasant use his ox without knowing it ? Does not a shephered care for the nature of his sheep ?

And you who use man and profess that you guard and nurture him, do you care for him as a peasent cares for his ox ? Do you tend him as the shepherd tends his sheep ? Does your wisdom help you to understand truly your race and is your goodness the goodness of enlightened guardianes of the people ?"

[Translation by *Robert Ulich* : "The Evening Hour of an Hermit', quoted by him in History of Educational Thought, p. 258]

बौछार करे, सबको समान समझे और सबको अपनी-अपनी शक्त्यानुसार बढ़ने का अवसर दे।

समानता का अर्थ एक-रूपता नहीं है। प्रकृति के क्षेत्र में सबको समान अवसर है परन्तु प्रकृति किसी को अपनी-अपनी शक्त्यानुसार बढ़ने से नहीं रोकती। कोई अधिक वृद्धि करता है तो कोई कम। सुविधा सबको समान है। मानव समाज में समानता का अर्थ वही है जो प्रकृति के क्षेत्र में है और शिक्षा में भी कोई भिन्न अर्थ नहीं है। सब बालकों को अपनी-अपनी शक्त्यानुसार विकास करने की पूर्ण सुविधा हो, सबको समान अवसर दिए जायँ, जो जितना भी अपनी शक्ति के अनुसार लाभ उठावें, वह उसके ऊपर है। समानता का सिद्धान्त सबको बराबर करना नहीं, सबको बराबर समझना है, सबको बराबर अवसर बाँटना नहीं बल्कि सबको अपनी शक्त्यानुसार लाभ उठाने के लिए अधिकाधिक अवसर देना है। इस सिद्धान्त की मान्यता शिक्षा को प्रकृति के अनुरूप बनाती है और उसे मानव के कल्याण का साधन बनाती है।

(5) **पेस्टालॉजी के शिक्षा के सिद्धान्त**—(i) जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है पेस्टालॉजी एक समाज सुधारक था और शिक्षा द्वारा वह समाज का सुधार करना चाहता था। उसने व्यक्ति का सुधार करके समाज के सुधार करने की कल्पना की। उसका विश्वास था कि समाज के सुधार की कुंजी व्यक्ति का सुधार है, और व्यक्ति का सुधार अच्छी शिक्षा के द्वारा हो सकता है। शिक्षा व्यक्ति के अन्दर निहित शक्तियों को विकसित होने का अवसर देगी और इस प्रकार व्यक्ति अपना हित कर समाज का हित कर सकेगा। अतः व्यक्ति के शरीर, मस्तिष्क और उसकी आत्मा का विकास आवश्यक है। शिक्षा के उद्देश्य की व्याख्या उसने इसी आधार पर की। उसने कहा कि व्यक्ति का संतुलित या सम-विकास (harmonious development) शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। "एकांगी शिक्षा या विशिष्ट शिक्षा एकांगी विकास करती है, अतः वह झूठी है।" पूर्ण शिक्षा व्यक्ति के पूर्ण विकास के लक्ष्य को लेकर चलती है, अतः वही पूर्ण रूप में शिक्षा है। "किसी एक शक्ति के विकास की बात सोचना मानव के प्राकृतिक संतुलन को नष्ट कर देना है।"

(ii) शिक्षा में पाठ्यक्रम की बात के सम्बन्ध में उसने कहा कि व्यावसायिक या जीविकोपार्जन के लिए क्षमता देने वाली शिक्षा से पहले व्यक्ति की सामान्य शिक्षा होनी चाहिए। व्यवसाय या किसी धन्धे की शिक्षा बाद में आनी चाहिए। पहली आवश्यकता मस्तिष्क, हृदय और हाथ की कुशलता की है। व्यवसाय की शिक्षा तो एक कौशल है जो इनकी ट्रेनिंग के बाद प्राप्त किया जा सकता है। अतः सामान्य शिक्षा पहली आवश्यकता है।

(iii) शिक्षा के क्रम में लक्ष्य व्यक्ति को अधिकाधिक अवसर अपनी शक्तियों की वृद्धि के लिए दिए जाने चाहिए। ज्ञान वृद्धि आवश्यक है परन्तु वह प्रथम आवश्यकता नहीं है। पहली आवश्यकता शक्ति को बढ़ाने की है। प्रत्येक क्षेत्र

में शक्ति का विकास आवश्यक है। शिक्षा की प्रक्रिया सम-विकास के क्रम के निरन्तर चालू रहने की है और यह विकास स्वतन्त्र क्रिया के द्वारा चलता है।

(iv) बालक की शक्तियों का विकास अन्दर से होता है। शक्तियों का विकास वातावरण द्वारा बाहर से थोपा नहीं जाता। एक बालक उसी क्रम व नियम के अनुसार बढ़ता है जिस क्रम व नियम के अनुसार एक वृक्ष बढ़ता है। विकास का रूप दूसरा है परन्तु प्रक्रिया एक ही है। जिस प्रकार वृक्ष के बीज में सम्पूर्ण वृक्ष का रूप निहित है उसी प्रकार बालक में अपने पूरे विकास का रूप निहित है। शिक्षक का कार्य माली का सा है—उचित वातावरण और सुविधाएँ देना जिससे स्वतन्त्र विकास का क्रम अवरुद्ध न हो।

(v) प्रत्येक स्तर पर शिक्षण में पाठ्य-वस्तु का श्रेणीकरण करना और उसका क्रम निश्चित करना आवश्यक है। बालक को जो कुछ भी पढ़ाया जाता है वह उसकी सामर्थ्य व शक्ति के अनुसार क्रम से लगाया हुआ हो। उसकी सामर्थ्य में उसकी ग्रहण शक्ति, निर्णय, कल्पना चिन्तन शक्ति, सभी आ जाते हैं। बालक की सीखने की शक्ति के अनुसार ही पाठ्य वस्तु को उसे प्रदान किया जा सकता है।

(vi) शिक्षण में और शिक्षा की पूर्ण प्रक्रिया में प्रकृति के नियमों और क्रम का अनुसरण करना आवश्यक है। शिक्षा का कार्य वैसा ही है जैसा कि एक बगीचे में माली का है। माली वृक्षों की वृद्धि के क्रम में कुछ नहीं करता, क्रम तो वृक्ष में ही निहित है। वह तो पानी देता है, खाद देता है, उन्हें सींचता है। वृद्धि तो प्रकृति के नियम से चलती है। उसी प्रकार शिक्षक बालक को कोई शक्ति नहीं देता। शक्ति तो उसमें है। शिक्षक का कार्य तो यह है कि वह यह देखे कि शक्ति के विकास का क्रम चलता रहता है, वह किसी कारण अवरुद्ध नहीं होता।

(vii) पेस्टालॉजी एक महान् सामाजिक सुधारक था और वह शिक्षा द्वारा समाज का सुधार करना चाहता था। उसका विश्वास था कि शिक्षा व्यक्ति के स्तर को ऊँचा उठावेगी और व्यक्ति का कल्याण होने पर समाज का कल्याण होगा। वह सार्वजनिक शिक्षा के पक्ष में था और शिक्षा को सबके लिए उपलब्ध करने का पक्षपाती था। वर्गीय शिक्षा का वह घोर विरोधी था। उसके मत से शिक्षा का लाभ सब लोगों को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार होना चाहिए।

(6) **पेस्टालॉजी के शिक्षा सिद्धान्तों का उसके एक शिष्य मौर्य मार्फ (Marf) द्वारा बना हुआ सारांश**—(i) निरीक्षण और इन्द्रिय-ज्ञान शिक्षण का प्रमुख आधार है।

(ii) भाषा का निरीक्षण और निरीक्षित वस्तु के साथ सम्बन्ध होना चाहिए, अर्थात् वस्तु-ज्ञान के साथ शब्द ज्ञान जुड़ना चाहिए। शब्द ज्ञान वस्तु-ज्ञान के बिना मूल्य नहीं रखता।

(iii) शिक्षण का कार्य शिक्षा के महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए होना चाहिए (सम-विकास)।

(iv) शिक्षण का उद्देश्य शक्तियों को विकास के लिए अवसर देना है, न कि ऊपर से कुछ थोपना।

(v) शिक्षक को बालक के व्यक्तित्व का सम्मान करना चाहिए।

(vi) प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थी को ज्ञान व शक्ति देना नहीं है बल्कि उसकी बुद्धि की शक्ति से विकसित होने के लिए प्रेरणा देना है।

(vii) सीखने का समय निर्णय अथवा आलोचना करने का समय नहीं है।

(viii) शिक्षा में हमेशा सरल से धीरे-धीरे कठिन की ओर जाने का मनोवैज्ञानिक क्रम है।

(ix) प्रत्येक पग पर शिक्षक काफी समय दे जिससे बालक एक बात को खूब अच्छी तरह समझ लें, तब वह आगे बढ़े।

(x) अनुशासन का आधार प्रेम हो, भय न हो।

(xi) ज्ञान के साथ शक्ति और सीखने के साथ कौशल जुड़ा हुआ हो।

(7) **पेस्टालॉजी की आधुनिक शिक्षा को देन :** (i) पेस्टालॉजी आधुनिक मनोविज्ञान का जन्मदाता कहा जाता है। उसने सर्वप्रथम शिक्षा को व्यवहार रूप में मनोवैज्ञानिक रूप दिया। उसने बालक के विकास के सिद्धान्तों के प्रकृति के नियमों के अनुकूल स्वीकार कर बालकों को उसी प्रकार शिक्षा देने का प्रयत्न किया।

(ii) शिक्षा को सामाजिक कल्याण का साधन बनाने पर उसने बहुत जोर दिया जैसा कि हम पहले कह चुके हैं पेस्टालॉजी एक महान् समाज सुधारक था और वह समाज की गिरी हुई दशा को देखकर बहुत दुखी होता था। वह कहा करता था कि "भिक्षुओं को मैं मनुष्य की तरह रहना सिखाना चाहता हूँ।" समाज को जीवन देने और उसे पुष्ट बनाने के लिए शिक्षा को उसने प्रथम आवश्यकता समझा। सार्वजनिक शिक्षा पर उसने बहुत बल दिया और इस प्रकार आधुनिक जनतन्त्रीय शिक्षा के एक महत्वपूर्ण रूप को उसने शक्ति दी।

(iii) शिक्षा के उद्देश्य की उसने सर्व प्रथम स्पष्ट रूप से व्यावहारिक दृष्टि से व्याख्या की।

(iv) अनुशासन के आधुनिक दृष्टिकोण का स्रोत भी हमें उसके विचारों में मिलता है। भय के स्थान पर प्रेम, दमन के स्थान पर सहानुभूतिपूर्ण बर्ताव अनुशासन के सिद्धान्त है जिन पर पेस्टालॉजी ने जोर दिया।

(v) मनोविज्ञान का अध्ययन, बालक की प्रकृति का पूर्ण अध्ययन, तथा शिक्षा का मनोवैज्ञानिक ढंग पर आधारित करना—ये पेस्टालॉजी की देन है। रूसो के भावावेश में रंगी हुई तर्कों में से क्रमिक विचारों को संकलन कर उनको व्यावहारिक रूप में परीक्षण कर पेस्टलॉजी ने शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार को बहुत बल दिया।

(vi) चूँकि शिक्षण का कार्य एक टेकनीकल कार्य बन गया अतः शिक्षकों की ट्रेनिंग की आवश्यकता की अनुभूति भी पेस्टालॉजी के विचारों के फलस्वरूप हुई।

(8) **पेस्टालॉजी के विचारों का तत्कालिक प्रभाव :** पेस्टालॉजी के विचारों का तत्कालिक प्रभाव भी बहुत पड़ा। जर्मनी की बहुत सी रियासतों ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा का उसके सिद्धान्तों के आधार पर पुनर्निर्माण किया। फ्रांस में सन् 1830 के बाद उसके विचारों को स्थान मिला। इंग्लैंड में भी 1830 के बाद उसके विचारों को समर्थन प्राप्त हुआ। स्विट्जरलैंड में तो तत्काल ही उसका प्रभाव हुआ। अनेक लोग वर्गडौर्फ और यवरडन में उसके स्कूल को देखने आए। उसने स्विट्जरलैंड में कई शिक्षकों को अपने विचारों को फैलाने के लिए ट्रेनिंग भी दी।

शिक्षण पद्धति में शनैः शनैः परिवर्तन होना शुरू हो गया। रटने की विधि पर धीरे-धीरे जोर कम हुआ और निरीक्षण तथा खोज पर बल दिया जाने लगा। कक्षाओं में बालकों को सुनने के अलावा वाद-विवाद करने तथा चिन्तन करने के लिए अवसर दिए जाने लगे और इस प्रकार वह पुरानी प्रथा की जो शताब्दियों से शिक्षा में घोर बरबादी कर रही थी, जड़ खुदना शुरू हो गया।

(2) **जौन फ्रेडरिक हर्बार्ट** (Johan Frederich Herbart) (1776-1881)

(1) **पेस्टालॉजी और हर्बार्ट :** पेस्टालॉजी को लोग रूसो का शिष्य कहते हैं और कभी-कभी हर्बार्ट को पेस्टालॉजी का शिष्य कहते हैं। पहली बात में यथार्थता हो सकती है परन्तु दूसरी बात में नहीं। हर्बार्ट ने पेस्टालॉजी से बहुत कुछ सीखा, इसमें शक नहीं। वह स्विटजरलैंड में पेस्टालॉजी से मिला भी, उसने उससे प्रेरणा अवश्य ली परन्तु अपने विचारों के लिए वह किसी रूप में पेस्टालॉजी का आभारी नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि हर्बार्ट एक बहुत बड़ा विद्वान् था। अपनी विद्वता के भरोसे पर ही वह कान्ट का उत्तराधिकारी बना और कोहनिग्स-वर्ग के विश्वविद्यालय में दर्शन का प्रोफेसर नियुक्त हुआ। उसने शिक्षा के क्षेत्र में अपने विचारों को केवल मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में ही नहीं दौड़ाया बल्कि दर्शन के क्षेत्र में भी दौड़ाया। यदि पेस्टालॉजी ने शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार दिया तो हर्बार्ट ने निश्चित रूप में मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक रूप, दोनों रूप दिए। हर्बार्ट के विचार उसके प्रगाढ़ अध्ययन और चिन्तन के फलस्वरूप हैं। पेस्टालॉजी तो भावुक था और समाज की दुरवस्था, पीड़ितों की पुकार, दरिद्रों की कराहों से उसका दिल भर जाता था और वह समाज सुधार करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ था। उसके उद्वेग उसके विचारों के जन्मदाता थे। हर्बार्ट मूल रूप में विचारक था, भावावेश व उद्वेग उसके विचारों की शृंखला के आधीन थे, उसके स्वामी नहीं थे। उसने जो कुछ लिखा है वह अत्यन्त क्रमिक और व्यवस्थित ढंग से उसने प्रस्तुत किया है और वह उसके अध्ययन, चिन्तन और तर्क के आधार पर स्थित है। हर्बार्ट के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को समझने के लिए हम पेस्टालॉजी और हर्बार्ट का संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक समझते हैं।

(i) जैसा कि ऊपर के कथन से स्पष्ट होता है हर्बार्ट आधुनिक मनोविज्ञान तथा शिक्षा दर्शन—दोनों का जन्मदाता है। पेस्टालॉजी की वैज्ञानिक क्षेत्र में देन है। शिक्षा दर्शन के क्षेत्र में उसकी कोई देन नहीं है।

(ii) हम ऊपर यह भी संकेत कर चुके हैं कि पेस्टालॉजी एक महान् भावुक व्यक्ति था, अतः उसके विचारों में काल्पनिकता भी है परन्तु हर्बार्ट एक अत्यन्त विचारशील विद्वान् था जिसके विचारों में प्रारम्भ से अन्त तक क्रमिक अनुकूलता है।

(iii) पेस्टालॉजी का शिक्षण में इन्द्रियों की शिक्षा के ऊपर अधिक बल था और वह बालक के विकास को सरल बनाने पर अधिक जोर देता था। शिक्षक का कार्य माली का सा था जो बालक के लिए वही कार्य करता जो माली वृक्षों के लिए करता है। हर्बार्ट ने शिक्षण तथा शिक्षण द्वारा मस्तिष्क के प्रशिक्षण पर बहुत बल दिया। शिक्षक के कार्य को उसने बहुत बड़ा बतलाया और मस्तिष्क को सुशिक्षित बनाकर एक योग्य चरित्रवान व्यक्ति बनाना शिक्षा का परम उद्देश्य निश्चित किया।

(iv) पेस्टालॉजी ने किसी मनोविज्ञान को स्थापित नहीं किया। उसने कुछ अंग तक प्रचलित मनोवैज्ञानिक विचारों को ही स्वीकार कर लिया जिनके द्वारा मस्तिष्क एक शक्तियों का बंडल माना जाता था और भिन्न-भिन्न शक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार की ट्रेनिंग द्वारा विकसित होने का अवसर दिया जाता था। हर्बार्ट ने अपने विचारों, तर्कों, अध्ययनों तथा आत्मनिरीक्षण के आधार पर उस मनोविज्ञान का खण्डन कर अपनी ओर से प्रथक रूप में मनोविज्ञान और मस्तिष्क की क्रिया की व्याख्या की और उसके आधार पर अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों की व्याख्या की।

(v) पेस्टालॉजी शक्तियों के सम-विकास को शिक्षा का उद्देश्य बतलाता था परन्तु हर्बार्ट ने चरित्र निर्माण को शिक्षा का परम उद्देश्य माना। अतः जहाँ पेस्टालॉजी ने गणित, भूगोल, लिखना, गिनना, ड्राइंग आदि विषयों पर जोर दिया क्योंकि इनके द्वारा अलग-अलग शक्तियों का विकास होता है वहाँ हर्बार्ट ने साहित्य, इतिहास, भाषा आदि पर अधिक जोर दिया क्योंकि ये उसके द्वारा निर्धारित उद्देश्य की पूर्ति में प्रत्यक्ष रूप में सहायक हैं।

(vi) पेस्टालॉजी की भौतिक जगत् में अधिक रुचि थी। हर्बार्ट भौतिक जगत् को केवल नैतिक जगत् के समझने का माध्यम समझता था। कहने की आवश्यकता नहीं कि हर्बार्ट के विचारों में जर्मनी के दार्शनिकों का प्रत्यक्ष रूप में प्रभाव था और उसकी प्रवृत्ति जगत् के नैतिक आधार की अपेक्षा अधिक थी।

(vii) उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि हर्बार्ट पेस्टालॉजी की अपेक्षा अधिक विचारशील, तर्क-युक्त तथा चिन्तनशील था और उसका आधुनिक शिक्षा के ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा है, यद्यपि अभी हाल ही में उसकी शिक्षण विधि का खंडन होना प्रारम्भ हो गया है।

(2) **हर्बार्ट की मनोवैज्ञानिक विचार-धारा :** हर्बार्ट सबसे पहला विद्वान् था जिसने शिक्षा को मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधारों पर खड़ा किया। उसके दार्शनिक विचारों ने उसे शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित करने के लिए आधार दिया और मनोवैज्ञानिक विचारों ने शिक्षण की विधि और प्रक्रिया का आधार दिया।

उसके दार्शनिक विचारों की व्याख्या करने से पहले हम उसके मनोवैज्ञानिक विचार-धारा का विश्लेषण करना चाहते हैं।

हर्बार्ट ने अपने समय में प्रचलित 'शक्ति मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) का खण्डन किया जिसके अनुसार मस्तिष्क विभिन्न शक्तियों—जैसे स्मरण शक्ति, तर्क शक्ति, कल्पना शक्ति आदि—का बंडल समझा जाता था। अपने आत्मनिरीक्षण (introspection) तथा अध्ययन व चिन्तन के आधार पर हर्बार्ट इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मस्तिष्क की क्रिया पृथक्-पृथक् शक्तियों की क्रिया नहीं है बल्कि सब प्रकार की मस्तिष्क की क्रिया पूरे मस्तिष्क की क्रिया है। मस्तिष्क एक इकाई है और वह इकाई के रूप में कार्य करता है न कि विभिन्न कार्य पृथक्-पृथक् शक्तियों के प्रयोग के द्वारा। मस्तिष्क एक इकाई है, वह पृथक्-पृथक् शक्तियों का समूह नहीं है। "यह भयंकर भूल है कि उसे भिन्न-भिन्न शक्तियों का समूह माना जाता है।"

हर्बार्ट ने यह विचार रक्खा कि हमारा मानसिक जीवन वातावरण और मस्तिष्क के सम्पर्क में आने पर उनसे उद्भुत अनुभवों, विचारों की एक अविरल गति से चलती हुई धारा है। जन्म के समय मस्तिष्क शून्य (tabularosa) है। उसमें कुछ नहीं है, सिर्फ एक शक्ति उसे प्राप्त है और वह है वातावरण से सम्पर्क स्थापित करने की शक्ति। सम्पर्क स्थापित होते ही मानसिक क्रिया प्रारम्भ हो जाती है और हमारा ज्ञान व अनुभव बढ़ता जाता है। यह सब कैसे होता है ?

हर्बार्ट की दृष्टि से मस्तिष्क की तीन प्रकार की क्रियाएँ हैं। (i) ज्ञानात्मक (knowing) (ii) संवेदनात्मक (feeling) और (iii) क्रियात्मक (willing)।

(i) **ज्ञानात्मक :** वातावरण के साथ मिलन या सम्पर्क होते ही प्रत्यय (ideas) व अनुभवों का मस्तिष्क में प्रवेश होना प्रारम्भ हो जाता है। मस्तिष्क के दो स्तर हैं : एक चेतनाशील (conscious) और दूसरा अचेतनाशील (unconscious)। प्रत्यय या अनुभव पहले चेतनाशील भाग में प्रवेश करते हैं और फिर वे अचेतनाशील में प्रवेश करने के लिए प्रयत्न करते हैं। चेतनाशील भाग मस्तिष्क का प्रत्ययों व अनुभवों का प्रवेश द्वार है और उनका वास्तविक स्थान अचेतनाशील भाग है जहाँ वे अन्य प्रत्ययों के साथ सम्बन्धित होकर स्थित रहते हैं और मस्तिष्क का अंग बन जाते हैं। चूँकि वातावरण के सम्पर्क के फलस्वरूप उनकी उत्पत्ति होती है अतः मानव व्यवहार में वातावरण से तत्सम्बन्धी उत्तेजन होने पर वे मानसिक क्रिया को प्रभावित करते हैं। प्रत्यय के अनुभव समान भी हो सकते हैं। हर्बार्ट के अनुसार प्रत्येक प्रत्यय या अनुभव मस्तिष्क के चेतनाशील भाग में पहले प्रवेश करता है फिर अचेतनाशील भाग में जो पहले के प्रत्यय या अनुभव मौजूद हैं उनमें से नए प्रत्यय या अनुभव से मिलने जुलने वाला प्रत्यय या अनुभव चेतनाशील भाग में आता है और इस प्रकार दोनों में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और वे फिर अचेतनाशील भाग में चले जाते हैं। नए प्रत्यय या अनुभव पूर्व-संचित प्रत्ययों और अनुभवों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके ही मस्तिष्क में स्थान पाते हैं अन्यथा वे मस्तिष्क में अव्यवस्थित रूप में लटकते रहते हैं,

उसके अंग नहीं बन पाते। शिक्षा में इसका क्या महत्व है और किस प्रकार हर्बार्ट के पूर्ण-संचित ज्ञान के आधार पर पूर्व ज्ञान और नए ज्ञान का सम्बन्ध स्थापित करते हुए शिक्षण विधि का निर्माण किया। इस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। यहाँ उसके मनोविज्ञान की समीक्षा करते हुए हमें इस बात को स्पष्ट करना है कि किस प्रकार हर्बार्ट ने मस्तिष्क की जानने की क्रिया अथवा उसकी ज्ञानात्मक क्रिया का विश्लेषण किया। उसके अनुसार मस्तिष्कमें प्रत्यय पूर्व संचित प्रयत्नों के आधार पर ही स्थान पाते हैं। दिन प्रतिदिन, पल प्रतिपल नवीन-नवीन प्रत्यय या अनुभव हमारे मस्तिष्क में घुसते हैं। अपने सहयोगी पूर्व-स्थित प्रत्ययों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके भी मस्तिष्क में स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं और इस प्रकार मस्तिष्क का अंग बन जाते हैं। इस प्रकार मस्तिष्क की जानने की क्रिया जिसका परिणाम ज्ञान वृद्धि है चलती रहती है। प्रत्ययों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होना व उनका एक दूसरे से मिल जाना ही मानसिक परिपाक (mental assimilation) है। जिस प्रकार भोजन आमाशय में जाकर अन्दर के रसों के सहयोग से पचता है और फिर आंतों में जाकर शक्ति में रक्त और मांस में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्यय मस्तिष्क के चेतनाशील भाग में जाकर ठहरते हैं और मस्तिष्क में स्थित प्रत्ययों के साथ मिलकर वे मस्तिष्क का अंग बन जाते हैं। यदि नवीन प्रत्ययों का पूर्वानुवर्ती प्रत्ययों से कोई सम्बन्ध नहीं है और वे बिल्कुल अजनबी हैं तो वे मस्तिष्क में स्थिर नहीं रह सकते।

शिक्षण में हर्बार्ट के इस सिद्धान्त की कई प्रकार व्याख्या की गई है और इसे बहुत महत्व दिया गया है। नन महोदय ने पूर्व संचित प्रत्ययों के समूह को पूर्वानुवर्ती ज्ञान (apperceptive mass) की संज्ञा दी है। इस बात पर बल दिया गया है और हर्बार्ट ने इसको अपनी मनोवैज्ञानिक व्याख्या से स्पष्ट कर दिया है कि अगर बालक को नया ज्ञान देना है तो उसको पूर्व ज्ञान के साथ सम्बन्धित करते हुए दिया जाय। आज कक्षा में हम प्रारम्भ में यह प्रयत्न करते हैं कि नए पाठ को पूर्व पाठित पाठ के पास जोड़ें और नए पूर्व प्राप्त ज्ञान के साथ सम्बन्ध स्थापित करें। यह सिद्धान्त हर्बार्ट के मनोवैज्ञानिक विचारों के ऊपर आधारित है। नया ज्ञान बालक के मस्तिष्क में तभी प्रवेश करेगा और वह तभी स्थिर रह सकेगा जब पूर्व ज्ञान के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित हो गया है। अतः शिक्षण में यह स्वीकार किया जाता है कि शिक्षक बालकों के पूर्व संचित ज्ञान का पता लगाने और अपने प्रतिदिन के पाठ को पूर्व ज्ञान के आधार पर पढ़ाता चले। पूर्व ज्ञान के आधार पर पढ़ाने से उसका और पूर्व ज्ञान का सम्बन्ध दृढ़ हो जावेगा और वह मस्तिष्क में दृढ़ता प्राप्त कर देगा अर्थात् बालक उसका मानसिक परिपाक (mental assimilation) कर लेगा जैसा भोजन का आमाशय और आंतों में हो जाता है। यदि ज्ञान का मानसिक परिपाक नहीं हुआ तो उसकी भी वही दशा होगी जो भोजन की होती है जो पच नहीं पाता।

मस्तिष्क की इस क्रिया के आधार पर हर्बार्ट ने शिक्षक के कार्य को बहुत महत्वपूर्ण बतलाया और शिक्षण की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया। उसके मतानुसार यह कार्य बिना योग्य और शिक्षित शिक्षक के बिना हो ही नहीं सकता। शिक्षक ही मस्तिष्क को शिक्षित करता है। वही मस्तिष्क को बनाता है (To instruct the mind is to construct it)। उसी का यह कार्य है और वही यह कर सकता है कि बालक का नया मानसिक स्तर है, उसका कितना और क्या पूर्व संचित ज्ञान है और किस प्रकार किस क्रम में उसे और ज्ञान बालक को देना है। पेस्टालॉजी ने तो इन्द्रियों की शिक्षा को ही बहुत महत्व दिया था परन्तु हर्बार्ट उससे आगे बढ़ गया और उसने यह स्पष्ट किया कि इन्द्रियों की शिक्षा आवश्यक है परन्तु वास्तविक ज्ञान प्राप्ति में इन्द्रियों के स्तर के ऊपर मानसिक क्रिया का स्तर है जहाँ ज्ञान का पाचन होता है, उसका आत्मसात्करण तथा शोषण होता है और जहाँ ज्ञान मस्तिष्क का अंग बनकर मनुष्य के व्यवहार में प्रभाव दिखाता है। हर्बार्ट के मस्तिष्क की इस क्रिया के सिद्धान्त ने शिक्षक, शिक्षा और शिक्षण पर बहुत ही प्रभाव डाला है और उसकी इसके आधार पर निर्धारित की हुई शिक्षण-पद्धति आधुनिक शिक्षक के लिए पथ प्रदर्शन बन गई है।

(ii) **संवेदनात्मक :** मस्तिष्क की यह दूसरी क्रिया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्रत्यय मस्तिष्क के चेतनाशील भाग में आते हैं और चूँकि मस्तिष्क का प्रत्येक समय वातावरण से सम्पर्क रहता है, अतः वे प्रति समय आने की कोशिश भी करते रहते हैं। चेतनाशील भाग में उन्हें अपने पूर्ववर्ती प्रत्ययों के द्वारा अपने सामर्थ मिलाने का कार्य होता है। यदि प्रत्यय व्यक्ति की रुचि के अनुसार होते हैं तो उसे आनन्द मिलता है और यदि वे उसकी रुचि के प्रतिकूल होते हैं तो वह अनुभव उसे अच्छा नहीं लगता। रुचि के आधार पर प्रत्यय आनन्ददायक और दुखदायक होते हैं। मस्तिष्क की यह संवेदनात्मक क्रिया है। शिक्षा में इसका बहुत महत्व है। शिक्षक को यह प्रयत्न करना है कि जो विचार व अनुभव वह बालक को दे वे रुचिकर हो जिससे उन्हें आनन्द मिले। जिन प्रत्ययों के परिणाम-स्वरूप बालकों को आनन्द मिलता है वे प्रत्यय रुचिकर होते हैं और अपने पूर्ववर्ती प्रत्ययों के साथ सहज में ही सम्बन्धित होकर मस्तिष्क में स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं। पाठों में बालकों की रुचि उत्पन्न करना शिक्षक के लिए बहुत आवश्यक है। इस रुचि का आधार भी मनोवैज्ञानात्मक है। यदि नए ज्ञान का पूर्वज्ञान से शिक्षक सम्बन्ध स्थापित कर देता है तो बालकों की स्वतः ही उसमें रुचि हो जाती है और उनका समस्त ज्ञान एक श्रृंखला के रूप में उनके मस्तिष्क में बैठ जाता है। समस्त ज्ञान की एक श्रृंखला अथवा एक चक्र 'जिसे हर्बार्ट-विचार का चक्र' (circle of thought) कहता है बन जाना बहुत आवश्यक है। यदि ज्ञान का मस्तिष्क में एक चक्र बन गया तो व्यक्ति के समस्त व्यवहार में उसका पूरा प्रभाव होगा। उसके व्यवहार में उसके ज्ञान के अपूर्ण रूप का या एकांगी रूप का नहीं बल्कि समस्त ज्ञान का प्रतिबिम्ब होगा। उसका ज्ञान

उसे अपने व्यवहार को परिमार्जित करने में सफल होगा और इस प्रकार उसका समस्त ज्ञान उपयोग की दृष्टि से सफल होगा। यह तभी सम्भव है जबकि समस्त ज्ञान की मस्तिष्क में शृंखला या उसका एक चक्र बन गया हो।

(iii) **क्रियात्मक :** मस्तिष्क की तीसरी क्रिया उसके क्रिया स्वरूप से सम्बन्ध रखती है। मस्तिष्क के प्रत्ययों को कार्य में अभिव्यक्ति मस्तिष्क की क्रियात्मक (volitional) प्रवृत्ति की सूचक है। प्रत्यय मस्तिष्क में इकट्ठे होने तथा निष्क्रिय रूप में वहीं रहने के लिए नहीं होते। वे व्यवहार द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। व्यवहार को प्रेरित करने वाला मस्तिष्क है। अतः यह मस्तिष्क की तीसरी क्रिया है।

शिक्षक के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्ययों का नियन्त्रण करे और वातावरण के द्वारा ऐसे प्रत्ययों को बालकों के मस्तिष्क में प्रवेश करने के लिए अपना कार्यक्रम बनावे कि उनके आधार पर जो बालकों का व्यवहार हो वह सुन्दर हो।

इस प्रकार हर्बार्ट ने मस्तिष्क की प्रकृति पर व्याख्या कर मनोविज्ञान को एक नया रूप दिया जो प्रचलित शक्ति मनोविज्ञान (faculty psychology) के प्रतिकूल था। प्रत्ययों या विचारों (ideas) के मस्तिष्क में समावेश के उसने दो स्रोत बतलाये (i) अनुभव (experience) तथा (ii) सम्पर्क (intercourse)। अनुभव होता है प्राकृतिक वातावरण से सम्पर्क होने पर और 'सम्पर्क' होता है समाज के साथ सम्पर्क होने पर। प्रकृति तथा 'समाज' के साथ सस्पर्क होने पर प्रत्यय मस्तिष्क में आते हैं और मस्तिष्क उन्हीं तीनों क्रियाओं द्वारा कार्य करता है जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

हर्बार्ट शिक्षक के कार्य को बहुत महत्व देता है। इस विषय में आगे चलकर हम और कुछ कहेंगे। यहाँ यह कह देना चाहते हैं कि चूँकि वातावरण—प्रकृति तथा समाज—से आने वाले प्रत्यय अव्यवस्थित, संकीर्ण अपर्याप्त भी हो सकते हैं अतः शिक्षक का कार्य है कि उनको क्रम में प्रवेश करावे, उनको व्यवस्थित करे और उनकी अपूर्णता व अपर्याप्तता की पूर्ति करे, तभी तो वे मस्तिष्क में अपने पूर्ववर्ती प्रत्ययों के साथ ठीक सम्बन्ध जोड़ सकेंगे और मस्तिष्क में अव्यवस्थित रूप में लटकने के बजाय उसके विचार-चक्र (circle of thought) के अंग बनकर उसी में समा जावेंगे। अतः शिक्षक की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। वही मस्तिष्क को ठीक प्रकार शिक्षित कर सकता है और बिना शिक्षा के मस्तिष्क में विचारों का चक्र नहीं बनता और वह व्यवस्थित ढंग से कार्य नहीं करता।[1]

(3) हर्बार्ट की दार्शनिक विचारधारा—(i) जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हर्बार्ट एक शिक्षा मनोवैज्ञानिक ही न था बल्कि वह एक शिक्षा दार्शनिक भी था। यद्यपि उसने शिक्षा में शिक्षण पर बहुत बल दिया और कहा

---

1 "To instruct the mind is to construct it....knowledge is no longer a mental ornament, it is a mental element."

कि शिक्षण के बिना मस्तिष्क सुनिर्मित हो ही नहीं सकता फिर भी शिक्षण को उसने शिक्षा में प्रथम स्थान नहीं दिया। उसने शिक्षा का परम उद्देश्य चरित्र निर्माण बतलाया और इस बात पर जोर दिया कि यही प्रमुख उद्देश्य है और तो सब उसकी प्राप्ति के साधन हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति बालक स्वयं करता है। शिक्षक भी एक सहायक है। वह स्वयं एक अच्छा व्यक्तित्व का आदर्श नहीं बन सकता बल्कि वह व्यक्ति को अपना व्यक्तित्व बनाने में सहायक हो सकता है। आदर्श शिक्षा का कार्य सुन्दर चरित्र निर्माण है। उसने अपने एक लेख (Aesthetic Revelation of the world as the Supreme Task of Education) में कहा है कि शिक्षा का एक ओर एक ही उद्देश्य है और वह एक शब्द में निहित है और वह है नैतिकता (Morality) "The one and the whole work of education may be summed up in the concept–morality)। स्पष्ट रूप में हर्बार्ट आदर्शवादी है। शिक्षा के द्वारा वह संस्कृति, चरित्रवान्, नैतिक व्यक्तित्व का विकास चाहता है और शिक्षा के द्वारा ही यह सम्भव है। अशिक्षित व्यक्ति चरित्रवान हो सकता है परन्तु वह यन्त्र की तरह कार्य करता है। उसके चरित्र और व्यवहार के पीछे उसका संयत और सुनिर्मित मस्तिष्क नहीं है। शिक्षित व्यक्ति, जिसने शिक्षा द्वारा अपने चरित्र को उन्नत किया है अपने ऊपर अनुशासन करता है, वह अपने को अपना स्वामी समझता है। उसकी चरित्रशीलता और सद्व्यवहार वे पीछे उसकी सद्बुद्धि है। शिक्षा मनुष्य के व्यवहार और उसके मस्तिष्क का सम्बन्ध जोड़ती है और वे एक दूसरे के उन्नयन में सहायक होते हैं।

(ii) मानव को चरित्रवान् और नैतिक बनने के लिए यह आवश्यक है कि उसका दृष्टिकोण बहुत विस्तृत हो और वह बहु-मुखी रुचि रखता हो। उसकी शिक्षा एकांगी न हो बल्कि बहुत प्रकार की हो जिससे उसका दृष्टिकोण और अनुभव बढ़े। इस दृष्टिकोण और अनुभव के बढ़ाने में बहु-मुखी रुचि होना (many-sided interest) बहुत आवश्यक है, जिसका तात्पर्य यह है कि मानव मस्तिष्क वातावरण से विविध प्रकार के प्रत्ययों को लेने के लिए खुला रहे और उनको लेकर मस्तिष्क में एक चक्र में डाले। जिस प्रकार प्रत्ययों के वातावरण से सम्पर्क जिसके दो रूप हैं— प्रकृति से सम्पर्क और समाज से सम्पर्क— स्रोत हैं उसी प्रकार रुचि भी दो स्रोतों के आधार पर ही बहुमुखी होती है : (a) ज्ञान और (b) सामाजिक जीवन में भाग लेकर प्राप्त अनुभव। इन दोनों स्रोतों से समस्त प्रकार की रुचियाँ वृद्धि को प्राप्त करती हैं और इस प्रकार रुचियों के विस्तृत और अनेक प्रकार की होने के कारण विभिन्न प्रकार के प्रत्ययों को मस्तिष्क में स्थान मिलता है जिनके फलस्वरूप ज्ञान व अनुभव जो व्यक्ति प्राप्त करता है वह बहुत विस्तृत होता है और वह व्यक्ति को एक उन्नत व्यक्तित्व बनाने में सहायक होता है।

रुचियों के आधार पर हर्बार्ट ने किस प्रकार उनके दो स्रोत बनाकर समस्त ज्ञान का विभाजन कर उसे उन स्रोतों से उत्पन्न हुआ बतलाया है इसका हम एक चार्ट द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं।

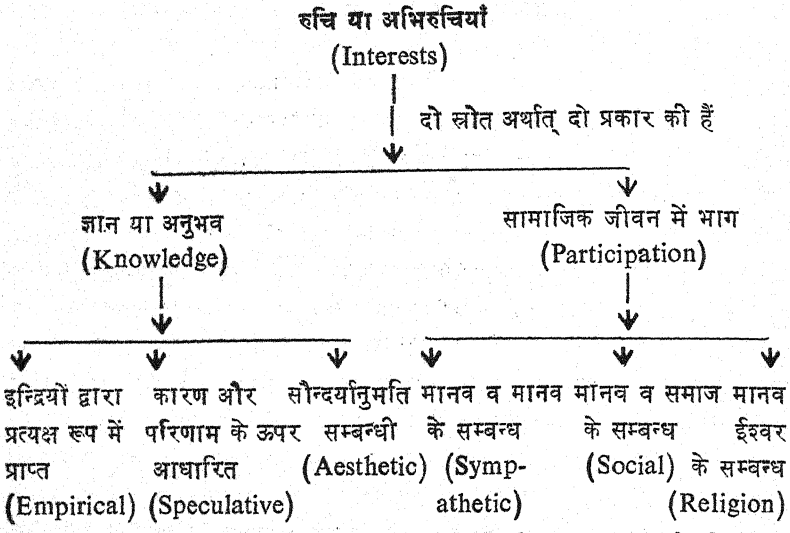

ऊपर खींचे हुए चार्ट से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार हर्बार्ट रुचियों को कई रूप देता है और उनको बहुमुखी बनाकर मानव के दृष्टिकोण को विस्तृत कर उसमें वह विचार-चक्र बनाना चाहता है जो विचार चक्र ज्ञान व अनुभव के विभिन्न रूपों के ऊपर आधारित है और जो व्यक्ति के मस्तिष्क को पूर्ण ही नहीं बनाता बल्कि पूर्ण रूप में ज्ञान व अनुभव को उसके व्यवहार का आधार बनाता है।

(4) **शिक्षण और शिक्षक :** जैसा कि ऊपर के कथन से विदित होगा हर्बार्ट ने शिक्षण के ऊपर बहुत जोर दिया। शिक्षण केवल बालकों को कतिपय ज्ञान या सूचना देना ही नहीं है बल्कि उनके भावों व विचारों को व्यवस्थित करके उनको अपने मस्तिष्क में विचारों का चक्र बनाने की क्षमता देता है जिससे मस्तिष्क एक इकाई के रूप में कार्य कर सके। अपने शिक्षण के सिद्धान्तों की व्याख्या करने तथा शिक्षण विधि का रूप निश्चित करने में हर्बार्ट ने सांस्कृतिक युग सिद्धान्त (Culture Epoch Theory) को अपने विचारों में स्वीकार किया। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति अपने विकास में उन्हीं स्तरों से होकर गुजरता है जिन स्तरों से होकर समाज गुजरा है। संस्कृति के विकास में प्रारम्भिक बर्बरता के युग से लेकर आज तक के सभ्य युग तक अनेक विकास के स्तर नजर आते हैं परन्तु विस्तृत रूप में तीन श्रेणी प्रमुख हैं : प्रारम्भिक युग जब ज्ञान की कमी है और समाज प्रत्यक्ष रूप में वातावरण से ज्ञान प्राप्त करता है। तदुपरान्त बीच का युग जबकि समाज का ज्ञान और संस्कृति विकास के क्रम में रहे हैं और तीसरा युग प्रारम्भिक युग का सभ्यता के युग में परि-

वर्तन। हर्बार्ट के अनुसार व्यक्ति अपने मस्तिष्क में इन तीन युगों की पुनरावृत्ति करता है। प्रारम्भ में मस्तिष्क अशिक्षित है और उसकी वही स्थिति है जो प्रारम्भ में समाज की थी। तदुपरान्त उसकी शिक्षा प्रारम्भ होती है और प्रारम्भिक इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान मस्तिष्क में स्थिरता प्राप्त करता जाता है और कल्पना, स्मरण शक्ति आदि का विकास होता है। अन्तिम स्तर पर मस्तिष्क ज्ञान के आधार पर और बड़ी-बड़ी क्रियायें करने लगता है तथा चिन्तन, तर्क, निर्णय, आदि करने—की उसकी शक्ति बढ़ती जाती है। इस प्रकार सांस्कृतिक युग सिद्धान्त मानसिक विकास के पक्ष में भी लागू होता है।

इससे शिक्षा के क्षेत्र में क्या उपयोगी निष्कर्ष निकलता है? इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए हर्बार्ट का मत है कि शिक्षा में पाठ्यक्रम तथा शिक्षण विधि संस्कृति के विकास के युग के अनुकूल हो। प्रारम्भ में बालक को वही पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया जाय जो एक अपरिपक्व सामाजिक मस्तिष्क के लिये उपयोगी है और जो इन्द्रियों की क्रियाओं द्वारा सहज में ही प्राप्त किया जा सकता है। निर्णय, तर्क, चिन्तन से सम्बन्ध रखने वाले विषय इस स्तर पर नहीं पढ़ाये जा सकते। पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में विचार करते समय इस पर हम और विचार करेंगे।

शिक्षण विधि मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के ऊपर आधारित हो और शिक्षक की पूरी ट्रेनिंग हो जिससे कि वह बालकों को समझे, उनके मस्तिष्क की क्रिया को समझे और अपने पाठ्य-वस्तु को किस प्रकार बालकों को पढ़ावे, यह जाने। वही शिक्षण विधि श्रेष्ठ है जो बालकों की पाठ में रुचि उत्पन्न करती है। अच्छी शिक्षण विधि रुचि उत्पन्न करती है और वह रुचि के साथ प्रत्ययों और विचारों को मस्तिष्क के चक्र में भर देती है। विचार-चक्र सौम्य और सुडौल रहने पर व्यवहार को प्रत्येक पग पर प्रभावित करता रहता है और उसमें जो प्रतिबिम्ब होता रहता है जिसके परिणाम-स्वरूप व्यक्ति चरित्रवान होने का परिचय देता रहता है और इस प्रकार शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति होती रहती है। शिक्षण के ऊपर हर्बार्ट का बहुत जोर है।[1]

शिक्षण विधि किस प्रकार दी जाय? पूर्वानुवर्ती ज्ञान (Apperception) के आधार पर हर्बार्ट शिक्षण विधि में शिक्षक के लिए प्रथम आवश्यकता यह समझता है कि वह बालकों के पूर्वानुवर्ती ज्ञान या पूर्व ज्ञान को जाने। तदुपरान्त वह नए ज्ञान का पूर्व ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे बालकों को दे। तभी तो मस्तिष्क में मस्तिष्की ज्ञानात्मक क्रिया के आधार पर ज्ञान का मानसिक परिपाक (mental asimilation) होगा और ज्ञान मस्तिष्क में उसी प्रकार हजम हो जावेगा और उसका वही उपयोग होगा जो पचे हुए भोजन का शरीर में।

---

1 "Instruction will form the circle of thought, and education, the character. The last is nothing without the first. Herein is contained the whole sum of my pedagogy."

इस आधार को लेकर हर्बार्ट ने शिक्षण के चार स्तर (Stages) बतलाए : वह स्टेज जब पूर्व ज्ञान का पता लगाकर नवीन ज्ञान को उससे जोड़ते हुए पाठ्य-वस्तु को सामान्य रूप में स्पष्ट किया गया। हर्बार्ट ने अपनी जर्मन भाषा में जो शब्द प्रयोग किया है उसका निकटतम शब्द हिन्दी में स्पष्टता और अंग्रेजी में Clearness है। यह प्रथम स्टेज है। इसके बाद दूसरी स्टेज वह है जब पाठ्य वस्तु का विश्लेषण करके उसके विभिन्न प्रकार से पारस्परिक तथा पूर्व ज्ञान के साथ सम्बन्ध बनाये गये। यह तुलनात्मक अध्ययन की स्टेज है और हर्बार्ट के शब्द का अंग्रेजी में 'association' शब्द द्वारा यानी 'सहयोग या सम्बन्ध' द्वारा हम बोध कर सकते हैं। तीसरी स्टेज विश्लेषण व तुलनात्मक अध्ययन के बाद व्यवस्था बनाने तथा निर्णय और निष्कर्ष निकालने की है। हर्बार्ट के अनुसार यह स्टेज विधि या व्यवस्था' (System) कही जा सकती है और अन्त में ज्ञान का प्रयोग है जिसे उसने 'Method' कहा है और जो उसके जर्मन शब्द का निकटतम अंग्रेजी शब्द है जिसके द्वारा वह ज्ञान का प्रयोग कराना चाहता है।

हर्बार्ट के ये स्टेज या स्तर या पद बहुत लोकप्रिय हुए और उसके एक शिष्य जिला ने उनको और स्पष्ट करने के लिए चार के बजाय पाँच पदों या स्तरों में विभाजित कर दिया :

प्रथम : स्पष्टता (Clearness) < प्रस्तावना (Preparation) / प्रस्तुतीकरण (Presentation)

द्वितीय : सहयोग (Association)—तुलना (Comparison)
तृतीय : व्यवस्था (System)—नियमीकरण (Generalisation)
चतुर्थ : प्रयोग (Method)—प्रयोग (Application)

इस प्रकार हर्बार्ट के शिष्यों ने उसके प्रथम पद के दो भाग करके चार के बजाय पाँच पद बना दिए और उनको तुला हुआ अर्थ देने के लिए उनके नाम बदल कर दूसरे रख दिए। हर्बार्ट के शिक्षण के ये पाँच पद आज तक चले आ रहे हैं। शिक्षकों ने इन पदों को काफी लाभदायक पाया है, यद्यपि आधुनिक प्रयोगवादी विचार-धारा के जोर के कारण परम्परागत शिक्षण विधियों की एकरूपता का खंडन हो रहा है और शिक्षण के स्थान पर बालकों को क्रियाएँ, स्वानुभव, स्वतन्त्र अध्ययन, जीवन-केन्द्रित शिक्षा पर अधिक बल दिया जाने लगा है। इन पाँचों पदों की आधुनिक काल में की गई आलोचना के पहले हम उनकी विशेषताओं पर कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं :

(i) प्रस्तावना (Preparation)—यह पाठ प्रस्तुत करने की प्रथम स्टेज या पद है। शिक्षक बालकों के पूर्व ज्ञान का पता लगाता है और उसमें वह यह प्रयत्न करता है कि बालकों के पूर्व ज्ञान में उस अंग को स्पर्श करे जिसका नए पाठ से सम्बन्ध हो, जिससे नए ज्ञान को वह पूर्व ज्ञान के साथ जोड़ सके। यह कई प्रकार से किया जा सकता है—प्रश्न पूछकर, अथवा चित्र दिखाकर अथवा कोई कहानी कह

कर अथवा अन्य किसी भी प्रकार से जिससे बालकों की उत्सुकता व पाठ में रुचि उत्पन्न हो जाय।

(ii) **प्रस्तुतीकरण** (Presentation)—यह दूसरा पद है। पूर्व ज्ञान का पता लगाकर तथा अपने उद्देश्य को स्पष्ट कर शिक्षक पाठ को प्रस्तुत करता है। वह पाठ को कई अन्वितियों में बाँट लेता है और क्रमानुसार उसे बालकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। प्रस्तुतीकरण के समय शिक्षक को प्रति-क्षण बड़ा सावधान रहना पड़ता है जिससे किसी भी समय बालकों की पाठ में रुचि कम न हो। इसके लिये वह विभिन्न प्रकार की दृश्य-श्रव्य सामिग्री भी उपस्थित करता है और रोचक ढंग से पाठ को प्रस्तुत करता है।

(iii) **तुलना या सम्बन्ध** (Comparison)—इस स्तर पर शिक्षक बालकों को नवीन पाठ के तथ्यों का वर्गीकरण तथा उनका सह-सम्बन्ध देखने और अपने पूर्व ज्ञान के साथ तुलना करने के लिये अवसर देता है। गणित तथा विज्ञान के पाठों में इस पद का बहुत महत्व है क्योंकि बालक उदाहरणों को देखकर उनका अध्ययन करते हैं और उनमें सामान्य अथवा असामान्य तथ्यों का पता लगाते हैं जिनके आधार पर वे निष्कर्ष अथवा निर्णय निकालते हैं।

(iv) **नियमीकरण** (Generalisation)—यह चौथा पद है। बालक तुलना करने के बाद सामान्य लक्षणों के आधार पर नियम निकालते हैं। गणित, व्याकरण, विज्ञान आदि विषयों के पाठों में इस पद का बहुत महत्व है।

(v) **प्रयोग** (Application)—यह अन्तिम पद है जबकि बालक नए ज्ञान का प्रयोग करते हैं और इस प्रकार वह उनके मस्तिष्क में बैठ जाता है। जिन परि-स्थितियों में वे उसका प्रयोग करते हैं वे कक्षा के अन्दर और कक्षा के बाहर भी हो सकती हैं।

इन पदों का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि शिक्षण की दृष्टि से इनका काफी महत्व है और ये शिक्षण की कला को एक व्यवस्था व नियमानुबद्धता देते हैं। यह बात ध्यान देने की है कि ये पाँचों पद उसी रूप में प्रत्येक विषय के प्रत्येक पाठ में लागू नहीं हो सकते। जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं गणित, व्याकरण, विज्ञान विषयक पाठों में ये इसी क्रम में और इसी रूप में बहुत लाभदायक सिद्ध हुए हैं क्योंकि इन विषयों में नियमीकरण का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु भाषा या इतिहास या कला, संगीत, आदि विषयों में ये पद उस रूप में लागू नहीं होते जिस रूप में उन्हें रक्खा गया है। परन्तु मूल सिद्धान्त पूर्व ज्ञान का पता लगाना और उसके साथ नए ज्ञान को जोड़ना और तब पाठ को प्रस्तुत करना तदुपरान्त बालकों को ज्ञान का प्रयोग करने की क्षमता देना—अटल है और इस सिद्धा त की सार्थकता को सभी शिक्षकों ने सफलता पूर्वक सिद्ध किया है। आधुनिक काल में इन पदों की काफी आलोचना हो रही है और जीवन के परिवर्तित स्वरूप, उसके फल-स्वरूप शिक्षा, पाठ्यक्रम तथा शिक्षण विधियों और शिक्षालयों के नये रूप और कार्य-

क्षेत्र की पृष्ठ भूमि में इन औपचारिक पदों (Formal steps) को विगत जीवन ढंग व परिस्थितियों के अनुकूल स्वीकार करते हुये आधुनिक परिस्थितियों और शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक न होना पाया गया है। ग्लोवर ने अपनी 'पुस्तक न्यू टीचिंग फौर न्यूएज' (New Teaching for New Age) में इन पदों की काफी आलोचना की है। सब प्रकार के पाठों के लिए तो वैसे भी उपयोगी नहीं है परन्तु अन्य पाठों के लिए जिनके लिये वे उपयोगी पाये जाते थे और प्रगतिशील विधियों के प्रयोग में आने के कारण इन पदों का मूल्य गिर गया है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि इनका बिल्कुल तिरस्कार कर दिया गया है। आधुनिक काल में हमारे प्रशिक्षण महाविद्यालयों में छात्राध्यापकों को शिक्षण का अभ्यास कराते समय इन पदों से काफी लाभ उठाने का अवसर मिलता है। अब हमें यह देखना है कि किन कारणों की वजह से आधुनिक काल के इन पदों की आलोचना हो रही है :

(अ) प्रत्येक युग का अपना धर्म होता है, अपना विश्वास और अपना दर्शन होता है। सब संस्थाओं और सब व्यवहारों में उसी की झलक होती है। हर्बार्ट का युग राजतन्त्र का युग था, आज जनतन्त्रीय युग है और जनतन्त्रीय युग में जनतन्त्रीय व्यवस्थायें, परिपाटियाँ व प्रणालियाँ ही स्थित रह सकती हैं। हर्बार्ट के पदों की समीक्षा करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके द्वारा शिक्षक का महत्व अधिक बढ़ जाता है और बालक कक्षा में द्वितीय स्थान पर आता है। आज जनतन्त्रीय युग में बालक प्रथम स्थान पर है शिक्षक-द्वितीय पर, उसका काम सिखाना है परन्तु बालकों का सीखने का काम प्रमुख है। आज के युग में उन पद्धतियों को समर्थन प्राप्त है जो शिक्षक के शिक्षण कार्य को आगे रखकर नहीं चलती बल्कि बालक के सीखने की प्रक्रिया को आगे रखकर चलती हैं। उद्देश्य दोनों का एक ही है परन्तु शिक्षा की प्रक्रिया में स्थान के महत्व का स्थानान्तर हो गया है। शिक्षक का कार्य शिक्षण करना नहीं है बल्कि बालकों को सीखने में सहायता देना है। अन्तर केवल बल का है कि हम किस ओर बल देते हैं—शिक्षक की क्रिया पर अथवा बालकों की क्रियाओं पर। हर्बार्ट शिक्षक की क्रिया पर बल देता है। आज के युग में बालकों की क्रियाओं पर बल है।

(ब) प्रगतिशील पद्धतियों के युग में किसी भी स्थिर और शाश्वत पद्धति के लिये स्थान नहीं है। नई-नई खोजें, नए-नए आविष्कार नए-नए समाज व उनके नए-नए आदर्श व रूप एक विधि के द्वारा बालकों तक नहीं पहुँचाये जा सकते। हम हर्बार्ट के पदों की इस कमजोरी का ऊपर संकेत भी कर चुके हैं। सब प्रकार के पाठों के लिये ये पद उपयोगी सिद्ध नहीं हुए हैं।

(स) इन पदों का अधिक अनुसरण करते-करते शिक्षक का कार्य यांत्रिक (mechanical) सा हो जाता है और उसे यह चेतना हर समय रहती है कि कब कौन सा पद आया और कब कौन सा। पाठ में प्राकृतिकता के बजाय कृत्रिमता आ जाती है और शिक्षक प्रत्येक पाठ को उन पदों में ढालने के लिए प्रयत्नशील होता हुआ

अपने निर्णय व बुद्धि का सहारा छोड़ बैठता है। यांत्रिक रूप में चलने के कारण वह बालकों की रुचि को भी स्थिर नहीं रख पाता।

(द) हर्बार्ट के समय से आज तक मनोविज्ञान के क्षेत्र में बहुत उन्नति हो चुकी है और वह निरन्तर जारी है। आधुनिक मनोविज्ञान प्रयोग के आधार पर खड़ा है, अन्तः प्रेक्षण व निरीक्षण (introspection) के आधार पर ही नहीं। मनोविज्ञान ने बालकों की बुद्धि, उनके विकास व उसके स्तर, विभिन्न स्तरों की विशेषताएँ व आवश्यकताएँ सीखने की क्रिया तक उसके सिद्धान्त आदि के सम्बन्ध में अनेक अध्ययन, खोजें व प्रयोग किये हैं जिनके आधार पर शिक्षण, शिक्षा पाठ्यक्रम आदि के सम्बन्ध में हमारे विचारों में बहुत संशोधन हुए हैं और हम अपनी पद्धतियों को उनके अनुसार दुहरा रहे हैं।

(य) हमारे शिक्षा के आदर्श भी परिवर्तित हो गए हैं। हरबार्ट ने पाठ्यक्रम विषय ज्ञान व शिक्षण को बहुत महत्व दिया और अपनी शिक्षण विधि अपनी मनोवैज्ञानिक व दार्शनिक विचार-धारा के अनुरूप बनाई। परन्तु हमारा आज का पाठ्यक्रम का रूप व स्कूल और शिक्षकों के कार्य १९ वीं शताब्दी की विचार-धारा से बहुत भिन्न हैं अतः हमारे शिक्षा के उद्देश्यों की उन विधियों से पूर्ति नहीं हो सकती जो एक शताब्दी पहले बनाई गई थीं।

हम पिछले अध्याय में परम्परा के महत्व के सम्बन्ध में विचार कर चुके हैं। परम्परागत व दीर्घकाल से प्रचलित प्रणालियों व परिपाटिओं में से हम वही भाग ले सकते हैं जो हमारे अभिप्राय की हमारी परिस्थितियों में सिद्ध कर सके। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं हरबार्ट की शिक्षण विधि एक शताब्दी पहले की है परन्तु उसके विधि निरूपण में जो मनोवैज्ञानिक आधार है उसमें मूल भाग हमारे लिए आज भी महत्व रखता है। बालकों को नवीन ज्ञान देते समय उसको पूर्व ज्ञान से सम्बन्धित करना, उनको तुलनात्मक कार्य के लिए अवसर देकर निर्णय तथा निष्कर्ष पर ले जाना तथा उनको नियमीकरण के लिए अवसर देना, पाठों का श्रेणीकरण करना तथा क्रमानुसार उन्हें प्रस्तुत करना—ये बातें ऐसी हैं जिनका शिक्षक वर्ग के लिए सर्वदा महत्व रहेगा।

(5) **पाठ्यक्रम तथा विषयों का सह-सम्बन्ध** : हम ऊपर कह चुके हैं कि हरबार्ट बालकों की बहुमुखी रुचि बढ़ाने (many-sidedness of interests) पर बहुत जोर देता है। पाठ्य वस्तु बहुमुखी रूप लिए हुए हो। समस्त विषयों को वह दो श्रेणियों में विभाजित करता है : (1) ऐतिहासिक (Historical) जिसमें इतिहास, साहित्य, भाषा, कला आदि विषय आते हैं और (2) वैज्ञानिक जिसमें सब विज्ञान तथा गणित वर्गः आ जाते हैं। पाठ्यक्रम में बालक के विकास की अवस्थाओं के अनुकूल पाठ्य-विषयों का चिन्वय और उनमें से पाठ्य वस्तु का चिन्वय आवश्यक है। किस स्तर पर क्या-क्या विषय पढ़ाए जायँ और उनमें से क्या-क्या पढ़ाया जाय यह बहुत आवश्यक है। पाठ्यक्रम के चिन्वय में हर्बार्ट का सांस्कृतिक युग का-

सिद्धान्त (Culture Epoch Theory) प्रतिबिम्बित है। विषयों की इन दोनों श्रेणियों में हरबार्ट प्रथम ऐतिहासिक-श्रेणी को अधिक महत्व देता है क्योंकि इस श्रेणी में जो विषय आते हैं वे शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति-चरित्र निर्माण में बहुत सहायता देते हैं।

पाठ्यक्रम में तथा उसके प्रस्तुतीकरण में पाठों के सह-सम्बन्ध (Correlation) पर उसका बहुत बल है। चूँकि मस्तिष्क एक इकाई के रूप में कार्य करता है अतः प्रत्येक विषय का ज्ञान बालकों के पूर्ण ज्ञान से सम्बन्ध रखता हुआ हो और सब विषय एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हुए हों। पाठों का सह-सम्बन्ध स्थापित करना तथा उनके प्रस्तुतीकरण के समय उसको व्यवहार में लाना शिक्षक के लिए बहुत आवश्यक है। तभी तो सब विचार व प्रत्यय एक दूसरे से बँधे हुए मस्तिष्क के विचार-चक्र का अंग बन सकेंगे। इस सह-सम्बन्ध को कार्य व्यवहार में लाने को सुगम बनाने के लिए यह आवश्यक है कि एक विषय को केन्द्र बनाकर अन्य विषय उसके साथ बाँध दिए जायँ और यह कार्य प्राकृतिक विधि से किया जाय जिससे सब विषय उससे सम्बन्धित प्रतीत हों। हरबार्ट इतिहास को यह मान्यता देता है और कहता है कि यह ऐसा विषय है जिससे प्रथम श्रेणी के सब विषय बँध सकते हैं। इसीलिए उसने उस श्रेणी का नाम ऐतिहासिक श्रेणी रखा है। पाठ्यक्रम में सह-सम्बन्ध के सिद्धान्त को सभी शिक्षा-शास्त्रियों ने बहुत महत्व दिया है और हरबार्ट को इसका श्रेय प्राप्त है। आधुनिक प्रगतिशील विधियों में बालक की क्रिया को केन्द्र बनाकर विषयों को उससे जोड़ने का प्रयत्न है। इस प्रकार केन्द्र का विषय तो वह नहीं है जो हरबार्ट ने बतलाया परन्तु उसका सिद्धान्त प्रगतिशील विधियों का एक महत्वपूर्ण आधार बन गया है।

(6) **स्वतन्त्रता अथवा नियन्त्रण** : हरबार्ट के शिक्षा सम्बन्धी विचारों की व्याख्या समाप्त करने से पहले हमें यह विचार और कर लेना है कि उसकी शैक्षिक विचार-धारा में अनुशासन के सम्बन्ध में उसके क्या भाव प्रतिबिम्बित हैं। यह भ्रम हो सकता है कि शिक्षक और शिक्षण का महत्व स्थापित करते हुए कदाचित् हरबार्ट का अनुशासन के सम्बन्ध में दमनात्मक विधियों पर बल हो। इस सम्बन्ध में हम यह कह देना चाहते हैं कि हरबार्ट प्रथम और अन्तिम रूप में शिक्षा में अपनी मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचार-धारा में समन्वय व क्रमिकता का सन्निवेश करता हुआ किसी भी रूढ़ि, परम्परा या प्रचलित प्रणाली को अवैज्ञानिक रूप में स्वीकार नहीं करता। शिक्षण के समय कक्षा में शान्ति, अनुशासन, नियम पावन्दी आदि आवश्यक है परन्तु शिक्षा व शिक्षण का अन्तिम उद्देश्य सच्चरित्र, बुद्धि का प्रयोग करता हुआ, स्वतन्त्र मानव बनाना है और इसके लिए यह आवश्यक है कि बालक को अपनी शक्तियों को स्वतन्त्र रूप में प्रयोग करने का अवसर दिया जाय। शिक्षक का कर्त्तव्य यह है कि वह यह देखे कि उनका दुरुपयोग तो नहीं हो रहा है। जिस सीमा तक बालक अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं उस सीमा तक नियन्त्रण आवश्यक है। अन्यथा नियन्त्रण

स्वानुशासन के भाव को कुचलता है। बालकों को भय के कारण क्षणिक अनुशासन प्रेमी अवश्य बनाता है परन्तु उनको वे गुण—आत्म-संयम, आत्मविश्वास, अपना दायित्व समझना, अपने को अन्दर से शुद्ध करना—नहीं देता जो चरित्र के लिए आवश्यक है। चरित्रवान् होना बुराइयों से दूर रहना नहीं है बल्कि भलाई की ओर बढ़ना है। चरित्रशीलता का रूप नकारात्मक नहीं है बल्कि सकारात्मक है। शिक्षा का उद्देश्य कभी प्राप्त नहीं हो सकता यदि बालक को स्वतन्त्रता का अनुभव देकर उसका दुरुपयोग रोकते हुए सदुपयोग न सिखाया जाय।

(7) **हरबार्ट की देन और उसका प्रभाव :** जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं हरबार्ट के समय से आज तक मनोविज्ञान में क्षेत्र में बहुत उन्नति हो चुकी है और आधुनिक मनोविज्ञान हरबार्ट की मानसिक क्रिया की व्याख्या को स्वीकार नहीं करता। उसकी शिक्षण-विधि की भी काफी आलोचना हुई है और उसे यांत्रिक कहकर खण्डन कर दिया गया है परन्तु फिर भी शिक्षा के क्षेत्र में हरबार्ट को विश्व सर्वदा याद रक्खेगा। शिक्षा में शिक्षण का महत्व क्या है इसको हमें जानना जरूरी है ही, अधिक आवश्यकता इस बात की है कि हम यह जानें कि शिक्षण का मूलभूत सिद्धान्त क्या है। हरबार्ट की पूर्व ज्ञान से नवीन ज्ञान को जोड़ने की विधि तथा पाठों के सह-सम्बन्ध की आवश्यकता हमारे लिए महत्वपूर्ण विचार और व्यवहार में अनुसरण का नियम बन गई है। हम एक सफल शिक्षक बनने के लिए क्या करें, किस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करें—इस सम्बन्ध में भी हरबार्ट का शिक्षकों की शिक्षा पर बल था। वातावरण का शिक्षा में क्या महत्व है, वातावरण के नियन्त्रण की क्या आवश्यकता है, यह भी हरबार्ट की शैक्षिक विचार-धारा स्पष्ट करती है और हम आज भी वातावरण के महत्व को उसी रूप में स्वीकार करते है। पेस्टालॉजी की तरह हरबार्ट ने भी शिक्षण में सहानुभूति पूर्ण व्यवहार और स्वतन्त्रता के वातावरण पर बल दिया। उसने बालकों के विकास के स्तरों को ध्यान में रखकर उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल पाठ्यक्रम चिन्वय करने पर जोर दिया। ये सिद्धान्त हमारे आधुनिक शिक्षा सिद्धान्तों के आधार बने हुए हैं।

प्रारम्भ में हरबार्ट के सिद्धान्तों का स्वागत नहीं हुआ और यह अस्वाभाविक भी नहीं है। प्रत्येक नई विचार-धारा को अपने लिए स्थान करने में समय लगता है क्योंकि पुरानी विचार-धारा बड़ी कठिनाई से उसके लिए स्थान करती है। अमेरिका के महाद्वीप में प्रारम्भ में हरबार्ट के विचारों को ग्रहण करने के लिए बड़ा जोश पैदा हुआ और अनेक शिक्षक जर्मनी में उन्हें ग्रहण करने के लिए गये। यह भाग्य के चक्कर का परिणाम है कि अमेरिका में ही हरबार्ट की विचार-धारा की आलोचना भी प्रारम्भ हुई।

(3) **फ्रेडरिक फ्रोबेल** (Friederich Froebel) (1782—1852)

(1) **प्रारम्भिक :** शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की व्याख्या के सम्बन्ध में तीसरा व्यक्ति जिसकी शैक्षिक विचार-धारा की हमें व्याख्या करनी है, वह है फ्रेड-

रिक फ्रोबेल जिसके द्वारा आधुनिक किंडर-गार्टन प्रणाली का श्री गणेश हुआ और जिसने शिक्षा के उस स्तर पर अपने विचार प्रगट किये जिसे किसी ने अभी स्पर्श ही नहीं किया था। वह है शिशुकाल की शिक्षा अर्थात् बाल्यकाल से पहले काल की शिक्षा। फ्रोबेल का जन्म जर्मनी में हुआ था और अन्य शिक्षकों की तरह उन्नीसवीं शताब्दी के जर्मनी की दार्शनिक विचार-धारा का उस पर भी बहुत प्रभाव पड़ा। बचपन से ही प्रकृति और उसके रहस्य के आंतरिक रूप को जानने की उसमें तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हो गई और आगे चलकर यह उसके रहस्यवादी दर्शन के रूप निर्धारण में सहायक हुई। युवावस्था में ही उसने शिक्षक होने का निश्चय कर लिया और हरबार्ट की तरह वह भी पेस्टालॉजी के पास गया और दो वर्ष तक उसके साथ पहले शिक्षार्थी और फिर शिक्षक के रूप में रहा। सन् 1810 के बाद उसने और कई व्यवसायों पर प्रयत्न किए परन्तु किसी में वह स्थिर न रहा। सन् 1816 में उसने एक प्राइवेट स्कूल खोला और अपने शैक्षिक विचारों की उसे प्रयोगशाला बनाया। यद्यपि उसे अपने स्कूल में आर्थिक संकट के कारण सफलता नहीं मिली परन्तु वह स्कूल उसे अपने शैक्षिक विचारों को दृढ़ कराने में सफल हुआ जिन विचारों को उसने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक "दी ऐजूकेशन ओफ मैन" (The Education of Man) में संकलित किया। यह पुस्तक सन् 1826 में प्रकाशित हुई।

(2) फ्रोबेल की दार्शनिक विचार-धारा और उसका उसके शैक्षिक विचारों पर प्रभाव : उन्नीसवीं शताब्दी की जिस शैक्षिक विचार-धारा का हम विचार कर रहे हैं और जो उन्नीसवीं शताब्दी की शिक्षा की विकास-धारा को प्रगति देती है उसका पेस्टालॉजी, हरबार्ट और फ्रोबेल, इन तीन से विशेष सम्बन्ध है और यही उसके प्रमुख प्रतिनिधि तथा नायक हैं। साथ ही साथ हम यह भी कहना चाहते हैं कि इस शताब्दी के शिक्षकों पर ही नहीं बल्कि समस्त विचारकों पर उन्नीसवीं शताब्दी के जर्मनी के दार्शनिकों का गहरा प्रभाव पड़ा और उनके विचारों में किसी न किसी रूप में उनके विचारों का प्रभाव झलकता है। वैसे तो उन्नीसवीं शताब्दी यूरोप में कई प्रकार के 'वादों' की उत्पत्ति का समय है परन्तु कान्ट, हीगल, फिश्टे, इनके विचारों ने उस युग की विचार-धारा पर बहुत प्रभाव डाला। फ्रोबेल उन विचारकों में से था जिस पर एक ओर घर के संस्कार और दूसरी ओर इन दार्शनिकों के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। उसके पिता स्वयं बहुत धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे और बचपन से ही मानव की पाप-प्रवृत्ति से फ्रोबेल को बहुत दुख हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद विश्वविद्यालयीय शिक्षा के समय उसने शीलिंग (Schelling) के विचारों का अध्ययन किया और उसके प्रकृति और मस्तिष्क का समन्वय करने वाले दर्शन का उस पर बहुत प्रभाव पड़ा। शिक्षा समाप्त करने पर उसने नेपोलियन के विरुद्ध सेना में भर्ती होकर अपनी देश भक्ति का परिचय दिया परन्तु सिपाहियों के जीवन व आत्मोत्सर्ग एवं साहस व कठिनाइयों को सहन करते हुए प्राणों की बाजी लगा देने में भी उसने दर्शन को ही पाया और यह अनुभव किया कि किस प्रकार शरीर और मन का

मिलान और एकोद्देश्य की पूर्ति का लक्ष्य शरीर के साहस और मस्तिष्क की हिम्मतों द्वारा परेशानियों को बर्दाश्त करने के रूप में प्रकट होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि फ्रोबेल की विचार शक्ति तथा उसके अनुभवों व संस्कारों ने उसको सारी सृष्टि व प्रकृति में एकरूपता, समन्वय, एकोद्देश्य की पूर्ति, एक नियम-बद्धता और मिलान का आभास कराया और उसे सृष्टि में विभिन्नता होते हुए भी एकत्व के प्रति विश्वास पैदा हो गया। यह उसका आध्यात्मवादी दर्शन है और यह उस युग के प्रतिनिधि दार्शनिकों के उस पर प्रभाव का सूचक है।

यह पृथक्त्व में एकत्व (unity in diversity) का सिद्धान्त की दार्शनिक विचार-धारा का मूल सूत्र है। उसे सारी सृष्टि में एक शाश्वत नियम चलता हुआ नजर आता है और वह है समस्त प्रकृति द्वारा एक एकत्व की ओर बढ़ने का प्रयास। उस एकत्व (unity) में सबका स्रोत है और सब उसकी ओर अग्रसर होने में प्रयत्नशील हैं। विभिन्न रूप होने के नाते सबके विभिन्न कार्य हैं; परन्तु सबसे कार्यों में उनका एक बड़े रूप का अंश होने के नाते उस रूप की झलक है। वह बड़ा रूप ईश्वर है। वही सब का स्रोत है और उसी की शक्ति सब में भरी हुई है जो उनको उसकी ओर बढ़ाती है। सारी सृष्टि ईश्वर रूपी एकत्व से उत्पन्न हुई है और सब प्राणी अपना-अपना पृथक्-पृथक् रूप में कार्य करते हुए उस ओर बढ़ते जाते हैं। उदाहरणार्थ, हमारे शरीर में हाथ का काम पृथक् है, पैर का पृथक् परन्तु दोनों का काम शरीर के काम का अग है। पृथक् कार्य होते हुए भी उनका कार्य अपने उस रूप के कार्य का अंश है जिसके वे अंग हैं। इसी प्रकार सृष्टि में सबका पृथक्-पृथक् कार्य है परन्तु वह कार्य किसी बड़े रूप के कार्य का अंश है और वह बड़ा रूप ईश्वर है।[1]

अपनी इस प्रमुख विचार-धारा के आधार पर फ्रोबेल सारी सृष्टि में विकास का एक ही नियम पाता है। जिस प्रकार एक पौधा अपने विकास को पूर्ण करने के लिए अपने अन्दर की शक्ति से प्रेरित होता हुआ बढ़ता है उसी प्रकार व्यक्ति भी अपने विकास के क्रम को पूरा करने के लिए अपने अन्दर की शक्ति से प्रेरित होता है और वह शक्ति ईश्वर से उसको प्राप्त है। विकास के चक्र में सारा जगत लगा हुआ है और विकास का सिद्धान्त शारीरिक स्तर पर ही नहीं मानसिक स्तर पर लागू होता है। जिस प्रकार शरीर अपनी शारीरिक वृद्धि करता है उसी प्रकार मस्तिष्क भी अपनी मानसिक वृद्धि करता है और साधारण मानसिक क्रिया विकसित होते-होते जटिल

---

1 "In all things there lives and reigns an eternal law....This all controlling law is necessarily based on an all-pervading energetic living, self-conscious, and hence eternal unity....This Unity is God. All things have come from the Divine Unity, and have their origin in the Divine Unity, in God alone....The divine affluence, that lives in each thing in the essence of each thing" [Education of Man]

मानसिक क्रियाओं को जन्म देता है। विकसित होने का दैवी क्रम है और भौतिक, मानसिक, आत्मिक, सभी क्षेत्रों में विकास का सिद्धान्त लागू होता है। इस विकास के क्रम की व्याख्या फ्रोबेल ईश्वर की सत्ता के उपर ही करता है। विकास इसलिए होता है कि सब वस्तुएँ अपने अन्दर की दैवी शक्ति का परिचय देना चाहती हैं और उसको देती हुई अपने विकास का क्रम पूरा करती हुई उसी ओर बढ़ती जाती हैं। एक में से सबका उदयन हुआ है। उसी की सब में शक्ति का परिणाम विकास है और उसी की प्राप्ति सबका लक्ष्य है।[1]

हम विकास के चक्र में बँधे सब प्राणियों और सब वस्तुओं में मनुष्य सबसे श्रेष्ठ है। उसका शरीर और मस्तिष्क अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सुडौलता और संतुलन का परिचय देता है। दूसरे, मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसे अपने विकास की चेतना है और जो उस विकास का अर्थ समझता है। वही अपने जीवन के क्रम को समझता है और दूसरों के जीवन के क्रम को भी समझता है। चूँकि वह अपने विकास के प्रति चेतनाशील है और उसे उसको भली प्रकार समझने की शक्ति भी प्राप्त है अतः वह यह भी कर सकता है कि अपने विकास के क्रम को किस प्रकार सुन्दर रूप दे। वह यह भी कर सकता है कि अपनी सन्तान को कैसी शिक्षा दे कि उसका विकास ठीक ढंग से चले और वे भी अपने को चैतन्य समझते हुए अपनी जीवन यात्रा को सफलतापूर्वक पार करें। मानव को अपने और दूसरों के जीवन को सुन्दर बनाने की शक्ति प्राप्त है। वह केवल प्रकृति का दास नहीं है और न प्रकृति के क्रूर प्रहारों का प्रत्येक अवस्था में शिकार। वह अपनी बुद्धि व चातुर्य से अपने विकास के क्रम को तर्क संयत बना सकता है और दूसरों को पथ प्रदर्शन कर सकता है। वह अपनी जाति को ऊँचा उठा सकता है और दूसरों को ऊँचा उठाने के लिए प्रेरित कर सकता है। यह उच्च-स्तर से अधिक उच्च-स्तर पर जाने की प्रक्रिया भी एक प्रकार के विकास की प्रक्रिया है और प्रकृति में छोटे प्राणि-स्तरीय जीवन का बड़े प्राणि-स्तरीय जीवन की ओर अग्रसर होना भी विकास के चक्र का एक रूप है। विकास व्यक्तिगत क्षेत्र में ही नहीं सामूहिक क्षेत्र में सृष्टि का एक शाश्वत नियम है जिससे सृष्टि चलती ही नहीं है बल्कि जो सृष्टि को चलाता है। वह कर्ता व कर्म दोनों है। वह स्वयं चलता है और दूसरों को चलाता है।

इन दो दार्शनिक विचारधाराओं—पृथक्त्व में एकत्व तथा विकास का सर्वांगीण रूप व प्रक्रिया जो प्रत्येक वस्तु को उस सत्ता की ओर अग्रसर करती है जिससे वह उत्पन्न हुई है तथा अपने विकास की प्रक्रिया द्वारा उस सत्ता की शक्ति को बाह्य रूप भी देती है—के आधार पर फ्रोबेल अपना शिक्षा-दर्शन बनाता है।

---

1 "It is the destiny and life work of all thing to unfold their essence, hence their divine being, and, therefore, the divine unity itself to reveal God in their external and transient being." [Ibid]

प्रथम के आधार पर तो वह शिक्षा के उद्देश्य की व्याख्या करता है और दूसरे के आधार पर शिक्षा की प्रक्रिया की। अनेकत्व में एकत्व उसकी शिक्षा के शाश्वत उद्देश्यों को बल देता है और विकास का क्रम उसकी अपनी शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति के साधनों का आधार देता है। चूँकि शिक्षा जीवन की क्रिया के सुन्दर ढंग से सम्पादित होने में सहायक है और मानव ईश्वर की सर्व श्रेष्ठ कृति है अतः मानव शिक्षा का उद्देश्य मानव को अपनी विचार शक्ति और बुद्धि का प्रयोग करते हुए उस ईश्वरीय शक्ति—दैवी एकत्व (Divine Unity)—जो शुद्ध और निष्कलंक है, के नियम का अपने आचरण द्वारा परिचय देने की शक्ति देना है जो नियम सब वस्तुओं की स्थिति और क्रिया को संचालित करता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि समस्त वस्तुओं में एक ही नियम समाया हुआ है और मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो उस नियम को जानता है और जो अपनी बुद्धि और विचार-शक्ति द्वारा उस नियम की सत्ता को भी समझता है तथा दूसरों को समझा सकता है। शिक्षा द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति करना फ्रोबेल के शिक्षा-दर्शन का मूल सूत्र है।[1]

फ्रोबेल की इस व्याख्या में उसकी मानव मस्तिष्क की प्रक्रिया की व्याख्या की हरबार्ट की व्याख्या से भिन्नता नजर आती है। हरबार्ट दार्शनिक था परन्तु वह एक मनोवैज्ञानिक था और दोनों शास्त्रों के क्षेत्र को उसने पृथक्-पृथक् रूप दिया और उनको पृथक्-पृथक् रक्खा। हरबार्ट ने मस्तिष्क को प्रत्ययों के आत्मसात्करण की प्रक्रिया के आधार पर निर्मित स्वरूप बताया परन्तु फ्रोबेल ने अपने दर्शन को प्रमुखता देते हुए मस्तिष्क को भी ईश्वरी सत्ता के रचनात्मक स्वरूप का अंग बतलाया और इस प्रकार मस्तिष्क की उत्पत्ति का उस बड़े रूप को स्रोत बतलाया। हरबार्ट का आदर्शवाद व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल देता है, फ्रोबेल का आध्यात्मिक पक्ष पर।

फ्रोबेल का दूसरा सिद्धान्त विकास का सिद्धान्त है जो उसको शिक्षा की प्रक्रिया और उसकी विधि निश्चित करने में आधार देता है। विकास की प्रक्रिया के सम्बन्ध में फ्रोबेल ने पुनरावृत्ति के सिद्धान्त (Recapitulation Theory) को स्वीकार किया और शारीरिक और मानसिक विकास में उसने भिन्न-भिन्न स्तरों की व्याख्या की जो विकास में निश्चित सीढ़ियाँ हैं। विकास का क्रम तो निरन्तर चलता रहता है परन्तु उसमें स्थान-स्थान पर कुछ ऐसे स्थल आते हैं जो एक स्तर की दूसरे से भिन्नता स्पष्ट करते हैं। परन्तु रूसो की तरह उसने प्रत्येक स्तर की आवश्यक-

---

[1] "Education consists in leading man, as a thinking, intelligent being, growing into self-consciousness, to a pure and unsullied, conscious and free representation of the inner law of Divine Unity, and in teaching him means thereto.

[The Education of Man]

ताओं और उनकी पूर्ति पर बल दिया और कहा कि एक स्तर की आवश्यकताएँ पूर्ण होने पर ही दूसरे स्तर की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है और किसी भी स्तर की आवश्यकताओं की पूर्ति किसी एक मापदण्ड से नहीं बल्कि उस स्तर की आवश्यकताओं को ही मापदण्ड मानकर हो सकती है। शारीरिक विकास में पाँच स्तरों को स्वीकार किया—शिशुकाल, बाल्यकाल, किशोरावस्था, युवावस्था, और प्रौढ़ावस्था - प्रत्येक अवस्था का विकास उसकी पूर्वानुवर्ती अवस्था के विकास पर निर्भर है। यदि पूर्वानुवर्ती अवस्था में विकासपूर्ण हो गया तो आने वाली अवस्था में विकास का क्रम अनवरत और अनवरुद्ध रूप में चलता रहेगा। प्रत्येक अवस्था का पूर्ण और अधिकतम विकास अपनी पूर्वगत अवस्था के पूर्ण और अधिकतम विकास पर निर्भर है। अतः शिक्षा में यह महत्वपूर्ण है कि बालक के विकास के क्रम का ध्यान रक्खा जाय और उसकी प्रत्येक अवस्थाओं की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर समुचित शिक्षा की व्यवस्था की जाय जिससे प्रत्येक अवस्था में उसके विकास का क्रम पूर्ण तथा अधिकतम हो जाय।[1]

फ्रोवेल के इन विचारों में हमें रूसो और पेस्टालॉजी की याद आती है। यहाँ उसका उनके विचारों से पूर्ण साम्य है। शिक्षा को बालक-केन्द्रित बनाना, उसके व्यक्तित्व का सम्मान करना, उसकी प्रत्येक स्तरीय आवश्यकताओं को समझना और उनकी पूर्ति करना, शिक्षा को शारीरिक व मानसिक विकास की अवस्थाओं के अनुरूप बनाना तथा एक अवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति को दूसरी अवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक समझना—ये सब एक विचार-धारा की समर्थक है और उन्नीसवीं शताब्दी को यह विचार-धारा शिक्षा के इतिहास में बहुत महत्व रखती है और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को आगे बढ़ने के लिए बल देती है। पेस्टालॉजी तथा रूसो की भाँति फ्रोवेल ने भी प्रचलित परम्पराओं, जिनमें बालक की अवस्थागत आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रक्खा जाता था खण्डन किया और इस बात पर जोर दिया कि जब तक विकास के रूप को नहीं समझा जावेगा तब तक मानव शिक्षा के रूप को निश्चित करने में बराबर भूल करता रहेगा। अतः यह आवश्यक

---

1 " 'The vigorous and complete development and cultivation of each successive stage depends on the vigorous, complete, and characteristic development of each and all preceding stages of life....

The boy has not become, nor has the youth become a youth, by reaching a certain age, but only by having lived through childhood and further on through boyhood, true to the requirements of his mind, his feelings and his body." [Education by Development]

है कि शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए विकास के उक्त सिद्धान्त को महत्व दिया जाय।[1]

(3) शिक्षा के सिद्धान्त : फ्रोवेल के उपर्युक्त विचारों के आधार पर हम उसके शिक्षा सिद्धान्तों के रूप का आभास प्राप्त कर सकते हैं जिनको हम नीचे रूपरेखा के रूप में प्रस्तुत करते हैं :

(i) चूँकि विकास के क्रम के अनवरत रूप में चलते रहने पर भी विकास की कुछ प्रत्यक्ष, स्पष्ट अवस्थाएँ हैं, इसलिए शिशुकालीन या बाल्यकालीन शिक्षा प्रौढ़ावस्था की शिक्षा का साधन नहीं है। वह उसकी तैयारी नहीं है। प्रत्येक अवस्था की अलग-अलग आवश्यकताएँ हैं अतः उनका अध्ययन कर उस अवस्था को शिक्षा की व्यवस्था की जाय जिससे दूसरी अवस्था में विकास के क्रम में बांधा न पड़े। फ्रोवेल ने शिशुकालीन शिक्षा को निर्धारित करते हुए किंडर-गार्टन प्रणाली की व्याख्या की है। उसने शिक्षा के सामान्य रूप और सिद्धान्तों की व्याख्या अवश्य की है परन्तु प्रत्येक स्तर की शिक्षा व्यवस्था के व्यवहार रूप की नहीं। उसने केवल एक अवस्था को ही लेकर उसकी शिक्षा के व्यवहार रूप की व्याख्या कर उसका रूप निश्चित किया है। परन्तु उसके लिए यह बहुत महत्व की वस्तु इसलिए हो गई कि फ्रोवेल के काल तक उस अवस्था की शिक्षा पर किसी ने ध्यान नहीं दिया था।

(ii) चूँकि फ्रोवेल की दार्शनिक विचार-धारा का मूल सूत्र उसका एकत्व का नियन (Law of links) है, अतः शिक्षा में उसका प्रभाव पाठों के सह-सम्बन्ध के रूप में पड़ा। पृथक्-पृथक् विषय होते हुए भी सब ज्ञान के अंग हैं और ज्ञान के समस्त क्षेत्रों में सह-सम्बन्ध है जिसका शिक्षण में व्यवहार रूप पाठों का सह-सम्बन्ध है जिसको सर्वदा ध्यान में रखना है।

(iii) चूँकि प्रत्येक वस्तु फ्रोवेल के मतानुसार स्वतन्त्र रूप में आन्तरिक प्रेरणा व शक्ति के आधार पर विकास करती है अतः उसके लिए ऐसे वातावरण की

---

1 "Man, in looking toward the aim of his wishes and desires.... frequently overlooks the proper means....

But this hurrying (from the germ to the fruit, from the wish directly to the fulfilment, from the desire to the aim, springing over all the necessary conditions which should be previously fulfilled) has had the saddest and most pernicious results.... in the education of the individual as well as in that of whole communities....in the education of the nations as well as in that of the human race. Even in that of all humanity... This is one of the most injurious errors, if not the most injurious one, in the education of the individual as well as of all men" *Froebel* : Education by Development, quoted by *Ulich Robert* : History of Educational Thought, p. 288]

आवश्यकता है जिसमें विकास का क्रम चलता रहे और वह किसी प्रकार अवरुद्ध न हो। शिक्षा में वातावरण प्रस्तुत करना व उसका नियन्त्रण करना शिक्षक का कार्य है इसलिए शिक्षक को इसके महत्व को पूर्ण रूप में समझ लेना है। यह विचार पेस्टालॉजी के विचारों से समानता रखता है।

(v) चूंकि विकास के क्रम का सुन्दर और स्थूल रूप पेड़ पौधों की वृद्धि को देखकर भली प्रकार स्पष्ट होता है इसलिए फ्रोवेल की प्रकृति में बहुत रुचि उत्पन्न हुई और प्राणी विज्ञान-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र आदि के अध्ययन व स्कूलों में बालकों को उनका ज्ञान कराने पर उसने बहुत बल दिया।

(iv) चूंकि फ्रोवेल का एकत्व का नियम प्रत्येक वस्तु के पूर्ण रूप तथा उसका एक बड़े पूर्ण रूप का अंग होने से सम्बन्ध रखता था अतः उसने शिक्षा को सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बतलाया। हम कह चुके है कि फ्रोवेल की दार्शनिक दृष्टि सब बस्तुओं में पृथक्त्व की तथा एक बड़े रूप के अंगत्व की स्थिति को मानती है। फ्रोवेल कहता है कि प्रत्येक वस्तु पृथक् है और पृथक् होने के नाते उसका पृथक् कार्य है जो दूसरी वस्तु के कार्य से भिन्न है; परन्तु पृथक् होते हुए भी वह एक बड़े रूप का अंग है और उसी का अंग रहकर वह कार्य करती है। उदाहरण रूप में हमने हाथ का उदाहरण दिया था। हाथ का पैर से भिन्न कार्य है परन्तु वे अपना-अपना कार्य शरीर के अंग होने के नाते ही कर सकते हैं। शरीर से भिन्न होकर वे कार्य नहीं कर सकते। इसी प्रकार मानव का अलग कार्य है और प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग कार्य है परन्तु वे सब के सब समाज के सदस्य हैं, उसी के वे अंग हैं और उसके सदस्य होने के नाते ही वे अपना कार्य करते हैं और सफलतापूर्वक उसे कर सकते हैं। समाज बड़ा रूप है और वह स्वयं मानव समाज का अंग है। इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते हम सबसे बड़े रूप पर पहुँच जाते हैं। तो आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा में इस महत्वपूर्ण बात को प्रधानता दी जाय। फ्रोवेल अपनी दार्शनिक विचार-धारा का सहारा लेता हुआ उस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है जिस पर आधुनिक जनतन्त्रीय प्रकृतिवादी विचार-धारा मानव समाज और संस्कृति की प्रवृत्ति व विकास के आधार पहुँचती है। फ्रोवेल भी इस बात की पुष्टि करता है कि स्कूल लघुरूप में समाज हो और बालकों को बड़ी समाज के रूप को समझने तथा उसकी क्रियाओं में सफलतापूर्वक भाग लेने की क्षमता स्कूल प्रदान करे।

(vi) चूंकि एकत्व का नियम मानसिक प्रक्रिया में भी लागू होता है अतः मानव मस्तिष्क की ज्ञानात्मक, संवेदनात्मक तथा क्रियात्मक (Knowing, feeling and willing), तीनों क्रियाओं में समन्वय हो। अपने दर्शन की दृष्टि से फ्रोवेल ने वही बात कही जो मनोविज्ञान की दृष्टि से हरबार्ट ने परन्तु हरबार्ट के विचारों का आधार उसका मनोविज्ञान था और फ्रोवेल का उसका दर्शन। फ्रोवेल ईश्वर और मानव के सम्बन्धों को देखकर जो अपना आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखता है वह मनो-

वैज्ञानिक नहीं परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण उसका समर्थन करता है, और इस रूप में वह भी मनोवैज्ञानिक हो जाता है।

(4) **शिक्षा की प्रक्रिया :** जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है फ्रोवेल के अनुसार शिक्षा भौतिक आध्यात्मिक जीवन का समन्वय स्थापित कर व्यक्ति को अनेकत्व में एकत्व की अनुभूति और विश्व को ईश्वरीय सत्ता का प्रत्यक्ष रूप स्पष्ट करती है और उसको स्वयं अनुभव करने की शक्ति प्रदान करती है। यदि भौतिक और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय नहीं हुआ तो मानव दो अलग-अलग दुनियाओं में रहेगा और चूँकि उसने दोनों का समन्वय नहीं किया अतः वह अनेकत्व में एकत्व के रूप की अनुभूति नहीं कर पावेगा। इस दर्शन के आधार सर फ्रोवेल ने शिक्षा में निम्नलिखित सिद्धान्तों और प्रविधियों पर जोर दिया :—

(i) शिक्षा में प्रक्रिया बालक की स्वतन्त्र क्रिया हो क्योंकि स्वतन्त्र क्रिया के आधार पर ही उसका विकास हो सकता है। शिक्षा का अभिप्राय बालक में बाहर से ज्ञान ठूँसना नहीं है बल्कि उसको अन्दर से विकसित होने देना है। अपने विकास के क्रम में स्तर-स्तर पर उसकी शक्तियाँ और आवश्यकताएँ स्पष्ट होती चलती हैं। उस समय यह देखना है कि किस प्रकार उसको स्वतन्त्र रूप में विकसित और पूरा होने के लिए शैक्षिक वातावरण का आयोजन किया जाय।

(ii) इस स्वतन्त्र क्रिया के क्षेत्र में खेल का प्रमुख स्थान है। (फ्रोवेल ने प्रारम्भिक शिक्षा का क्षेत्र लिया है अतः यह बात उसकी ओर से और भी अधिक बल प्राप्त करती है)। खेल के द्वारा और खेल में बालक अपनी शारीरिक, मानसिक और संवेदनात्मक शक्तियों और गुणों का पर्याप्त अभ्यास करता है और उनको समन्वित करना भी सीखता है। खेलना बालक के लिए वह नैतिक महत्व है जो प्रौढ़ के लिए अपने कार्य में संलग्नता का।[1]

(iii) विषयों का ज्ञान बालक को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार दिया जाना चाहिए। ज्ञान की पिपासायी अन्दर से ही उत्पन्न होती है। वही शक्ति जो विकास के पूरे क्रम को चलाने के लिए प्रेरणा देती रहती है, विषय-ज्ञान के लिए भी अवसर पैदा करती है। प्रत्येक अवस्था में अलग-अलग ज्ञान की पिपासा होती है और उसी के अनुकूल विषयों के ज्ञान को प्रस्तुत करना चाहिए। शिक्षा विकास के क्रम में सहायक है वह साधन है परन्तु उद्देश्य नहीं है। विकास को प्रेरणा दैवी शक्ति से प्राप्त होती है, शिक्षा उसको सरल और अवरुद्ध ढंग में चलने के लिए सहायक होती है। ईश्वर किसी वस्तु में ऊपर से वृद्धि का कोई रूप नहीं थोपता, वृद्धि अन्दर से होती

---

1 "Play combines attention with relaxation, purpose with independence, and rule with freedom. Play is for the child as ethical as devotion to his work is for the abult."

[*Ulich Robert* : History of Educational Thought, p. 290]

है। बालक के विकास रूप में भी वही सिद्धान्त है जो अन्य प्राणियों और पेड़ पौधों के विकास में लागू होता है।

(iv) फ्रोवेल ने स्वतन्त्र क्रिया पर बहुत बल दिया है। स्वतन्त्र क्रिया के आधार पर ही विकास का क्रम चलता रहता है। उसी के आधार पर बालक वाह्य जगत् को समझता है। स्वतन्त्र क्रिया ही ज्ञान और कर्म, सिद्धान्त और व्यवहार, विचार व क्रिया के बीच की खाई को भरती है। वही उनका सम्बन्ध व उनका समन्वय स्थापित करती है।[1]

स्वतन्त्र क्रिया को रोकना और ऊपर से ज्ञान थोपना ही दोषपूर्ण शिक्षा को स्थान देते हैं और बालक के गुण उसके दुर्गुणों में परिवर्तित हो जाते हैं। [रूसो व पेस्टालॉजी के विचारों का साम्य देखिए]। फ्रोवेल कहता है कि व्यक्ति और समाज के समस्त दुर्गुणों और दोषों की जड़ मानव द्वारा प्राकृतिक क्रिया को रोककर अप्राकृतिक साधनों को अपनाना है। प्रत्येक दुर्गुण किसी न किसी गुण का विकृत रूप है जो प्राकृतिक क्रिया के अवरोध के कारण उसमें बदल गया है। बालक ईश्वरीय शक्ति के आधार पर दुर्गुणों के मार्ग में नहीं जा सकता परन्तु गलत शिक्षा उसको उधर ले जाती है और गुण अवगुणों में परिवर्तित होकर अन्य अवगुणों को जन्म देते हैं।[2]

(5) **किंडर-गार्टन** : अपने इन सिद्धान्तों के आधार पर फ्रोवेल ने बाल्य-कालीन शिक्षा (Pre-primary) के लिए अपनी किंडर-गार्टन प्रणाली को निकाला। इस प्रणाली का आधार स्वतन्त्र क्रिया व खेल है और बालकों को खेल-कूद, संगीत, रंग-ज्ञान, आकृति, रूपों, चेष्टाओं आदि की क्रियाओं के लिए अवसर देकर उनको अपनी स्वतन्त्र क्रियाएं करने और खेलने के द्वारा सीखने का अवसर दिया जाता है। फ्रोवेल ने नौ प्रकार के उपहार और क्रियाओं ('gifts' and 'occupations') को निश्चित किया है और उनको मनोविज्ञान की दृष्टि से क्रमिक रूप में रखा है।

---

1 "There is no triatus between knowledge and action, no conflict between theory and practice, no discrepency between profession and deeds." [*Monroe Paul* : op. cit.]

2 "Each vice is a virtue perverted in its unfolding process. "A suppressed, or perverted good quality—a good tendency, only repressed, misunderstood or misguided—lies originally at the bottom of every shortcoming in man"....The reason being "either the complete neglect of the development of certain sides of human life or by the distortion of originally good human powers and tendencies by arbitrary or willful interference with the original, orderly and logical, course of human development."

उनमें भाग लेकर बालक अपने शारीरिक और मानसिक विकास के लिए अग्रसर होता है। क्रियाओं का उद्देश्य व्यक्तिगत विकास और समाजगत मानव को अनुभूति देना है। रूसो की तरह फ्रोवेल प्राकृतिक जगत् के उस प्रकार पर बल नहीं देता जिस प्रकार रूसो देता है। बालक समाज का अंग है और शिक्षा उसी प्रकार दी जाय कि उस अंग से उसका विच्छेद न हो। फ्रोवेल का सिद्धान्त सामाजिकतावादी विचार-धारा का संकेत करना है, जिस विचार-धारा के सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे।

किंडर-गार्टन प्रणाली की मुख्य विशेषता उसकी खेल पर बल देने की है। खेल की महत्ता बाल्यकाल की शिक्षा में सभी शिक्षा शास्त्री मानते हैं। खेल शारीरिक और मानसिक शक्तियों का संतुलन व उनका समन्वय कर एक उद्देश्य की ओर दोनों को प्रयुक्त करता है। विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं में भाग लेकर बालक का शरीर व उसके विभिन्न अवयव पुष्ट होते हैं और क्रीड़ा करने में उसे अपनी मानसिक शक्तियों का प्रयोग करना पड़ता है। खेल को जिस रूप में रूसो ने लिया और रूसो तथा पेस्टालॉजी ने उसकी जो महत्ता बतलाई वह उतनी स्पष्ट नहीं थी जितनी फ्रोवेल की। रूसो तथा पेस्टालॉजी खेल को इन्द्रियों की ट्रेनिंग से अधिक सम्बन्ध रखने वाला बताकर उस पर बल दिया। फ्रोवेल ने उसको शिक्षा व अपने अन्दर की शक्तियों का समन्वय करने की क्षमता प्राप्त करने का प्रमुख साधन बतलाकर उसे अधिक महत्व प्रदान किया।

किंडर-गार्टन प्रणाली की समालोचना : उपर्युक्त कथन से फ्रोवेल की किंडर-गार्टन प्रणाली के गुण स्पष्ट हो जाते हैं। यह विधि बालकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है और बालकों को आत्म-विश्वास, क्रियाशीलता, आत्म-शक्ति, अपनी रुचि के अनुसार कार्य करना. स्वतन्त्र अभिव्यक्ति आदि का अभ्यास करने के लिए अवसर मिलते हैं। उनकी मानसिक शक्ति की भी वृद्धि होती है और उन्हें निर्णय, कल्पना, तथा अपनी रचनात्मक शक्ति का प्रयोग करने का अवसर मिलता है। खेल कूद के वातावरण में बालक अपने जीवन में आनन्द लेता है और उसके प्राकृतिक विकास का क्रम अनवरुद्ध रूप में चलता है। परन्तु आधुनिक काल में इस प्रणाली के कुछ दोषों का भी संकेत किया गया है। जैसा कि जेम्स वार्ड ने कहा है, इस प्रणाली की सफलता तभी सम्भव है जब शिक्षक उसे भली प्रकार जानता हो और उसके व्यक्तिगत तथा सामाजिक मूल्य को समझता हो। फ्रोबेल ने किंडर-गार्टन प्रणाली को व्यक्तिगत तथा सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति का साधन बताया परन्तु कितने शिक्षक ऐसे हैं जो उस प्रणाली को समझ कर उस उद्देश्य की आत्मा को समझ सकते हैं ? दूसरी बात यह भी है कि स्वतन्त्र क्रिया की दुहाई देकर फ्रोवेल ने क्रियाओं के रूपों को निश्चित भी कर दिया। अपने उपहारों और व्यवसायों (gifts and occupations) को निश्चित कर उसने क्रियाओं की स्वतन्त्रता को सीमित भी कर दिया, अतः स्वतन्त्र क्रिया का वह रूप नहीं रहा जिसको लेकर वह चला है।

हमारे देश में किंडर गार्टन प्रणाली को अपनाने की आर्थिक बाधाएँ भी हैं। इस प्रणाली में व्यय जितना चाहिये उसका आयोजन आज की परिस्थितियों में सम्भव नहीं है परन्तु यह बात उस प्रणाली के दोषों में नहीं कही जा सकती।

(6) **फ्रोवेल की स्थायी देन :** अपने शैक्षिक दर्शन के आधार पर फ्रोवेल ने जो शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचार दिये वे एक ओर उन्नीसवीं शताब्दी की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को बल देते हैं और फ्रोवेल को उसका प्रमुख समर्थक स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर आधुनिक प्रगतिशील शैक्षिक विचार-धारा से साम्य रखते हैं, उसकी विचार-धारा के आधार पर हम दोनों पक्ष में निम्नलिखित सिद्धान्तों का उल्लेख कर सकते हैं, जिनके आधार पर फ्रोवेल का शिक्षा के विकास के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है :—

(i) शिक्षा के उद्देश्य केवल भौतिक स्तर पर ही नहीं हैं बल्कि आध्यात्मिक स्तर पर हैं। (आधुनिक काल में उग्रप्रयोगवादी विचार-धारा से उत्पन्न भौतिकवाद व पदार्थवाद के दोष स्पष्ट होते जा रहे हैं और लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि शिक्षा के उद्देश्यों के आध्यात्मिक रूप को समझना और उन पर बल देना आवश्यक है)।

(ii) शिक्षा व्यापक रूप में विकास की प्रक्रिया है और वह बालक पर ज्ञान थोपना नहीं है।

(iii) शिक्षा में खेल, क्रिया द्वारा सीखना, स्वतन्त्र क्रियाशीलता का बहुत महत्व है।

(iv) विकास के विभिन्न स्तरों की विभिन्न आवश्यकताएँ हैं और उनके अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था करना आवश्यक है।

(v) शिक्षा में बालकों की रुचि का बहुत महत्व है।

(vi) बचपन में माँ के द्वारा शिक्षा दिया जाना बहुत महत्व रखता है।

(vii) शिक्षा का सामाजिक रूप बहुत महत्वपूर्ण है। व्यक्ति को अपने विकास के साथ अपने को समाज का अंग समझते हुए अपने विकास को प्राप्त करना आवश्यक है।

रूसो और पेस्टालॉजी की तरह फ्रोवेल ने बालक के व्यक्तित्व के महत्व स्व-अनुशासन, स्वतन्त्र क्रिया, विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ और उनकी आवश्यकताओं, खेल का महत्व, क्रियाशीलता और क्रिया करके सीखना—इन सब पर बहुत बल दिया और इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी की शिक्षा की लहर को आगे बढ़ाया। उसने हस्तकला और क्रिया पर जोर देकर क्रियाशील स्कूल (Activity school) के आदर्श को आगे बढ़ाया जिसे आगे चलकर ड्यूई ने प्रमुख रूप में शिक्षालय का आदर्श बतलाया। फ्रोवेल की किंडर-गार्टन प्रणाली काफी लोकप्रिय हुई यद्यपि प्रारम्भ में उसका अधिक स्वागत नहीं हुआ। शिक्षा के इतिहास में उसका स्थान बहुत ऊँचा है। क्योंकि उसने सर्वप्रथम उस स्तर की शिक्षा की व्याख्या की जिस पर अभी तक लोगों का ध्यान ही नहीं था।

सारांश

उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा में बहुत प्रगति हुई और उसकी प्रमुख सूचक शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है। मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति से तात्पर्य शिक्षा को बालक को केन्द्र बनाकर उसकी शक्तियों व रुचियों के आधार पर शिक्षा की व्यवस्था करने से है। इस मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को रूसो के प्रकृतिवाद से बहुत प्रेरणा मिली। इस प्रवृत्ति के तीन प्रमुख समर्थकों का नाम उल्लेखनीय है, वे हैं : पेस्टालॉजी, हरबार्ट और फ्रोबेल।

बालक की शक्तियों के सम-विकास, उसकी प्रकृति व रुचियों के अनुकूल शिक्षा का आयोजन, बालक के व्यक्तित्व का सम्मान, परम्परागत कठोर पद्धतियों और नियमों का खंडन, प्रारम्भिक शिक्षा पर विशेष ध्यान, क्रिया व खेल का शिक्षा में महत्व, पाठ्यक्रम की विस्तृतता तथा पाठों का सह-सम्बन्ध, शिक्षा की प्रक्रिया व शिक्षण विधियों को प्राकृतिक रूप देना तथा उनको रोचक बनाना, स्व-अनुशासन, बालक के साथ सहानुभूतिपूर्ण बर्ताव—या सामान्य रूप में इस प्रवृत्ति की विशेषताएँ हैं।

(1) पेस्टालॉजी : समाज सुधार की भावना से प्रेरित हो शिक्षा को समाज कल्याण का मार्ग बतलाया। शिक्षा में सुधार की आवश्यकता पर जोर दिया।

शिक्षा के सिद्धान्त : (i) व्यक्तित्व का सम विकास—शिक्षा का उद्देश्य।

(ii) व्यावसायिक शिक्षा से पहले सामान्य शिक्षा की आवश्यकता।

(iii) ज्ञान वृद्धि की अपेक्षा शक्ति-वृद्धि अधिक आवश्यक है।

(iv) शक्तियों का विकास अन्दर से न कि बाहर से ज्ञान थोपकर।

(v) पाठ्य वस्तु के श्रेणीकरण तथा उनको क्रमिक रूप में प्रस्तुत करना।

(vi) शिक्षण पद्धति प्राकृतिक हो—बालकों की रुचि व आवश्यकता का ध्यान रहे।

(vii) निरीक्षण, शब्द ज्ञान से पहले वस्तु ज्ञान, बालक केन्द्रित शिक्षा, स्व-अनुशासन, बालक के व्यक्तित्व का सम्मान, इन्द्रियों की शिक्षा—इन पर जोर।

आरम्भ में पेस्टालॉजी के विचारों का प्रभाव नहीं हुआ परन्तु उसने रूसो के प्रकृतिवाद को व्यवहार में लाकर आज की शिक्षा की नींव डाली।

(2) हरबार्ट : वह एक महान् मनोवैज्ञानिक व दार्शनिक था। पेस्टालॉजी की अपेक्षा वह एक उच्च चिन्तक भी था। पेस्टालॉजी भावुक था परन्तु हरबार्ट चिन्तनशील था।

शिक्षा का उद्देश्य—चरित्र निर्माण, नैतिक आदर्श पर बल।

मनोविज्ञान : शक्ति मनोविज्ञान का खण्डन तथा मस्तिष्क को एक इकाई के रूप में कार्य करते हुए उसकी व्याख्या।

मस्तिष्क के तीन प्रकार के कार्य—ज्ञानात्मक, संवेदनात्मक, तथा क्रियात्मक।

(i) ज्ञानात्मक : प्रत्ययों का मस्तिष्क में प्रवेश और उनका मानसिक परिपाक, पूर्वानुवर्ती प्रत्ययों के साथ सम्बन्ध और इस सम्बन्ध के आधार पर उनका उनमें मिलकर विचार-चक्र बनाना। शिक्षण में पूर्व ज्ञान को जानने तथा उसके साथ नवीन ज्ञान को जोड़ने का महत्व।

(ii) संवेदनात्मक : सुख व दुःख के आधार पर मस्तिष्क की अनुभूति के द्वारा प्रत्ययों का स्वागत अथवा अनादर। शिक्षण में पाठ को रोचक बनाने का महत्व।

(iii) क्रियात्मक : विचार चक्र का व्यवहार में महत्व और प्रत्ययों का अभि-व्यक्ति के लिए प्रयत्न। शिक्षण में बहु-मुखी रुचि उत्पन्न कर बालकों को बहु-प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न करना।

शिक्षण का महत्व : शिक्षक व शिक्षण का महत्व—मस्तिष्क को निर्मित करना और ठीक विचार-चक्र बनाना—यह शिक्षक का कार्य है। अतः शिक्षक का बहुत महत्व है।

दार्शनिक विचार : शिक्षा का उद्देश्य—नैतिकता, चरित्र निर्माण। उसके लिए सुन्दर विचार-चक्र की आवश्यकता, विचार-चक्र के लिए बहु-मुखी रुचि तथा उचित शिक्षण की आवश्यकता।

शिक्षा की प्रक्रिया व शिक्षण विधि : शिक्षण एक कला और उसको प्राप्त करने के लिए ट्रेनिंग की आवश्यकता, पाठों के प्रकार ज्ञान की श्रेणियाँ। दो स्रोतों से ज्ञान प्राप्त होता है : (i) प्रकृति से सम्पर्क (ii) सामाजिक वातावरण से सम्पर्क। सब विषय इनके अन्तर्गत आ जाते हैं। विषयों का ज्ञान देने में पाठों के सह-सम्बन्ध का महत्व और उसका विचार-चक्र से सम्बन्ध।

शिक्षण विधि—चार पद (i) स्पष्टता, (ii) सहयोग, (iii) व्यवस्था या विधि, (iv) प्रयोग। उनके आधुनिक रूप 5 पद—(1) प्रस्तावना, (2) प्रस्तुतीकरण, (3) तुलना, (4) नियमीकरण, (5) प्रयोग। प्रत्येक की व्याख्या व महत्व। पदों की उपयोगिता वैज्ञानिक विषयों में अधिक। आधुनिक काल में उनका खण्डन व आलोचना-कारण—शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन, परिस्थितियों और जीवन के ढंग में परिवर्तन, प्रयोगात्मक व अन्य प्रगतिशील विचारों का प्राधान्य, नवीन पद्धतियों का उत्कर्ष, पदों की सब प्रकार के पाठों के लिए अनुपयुक्तता।

हरबार्ट का प्रभाव - सर्वप्रथम अमेरिका में : उसके मनोविज्ञान का आज खण्डन हो रहा है परन्तु उसके चिन्तन व तर्क ने आधुनिक शिक्षा को बहुत बल दिया है और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की लहर को आगे बढ़ाया।

(3) फ्रोबेल : मनोवैज्ञानिक विचार-धारा का तीसरा समर्थक।
शिक्षा का उद्देश्य—आध्यात्मिक, ईश्वर की सत्ता की आत्मानुभूति।
शिक्षा की प्रक्रिया—विकास।

शिक्षा के साधन—विकास को अनवरत और अनवरुद्ध रूप में चलते देना।

शिक्षण विधि—स्वतन्त्र क्रिया।

दार्शनिक विचारधारा : अनेकत्व में एकत्व (Unity in Diversity) दो नियमों की प्रधानता—

(i) एकत्व का नियम (Law of unity)

(ii) विकास का नियम (Theory of development)

एक लक्ष्य है, दूसरा साधन है। शिक्षा को उक्त लक्ष्य की उक्त साधन द्वारा प्राप्ति करना है।

शिक्षा-दर्शन : बालक के विकास के स्तर, उनकी स्तरीय आवश्यकताएँ, अनके अनुसार शिक्षा की व्यवस्था, पाठ्य वस्तु का सह-सम्बन्ध, व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध, स्वतन्त्र क्रिया और क्रियाशील स्कूल, स्कूल एक सामाजिक संस्था।

फ्रोवेल, रूसो, पेस्टालॉजी, : विचारों का साम्य तथा विभिन्नता।

सबका व्यक्तित्व के सम्मान, अवस्था के अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था, परम्परागत विधियों की आलोचना, प्राकृतिक नियमों का सम्मान, बाल-केन्द्रित शिक्षा पर जोर। फ्रोवेल का बाल्य-कालीन शिक्षा पर कार्य और उसकी किंडर-गार्टन प्रणाली—क्रियाशीलता तथा स्वतन्त्र विकास के सिद्धान्तों का व्यवहार रूप। किंडर-गार्टन के गुण व दोष। आधुनिक काल में फोवेल की शैक्षिक विचार-धारा का मूल व उसका प्रभाव।

१०

शिक्षा में प्रवृत्तियाँ–(२) वैज्ञानिक प्रवृत्ति

यथार्थवाद की व्याख्या करते समय हमने यह बतलाया था कि यथार्थवाद का ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद आगे चलकर शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति का अग्रसर साबित हुआ। यथार्थवाद में रुचि का मूल आधार मानव का विश्व और प्रकृति के सम्बन्ध में बढ़ता हुआ ज्ञान था और यह ज्ञान 17 वीं शताब्दी से निरन्तर बढ़ता ही चला गया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते यूरोप में वैज्ञानिक आविष्कारों की काफी प्रगति हो गई थी जिसकी संक्षेप में हम व्याख्या करेंगे; परन्तु स्कूलों में विज्ञान के अध्यापन को उचित स्थान प्राप्त न था। स्कूलों का पाठ्यक्रम अधिकांश रूप में पुराने यूनानी और लैटिन साहित्य से प्रभावित था और उसी के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता था। वैज्ञानिक उन्नति के कारण लोगों की विज्ञान के अध्ययन में रुचि उत्पन्न हुई परन्तु पुरानी विचार-धारा के लोग अब भी प्राचीन साहित्य के अध्ययन पर जोर देते रहे। परिणाम यह हुआ कि दोनों प्रकार की विचार-धाराओं में संघर्ष पैदा हुआ और समन्वय की आशा प्रतीत न हुई। विज्ञान के समर्थकों ने परम्परागत पाठ्यकम की तीव्र शब्दों में आलोचना की और विज्ञान के अध्ययन को प्राधान्य देने पर जोर दिया। इधर शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति ने भी परम्परागत शिक्षण-विधियों तथा शैक्षिक प्रविधियों का खंडन किया और शिक्षण को मनोवैज्ञानिक आधार देकर वैज्ञानिक प्रवृत्ति को बल दिया। नए-नए आविष्कारों तथा नई-नई खोजों के कारण लोगों की विज्ञान के सम्बन्ध में जिज्ञासा ही उत्पन्न नहीं हुई बल्कि उनकी उसमें रुचि भी उत्पन्न हो गई। आधुनिक विज्ञान के विपरीत 19वीं शताब्दी का विज्ञान रचनात्मक पथ पर बढ़ा जा रहा था, विध्वंसात्मक रूप पर नहीं। अतः लोगों को उसमें विशेष श्रद्धा उत्पन्न होने लगी। परिणाम यह हुआ कि पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों के अध्यापन की माँग ने जोर पकड़ा और शनैः शनैः स्कूलों और विश्वविद्यालयों के पाठ्यकमों में विज्ञान के अध्यापन का प्राधान्य स्थापित होना शुरू हो गया। शिक्षा के इतिहास में यह प्रवृत्ति वैज्ञानिक प्रवृत्ति कहलाती है। इसके प्रमुख समर्थकों में हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) और टी० एच० हक्स्ले के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं हम उनके विचारों के सम्बन्ध में अगले पृष्ठों में

अध्ययन करेंगे। उससे पहले हम वैज्ञानिक प्रवृत्ति की सामान्य विशेषताओं तथा उसे बल देने वाले ऐतिहासिक घटनाचक्र पर थोड़ा दृष्टिपात करेंगे।

उन्नीसवीं शताब्दी : वैज्ञानिक युग का आरम्भ और शिक्षा पर माँग

इतिहास के विद्यार्थी भली प्रकार जानते होंगे कि उन्नीसवीं शताब्दी में किस प्रकार यूरोप में वैज्ञानिक आविष्कारों की उन्नति हुई और हस्त-कौशल के युग को किस प्रकार मशीन के युग के लिए स्थान करना आवश्यक होने लगा। इस काल के समस्त वैज्ञानिक अन्वेषणों, आविष्कारों तथा व्यवसायिक क्रान्ति के पूर्ण रूप की व्याख्या करना यहाँ सम्भव नहीं होगा और न उसकी कोई आवश्यकता है। हमारे लिए महत्व की बात यह है कि वैज्ञानिक उन्नति ने नई-नई खोजों और आविष्कारों से ही मानव मस्तिष्क को चमत्कृत नहीं किया बल्कि उन्होंने जीवन के ढंग को बदलना प्रारम्भ कर दिया जिसके फलस्वरूप व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में स्पष्ट परिवर्तन आने लगा। इस परिवर्तन ने विशाल रूप धारण किया और उसने मानव जीवन के समस्त अंगों व मानव की समस्त संस्थाओं—राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि—तथा विचार-धाराओं में परिवर्तन व संशोधन आरम्भ कर दिए। परिवर्तन ने व्यक्तिगत जीवन को ही नहीं बल्कि सामूहिक रूप में मानव जीवन को अपने प्रवाह में संवाहित किया और मध्यकालीन तथा परम्परागत विचारधाराओं, नियमों, आदर्शों उद्देश्यों, संस्थाओं, परिपाटियों आदि को नया रूप दिया जो वैज्ञानिक लहर से प्रभावित हुआ। वैज्ञानिक प्रवृत्ति केवल शिक्षा के रूप में नहीं बल्कि समस्त मानव जीवन के परिवर्तित रूप में झलकती है। शिक्षा उस जीवन के बदलते हुए ढंग से प्रभावित हुई और उसमें भी उस प्रवृत्ति की लहर आई। 19वीं शताब्दी की यह वैज्ञानिक प्रवृत्ति इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने में सफल हुई और मानव की समस्त संस्थाओं व उसके विचारों में इस प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ा।

यह प्रवृत्ति मानसिक दृष्टिकोण से क्या थी ? भौतिक विज्ञान, प्राणि विज्ञान, शुद्ध विज्ञान आदि, विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति के फलस्वरूप मनुष्य ने जिस प्रकार विज्ञान को जगत् का रहस्य खोलने, उसका विश्लेषण करने तथा उसका अध्ययन करने पर जो नियम, निर्णय तथा निष्कर्ष निकाले वे ही नियम, निष्कर्ष, निर्णय तथा प्रक्रियाएँ सत्य प्रतीत हुईं और उसी जगत् में अन्य प्राणियों के समान मानव भी एक प्राणी होने के नाते उन्हीं नियमों में बँधा हुआ तथा उन्हीं के अनुसार चलता हुआ पाया गया। यही नहीं मानव जीवन और उसके अध्ययन के सम्बन्ध में वैज्ञानिक विधि को अतार्किक आधार बनाकर अध्ययन करना विश्वसनीय माना गया। अवैज्ञानिक विधि को अतार्किक और अन्धविश्वास पूर्ण माना जाने लगा। वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने इस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में बुद्धि और आविष्कारों व अन्वेषणों के रूप में ही नहीं बल्कि मानव के विचारों में भी परिवर्तन कर उनको वैज्ञानिक आधार देकर अपनी सत्ता का परिचय दिया। यह वैज्ञानिक प्रवृत्ति इस प्रकार एक

विशेष महत्व रखती है, क्योंकि इसने जिस प्रकार विश्व और प्रकृति के अनेक रहस्यों को खोजकर उनकी वास्तविक स्थिति का परिचय दिया और लोगों के उनके प्रति भ्रमात्मक विचारों को नष्ट कर उनको उनके सम्बन्ध में यथार्थता का बोध कराया उसी प्रकार इसने अन्धविश्वास, भ्रम, परम्परा, रूढ़ि तथा कठोर परिपाटी में जकड़े हुए मानव मस्तिष्क को बुद्धि और तर्क के आधार पर वैज्ञानिक ढंग से सोचकर नियम, निर्णय व निष्कर्ष निकालने के लिए प्रेरित किया और इस प्रकार मध्यकालीन परम्पराओं व अन्धविश्वासों का भंडा फोड़कर आधुनिक युग की ओर तेजी से कदम बढ़ाया।[1]

वैज्ञानिक आविष्कारों ने बड़ी तेजी से विज्ञान को मनुष्य की सेवा में लगाना प्रारम्भ कर दिया। प्राकृतिक विज्ञान का शीघ्र ही यातायात के साधनों में वृद्धि, मशीन द्वारा उत्पादन में वृद्धि, स्वास्थ्य विज्ञान, शरीर विज्ञान व शरीर को स्वस्थ रखने के उपाय, जीवन को सुखदायक बनाने के उपाय, अपनी बचत—आदि प्रकार की समस्याओं में प्रयोग होने लगा। हाथ से किए जाने वाले कार्यों को मशीनों द्वारा किया जाना प्रारम्भ हो गया। छापने की मशीन, सीने की मशीन, रेल का इन्जन, बिजली, तार आदि ने जीवन में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। दुनियाँ इतनी विस्तृत नहीं लगने लगी जितनी लगती थी। मनुष्य एक दूसरे के समीप आ गया और एक दूसरे को अधिक समझने लगा, यद्यपि एक दूसरे के समीप आने से प्रतियोगिता व कलह के द्वार भी अधिक खुल गए और उन्नीसवीं शताब्दी का इतिहास एक ओर मानव-समाज की उन्नति का ढोल बजाता है तो दूसरी ओर उसकी स्वार्थमयी व प्रतिद्वन्द्वी भावनाओं की अभिव्यक्ति की घोषणा भी करता है। परन्तु यह बात हमारे विचार-क्षेत्र से बाहर है।

इस वैज्ञानिक उन्नति का शिक्षा पर बहुत प्रभाव पड़ा और बदलते हुए जीवन के ढंग के अनुकूल शिक्षा के पुनर्निर्माण की माँग ने जोर पकड़ा। प्राचीन साहित्य का अध्ययन व पाठ्यक्रम में उसके विशेषाधिकारों की तीव्र आलोचना होने लगी और विज्ञान के शिक्षण को उचित स्थान देने की माँग बढ़ी। शिक्षा सुधारकों ने इस बात पर जोर दिया कि परम्परागत पाठ्यक्रम दोषपूर्ण है और नए युग के लिए अपर्याप्त ही नहीं बल्कि व्यर्थ है। उसे बदलने की आवश्यकता है। इन सुधारकों में प्रमुख हर्बर्ट स्पेन्सर हैं यद्यपि ईलियट और हक्स्ले भी है जो उसके बाद महत्व रखते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर और हक्सले के विचारों के सम्बन्ध में हम अगले पृष्ठों में अध्ययन करेंगे। परन्तु उससे पहले वैज्ञानिक प्रवृत्ति की शिक्षा में प्रमुख विशेषताओं पर हम थोड़ा प्रकाश डालना चाहते हैं :

---

1 "What the Revival of Learning was to the classical scholars of the 15th and 16th centuries the movement for scientific knowledge and its application to human affairs was to the nineteenth." [*Cubberly* : History of Western Education]

वैज्ञानिक प्रवृत्ति की सामान्य विशेषताएँ

(i) शिक्षा के वैज्ञानिक विचार-धारा प्रकृतिवादी शिक्षा दर्शन को विजय का प्रतीक है। अतः शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या में वैज्ञानिक विचारकों ने अपने प्रकृतिवादी दृष्टिकोण की झलक दी है। उसकी व्याख्या किसी भी प्रकार की गई हो परन्तु मानव की क्रियाओं और शिक्षा की प्रक्रियाओं का मौलिक आधार भौतिक जीवन को सुन्दर बनाना है तथा उसके परे अन्य जीवन की कल्पना करके शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित करना भ्रमोत्पादक, व्यर्थ का विचार है। विकास व शक्ति सिद्धान्तों (Theory of development and survival of the fittest) को वैज्ञानिक दृष्टिकोण स्वीकार करता है और जीवन में भौतिकवाद को अध्यात्मवाद की अपेक्षा महत्व देता है।

(ii) पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विचार-धारा ने साहित्य, भाषा, संगीत, कला आदि के स्थान पर विज्ञान के अध्ययन पर जोर दिया और उसी को शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति का साधन कहा। विज्ञान में एक क्षेत्र से ही तात्पर्य नहीं बल्कि उसके समस्त क्षेत्रों—वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र, रसायन-शास्त्र, भौतिक-शास्त्र, ज्योतिष व नक्षत्रशास्त्र—से सम्बन्ध है। इन सबका अवस्था-अवस्था पर संतुलित पाठ्यक्रम, जीवन के लिए उपयोगी शिक्षा देता है। साहित्य, कला व संगीत आदि का स्थान बाद में है, इनका पहले है।

(iii) शिक्षण विधियों में संशोधन करने पर वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने बहुत जोर दिया। रटने व ऊपर से ज्ञान थोपने की परम्पराओं का खण्डन कर बेकन की आगमन विधि (Inductive Method) का समर्थन किया और शिक्षण में पाठ्यक्रम को श्रेणियों में विभाजन कर उसको क्रमिक रूप में प्रस्तुत करने पर बल दिया। शिक्षण के सिद्धान्तों की व्याख्या की गई और सरल से कठिन की ओर, ज्ञात से अज्ञात की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर, प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर आदि सिद्धान्तों को शिक्षण में महत्व दिया गया।

(iv) अनुशासन में प्राकृतिक परिणामों के सिद्धान्त (Theory of natural consequences) को स्वीकार करते हुए दमनात्मक विधियों का खण्डन किया गया और स्व-अनुशासन पर जोर दिया गया।

(v) वैज्ञानिक विचार-धारा ने बालक के मनोवैज्ञानिक अध्ययन पर बहुत बल दिया और मनोविज्ञान भी विज्ञान का विषय हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी से मनोविज्ञान का अध्ययन बड़ी तेजी से प्रारम्भ हुआ।

(vi) इन्द्रियों का ज्ञान प्राप्ति में महत्व तथा प्रारम्भ में उनकी ट्रेनिंग की आवश्यकता, पर बहुत बल दिया।

(vii) वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने प्रकृति को अपना गुरु बनाया और उसके आधार पर मानव जीवन की व्याख्या व मानव जीवन की आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के साधनों की व्याख्या की।

(viii) परम्परागत व्याख्यायों—जैसे शक्ति मनोविज्ञान, शिक्षा में अनुशासन-वाद का सिद्धान्त (Theory of formal discipline)। उदार-शिक्षा आदि की इसने आलोचना कर शिक्षा को विज्ञान बतलाया और उसके रूपों और अंगों की वैज्ञानिक समीक्षा को ही विश्वसनीय बतलाया।

(xi) मानव की वृत्तियों व उसके विकास पर जोर देकर वैज्ञानिक प्रवृत्ति जीवन के जनतन्त्रीय ढंग का पक्ष लेती है।

(1) हर्बट स्पेन्सर (Herbert Spencer) (1820-1903)

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं उन्नीसवीं शताब्दी के शिक्षा विचारकों में वैज्ञानिक विचार-धारा का प्रमुख प्रवर्तक हर्वर्ट स्पेन्सर है। उसके शिक्षा सम्बन्धी विचारों को हम उसकी पुस्तक 'ओन ऐजूकेशन' (On Education) में पाते हैं। जिसमें उसने शारीरिक, मानसिक, व नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचार अभि-व्यक्त किए हैं और साथ ही साथ परम्परागत शिक्षा-प्रणाली की आलोचना भी की है। स्पेन्सर अपने समय का बहुत बड़ा बिद्वान था और उसने शिक्षा के अलावा मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, नीति शास्त्र तथा जीवन-विज्ञान शास्त्र पर भी अनेक पुस्तकें लिखी हैं। वह पक्का प्रकृति-वादी था और उसके लेखों में उसकी वैज्ञानिक प्रवृत्ति समायी हुई है। शिक्षा के सम्बन्ध में उसके विचार उसके अपने पूर्वगत शिक्षा शास्त्रियों के विचारों के अध्ययन के परिणाम स्वरूप नहीं हैं बल्कि तत्कालीन परिस्थितिाँ तथा शिक्षा की उनके लिए अनुपयुक्तता—इस अध्ययन के आधार पर उसने अपने विचारों को व्यक्त किया है। उसके चार लेखों का संकलन ही उसकी पुस्तक ऑन 'ऐजूकेशन' है जिसकी शैली बड़ी प्रभावपूर्ण और रोचक है और जिसकी तर्क एक पक्के वैज्ञानिक की तर्क है जो प्रारम्भ से अन्त तक विश्वास दिलाती जाती है।

(1) कौन सी-शिक्षा महत्व रखती है ? स्पेन्सर की सम्मति : अपनी उपर्युक्त पुस्तक के प्रथम लेख में हर्वट स्पेन्सर तत्कालीन शिक्षा की आलोचना करके आरम्भ करता है। वह कहता है कि असभ्य जातियों में प्रायः यह देखा जाता है कि आवश्यक वस्त्रों की अपेक्षा लोग आभूषणों को अधिक महत्व देते हैं। हम्बोल्ट (Humbolat) के आधार पर एक उदाहरण देते हुए वह कहता है कि आदिम निवासी चन्दन और तिलक लगाने के लिए अधिक प्रयत्न करते हैं, वस्त्रों के लिए उतने नहीं। इसी प्रकार स्त्रियाँ आभूषणों के लिए अधिक प्रयत्न करती हैं वस्त्रों के लिए नहीं। वस्त्र चाहे भले ही गन्दे और फटे पुराने हों उनके लिए वह इतनी उत्सुक नहीं होती जितनी आभूषणों के लिए। क्यों ? क्योंकि उसके द्वारा वे दूसरों पर प्रभाव डालना चाहती हैं चाहे शरीर रक्षा की दृष्टि से भले ही उनका कुछ मूल्य न हो। परिपाटी ऐसी ही चली आ रही है और उसकी दासता से मुक्ति पाने का वे प्रयत्न ही नहीं करतीं। स्पेन्सर आगे कहता है कि ठीक वही अवस्था मानसिक क्षेत्र में भी घटित होती है। लोग प्राचीन साहित्य, कला आदि का अध्ययन करते हैं और

उसके अध्ययन में पर्याप्त समय लगाते हैं यद्यपि जीवन में उसका कोई महत्व नहीं। जीवन के लिए अधिक उपयोगी ज्ञान विज्ञान है और उसे पाठ्यक्रम में बिल्कुल महत्वहीन स्थान प्राप्त है जबकि प्राचीन साहित्य को प्रथम। ऐसा क्यों? क्योंकि जिस प्रकार शारीरिक स्तर पर आभूषणों का वस्त्र की अपेक्षा अधिक मूल्य है उसी प्रकार मानसिक स्तर पर साहित्य का विज्ञान की अपेक्षा अधिक मूल्य है। लोग प्राचीन साहित्य, व्याकरण आदि रटते हैं और वे ऐसा इसलिए करते हैं कि उसका ज्ञान उनके मस्तिष्क को अलंकृत करे और अपने इस अलंकृत मस्तिष्क द्वारा वे दूसरों पर प्रभाव डाल सकें। जीवन की उपयोगिता की दृष्टि से उसका अन्तिम स्थान है, प्रथम स्थान विज्ञान का है। वह मस्तिष्क के लिए उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार शरीर के लिए वस्त्र। परन्तु जिस प्रकार शरीर रक्षा के क्षेत्र में लोग परिपाटियों के गुलाम हैं उसी प्रकार अध्ययन व शिक्षा के क्षेत्र में भी परिपाटी ने लोगों को गुलाम बना रखा है। वास्तविक ज्ञान जो उपयोगी है उसे प्राथमिकता दी जानी चाहिए और वह है विज्ञान।

स्पेन्सर पक्का प्रकृतिवादी है और वह शिक्षा की जीवन की प्रयोगशाला में जाँच करता है और देखता कि हमारे जीवन को सुन्दर और सुखमय बनाने के लिए किस प्रकार के ज्ञान की कितनी मात्रा में आवश्यकता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वह वस्तु के मूल्य का उस वस्तु को तौल कर और उसकी उपयोगिता के आधार पर उसका मूल्यांकन करता है। शिक्षा को वह स्वांतः सुखाय या ज्ञान-प्राप्ति, अथवा चरित्र निर्माण व समविकास—किसी भी दार्शनिक दृष्टिकोण से नहीं बल्कि भौतिक जीवन को सुखमय बनाने की उपयोगिता से नापता है और उसी के आधार पर उसका रूप निश्चित करता है। परम्परागत शिक्षा को वह उस मापदण्ड से बहुत कमजोर पाता है और उसका घोर खण्डन करता है। हम उसके कुछ शब्दों का अनुवाद कर उनको उद्धृत करते हैं। वह कहता है कि—

"अगर अपनी शिक्षा के विकृत और अविकसित रूप का हमें कोई प्रमाण लेना है तो वह हमको इस बात में मिलता है कि ज्ञान के विषयों का हमारी शिक्षा में तुलनात्मक मूल्यांकन नहीं हुआ है और न निश्चित परिणामों को दृष्टि में रखते हुए उस पर विचार ही किया गया है। यह बात नहीं है कि मूल्यों के किसी मापदण्ड पर सबकी सम्मति एक हो गई है परन्तु वस्तुतः मूल्यों का स्पष्ट रूप में कोई मापदण्ड ही नहीं सोचा गया है, और उस मापदण्ड को सोचने की आवश्यकता का भी अनुभव नहीं हुआ है। मनुष्य कभी इस विषय पर पुस्तकें पढ़ते हैं, कभी उस विषय पर; कभी यह भाषण सुनते हैं; कभी वह। वे यह भी निश्चित करते हैं कि उनके बच्चों को यह शिक्षा दी जाय, और इस सब में वे परम्परा, परिपाटी व प्रचलित प्रणालियों के दास हैं। कभी भी उन्होंने तर्क संगत तरीके से नहीं सोचा है कि कौन-सी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने के योग्य हैं। सब लोग कभी इस और कभी उस ज्ञान के महत्व की चर्चा करते हैं परन्तु कभी भी उसके तुलनात्मक महत्व

की चर्चा नहीं करते और यदि यह प्रश्न उठाए जायँ कि समय की खपत के अनुसार कौन विषय किस सीमा तक महत्व रखता है तो उन प्रश्नों के व्यक्तिगत विचारों के आधार पर खत्म कर दिया जाता है। यह सत्य है कि कभी कभी यह चर्चा हुई है कि विषयों में प्राचीन साहित्य का अधिक महत्व है अथवा गणित का—पाठ्यक्रम में गणित का अधिक महत्व है अथवा प्राचीन साहित्य का—यह ऐसा प्रश्न है जो उसी प्रकार का है जबकि हम यह प्रश्न करें कि भोजन में रोटी का अधिक महत्व है या आलू का।"

हर्बर्ट स्पेन्सर इस प्रकार साहित्य वगैर: के अध्ययन का खण्डन नहीं करता परन्तु उनका उतना ही मूल्य देना चाहता है जितने के वे योग्य हैं। उसकी दृष्टि से साहित्य, भाषा, आदि विषय महत्वपूर्ण हैं परन्तु उनसे अधिक महत्वपूर्ण विषय वैज्ञानिक विषय हैं जिनको प्रत्येक अवस्था में प्राथमिकता मिलनी चाहिए। हमें अब यह देखना है कि स्पेन्सर किस प्रकार अपने विषयों के तुलनात्मक मूल्य को निश्चित करता है और किस प्रकार वह उनका वर्गीकरण करता है। उसके लिए यह आवश्यक है कि हम यह देखें कि उसकी दृष्टि से शिक्षा का क्या उद्देश्य है जिसकी पूर्ति के लिए वह यह तर्क देता है।

(2) **शिक्षा का उद्देश्य** : जैसा कि हम शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या करते समय कह आए हैं हर्बर्ट स्पेन्सर की दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण जीवन के लिए तैयारी करना है। (To prepare us for complete living is the function which education has to discharge)। हर्बर्ट स्पेन्सर पक्का प्रकृतिवादी है और वह 'जीवन' का प्रयोग करते समय प्रकृतिवादी जीवन की व्याख्या से मतलब रखता है। परन्तु उसका प्रकृतिवादी दृष्टिकोण व्यापक अर्थ में है संकुचित अर्थ में नहीं और उसकी जीवन की आवश्यकताओं की व्याख्या में मानव का व्यक्तिगत, सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक, सभी जीवन आ जाता है परन्तु जैसी कि प्रकृतिवादी दृष्टिकोण की विशेषता है हर्बर्ट स्पेन्सर शरीर-रक्षा और उससे प्रेरित अन्य क्रियाओं की प्रधानता को स्वीकार करता है और उसे प्रमुख क्रिया मानता है। सारी प्रकृति उसे शक्ति (energy) का संचार प्रतीक होता है और वही शक्ति प्रकृति के जीवन की धारा को संवाहित रखती है। मनुष्य भी प्रकृति के नियमों से बँधा हुआ है और अपनी अन्य क्रियाएँ और आवश्यकताएँ रखते हुए भी उसकी प्रमुख क्रियाएँ शरीर रक्षा से ही सम्बन्ध रखती हैं (Self-preservation is the first law of nature)। इसी आधार पर स्पेन्सर ने अपने शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या में क्रियाओं का विश्लेषण कर उनकी प्राथमिकता निश्चित की और पाठ्यक्रम का रूप निश्चित किया।

(3) **पाठ्यक्रम—मनुष्य की आवश्यकताएँ और क्रियाएँ, उसका आधार** : पाठ्यक्रम निर्धारित करने में मानव जीवन की आवश्यकताएँ, जिनकी पूर्ति करके 'सम्पूर्ण जीवन' के उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है, प्रमुख हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव क्रियाएँ करता है। कुछ आवश्यकताएँ ऐसी हैं जो सबसे पहले

आती हैं और कुछ बाद में। स्पेन्सर ने समस्त आवश्यकताओं और क्रियाओं को पाँच श्रेणियों में बाँटा है और उनके आधार पर पाठ्यक्रम के विषयों का तुलनात्मक मूल्यांकन और उनकी उपयोगिता को निश्चित किया है। उसका क्रियाओं का विश्लेषण इस प्रकार है :—

(i) प्रथम क्रियाएँ वे हैं जो प्रत्यक्ष रूप में शरीर रक्षा से सम्बन्ध रखती हैं (Activities that directly minister to self-preservation)। आत्म-रक्षा प्रकृति का पहला नियम है अतः जितनी भी क्रियाएँ प्रत्यक्ष रूप में आत्म रक्षा के हेतु की जाती हैं वे सबसे प्रमुख हैं और उनसे सम्बन्ध रखने वाले विषयों का अध्ययन सबसे अधिक महत्व रखता है। इन विषयों में स्वास्थ्य-विज्ञान शरीर-विज्ञान, शरीर-रक्षा शास्त्र आते हैं और इनकी शिक्षा बालकों को सर्व प्रथम दी जानी चाहिए। शिक्षा के पाठ्यक्रम को निर्धारित करने में इन विषयों का ज्ञान सबसे अधिक महत्व रखता है।

(ii) दूसरी क्रियाएँ वे हैं जो परोक्ष रूप में शरीर-रक्षा के लिए की जाती हैं (Activities which indirectly minister to self-preservation)। इन क्रियाओं का सम्बन्ध उन आवश्यकताओं की पूर्ति से है जिनकी पूर्ति के बिना हम शरीर की स्थिति नहीं रख सकते। हमें जीवित रहने के लिए कुछ प्रयत्न करने हैं, अपनी उदरपूर्ति के लिए कुछ क्रियाएँ करनी हैं। इन क्रियाओं का तात्पर्य हमारे कमाने खाने तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति से है। कमाने खाने की क्षमता देने का कार्य वैज्ञानिक विषयों का ही है। साहित्य व कला इसमें सहायक नहीं हो सकते। अतः पाठ्यक्रम में दूसरा स्थान स्पेन्सर गणित, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, प्राणि-विज्ञान, समाज-शास्त्र आदि को देता है जिनका अध्ययन कर मानव में वह क्षमता पैदा होती है जिसके आधार पर वह अपनी जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है।

(iii) अभी तक स्पेन्सर ने प्रथम दो क्रियाओं का विश्लेषण किया और वे व्यक्ति के अपने जीवन व उसकी रक्षा से सम्बन्ध रखती हैं। अपने जीवन की रक्षा होने के उपरान्त तीसरी प्रकार की क्रिया आती है जो सन्तान की रक्षा व उसके लालन-पालन से सम्बन्ध रखती है। किस प्रकार बच्चों की स्वास्थ्य रक्षा की जाय, कैसे उनका पालन-पोषण किया जाय, किस प्रकार उनको शिक्षा दी जाय। ये मानव की तीसरी प्रकार की क्रिया है और अपने शरीर की रक्षा की दो क्रियाओं के बाद इसका स्थान है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए स्पेन्सर कहता है कि शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, नीति-शास्त्र के अध्ययन की व्यवस्था होनी चाहिए। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखने की है कि स्पेन्सर विषयों के किसी एक क्रिया की पूर्ति का साधन नहीं कहता बल्कि एक विषय कई क्रियाओं के लिए साधक होते हैं। शरीर-विज्ञान प्रथम प्रकार की क्रियाओं के करने में सहायक है, वह तीसरी प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति में भी सहायक है। परन्तु वंश वृद्धि, सन्तानोत्पादन व सन्तान का पालन पोषण तीसरे स्थान पर ही आता है क्योंकि अपने शरीर की रक्षा प्रथम है

और उसके बिना वंश वृद्धि अथवा सन्तान के पालन पोषण का प्रश्न ही नहीं उठता।

(iv) वंश और खानदान के सम्बन्धों के बाद मानव के समाज के सम्बन्ध आते हैं, अतः स्पेन्सर चौथी प्रकार की क्रियाएँ उनको बतलाता है जो मनुष्य के सामाजिक और राजनैतिक सम्बन्धों से सम्बन्ध रखती हैं (Activities that are involved in the maintenance of proper social and political relations)। ये क्रियाएँ चतुर्थ स्थान पर हैं और अपनी शरीर रक्षा तथा अपनी संतान की शरीर रक्षा व पालन पोषण के बाद इनका नम्बर आता है। इन क्रियाओं को सफलतापूर्वक सम्पादन करने के लिए उन विषयों को पढ़ाना चाहिए जो समाज और राजनीति से सम्बन्ध रखते हैं। अतः इतिहास, राजनीति-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र इन विषयों का स्पेन्सर इन क्रियाओं के सम्बन्ध में उल्लेख करता है।

(v) पाँचवीं प्रकार की क्रियाएँ वे विभिन्न क्रियाएँ हैं जो मनुष्य के अवकाश के समय से सम्बन्ध रखती हैं (Activities which make up the leisure part of life devoted to the gratification of tastes and feelings)। ये क्रियाएँ जीवन की प्रथम आवश्यकताएँ नहीं हैं बल्कि अन्त की आवश्यकताएँ हैं। जबकि मनुष्य को अपने जीविकोपार्जन, सन्तात रक्षा, सामाजिक व राजनीतिक क्रियाओं से फुरसत मिल जाती है और उसे अवकाश होता है तब वह इनके द्वारा अपना मनोरंजन करता है, आनन्द लेता है। ये क्रियाएँ जीवन के अवकाश के समय से सम्बन्ध रखतीं हैं अतः पाठ्यक्रम में भी इन्हें अवकाश का समय'—वह समय जब आवश्यक क्रियाओं की पूर्ति हो गई हो— ही दिया जाय। साहित्य, संगीत, काव्य, कला— ये सब विषय इन क्रियाओं से सम्बन्ध रखते हैं।

इस विश्लेषण का अध्ययन करने में यह कदापि नहीं सोचना चाहिए कि स्पेन्सर किसी विषय के ज्ञान का खण्डन करता है। उसका उद्देश्य विषयों का तुलनात्मक मूल्यांकन करके उनका प्राथमिकता के आधार पर महत्व निश्चित करना है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है स्पेन्सर के समय स्कूलों के पाठ्यक्रय में विज्ञान को प्रथम स्थान प्राप्त नहीं था, अतः वह इस बात पर जोर देता है कि पाठ्यक्रम में विज्ञान को प्रथम महत्व का स्थान दिया जाय और अपने शिक्षा के उद्देश्यों को निश्चित करके वह अपनी तर्क देता है। साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना है कि स्पेन्सर यह नहीं कहता कि जिस क्रम में उसने क्रियाएँ रक्खी हैं उसी क्रम में विषय पढ़ाऐ जाएँ और साहित्य व कला का अध्ययन तब कराया जाये जब और विषयों का अध्ययन कराया जा चुका है। सब विषय साथ-साथ बालकों की अवस्था के अनुसार चल सकते हैं परन्तु एक स्तर पर कितना और किस प्रकार विषयों को पाठ्यक्रम में मूल्य दिया जाय यह निश्चित करने के लिए उपर्युक्त विश्लेषण का जानना और उस पर अमल करना आवश्यक है।

विज्ञान के शिक्षण पर स्पेन्सर अधिक बल देता है और वह ऐसा क्यों करता है इसकी हम ऊपर व्याख्या कर चुके हैं परन्तु यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि स्पेन्सर ने 'विज्ञान' को व्यापक अर्थ में लिया है और उससे उसका तात्पर्य सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक विज्ञानों से भी है। केवल भौतिक, रसायन या जीव विज्ञानों से ही नहीं।

(4) **शिक्षण के सिद्धान्त :** वैज्ञानिक आधार पर विज्ञान प्रधान पाठ्यक्रम निश्चित कर स्पेन्सर शिक्षण के सिद्धान्तों का भी उल्लेख करता है। ये सिद्धान्त भी वैज्ञानिक ही होने चाहिए। यद्यपि इन सिद्धान्तों के निरूपण में स्पेन्सर की कोई मौलिकता नहीं है और वे वही हैं जो पेस्टालॉजी तथा 19वीं शताब्दी के अन्य मनोवैज्ञानिकों तथा ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादियों ने निश्चित किए तथापि स्पेन्सर द्वारा उन पर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए विशेष बल दिया गया है। ये सिद्धान्त शिक्षण के मूल सिद्धान्त स्वीकार कर लिए गए हैं और इनका आधार वैज्ञानिक इसलिए है कि वे बालक के मस्तिष्क की प्रक्रिया व उसकी ग्राह्य शक्ति के आधार पर अवलम्बित हैं। ये सिद्धान्त शिक्षण-कार्य में आज सर्वमान्य हैं और वे ये हैं :

ज्ञान देने में बालक को—(i) सरल से कठिन की ओर (from easy to difficult)।

(ii) ज्ञात से अज्ञात की ओर (from known to unknown)

(iii) स्थूल से सूक्ष्म की ओर (from concrete to abstract)

(iv) अनुभव से तर्क की ओर (from empirical to rational)।

(v निश्चित से अनिश्चित और कभी अनिश्चित से निश्चित की ओर (जैसी विषय की प्रकृति हो। (from definite to indefinite and from indefinite to definite)।

(vi) पूर्ण से अंश की ओर और अंश से पूर्ण की ओर (from whole to part and from part to whole)।

(vii) प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर (from direct to indirect)

ले जाया जाय। अध्यापन में इन सिद्धान्तों के ऊपर पाठ का प्रस्तुतीकरण आवश्यक है और इनकी स्वीकृति शिक्षक को पढ़ाने में सहायक होती है और बालक तेजी से सीखते चलते हैं।

इन सिद्धान्तों के अलावा हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी हरवार्ट के अनुसार सांस्कृतिक युग के सिद्धान्त व पुनरावृत्ति सिद्धान्त (Culture Epoch Theory and Recapitulation Theory) पर जोर दिया और उसके आधार पर यह कहा कि चूँकि मनुष्य अपने जीवन में संस्कृति के विकास के स्तरों की पुनरावृत्ति करता है अतः पाठ्यक्रम निर्धारित करने तथा शिक्षण सिद्धान्तों के निरूपण में इस सिद्धान्त को महत्व दिया जाय। पेस्टालॉजी व अन्य वैज्ञानिकों की तरह उसने स्व-अध्ययन व अपने आप सीखने पर बल दिया और पाठन-विधियों को मनोरंजक बनाने पर जोर दिया।

(5) **नैतिक शिक्षा और अनुशासन :** स्पेन्सर नैतिक शिक्षा का बहुत पक्षपाती था। उसका मत है कि बालकों में अच्छी आदतें डालने की जिम्मेदारी माँ-बाप की है। अपने शरीर की रक्षा और हित के बाद उनकी प्रमुख जिम्मेदारी अपनी संतान, लालन-पालन व उनकी शिक्षा की है। घर के वातावरण और समाज के वातावरण का बालक के ऊपर बहुत प्रभाव पड़ता है। माँ, बाप, मनुष्य व स्त्री अपने बालकों में प्रतिबिम्बित होती हैं और जिस समाज में बेईमानी, दम्भ, भ्रष्टाचार, स्वार्थ आदि जैसे रोग भरे पड़े हैं उसमें बालकों का उनके स्पर्श से अलग रहना असम्भव है अतः अपने आदर्श द्वारा तथा अच्छी आदतें सिखाकर बालकों के चरित्र का निर्माण करना और उनको अनुशासन सिखाना प्रथम जिम्मेदारी माँ बाप की है।

स्पेन्सर अनुशासन के साधनों में प्रेम, सहानुभूतिपूर्ण बर्ताव, स्वतन्त्रता व नैतिक शिक्षा को महत्व देता है। नैतिक शिक्षा से तात्पर्य धार्मिक शिक्षा से नहीं है बल्कि उस शिक्षा से है जो मनुष्य को अपने जीवन में दूसरों के साथ अच्छे सम्बन्ध निबाहने में सहायक होती है। स्पेन्सर प्रचलित दण्ड-व्यवस्था का विरोधी था। उसका मत है कि प्रत्येक युग की संस्थाएँ उस युग के सामाजिक विश्वास से आदर्श लेती हैं और उनके रूप व उनकी क्रियाओं में वह विश्वास झलकता है। एकतन्त्रीय युग में जबकि एक राजा की आवाज सबसे बड़ी आवाज है और उसी के हुक्म के मुताबिक सब कार्य चलते हैं, उस युग में सब संस्थाएँ भी एकतन्त्रीय आधार पर ही निर्मित होती हैं। प्रत्येक युग की संस्थाओं का पारस्परिक सम्बन्ध होता है और जब राजनैतिक क्षेत्र में एक राजा की आज्ञा काम करती है तो शिक्षालय में अध्यापक की आज्ञा कार्य करती है। जब राजनैतिक क्षेत्र में शक्ति कार्य करती है तो विद्यालय में भी अध्याएक डण्डे के जोर से अनुशासन रखते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक युग की संस्थाएँ अपने ढाँचे, स्वरूप और कार्य-विधि में समानता रखती हैं। आज जनतन्त्र का युग है और मानव को स्वतन्त्रता मिली है तथा उसके अधिकारों की रक्षा पर बल है तो आवश्यकता इस बात की है कि स्कूल भी अपने पुराने ढाँचे को बदले और बालकों के व्यक्तित्व का सम्मान किया जाय तथा उनको स्वतन्त्रता दी जाय। स्पेन्सर दण्ड की व्यवस्था का बिल्कुल खण्डन नहीं करता। जिस समाज में इतनी विकृति है और जहाँ मानव इतना गिर गया है कि उसके लिए दण्ड विधान, जेल और सुधारालयों की आवश्यकता है वहाँ बालकों के लिए भी दण्ड की आवश्यकता पड़ जाती है।

प्रकृतिवाद में प्राकृतिक परिणाम के सिद्धान्त (Theory of natural Consequences) को स्वीकार करने की लोगों की बहुत प्रवृत्ति है परन्तु इसका व्यवहार में लाना बहुत कठिन है। रूसो ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि बालक अपनी भूलों के प्राकृतिक परिणामों को दण्ड के रूप में भोगे। रूसो के विचारों की व्याख्या करते समय हम इस सिद्धान्त की चर्चा कर चुके हैं। रूसो कहता है कि यदि बालक ने शीशा तोड़ा है तो उसे टूटे शीशे की खिड़की के पास बैठने दो और उससे

उसे जुकाम या सर्दी लग जाय तो वह दण्ड भुगतने दो। हर्बर्ट स्पेन्सर भी प्राकृतिक परिणाम के सिद्धान्त का पक्षपाती है। स्कूल में भी इस सिद्धान्त के आधार पर दण्ड व्यवस्था का वह समर्थन करता है। परन्तु जैसा कि हम रूसो के विषय में कह चुके हैं प्राकृतिक परिणामों का सिद्धान्त व्यवहार रूप में नहीं आ सकता। प्राकृतिक परिणाम भयंकर भी हो सकते हैं और कुछ परिणाम भी नहीं हो सकते। उनकी कोई सीमा नहीं हैं और जहाँ तक दण्ड व्यवस्था का सम्बन्ध है हमें यह निश्चित कर लेना होता है कि किस प्रकार के अपराध के लिए किस अवस्था में किस बालक को किस प्रकार का दण्ड दिया जाय। दण्ड देने में कई सिद्धान्तों का पालन करना पड़ता है जिससे दण्ड के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति हो सके जो बालक को सुधारने नकि दण्ड केवल दण्ड के लिए, से सम्बन्ध रखता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है स्पेन्सर दण्ड को अन्तिम परन्तु परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक मानता है लेकिन अनुशासन में प्रेम, सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार व नैतिक शिक्षा को महत्व देता है।

(6) **शारीरिक शिक्षा :** शारीरिक शिक्षा पर स्पेन्सर उतना ही बल देता है जितना मानसिक शिक्षा पर। यह बड़े अफसोस की बात है कि हम लोग बालकों की शरीर शिक्षा पर अधिक बल नहीं देते। उनको कैसा भोजन दिया जाय, कितना उनसे काम लिया जाय, किस प्रकार उनका शरीर पुष्ट हो आदि बातों पर हम ध्यान नहीं देते हैं और उनके पढ़ाने पर अधिक ध्यान देते हैं। शरीर और मस्तिष्क का घनिष्ट सम्बन्ध है और स्वस्थ शरीर के लिए स्वस्थ मस्तिष्क तथा स्वस्थ मस्तिष्क के लिए स्वस्थ शरीर की आवश्यकता है। बालकों को समुचित भोजन देकर उनको शरीर रक्षा के नियम बताकर, उनसे उनकी शक्त्यानुसार काम लेकर उनको व्यायाम कराकर तथा उनके वस्त्रों को ठीक अवस्था में रखकर हम उनको अपनी स्वास्थ्य वृद्धि में सहायता दे सकते हैं। शरीर-रक्षा प्रकृति का सबसे पहला नियम है और स्वस्थ शरीर जीवन की प्रथम आवश्यकता है।

(7) **स्पेन्सर के विचारों की आलोचना :** स्पेन्सर के शिक्षा सम्बन्धी विचारों की दो प्रमुख आधारों पर आलोचना होती है : प्रथम यह है कि उसने विषयों की सांस्कृतिक उपयोगिता को मूल्य बहुत कम दिया और उनके उपयोगात्मक व महत्व को बहुत ऊँचा स्थान पर रक्खा। हम शिक्षा के उद्देश्यों और आधारों की व्याख्या करते समय प्रकृतिवादी दृष्टिकोण की इस प्रवृति की आलोचना कर चुके हैं। यह सत्य है कि मानव के लिए अन्य प्राणियों की तरह जीवन-रक्षा मानव के मानवीय जीवन को प्रेरणा देने का प्रमुख स्रोत नहीं है। मनुष्य रोटी खाकर जीवित रहता है परन्तु रोटी ही उसका जीवन नहीं है। उसका सांस्कृतिक वातावरण उसके लिए बहुत महत्व रखता है। उसी के आधार पर वह मानव कहलाता है वरना पशु और मनुष्य में भेद ही क्या रह जाता है। साहित्य-कला व संगीत, काव्य आदि को अवकाश के समय का स्थान देकर स्पेन्सर ने उनके वास्तविक मूल्य को बहुत घटा दिया है।

मानव जीवन में मनुष्य का अवकाश का समय भी उतना ही मूल्य रखता है, बल्कि एक दृष्टि से अधिक मूल्य रखता है, जितना उसका व्यस्त रहने का समय। हम मनुष्य के चरित्र व उसके दृष्टिकोण का माप न उसकी जीविकोपार्जन की क्रियाओं के आधार पर नहीं करते जितना उन क्रियाओं के आधार पर करते हैं जिनमें लगाकर वह अपना अवकाश का समय बिताता है। स्पेन्सर ने इस मूल्य को नहीं समझा। दूसरी बात यह है कि स्पेन्सर ने अपने शिक्षा के उद्देश्य की व्याख्या में शिक्षा को पूर्ण जीवन की तैयारी बतलाया। यह दृष्टिकोण आज के दृष्टिकोण से भिन्न है तथा उसके पूर्वगत शिक्षा शास्त्रियों—पेस्टालॉजी, फ्रोबेल, रूसो आदि के दृष्टिकोणों से भी साम्य नहीं रखता। हम आज शिक्षा को जीवन की तैयारी नहीं बल्कि 'जीवन' ही मानते हैं। आज के बदलती हुई परिस्थितियों के युग में भविष्य के जीवन की निश्चित रूप में कोई कल्पना नहीं की जा सकती अतः हम किसी भी शिक्षा के उद्देश्य को जो भावी जीवन की तैयारी को लेकर चलता है अधिक मूल्य नहीं देते। स्पेन्सर की तर्क उसी के विचारों के प्रतिकूल जाती है। जब वह विज्ञान का समर्थन करता है और पाठ्यक्रम में उसे महत्वपूर्ण स्थान देना चाहता है तो उसका तर्क यही है कि विज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता परिस्थितियों के अनुकूल है। यही तर्क इस बात का खंडन भी करती है चूंकि भावी परिस्थितियों और जीवन के ढंग का निश्चित रूप क्या होगा—इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि अमुक प्रकार की शिक्षा ही सर्वदा के लिए ठीक रहेगी। एक परिवर्तनशील जगत में प्रगतिशील शिक्षा व शैक्षिक विचार-धारा सफल हो सकती है परन्तु स्पेन्सर की विचार-धारा-प्रगतिशीलता का नहीं उसके विचारों की संकीर्णता की झलक देती है।

मानव जीवन में विज्ञान की शिक्षा आलोक के साथ कितना अन्धकार ला सकती है यह विगत वर्षों व आज की वैज्ञानिक प्रगति ने स्पष्ट कर दिया है। हमने विज्ञान के आधार पर हवा में उड़ना और पानी के अन्दर चलना सीख लिया है परन्तु पृथ्वी पर शान्तिपूर्वक रहना नहीं सीख पाया है। हमारी आज की समस्या वैज्ञानिक दृष्टि से हल नहीं हो सकती और न वह वैज्ञानिक है ही। हमारी समस्या तो सामाजिक है कि हमने न्याय, संयम, स्वार्थ रहित भावना, प्रेम व सहयोग के साथ रहना नहीं सीखा।[1] अगर स्पेन्सर आज जीवित होता तो शायद वह अपने विज्ञान का तथा उपयोगितावाद (utilitarianism) का इतना समर्थन नहीं करता जबकि वह

---

[1] The Damoclean menace of our age is not technological but social. Freedom and security in this century have been threatened by no aspect of nature but simply by man's collective failure to establish human civilization upon the enduring basis of universal justice and hence of plenty and peace for all."

Olsen Edward G : School and Community, p. 27.

इनके उग्ररूप के फलस्वरूप उत्पन्न हुए ईर्षा, प्रतिद्वन्द्विता, स्वार्थ दम्भ व पारस्परिक घृणा के वातावरण का वीभत्स रूप देखता ।

स्पेन्सर के अनुशासन सम्बन्धी विचारों में प्राकृतिक परिणामों के सिद्धान्त को भी समर्थन प्राप्त नहीं हैं यद्यपि स्पेन्सर अनुशासन में दण्ड को प्राथमिकता नहीं देता ।

(2) टौमस एच० हक्स्ले (Thomas H. Huxley) **(1825-1895)**

शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति के समर्थकों में टी एच. हक्स्ले का नाम भी आता है यद्यपि वह शिक्षक नहीं था और न शिक्षा के सम्बन्ध में उसने अधिक व विस्तार में लिखा है । परन्तु उसके शिक्षा सम्बन्धी विचार उसके लेखों में मिलते हैं । उसने अपने एक भाषण में उदार शिक्षा के सम्बन्ध में विचार प्रगट करते हुए कहा कि "उस व्यक्ति को मैं उदार शिक्षा प्राप्त किया हुआ मानता हूँ जिसका शरीर जिसकी इच्छा का आज्ञानुकारी है और जो सब कार्य को मशीन की तरह सरलता व आनन्दपूर्वक करता है, जिसकी बुद्धि स्पष्ट है और एक इन्जन की भाँति जिसके सब अंग समान शक्ति से कार्य करते हैं और जो एक भाप के इन्जन की भाँति किसी भी कार्य के करने से प्रयोग में लाई जा सकती है·····जिसके मस्तिष्क में प्रकृति के महत्वपूर्ण तथा मौलिक सत्य भरे हुए हैं ···· जिसने प्रकृति और कला दोनों के सौन्दर्य से प्रेम करना सीखा है·····ऐसा व्यक्ति ही उदार शिक्षा को प्राप्त किए हुए है क्योंकि उसकी प्रवृत्ति में प्रकृति के साथ साम्य है ।"

प्रचलित शिक्षालयों के पाठ्यक्रम को हक्स्ले ने बेवकूफी से भरा हुआ बतलाया (Stock example of solid stupedity) उसने तत्कालीन शिक्षालयों के पाठ्यक्रमों की घोर आलोचना की और कहा कि अँग्रेजी जाति जो इतनी परिश्रमशील है और इतिहास में जिसका इतना स्थान है अपनी शक्ति व धन को शिक्षा में उचित रूप में नहीं लगा रही । प्राचीन साहित्य के अध्ययन की उसने घोर आलोचना की और कहा कि उनसे कोई लाभदायक बातें प्राप्त नहीं हो सकती । स्कूल में समय इनके अध्यापन में व्यर्थ में बिताया जाता है और अँग्रेजी जनता अपने बच्चों को उपयोगी ज्ञान से वंचित रख रही है । उपयोगी ज्ञान विज्ञान है और अफसोस है कि उसको शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है ।

हर्बर्ट स्पेन्सर व हक्स्ले आदि का प्रभाव—शिक्षालयों में विज्ञान को उचित स्थान मिलना—उन्नीसवीं शताब्दी की शिक्षा की प्रगति की विशेषता विज्ञान के पढ़ने पढ़ाने में लोगों की बढ़ती हुई रुचि है । यद्यपि फ्रांसीसी बेकन ने जब से अपनी नवीन पद्धति की व्याख्या की भी, तभी से वैज्ञानिक प्रवृत्ति को प्रेरणा मिलती चली आ रही थी परन्तु अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से विज्ञान में लोगों की रुचि बढ़ने लगी और 19वीं शताब्दी में विज्ञान के पढ़ाने पर स्कूल और कॉलिजों में काफी बल दिया जाने लगा । यूरोप के सभी देशों, प्रमुखतया फ्रांस, जर्मनी, और इग्लैंड तथा अमेरिका में विज्ञान के शिक्षण को प्रमुखता दी जाने लगी । वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने पाठ्यक्रम के पुनर्निर्माण में ही अपना प्रभाव नहीं दिखलाया परन्तु शिक्षा को एक वैज्ञानिक ढंग पर

व्यवस्था करने में और उसको पूर्णरूप में संशोधित करने में अपना प्रभाव दिखाया। आज शिक्षा सम्बन्धी हमारे दृष्टिकोण वैज्ञानिक मापदण्ड के द्वारा ही तौले जाते हैं और अपनी प्रत्येक विचार-धारा व तर्क के लिए हम वैज्ञानिक आधार ढूँढ़ते हैं। हमारी मनोवृत्ति वैज्ञानिक हो गई है और कोई विचार जो उस मापदण्ड पर नहीं उतरता हमें विश्वास नहीं दिलाता। हमारा जीवन का पूरा ढंग वैज्ञानिक है, अपने अचारा-विचार, रहन-सहन, रस्मरिवास, उठने-बैठने, सोचने, काम करने—सभी में हम वैज्ञानिक ढंग को देखना चाहते हैं और उसी को विश्वसनीय और उचित मानते हैं। यह वैज्ञानिक शिक्षा और विज्ञान की उन्नति का प्रभाव है और हम समझ सकते हैं कि इस दृष्टि से हमारे जीवन पर हर्बर्ट स्पेन्सर, हक्स्ले, ईलियर आदि वैज्ञानिक विचार-धारा के समर्थकों का कितना प्रभाव है और उनकी हमारे लिए क्या देन है।

सारांश

उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति और उनका जीवन पर प्रभाव, जिसके फलस्वरूप लोगों की विज्ञान के शिक्षण में रुचि उत्पन्न हुई और परम्परागत पाठ्यक्रम में जिसमें प्राचीन यूनानी और लैटिन साहित्य के अध्ययन पर जोर था श्रद्धा घटने लगी। विज्ञान के शिक्षण, पाठ्यक्रम में उसका महत्व, शिक्षण पद्धतियों में संशोधन, मनोविज्ञान के आधार पर उनका निर्माण, प्रकृतिवादी दृष्टिकोण की विजय ये इस वैज्ञानिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ थीं।

हर्बर्ट स्पेन्सर इसका प्रमुख समर्थक था। उसने तत्कालीन शिक्षा की आलोचना की और वैज्ञानिक प्रवृत्ति की लहर को आगे बढ़ाया। उसने सम्पूर्ण जीवन के लिए तैयार करने को शिक्षा का उद्देश्य बताया और पाँच प्रकार की क्रियाओं की व्याख्या करके उनकी प्राथमिकता के आधार पर निम्न प्रकार से रक्खा :

(1) वे क्रियाएँ जो प्रत्यक्ष रूप में शरीर रक्षा के लिए आवश्यक हैं।

(2) वे क्रियाएँ जो परोक्ष ,, ,, ,, ,,

(3) वे क्रियाएँ जिनका सम्बन्ध वंश वृद्धि व सन्तान के लालन पालन से है

(4) वे क्रियाएँ जिनका सम्बन्ध सामाजिक व राजनैतिक सम्बन्धों को निभाने से है।

इन क्रियाओं के लिए उसने उसी क्रम में विषयों को रक्खा जिनसे इनका सफलतापूर्वक सम्पादन सम्भव है। साहित्य, कला, राज्य, वगैरः पांचवें स्थान पर आए और विज्ञान पहले स्थान पर। स्पेन्सर विषयों के मूल्यों का खण्डन नहीं करता और सब विषयों की उपयोगिता को स्वीकार करता है परन्तु उनकी प्राथमिकता को निर्धारित कर उनका तुलनात्मक मूल्य बतलाता है।

अनुशासन के सम्बन्ध में वह प्राकृतिक परिणामों के सिद्धान्तों को मान्यता देता है और आवश्यकतानुसार दण्ड व्यवस्था होने पर भी अनुशासन के लिए प्रेम, सहानुभूतिपूर्ण बर्ताव व स्वतन्त्रता की आधारभूत आवश्यकता मानता है। शरीर रक्षा के लिए संतुलित भोजन व व्यायाम पर जोर देता है।

स्पेन्सर शिक्षण के सिद्धान्तों की व्याख्या भी करता है। वे सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक हैं और उसके पहले और बाद के तथा आधुनिक—सभी शिक्षा-शास्त्रियों ने उनकी व्याख्या की है और उन्हें मान्यता दी है। सरल से कठिन की ओर, ज्ञात से अज्ञात की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर—आदि लोक-प्रिय सिद्धान्त आज सभी शिक्षकों के गुरु-मन्त्र बन गए हैं।

हर्बर्ट स्पेन्सर का विज्ञान पर अधिक बल देकर सांस्कृतिक पक्ष के मूल्य को कम करना तथा उपयोगिता के सिद्धान्त पर आवश्यकता से अधिक बल देना—इन दो दृष्टिकोणों की आलोचना होती है।

टॉमस हक्स्ले ने भी विज्ञान के शिक्षण के लिए काफी जोर दिया और प्राचीन साहित्य की शिक्षा का खण्डन कर ब्रिटिश जनता का विज्ञान के शिक्षण की ओर ध्यान आकर्षित किया।

उन्नीसवीं शताब्दी की यह वैज्ञानिक प्रवृत्ति की लहर बराबर जोर पकड़ती गई। आज विज्ञान का पाठ्यक्रम में ही बोलबाला नहीं बल्कि लोगों की पूरी मनोवृत्ति वैज्ञानिक हो गई है और हम अपने विचारों, रहने सहने के ढंगों, व्यवहारों, तर्कों, आदर्शों आदि सबको वैज्ञानिक आधार देना चाहते हैं। वैज्ञानिक ढंग जीवन का प्रमुख ढंग बन गया है और इसका श्रेय उन सबको है जिन्होंने इसके विकास में योग दिया।

११

शिक्षा में प्रवृत्तियाँ–(३) सामाजिकतावादी प्रवृत्ति

हम शिक्षा के अर्थ व क्षेत्र की व्याख्या करते समय इस बात पर प्रकाश डाल चुके हैं कि व्यापक रूप में शिक्षा जीवन से सम्बन्ध रखती है और जीवन भर चलती रहती है। जहाँ कहीं मानव अपने से वाह्य जगत् के सम्पर्क में आता है, चाहे वह प्राकृतिक जगत् हो अथवा सामाजिक वातारण, मानव के अनुभवों में वृद्धि होती है और वह इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करता जाता है। शिक्षा जीवन की प्रमुख आवश्यकता है और उसके बिना मानव-जीवन-धारा की संवाहिकता सम्भव नहीं। इस विषय पर हम काफी विचार कर चुके हैं। अस्तु।

हम यह भी विचार कर चुके हैं कि प्रत्येक युग की शिक्षा उस युग की सामान्य विचार-धारा, उसके आदर्श, विश्वास, मनोवृत्ति व उसके व्यवहार-माप-दण्डों से प्रभावित होती है। शिक्षा एक सामाजिक क्रिया है जिसको समाज ने अपने को जीवित रखने के लिए साधन बनाया है। शिक्षा के द्वारा ही समाज उन सब आदर्शों, संस्कृतियों, आशाओं व विश्वासों आदि को पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलाता रहता है और इस प्रकार सामाजिक जीवन व समाज ज्ञान-कोष की वृद्धि होती रहती है।

तीसरी बात हम यह भी कह चुके हैं कि शिक्षा समाज के मूल्यों की रक्षा करने का अस्त्र है। जिस प्रकार का समाज है, जो उसका ढाँचा है, और उसका जो लक्ष्य है उसकी रक्षा व पूर्ति शिक्षा के द्वारा ही होती है। हमारी जैसी सामाजिक व्यवस्था होगी वैसी ही हमारी शिक्षा होगी। शिक्षा-संस्थाएँ सामाजिक संस्थाएँ हैं और उनका स्वरूप सामाजिक स्वरूप से अपना आदर्श लेता है और वह उसी का अंग होता है।

इस प्रकार के विचार हमें शिक्षा में सामाजिकतावाद (Sociological tendency) का आभास देते हैं और हम शिक्षा को व्यक्तिगत हित की दृष्टि से ही नहीं देखते परन्तु समाज के हित की दृष्टि से भी देखते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर व सुविधाएँ प्रदान करना है परन्तु उस विकास का कोई मूल्य नहीं जब तक व्यक्ति अपने हित का

समाज के हित के साथ समन्वय न करे और अपने हित के साथ-साथ समाज के हित में भी योग दे सके। इस विषय पर भी हम पिछले अध्याओं में स्थान-स्थान पर काफी प्रकाश डाल चुके हैं। यद्यपि ऐतिहासक दृष्टि से व्यक्तिगत तथा समाजगत हितों में समय-समय पर परिस्थितियों के वश संघर्ष भी रहा है और कभी व्यक्तिगत हित को कभी समाज-हित को ऊँचा रक्खा गया है; परन्तु आधुनिक काल में दोनों का समन्वय ही शिक्षा का उद्देश्य व उसका संतुलित रूप माना गया है। जिस प्रकार व्यक्तिगत हित का दृष्टिकोण समाज के हित के मूल्य की रक्षा करता है और उसका विरोधी नहीं है उसी प्रकार सामाजिक हित का उद्देश्य व्यक्ति के हितों का बलिदान नहीं करता बल्कि उसके हितों की रक्षा करता हुआ अपने हित की रक्षा करता है। समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों का अध्ययन ही समाज शास्त्र (Sociology) है और समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों का शिक्षा के संगठन में स्वीकार किया जाना शिक्षा में सामाजिकतावादी प्रवृत्ति (Sociological tendencies in education) की सूचक है।

सामाजिकतावादी भावना का उत्कर्ष

वैसे तो सामजिकतावादी भावना की उत्पत्ति समाज की उत्पत्ति से ही बँधी हुई है। जब समाज की उत्पत्ति हो गई तो वह इस बात की सूचक भी हुई कि मानव में सामाजिक भावना उद्भूत हो गई। अतः सामाजिकतावादी विचार शिक्षा में प्रारम्भ से ही स्थान प्राप्त किए रहा है और आदिम निवासियों की शिक्षा में भी हमें सामाजिकतावादी भावना स्पष्ट दिखाई पड़ती है जबकि वे अपने बच्चों को समाज की क्रियाओं में भाग लेने के लिए तैयार करते हैं, और उस प्रकार की शिक्षा उनको देते हैं। बल्कि यथार्थ बात तो यह है कि आदिमनिवासियों की समाज में शिक्षा के सामाजिक रूप पर जितना बल है उतना उसके व्यक्तिगत रूप पर नहीं। इन समुदायों में व्यक्ति को समाज के आदर्शों के नीचे रक्खा गया है और सामूहिक उद्देश्यों और जीवन को अधिक महत्व दिया गया है। परन्तु इस प्रकार के संगठन शिक्षा के संतुलित रूप को प्रस्तुत नहीं करते वे, व्यक्ति और समाज, इन दोनों सिरों में दूसरे सिरे को भारी कर देते हैं। किसी-किसी समाज में व्यक्ति को प्रधानता दी गई है और इसका ज्वलन्त उदाहरण प्राचीन यूनान का एथेन्स का राज्य है जहाँ पर सोफिस्ट दार्शनिकों के व्यक्तिगत हित को बहुत ऊँचा माना। उसके विपरीत उसी काल में स्पार्टा में सामाजिक हित को ऊँचा रक्खा गया। मध्यकालीन युग में चर्च और राज्य दोनों में व्यक्ति को दबाकर रक्खा गया परन्तु फ्रांस की राज्य क्रांति व रूसो की आवाज ने फिर व्यक्ति को ऊँचा उठाया। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति व समाज को पूर्ण रूप में न समझने के कारण तथा उनके सम्बन्धों की सम्यक् व्याख्या की अनुपस्थिति में दोनों के सम्बन्धों का संतुलन ठीक नहीं रहा है। आधुनिक काल में इस संतुलन को ठीक रखने पर बहुत बल है और इसका कारण समाजशास्त्र का अध्ययन और उसकी व्याख्या है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों के प्रति हमारा एक संतुलित

दृष्टिकोण बन गया है। इस समाज-शास्त्र के अध्ययन का सूत्रपात तथा समाजिकतावाद के आधुनिक रूप की ओर प्रगति का प्रारम्भ रूसो के समय से ही हो गया और 19वीं शताब्दी में जिस प्रकार ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में वृद्धि हुई उसी प्रकार समाज-शास्त्र के अध्ययन में भी काफी प्रगति हुई। वैसे समाज शास्त्र को आधुनिक रूप की ओर बढ़ाने और उसको एक नया शास्त्र बनाने का श्रेय आगस्टस कॉम्टे (Augustus Comte) को है जिसने समाज शास्त्र का वैज्ञानिक ढंग पर अध्ययन किया और उसको समाज के विभिन्न अंगों के वैज्ञानिक अध्ययन का विषय कहा।

रूसो ने अपनी प्रकृतिवाद की व्याख्या में व्यक्ति के हितों और उसके अधिकारों की रक्षा का बहुत समर्थन किया परन्तु, यद्यपि उसने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का खण्डन किया, उसने समाज के मूल्य को नहीं घटाया। उसकी आलोचना का पात्र तत्कालीन व्यवस्था थी न कि समाज का अस्तित्व। एमील को वह प्रकृति के जगत में सन्यासी की तरह नहीं रखना चाहता था बल्कि एक अच्छी समाज का सदस्य बन कर सुन्दर ढंग से रहना सिखाना चाहता था। उसने प्रकृति के अनुकूल न कि विकृति के मार्ग पर चलते हुए समाज की कल्पना की और समाज को व्यक्ति के जीवन का प्रमुख आधार बतलाया। वह समाज को सुधारना चाहता न कि उसको नष्ट करना। उसके विचारों से स्फूर्ति पाने वाली मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के प्रमुख समर्थक पेस्टालॉजी तथा फ्रोवेल ने भी शिक्षा के सामजिकतावादी रूप को महत्व दिया और व्यक्ति को समाज का अंग स्वीकार करते हुए व्यक्ति की शिक्षा द्वारा समाज को दृढ़ बनाना शिक्षा का मूल्य स्वीकार किया। उन्नीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक प्रगति ने सामाजिकतावाद को बहुत ही अधिक बल दिया। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण लोग एक दूसरे के अधिक समीप आ गए। देशों और राष्ट्रों के बीच की दीवारें गिरने लगीं, जीवन का ढंग बदलने लगा, व्यक्तियों का एक दूसरे पर निर्भर रहना अधिक सम्भव हो गया और राष्ट्रों में राष्ट्रीयता की भावना जागृत हुई। ऐसी अवस्था में समाज-शास्त्र के अध्ययन जिसके द्वारा व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों की व्याख्या हो और जिसके आधार पर कलह, प्रतिद्विन्द्विता, स्वार्थ का नाश होकर प्रेम, सहयोग, सहिष्णुता, सौहार्द की भावना का संचार हो, की आवश्यकता बढ़ती गई और समाज शास्त्र के अध्ययन में प्रगति होती गई। शिक्षा पर इस नवीन ज्ञान की प्रगति का क्या प्रभाव पड़ा, यह हम नीचे की पंक्तियों में स्पष्ट करते हैं।

(1) सामाजिकतावाद की दृष्टि से शिक्षा का कार्य व्यक्ति को सफलतापूर्वक सामजिक जीवन में भाग लेने की क्षमता प्रदान करना है। शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या करते समय हम सामाजिकतावादी दृष्टिकोण से शिक्षा के क्या उद्देश्य हैं, इनकी व्याख्या कर चुके हैं। संक्षेप में कुछ सम्मतियों को हम यहीं पुनः दुहराना चाहते हैं।

(i) 'शिक्षा विस्तृत ज्ञान का व्यापक वितरण है।'[1]

(ii) "शिक्षा प्राप्त व्यवहारों, क्रियाओं और प्रवृत्तियों के इस प्रकार के संगठन से सम्बन्ध रखती है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने भौतिक व सामाजिक वातावरण में सफलतापूर्वक अपना स्थान तो ले लेता है।"[2]

(iii) "किसी व्यक्ति को शिक्षा देने का मतलब यह है कि उसकी वातावरण के उन तत्वों के साथ अनुकूलिता स्थापित की जाय जो आधुनिक जीवन में प्रधान है और उसकी शक्तियों से इस प्रकार विकसित किया जाय व उनकी शिक्षा दी जाय कि वह उनका कुशल और उचित उपयोग कर सकें।"[3]

(iv) "शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक दृष्टि से कुशल व्यक्ति बनाना है।" इसके तीन रूप हैं, प्रथम, आर्थिक क्षमता जिससे वह आर्थिक जीवन में अपना भार वहन कर सके; द्वितीय, नकारात्मक नैतिकता जिसका अर्थ है उसकी अपने हितों को बलिदान करने की प्रवृत्ति, यदि उसके हितों की पूर्ति से दूसरों की आर्थिक क्षमता अवरुद्ध होती है; और तृतीय सकारात्मक नैतिकता, जिसका अर्थ है अपनी इच्छाओं का बलिदान, यदि वे प्रत्यक्ष का परोक्ष रूप में सामाजिक प्रगति में कुछ योग नहीं देती हैं।"[4]

इन उच्चारणों के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सामाजिकतावादी दृष्टिकोण में सामाजिक कुशलता की प्रधानता दी गई है और सामाजिक कुशलता ही शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य है। लोग चरित्र निर्माण को शिक्षा का उद्देश्य बतलाते हैं, परन्तु सामाजिकतावादी कहते हैं कि चरित्र एक सामाजिक कार्य करने के लिए संगठित शक्ति का ही नाम है। अन्यथा उसका कोई महत्व नहीं है।

---

1 Education means the universal distribution of extant knowledge. —*Lester F. Ward*

2 Education is the organisation of acquired habits of conduct or action and tendencies of dehaviour such as will fit the individual to his physical and sociale nvironment. —*William James*

3 To educate a man means to adjust him to those elements of his environment that are of concern in modern life, and to develop, organise, and train his powers so that he may make efficient and proper use of them. —*W. E. Ruediger*

4 "The development of socially efficiency individual is the ultimate aim of education : (a) economic efficiency, or ability' to pull his own weight' in economic life, (b) negative morality or willingness to sacrifice his own desires when their gratification would interfere with the economic efficiency of others; (c) positive morality, or the willingness to sacrifice his own desires when their gratification would not contribute directly or indirectly to social progress." —*William Bagley*

(2) मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति बालक के विकास के सिद्धान्तों के अध्ययन, उसकी रुचियों व शक्तियों के अध्ययन, उसकी संवेदनाओं के अध्ययन आदि पर जोर देती है तो सामाजिकतावादी प्रवृत्ति समाज के विकास, आदर्शों, विश्वासों आदि पर जोर देती है, और जब मनोवैज्ञानिक विचार-धारा शिक्षण विधि पर बल देती है, तब सामाजिकतावादी विचारधारा पाठ्यक्रम, सामाजिक माँगों, सामाजिक जीवन की अतिवृद्धि आदि पर बल देती है। आधुनिक काल में दोनों विचार-धाराओं का शिक्षा में पूर्ण सन्तुलन है और पाठ्यक्रम व स्कूलों के कार्य व उद्देश्य को सामाजिक दृष्टिकोण की तराजू पर तौल कर उसको बालक तक पहुँचाने के लिए जो पद्धतियाँ अपनाई जा रही हैं उनका आधार मनोवैज्ञानिक है।

(3) मनोवैज्ञानिक और सामाजिकतावादी प्रवृत्तियों में विरोध नहीं है। बल्कि वे एक दूसरे की पूरक हैं और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के समर्थकों में सामाजिकतावादी भावना और सामाजिकतावादी विचारकों की मनोवैज्ञानिक विचारधारा में श्रद्धा स्पष्ट है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी दोनों में सहयोग ही रहा है। हम यह कह भी चुके हैं कि पेस्टालॉजी, हरबार्ट, रूसो फ्रोबेल आदि सभी शिक्षा विचारक सामाजिकतावादी भावना से विमुख न थे।

(4) सामाजिकतावादी भावना आज पाठ्यक्रम के विस्तृत रूप, पाठ्यक्रम में पाठ्यक्रम-सहगामी क्रियाओं के महत्व, स्कूल और समाज के सम्बन्ध और स्कूल को समाज का प्रतिबिम्ब मानना, बालकों के सम्पूर्ण अनुभवों का महत्व, उनको सामाजिक जीवन में भाग लेने का अभ्यास—इन सब नियमों पर प्रभाव डाल रही हैं और जनतन्त्रीय विचार-धारा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर रही है।

(5) सामाजिकतावादी भावना का ही प्रभाव है कि शिक्षा के प्रगतिशील रूप पर आधुनिक काल में जोर है और शिक्षा को परिवर्तित तथा प्रगतिशील समाज के रूप के साथ अपने में परिवर्तन और प्रगति का परिचय देना है। 'कुशल नागरिकता' शिक्षा का प्रथम उद्देश्य स्वीकार उसी भावना के आधार पर किया गया है।[1]

(6) पाठ्यक्रम को सामाजिक आधार देते हुए सामाजिकतावादी प्रवृत्ति, उदार शिक्षा व व्याख्यात्मक शिक्षा का संतुलन करती है और परम्परागत उनके भेदों को भ्रमोत्पादक बताती है।

---

1 "Education becomes, though indirectly, the force modifying social institution by bringing about a better adjustment of individuals to one another. Progress is the characteristic of modern life; ability to abjust oneself quickly, and properly to new social conditions is the chief demand on education. This necessitates a knowledge of these changing conditions and an ability and willingness to bring about the readjustment. These are usually summed up under the term 'good citizenship." [*Monroe Paul* : A Text Book in the History of Education]

(7) सामाजिकतावादी विचारधारा राज्य के द्वारा शिक्षा संगठन के अधिक पक्ष में है और राज्य के ऊपर शिक्षा की बहुत जिम्मेदारी डालती है। आधुनिक काल में राज्य का शिक्षा के क्षेत्र में दायित्व स्वीकार किया जाना इस प्रवृत्ति का प्रभाव है। अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा पर यह बल देती है कि एक अच्छे समाज के लिए योग्य नागरिक तभी हो सकते हैं जब वे शिक्षित हों और सबके लिए शिक्षा अनिवार्य तभी की जा सकती है जब वह निःशुल्क हो। सर्वजन-साधारण की शिक्षा की माँग सामाजिकतावादी विचारधारा की परिणाम है।

(8) शिक्षण पद्धतियों को मनोवैज्ञानिक आधार देते हुए सामाजिकतावादी प्रवृत्ति उनकी सामाजिक व्याख्या भी करती है। शिक्षण पद्धतियाँ एक ओर बालक की योग्यताओं, रुचियों और शक्तियों के आधार पर खड़ी हों तो दूसरी ओर वे उनको सामाजिक रूप देती हों जिससे बालक अपने व्यक्तित्व के विकास के हित के भाव का बलिदान न करके शिक्षण पद्धति का आधार मनोवैज्ञानिक है परन्तु शिक्षण-क्रिया का कार्य क्षेत्र सामाजिक वातावरण है। शिक्षक और विद्यार्थी को एडम्स ने शिक्षा के अंग बतलाया था और शिक्षा को द्विमुखी क्रिया (bipolar process) कहा था परन्तु अब शिक्षा का एक तीसरा अंग भी स्वीकृत कर लिया है और वह है पाठ्यक्रम को जो शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों को उत्तेजन और कार्य करने का क्षेत्र अवश्य देता है। इस प्रकार शिक्षा अब त्रिमुखी प्रक्रिया (tripolar process) स्वीकार करली गई है। यह सामाजिकतावादी विचारधारा का प्रभाव है।

समाज शास्त्र और शिक्षा का पारस्परिक सम्बन्ध

सामाजिक दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों को वे ज्ञान, कौशल, आदतें मनोवृत्तियाँ और शारीरिक विशेषताएँ देना है जिनके द्वारा उन्हें अपने और अपनी समाज के विकास और उन्नति में योग देने की क्षमता प्राप्त हो सके। समाज के योग्य सदस्य का यही अर्थ नहीं है कि व्यक्ति निष्क्रिय बनकर समाज के आदर्शों और नियमों को स्वीकार करले बल्कि उसकी यह जिम्मेदारी है कि वह सक्रिय बनकर समाज के उत्थान में अपना योग दे। आज का मानव समाज बहुत जटिल और पेचीदा होता जा रहा है उसकी क्रियाओं का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। व्यवसायिक उन्नित और वैज्ञानिक आविष्कारों ने उसकी गति को और तेज बना दिया है। हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि भविष्य में जीवन के ढंग में क्या-क्या परिवर्तन होंगे। ऐसी परिस्थिति में समाज के रूप को स्पष्ट करना तथा बालकों को उसके ढाँचे और उसकी क्रियाओं से परिचित कराना शिक्षा की प्रथम जिम्मेदारी है। सामाजिक उन्नति समाज के सब सदस्यों की सामूहिक जिम्मेदारी है और समाज-भाव की भावना से प्रेरित होकर समाज की क्रियाओं में सक्रिय रूप में भाग लेने की क्षमता बालकों को प्रदान करना शिक्षा का कार्य है। इसीलिए शिक्षा को राज्य द्वारा संचालित होने तथा शिक्षा के लिए राज्य को अपना दायित्व स्वीकार करने पर आज बहुत जोर है। समाज-

शास्त्र की दृष्टि से शिक्षा चैतन्यशील नागरिकता के उद्देश्य को प्रधानता देती है और नागरिकों को अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का बोझ बराबर कुशलतापूर्वक समाज के उत्थान में भाग लेने की क्षमता प्रदान करती है।

समाज-शास्त्र की दृष्टि से शिक्षा व्यक्ति को ज्ञान, कौशल, अच्छी आदतें व मनोवृत्तियाँ ही नहीं देती है बल्कि वह उनको अपने ऊपर नियन्त्रण रखकर समाज को उच्छृङ्खलता के मार्ग पर जाने से रोकती है, समाज-शास्त्र स्व-अनुशासन में विश्वास करता है; और आज के जनतन्त्रीय समाज में दमनात्मक विधियों को कोई स्थान भी नहीं है। अनुशासन वह शक्ति है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी शक्तियों के दुरुपयोग को छोड़कर उनका सदुपयोग करना सीखता है और कम से अधिकाधिक लाभ उठाता है। यह शक्ति अन्दर से उत्पन्न होती है, बाहर से जमाई नहीं जाती। अतः अपने ऊपर स्वयं नियन्त्रण करना वास्तविक अनुशासन है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब व्यक्ति को उस प्रकार के वातावरण में रक्खा जाय और उस प्रकार की शिक्षा दी जाय जिसमें और जिसके द्वारा वह अपनी बुद्धि का प्रयोग करता हुआ अपनी शक्ति का सदुपयोग करे और अच्छी आदतें सीखे। सामाजिक अनुशासन व्यक्तिगत अनुशासन के मापदण्डों का सामूहिक रूप है। व्यक्तिगत अनुशासन अच्छी शिक्षा के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अतः समाज-शास्त्र की दृष्टि से शिक्षा सामाजिक अनुशासन अथवा सामाजिक नियन्त्रण का साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने ऊपर नियन्त्रण करता है और इस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण को स्वीकार करता है तथा समाज को भी उच्छृङ्खलता के मार्ग पर जाने से रोकता है।

समाजशास्त्र की दृष्टि से शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया है तथा शिक्षा के अर्थ की व्याख्या करते समय इस विषय पर काफी प्रकाश डाल चुके हैं कि किस प्रकार समाज शिक्षा द्वारा अपने आदर्शों, विश्वासों, परिपाटियों, ज्ञान, संस्कृति आदि की पीढ़ी दर पीढ़ी जीवित रखता है और उनकी वृद्धि भी करता जाता है। जो कार्य भोजन व सन्तानोत्पादन का मानव जीवन की धारा को संवाहित रखने का है वही शिक्षा का सामाजिक जीवन की धारा को संवाहित रखने का है। समाज शिक्षा द्वारा अपनी सभ्यता व संस्कृति की रक्षा करता है, और उसे आगे बढ़ाता जाता है।

अतः समाजशास्त्र की दृष्टि से शिक्षा एक प्राकृतिक क्रिया है जिसे समाज उसी रूप में स्वीकार करता है जिस रूप में वह प्रकृति के अन्य नियमों को। शिक्षा की क्रिया प्राकृतिक रूप में ही प्रारम्भ हो जाती है। पशु-पक्षी भी अपने बच्चों को शिक्षा देते हैं और इस प्रकार जीवित रहने के साधनों का उनको अभ्यास कराते हैं। मानव के लिए शिक्षा का अधिक मूल्य है। क्योंकि उसका वातावरण भौतिक ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक व सांस्कृतिक भी है। उसका जीवन भौतिकस्तर पर ही नहीं बल्कि अन्य स्तरों पर भी है इसलिए उसकी शिक्षा अधिक उन्नत और व्यवस्थित रूप में होती है, परन्तु शिक्षा समस्त प्राणियों के लिए जीवित रहने की आवश्यकता है।

समाज-शास्त्र शिक्षा को सामाजिक विकास का प्रमुख साधन मानता है। जिस प्रकार भौतिक वातावरण में प्राणी अपने अंगों का उपयोग करके अपने भौतिक वातावरण में परिवर्तन व संशोधन करता है—उदाहरणार्थ; वह घर बनाता है, वस्त्र बनाता है, यातायात के साधन बनाता है, अपनी शरीर रक्षा व अपनी सन्तान की शरीर रक्षा के लिए काम करता है और इस प्रकार अपने प्राकृतिक वातावरण में परिवर्तन करता है। उसी प्रकार मानव मस्तिष्क सांस्कृतिक वातावरण में परिवर्तन, संशोधन व अभिवृद्ध करता है; जिससे उसके बौद्धिक वातावरण की उन्नति हो और मानव मस्तिष्क को अपनी क्रियाएँ करने के लिए अनुकूल वातावरण मिल सके। शिक्षा द्वारा यह कार्य होता है। अतः शिक्षा सामाजिक विकास और उन्नति का साधन है। शिक्षा साधन है और अच्छी-शिक्षा का उद्देश्य भी है।

समाज-शास्त्र की दृष्टि में सभ्यता के विकास में सांस्कृतिक युग सिद्धान्त (Culture Epoch Theory) का मूल्य बहुत है। मानव सभ्यता के अपूर्णावस्था से लेकर आधुनिक अवस्था तक जो अभी पूर्ण नहीं है परन्तु पूर्णता की ओर अग्रसर हो रही कई स्तर आये हैं जो दोनों अवस्थाओं के मध्य की श्रेणियाँ हैं। सांस्कृतिक युग सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य भी अपने जीवन में उन सब स्तरों की पुनरावृत्ति करता है और पाशविक स्तर से चलकर मानव स्तर तक आता है। यह कार्य शिक्षा द्वारा होता है। शिक्षा उसे नीचे के स्तर से उठाकर शनैः शनैः ऊँचे स्तर पर लाती है और इस प्रकार वह युग सिद्धान्त की पुनरावृत्ति करता है।

समाज-शास्त्र और शिक्षा के सम्बन्धों की व्याख्या समाप्त करते हुए हम अन्त में यह भी कह देना चाहते हैं कि सामाजिक दृष्टि से मानव समाज का अंग है, और वह उसके बिना जीवित नहीं रह सकता। वह अपने जीवन व विकास के लिए समाज पर ही निर्भर है परन्तु समाज उसकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों को सहन नहीं कर सकता अतः उसे अपने विकास के क्रम का सामाजिक रूप देना है जिसका तात्पर्य यह है कि वह समाज के नियमों, आदर्शों, मापदण्डों को स्वीकार करे और उनका आदर करे। यदि उनमें उसे कोई त्रुटि नजर आती है तो उनमें सुधार का प्रयत्न करे न कि उनका विरोध करे। सामाजिक दृष्टिकोण मानव व समाज के हितों के समन्वय में विश्वास करता है और उसमें संघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता व विरोध के लिए स्थान नहीं है। समाज-शास्त्र व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों के समन्वय व उनके हितों के संतुलित रूप पर खड़ा है और जहाँ तक शिक्षा में उनका आदर किया जाता है तहाँ तक वह सामाजिकतावादी दृष्टिकोण की झलक देता है।

आधुनिक काल में जनतन्त्रीय विचारधारा का बोलबाला है। शिक्षा व जनतन्त्र और जनतन्त्रीय समाज के सम्बन्धों की व्याख्या हम आगे चलकर एक अलग अध्याय में करेंगे। यहाँ इतना संकेत कर देना है कि एक दृढ़ जनतन्त्रीय समाज की स्थिति के लिए जनतन्त्रीय शिक्षा की यह भी आवश्यकता है। शिक्षा जनतन्त्र का अस्त्र है और उसके बिना वह चल नहीं सकता। इसी कारण आज शिक्षा को जन-

तन्त्रीय समाज के आदर्शों के अनुकूल संगठित करने के प्रयास जारी हैं। जनतन्त्रीय समाज की रक्षा व उसको दृढ़ बनाने की प्रवृत्ति शिक्षा में सामाजिकतावादी भावना को बहुत बल दे रही है और आधुनिक शिक्षा में यह भावना स्पष्ट रूप में प्रतिबिम्बित है। आधुनिक शिक्षा की प्रवृत्तियों पर अगले अध्ययन में विचार करते समय हम इस विचार पर और अधिक प्रकाश डालेंगे।

शिक्षा में सामाजिकतावादी लहर पर संक्षिप्त ऐतिहासिक दृष्टिपात

सामाजिकतावाद केवल शिक्षा से ही सम्बन्ध नहीं रखता है बल्कि वह एक ओर व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों की व्याख्या करता है, तो दूसरी ओर समाज के सुधार के समस्त कार्य को अपने क्षेत्र में लेता है। समाज सुधार का उद्देश्य उसके प्रमुख उद्देश्यों में है। इसलिए सामाजिकतावाद को हमें शिक्षा के क्षेत्र में ही संकुचित न करना होगा। यूरोप में व्यवसायिक क्रान्ति के फलस्वरूप बड़े-बड़े कल, कारखाने आदि खुल जाने के कारण अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो गईं जिनमें आर्थिक शोषण, पूँजीवाद, छोटे बच्चों से कार्य लेना, औरतों से कार्य लेना, गन्दी बस्तियाँ, कठोर दण्ड, प्रतियोगिता, उत्पादन और वितरण का वैमनस्य आदि प्रमुख हैं। इनके कारण समाज कुरूपता का शिकार हुआ और इतिहास के विद्यार्थी भली-भाँति जानते होंगे कि किस प्रकार उन्नसवीं शताब्दी में इन कुरूपताओं को दूर करने के लिए सामाजिक सुधार आन्दोलन हुए और शनैः शनैः राज्य के नियमों द्वारा इन बीमारियों के जोर को कम किया गया। हमें इन सुधारों की व्याख्या यहाँ नहीं करनी है। केवल यह संकेत करना है कि सामाजिकतावाद ने केवल शिक्षा-सुधार तक ही अपना कार्य क्षेत्र नहीं रक्खा बल्कि समस्त समाज के उद्देश्य को लेकर अपना कदम आगे बढ़ाया। शिक्षा सुधार उनमें एक उद्देश्य था। वृहत उद्देश्य पूरी समाज का सुधार करना था। उसके साधनों में शिक्षा एक साधन थी।

शिक्षा के क्षेत्र में सुधार ने अनिवार्य शिक्षा के लिए प्रयत्न, निःशुल्क शिक्षा के लिए आयोजन, अधिक संख्या में प्रारम्भिक पाठशालाएँ खोलने के लिए प्रयास, प्रौढ़ शिक्षा, श्रम जीवियों के लिए शिक्षा व्यवस्था आदि का रूप लिया। हमारे यहाँ भारतवर्ष में आज शिक्षा के पुनर्निर्माण की योजना में इन सबकी ओर ध्यान आकर्षित हुआ है और हमारे संविधान में भी 14 वर्ष तक के बालक और बालिकाओं के लिए अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था की आयोजना है। सरकार प्रौढ़शिक्षा के लिए भी कदम उठा रही है तथा विभिन्न प्रकार की संस्थाएँ श्रमजीवियों के लिए खोल रही हैं।

स्त्री शिक्षा के लिए प्रयास जारी है। कई प्रकार के टेकनीकल, कामर्शियल तथा कृषि-विद्यालय भी खोले जा रहे हैं। यह सब इसलिए है कि एक जनतन्त्रीय समाज को दृढ़ बनाने से लिए शिक्षा की आवश्यकता है और शिक्षा की जब तक समाज के सभी सदस्यों के व्यवस्था न की गई तब तक समाज दृढ़ता प्राप्त न कर सकेगा। यह शिक्षा में सामाजिकतावाद की परिचायक है।

प्रारम्भ से ही सामाजिकतावाद ने दो रूप लिए और आज उन्हीं का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो रहा है। एक ओर शिक्षा का सुधार और दूसरी ओर सामाजिक बुराइयों को दूर करना और इस प्रकार समाज को सुधारना। शिक्षा दूसरे रूप में भी प्रमुख सहायक है। पेस्टालॉजी की शैक्षिक विचारधारा की व्याख्या करते समय हम कह चुके हैं कि किस प्रकार वह शिक्षा द्वारा समाज का सुधार करना चाहता था। रूसो और पेस्टालॉजी से प्रेरणा सबसे पहले जर्मनी में बेसडौ (Basedow) ने सन् 1771 ई० में फिलैन्थीपीनम (Philanthropinum) अर्थात् लोक हित-शिक्षालय की स्थापना जिसको देखने के लिए अनेक लोग आए और जो शिक्षालय लोक-हित शिक्षा आन्दोलन का प्रतीक बन गया। धीरे-धीरे इस प्रकार के अनेक स्कूल खुलने प्रारम्भ हो गए और लोगों ने अपने साधनों को इकट्ठा कर 'चेरिटी स्कूल' (Charity School) खोलना प्रारम्भ कर दिया। इन स्कूलों को राज्य की ओर से सहायता मिलना भी प्रारम्भ हो गया। जर्मनी के बाद अन्य देशों—फ्रॉन्स तथा अमेरिका में भी इस भावना से प्रेरित हो कर व्यक्तिगत (private) स्कूलों की स्थापना होना शुरू हो गया और इस प्रकार यह आन्दोलन बढ़ता ही गया। सन् 1797 में डा० एन्ड्रयूवेल तथा जासिफ कास्टर ने मानीटीरियल प्रणाली (Monitorial system) की स्थापना की जिसके अनुसार ऐसे स्कूलों को प्रोत्साहन मिला जिनमें बड़े विद्यार्थी छोटे विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। इग्लैंड में रौवर्ट ऑवन (Rovert Owen) ने कला कारखानों में काम करने वाले बालकों के जीवन में सुधार के लिए जो आन्दोलन चलाया उसका महत्व इतिहास के विद्यार्थी भली-भाँनि जानते होंगे। उसी के प्रयासों के फलस्वरूप इग्लैंड की पार्लियामेंट को समय-समय पर कई फैक्टरी अधिनियम (Factory Acts) बनाने पड़े जिनसे बालकों के जीवन में सुधार हुआ। इसी शताब्दी में राज्य शिक्षा के सम्बन्ध में अपना दायित्व समझने और उसको निभाने के प्रति आमुख हुआ और धीरे-धीरे राज्य ने अपने ऊपर इसकी जिम्मेदारी लेना प्रारम्भ कर दिया। राष्ट्रीय स्कूल-प्रणाली (National system of education) इसी आन्दोलन का प्रभाव है।

सारांश यह है शिक्षा सामाजिकतावाद की लहर ने एक विशाल रूप धारण कर व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों की व्याख्या ही नहीं की बल्कि यह भी स्पष्ट किया कि किस प्रकार व्यक्ति अपनी उन्नति कर सकता है और किस प्रकार समाज और किस प्रकार एक हित दूसरे के हित से बँधा हुआ है। सामाजिकतावाद अपने उद्देश्य की पूर्ति में शिक्षा को सामाजिक महत्व देकर उसे व्यक्ति और समाज के कल्याण का प्रमुख साधन मानता है तथा उसे उपयोगी साधन बनाने के लिए उसको सामाजिक रूप देने पर बल देता है।

हमारा भारतीय समाज और शिक्षा से आशाएँ : शिक्षा को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी बनाने के लिए हमारे देश में बड़े प्रयत्न किए जा रहे हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले तो हमारी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यही है कि शिक्षा प्राप्त करके

युवक सरकारी व अन्य नौकरियों में प्रवेश पा सकें। अब उद्देश्य भिन्न हैं और पिछले एक अध्याय में हम इस पर विचार भी कर चुके हैं। हमारी शिक्षा को अब हमें व्यक्तिगत विकास में सहायता देनी है तथा हमें उस योग्य बनाना है कि हम अपने जनतन्त्रीय समाज को दृढ़ बना सकें। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी सामाजिक व्यवस्था को समझें—उसकी परम्पराएँ, संस्कृति, व्यवहार, परिपाटियाँ, साहित्य, संस्कार आदि को देखें और यह जानें कि किस प्रकार वे बालक के व्यक्तित्व पर अपना प्रभाव डालते हैं। हम यह भी देखें कि हमारी व्यवस्था की क्या-क्या कमजोरियाँ है। शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या करते समय हम अपनी सामाजिक व्यवस्था की कुछ कमजोरियों की ओर इशारा कर चुके हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि परम्परागत व्यवस्था अथवा परिपाटियाँ अथवा रस्मरिवाज आदि को समाप्त करके आधुनिक युग की नवीन व्यवस्था को पूर्ण रूप में अपनाया जाय। आवश्यकता इस बात की है कि हम यह देखें कि हमारी व्यवस्था में परम्परा का कितना स्थान है और आधुनिकता का कितना। यही आज के शिक्षित युवक की समस्या है और वह इसको तभी हल कर सकता है जब शिक्षा में परम्परा एवं आधुनिक का संयत समन्वय हो।

शिक्षा समाज को पुष्ट करती है परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि वह पौष्टिक हो। शिक्षा पौष्टिक तभी हो सकती है जब वह समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उनकी पूर्ति करे। जिस प्रकार पौष्टिक भोजन वही कहलाता है जो शरीर की आवश्यकता के अनुकूल हो उसी प्रकार अच्छी शिक्षा वही है जो समाज की एवं व्यक्ति की आवश्यकताओं के अनुकूल हो। यही विचारधारा आज जोर पकड़ रही है और इसका मुख्य कारण सामाजिक व्यवस्था में जनतन्त्रीय एवं वैज्ञानिक विचारधाराओं का जोर है। इस सम्बन्ध में विद्यालयों तथा शिक्षाओं के ऊपर क्या जिम्मेदारियाँ हैं, इस पर हम आगे चलकर एक अध्याय में (अध्याय—शिक्षा एवं सामाजिक व्यवस्था) विचार करेंगे।

सारांश

व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या तथा दोनों के हितों का संतुलन करना समाजशास्त्र का विषय है और आधुनिक शिक्षा पर उसका बहुत प्रभाव है।

समाज-शास्त्र की उन्नति सभ्यता के विकास के साथ-साथ हुई; परन्तु 18वीं शताब्दी से वैज्ञानिक आविष्कारों की प्रचुरता तथा 19वीं शताब्दी के विज्ञान के चमत्कार आविष्कारों और नई खोजों व व्यवसायों की वृद्धि के कारण जीवन का ढंग बदलने लगा और सामाजिक क्षेत्र में नए रूपों के साथ नई-नई समस्याएँ उत्पन्न होने लगीं। समाज को सुधारने और उसको बदलती हुई दुनिया में दृढ़ स्थान देने के हेतु समाज को सुधारकों ने आन्दोलन चलाए। शिक्षा को समाज को मजबूत बनाने का साधन स्वीकार किया गया और उसमें सुधार का आन्दोलन तेजी से बढ़ा।

समाज-शास्त्र के अनुसार शिक्षा का ध्येय व्यक्ति को कुशल नागरिक बनाना है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति वे गुण, आदतें, कौशल आदि प्राप्त करता है जिनसे वह समाज का योग्य सदस्य बनता है। शिक्षा सामाजिक नियन्त्रण भी है और समाज के विकास का साधन है। शिक्षा के द्वारा ही समाज जीवित रहता है और उसी के द्वारा उसे भोजन व शक्ति प्राप्त होती है।

सामाजिकतावाद के अंकुर रूसो, पेस्टालॉजी, फ्रोबेल आदि विचारकों की विचारधारा में पाये जाते हैं।

सामाजिकतावाद की आधुनिक शिक्षा में पाठ्यक्रम को विस्तृत रूप देने पाठ्य-क्रमातिरिक्त क्रियाओं को महत्व देने, स्कूल को समाज का लघु रूप देने तथा शिक्षा के उद्देश्य को कुशल नागरिकता का रूप देने में छाप पड़ी है। आधुनिक शिक्षा समाज की व्यवस्था को दृढ़ बनाकर व्यक्ति को और व्यक्ति को अपने विकास के लिए समुचित अवसर देकर समाज को मजबूत बनाने का लक्ष्य रखती है। एक का हित दूसरे से बँधा हुआ है। यह शिक्षा में सामाजिकता का प्रभाव है।

सामाजिकतावाद की दृष्टि से शिक्षा की कई परिभाषाएँ की गई हैं। परन्तु सबका सारांश कुशल नागरिकता है। आज जनतन्त्र के युग में कुशल नागरिक बनाकर शिक्षा जनतन्त्र की नींव को दृढ़ करती है। हमारे क्षेत्र में भी शिक्षा के पुनर्निर्माण का प्रयत्न इसी उद्देश्य को लेकर चल रहा है।

सामाजिकतावाद शिक्षा सुधार से ही नहीं बल्कि समस्त समाज के सुधार से सम्बन्ध रखता है। प्रारम्भ में जर्मनी में लोक-हित-शिक्षा का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ परन्तु फिर उसने विशाल रूप धारण कर लिया और यूरोप के सभी देशों तथा अमेरिका में शिक्षा प्रसार तथा समाज हित के आन्दोलन शुरू हो गए। यूरोप की व्यावसायिक क्रान्ति ने जो आगे चलकर सामाजिक समस्याएँ पैदा कर दीं उनको दूर करने का आन्दोलन भी उसी सामाजिकतावाद लहर का एक अंग था। सामाजिकता-वाद शिक्षा तथा समाज सुधार द्वारा समाज को दृढ़ बनाकर उसे इतना शक्ति बना देना चाहता है कि वह अपने सदस्यों का हित कर सके और अपना विकास करता जाय।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा को सामाजिक दृष्टि से प्रबल बनाने के लिए काफी प्रयत्न किए गए हैं और वे अब भी जारी हैं। अपनी शिक्षा को जनतन्त्रीय व्यवस्था के अनुकूल बनाने की हमारी विशेष जिम्मेदारी है।

१२

शिक्षा में प्रवृत्तियाँ–(४) बहुबिम्बवादी प्रकृति या समाहारक प्रवृति

पिछले अध्याय के भिन्न-भिन्न शिक्षा के दर्शनों और प्रवृत्तियों की व्याख्या की गई है तथा कई शिक्षा-शास्त्रियों की विचार-धारा का विश्लेषण किया गया है। इतने विचारों और सिद्धान्तों को लेकर यदि हम प्रत्येक का अपने व्यवहार में आचरण लाने का प्रयत्न करें और आधुनिक शिक्षा को उनके आधार पर निर्मित करना चाहें तो शायद हम किसी भी प्रकार आगे नहीं बढ़ सकेंगे। हमें पग-पग पर उनके पारस्परिक विरोधी तत्वों का सामना करना पड़ेगा और हमारे लिए निश्चित कदम उठाना कठिन हो जावेगा। उदाहरणार्थ, हमारे सामने शिक्षा के अनेक आदर्श ऐतिहासिक दृष्टि से मौजूद हैं—प्राचीन भारतीय शिक्षा का आदर्श, प्रारम्भिक ईसाई धर्म का परलोक का आदर्श, विद्वद्वादी युग का आदर्श, मध्यकालीन शिक्षा का आदर्श, रूसो का आदर्श, वाल्टेयर का आदर्श, सांस्कृतिक पुनरुत्थान का आदर्श, यथार्थवादी आदर्श, आदर्शवादी आदर्श, प्रयोगवादी आदर्श.....आदि आदि। हमारे लिए यह निश्चित करना कठिन होगा कि हम किसको स्वीकार करें और किसको अस्वीकार करें, और सबको किस प्रकार स्वीकार करें। जिस प्रकार शिक्षा के आदर्शों के सम्बन्ध में विभिन्न मत रहे हैं उसी प्रकार शिक्षा पद्धतियों, पाठ्यक्रमों, शिक्षालय व्यवस्थाओं तथा अनुशासन आदि के सम्बन्ध में युग-युग में देश-देश में अनेक विभिन्नतायें रहीं हैं और जो कठिनाई हमें आदर्शों के सम्बन्ध में चिन्वय करने में प्रतीत होती है। कठिनाई इनके सम्बन्ध में भी प्रतीत होती है ऐसी परिस्थितियों में आधुनिक शिक्षा के लिए यह समस्या हो जाती है कि वह किस आधार को स्वीकार करे और किस किसको अस्वीकार करे साथ ही साथ यह भी प्रश्न होता है कि यदि किसी विचार को स्वीकृत किया जाय तो क्यों किया जाय ओर अस्वीकृत किया जाय तो क्यों अस्वीकृत किया जाय।

यह प्रश्न हमें अपनी शंकाओं के समाधान की ओर ले जाता है। किसी तथ्य आदर्श व विचारधारा को स्वीकृत करने के लिए हम अपनी परिस्थितियों में उसकी

उपयोगिता देखते हैं और यह भी समझने का प्रयत्न करते हैं कि हम उसको स्वीकार कर सकते हैं अथवा नहीं। हमारी यह मनोवृत्ति हमें विभिन्न विचारधाराओं, तर्कों व आदर्शों में से उतना अंश छाँटने के लिए सहायता देती है। जितना अंश हमारे लिए लाभदायक है और जितने को हम व्यवहार रूप दे सकते है तथा जितने के लिए हमारे पास साधन है। हम बजाय एक स्रोत से अपने आदर्श और विचारों को प्राप्त करने के अनेक स्रोतों से उनको प्राप्त करते हैं और अपनी बुद्धि द्वारा उनको एक नया रूप देते हैं जो उनके समन्वित सम्मिश्रण के द्वारा निकलता है। इस कार्य में हमें अपनी बुद्धि और तर्क का सहारा लेना पड़ता है; जिसके द्वारा हम विभिन्न विचारों के विरोधी भाव को कम करके अथवा उसको समाप्त करके उनमें पारस्परिक समझौता या समन्वय करते हैं और अपने लिए उन्हें उस रूप में स्वीकार करते हैं। यह पारस्परिक विरोध को नष्ट करके समझौता करने तथा हितों का समन्वय करने की प्रवृत्ति आधुनिक युग की विशेषता है और यही प्रवृत्ति समाहारक प्रवृत्ति (Eclecticism) कहलाती है जिसने केवल शिक्षा के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि सभी क्षेत्रों में समन्वय को मूल्य दिया है और आधुनिक जीवन की समस्याओं के हल के लिए समन्वय करने की मनोवृति को सबसे ऊँचा स्थान प्रदान किया है। यही प्रवृत्ति शिक्षा के संगठन में भी उसी रूप में कार्य करती हुई नजर आती है जिस रूप में सभ्यता के निर्माण और उसके आधुनिक रूप को निश्चित करने में हम इसे बहुबिम्बवादी प्रवृत्ति या समाहारक या प्रवृत्ति बहुमुखी प्रवृत्ति, कुछ भी कहें उसका आशय वही है जो हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। जिस प्रकार परिधि से अनेक त्रिज्याएँ केन्द्र के मिलन बिन्दु में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार इस प्रवृत्ति के मिलन बिन्दु में विभिन्न शिक्षाओं और स्रोतों से आने वाली विचारधारायें अपना विरोध रूप छोड़ कर मिलन बिन्दु रूप के साथ अपना समन्वय कर लेती हैं। अंग्रेजी में इस प्रवृत्ति को 'Ecletic Tendency in Education' की संज्ञा दी गई थी।

आधुनिक जीवन में समाहारक प्रवृत्ति का प्रभाव

समन्वय आज के जीवन की आवश्यकता है। हम इतिहास, साहित्य, विज्ञान आदि के अध्ययन से तथा आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों जिनमें समय और दूरी की विजय मुख्य है अपने पूर्वजों और अन्य देशों के लोगों के पूर्वजों तथा आधुनिक निवासियों के सम्पर्क में इतने आ गये हैं कि हमारा पृथकत्व बिल्कुल समाप्त हो गया है। देशों, राज्यों व राष्ट्रों के बीच की दीवालें समाप्त हो गई हैं, दुनियां प्रतिदिन संकीर्ण होती जा रही है, मानन का मानव से अधिकाधिक सान्निध्य स्थापित होता जा रहा है। ऐसी अवस्था में अपनी-अपनी बाँसुरी और अपना-अपना राग वाली कहावत हमारे जीवन को नष्ट कर देगी। हमें अपने जीवन को वह रूप देना है जिसमें संघर्ष के अवसर समाप्त हों और पारस्परिक सहयोग, सहिष्णुता, सुखमय विचार-विनिमय, सद्भावना, पारस्परिक आदर व प्रेम के वातावरण में समस्त मानव-समाज एक भ्रातृत्व की भावना में बँधे हुए हों। आज अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में इस प्रकार के

वातावरण का सृजन विपर्य या विरोध के आधार पर नहीं, समन्वय और समझौते के आधार पर हो सकता है।

हमारे जीवन में यह भाव दृढ़ता प्राप्त करता जा रहा है। हम अपने रहने सहने के ढंग, अपने खाने पीने के ढंग, अपनी रस्म-रिवाजों, आचार-विचारों, पारस्परिक व्यवहारों, आभूषण व वस्त्रों, साहित्यक कला के प्रदर्शनों—सब में समाहारक प्रवृत्ति का प्रमाण दे रहे हैं। हमारे जीवन के ढंग में कई ढंगों का मिश्रण है, हमारे रस्म-रिवाजों में कई जातियों व मानव समुदायों के प्रभाव प्रतिबिम्बित हैं, हमारी बोली में कई बोलियों के अंश वर्तमान हैं, हमारे खान पान तथा वेश-भूषा में कई प्रकार के रूपों का सम्मिश्रण है। सारांश यह है कि हमारी पूरी सभ्यता तथा संस्कृति तथा जीवन का ढंग पूर्वगत कई पीढ़ियों के प्रयत्नों का एकत्रित परिणाम है जिनका समीक्षा और विश्लेषण करने पर उनकी उत्पत्ति के स्रोत का पता लग जाता है और हम यह मालूम कर लेते हैं कि अमुक अंग अमुक स्रोत से आया परन्तु उन सबके सम्मिलित रूप को देखकर उसकी सुडौल आकृति में हमें उसके अनूठेपन की ओर आकर्षित करती है। जिस प्रकार किसी बड़ी विशाल व भव्य इमारत को देखकर हम उसकी विशालता व भव्यता से आकर्षित होते हैं परन्तु उसके एक एक अंग की सूक्ष्म व्याख्या करके ही यह जान जाते हैं कि उसका अमुक अंग भौतिक ढंग का परिचायक है, अमुक मुसलमानी कला का, अमुक यूनानी कला का आदि; उसी प्रकार हमारी आधुनिक सभ्यता विभिन्न स्रोतों से आई हुई धाराओं से बनी हुई होने पर भी एक सुडौलपन और सब प्रमाणों का समन्वित रूप लिए हुए है कि वह अपना अनूठापन रखती है और विशेषज्ञ ही उसकी समीक्षा व विश्लेषण कर यह बता सकते हैं कि इसका कौन सा अंग कहाँ से आया। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं जो बात सभ्यता, संस्कृति व हमारे जीवन के ढंग के विषय में चरितार्थ होती है, वही हमारी शिक्षा के विषय में भी चरितार्थ होती है। शिक्षा जीवन के ढंग व सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र से अलग नहीं है। आधुनिक जीवन की परिस्थितियाँ जिस प्रकार जीवन के एक क्षेत्र में समाहारक प्रवृत्ति की मान्यता स्वीकार करती हैं उसी प्रकार वे अन्य क्षेत्रों में भी स्वीकार करती हैं शिक्षा में इस समाहारक प्रवृत्ति का प्रभाव स्पष्ट है।

आधुनिक शिक्षा में समाहारक प्रवृत्ति या बहुबिम्बवाद का प्रभाव

यह स्पष्ट करने के लिए कि आधुनिक शिक्षा में बहुबिम्बवाद या समाहारक प्रवृति का क्या प्रभाव है और उसके क्या स्पष्ट प्रमाण हैं हम आधुनिक शिक्षा का प्रमुख प्रवृत्तियों का नीचे उल्लेख करते हैं और अपने उक्त कथन को प्रमाणित करने के लिए साथ ही साथ यह भी संकेत करते चलते हैं कि अमुक प्रभाव किस विचारधारा का द्योतक है। हमारा अभिप्राय इस व्याख्या से आधुनिक शिक्षा की समाहारक प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण है।

(1) **शिक्षा के उद्देश्य**—आधुनिक शिक्षा के उद्देश्य की सरल भाषा में व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है : "शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को अपने सम्पूर्ण विकास के लिए अवसर प्रदान करना है जिससे वह अपना विकास करता हुआ समाज की उन्नति में भी योग दे सके।"

इस परिभाषा में किसी एक 'वाद' (ism) का प्रभाव नहीं है बल्कि प्रकृतिवाद, आदर्शवाद, प्रयोगवाद—तीनों का सामंजस्य है। मानव के विकास में उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास, शारीरिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक—आता है और विकास पर बल देते हुए आधुनिक शैक्षिक प्रवृत्ति, संतुलित विकास तथा समाज हित परम बल देती है और इस प्रकार शिक्षा दर्शन के साथ-साथ उसमें मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिकतावादी प्रवृत्तियों की झलक स्पष्ट होती है। शिक्षा के मूल्यों को निर्धारण करने में हमें प्लेटो, अरस्तू, रूसो, हरबार्ट, इमर्सन, फ्रोबेल तथा जानड्यू—सभी शिक्षा-शास्त्री सहायता देते हैं। हमारी शिक्षा की आधुनिक व्याख्या इतनी विस्तृत है कि उसमें युग-युग की विचारधाराएँ अपने सामान्य रूप में समाविष्ट हो जाती हैं। यह दूसरी बात यह है कि अपने विशिष्ट रूप को जो उस युग की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण उद्भूत हुआ उन्हें त्याग देना पड़े।

(2) **शिक्षण-विधि**—(अ) आधुनिक शिक्षा में शिक्षण विधियों को मनोवैज्ञानिक आधार देने पर बल है और उनका निर्माण बालक की शक्तियों, योग्यताओं व रुचियों के आधार पर करने को समर्थन प्राप्त है। यह आधार पेस्टालॉजी और अन्य मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के समर्थकों ने दिया। उन्होंने यह विचार भी दिया कि भौतिक प्रक्रिया में बाहर से ज्ञान थोपना नहीं है बल्कि बालक को अपनी शक्तियों का विकास करने देना है। आधुनिक शिक्षा में बालक-केन्द्रित शिक्षा, बालक के व्यक्तित्व का आदर, उसके प्रति प्रेम और सहानुभूति का वर्ताव, अनुशासन में प्रेम का महत्व, स्वतन्त्र क्रिया, खेल का महत्व—ये सब मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का प्रभाव हैं।

(ब) शिक्षण विधियों को प्रगतिशील बनाना, बच्चों को क्रिया करके सीखने के अवसर देना, शिक्षण विधियों को लचकदार बनाना तथा अनुभव को प्राथान्य देना—ये सब प्रयोगवादी विचारधारा का प्रभाव है।

(स) पाठों का सह-सम्बन्ध स्थापित करना, वैज्ञानिक ढंग से उनका क्षेणीकरण करना तथा उनको क्रमिक रूप देना, पाठों को रोचक बनाना तथा ज्ञात से अज्ञात, सरल से कठिन, स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाने वाले सिद्धान्त—ये मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक प्रवृत्तियों के प्रभाव के परिचायक हैं। आधुनिक प्रयोगवादी विचारधारा भी उनका समर्थन करती है।

(द) शिक्षण के लिए योग अध्यापकों की आवश्यकता तथा उनको ट्रेनिंग देना आधुनिक काल में बहुत महत्व रखता है। शिक्षण एक कला है जिसके लिए ट्रेनिंग, अध्ययन और अभ्यास की आवश्यकता है। शिक्षकों की ट्रेनिंग पर जोर मार्टिन लूथर के समय से प्रारम्भ हुआ और 19वीं शताब्दी में हर्बार्ट तथा फ्रोबेल ने

इस पर बहुत बल दिया। हर्बार्ट ने शिक्षण कला को वैज्ञानिक आधार दिया और तबसे शिक्षकों की ट्रेनिंग की आवश्यकता बढ़ती जाती है और आधुनिक काल में इसका महत्व और भी बढ़ गया है।

आधुनिक शिक्षा में अनुशासन का वह अर्थ नहीं है जो मध्यकालीन युग में था, जब कि यह विश्वास किया जाता था कि बच्चे को परिवार द्वारा ही अनुशासन सिखाया जा सकता है। कवरली ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी ऑफ वैस्टर्न एजूकेशन' में एक अध्यापक हैनवर्ली (Hanberle) का उल्लेख किया है जिसे यह गिनकर रक्खा था और उसे गर्व था कि उसने अपने जीवन में कितने घूँसे मारे, कितने चाँटे, कितने बेंत, कितनी छड़ी, कितनी बार कान ऐंठे और कितनी बार अन्य प्रकार दण्ड दिए। ये रोमांचकारी तथा वीभत्स कांड आज भर्त्सना के पात्र हैं। अनुशासन की आधुनिक व्याख्या उसे स्वतन्त्रता, सम्मान, प्रेम, सहानुभूति के आधार पर स्थिर रखती है। यह विचार रूसो के समय से उत्पन्न हुए और रूसो ने सर्वप्रथम इस प्रकार के अनुशासन का खण्डन किया। यद्यपि सांस्कृतिक पुनुरुत्थान, धर्मसुधार तथा यथार्थवाद के जन्म के समय ही इस मध्यकालीन परिपाटी की आलोचना हो रही थी परन्तु रूसो के तीव्र शब्दों और बाद में पेस्टालॉजी तथा अन्य 19वीं शताब्दियों के शिक्षा-शास्त्रियों ने आधुनिक विचारधारा को रूप देने के लिए तेजी से कदम बढ़ाया।

(3) **पाठ्यक्रम**—(अ) आधुनिक शिक्षा में पाठ्यक्रम को भी बहुत विस्तृत रूप दिया गया है। वह केवल विषय-ज्ञान तक ही सीमित नहीं है बल्कि बालक के समस्त अनुभव-कक्षा में और कक्षा के बाहर से सम्बन्ध रखता है। पाठ्यक्रम को इतना विस्तृत रूप देना जनतन्त्रीय व्यवस्था, सामाजिकतावादी प्रवृत्ति और प्रयोगवादी विचारधारा का परिणाम है जिनके द्वारा शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को कुशल नागरिकता प्राप्त करना बतलाया गया है। शिक्षा कुशल नागरिक तभी बना सकती है जब बालक को ज्ञान के साथ-साथ उन सब गुणों, आदतों व कौशलों का अभ्यास करावे जिन्हें प्राप्त करके समाज में अपना स्थान ग्रहण कर सकते हैं और इस प्रकार उसकी क्रियाओं में भाग ले सकते हैं।

(ब) इन्हीं विचार-धाराओं ने पाठ्य-क्रमातिरिक्त क्रियाओं को पाठ्यक्रम के अतिरिक्त क्रियाएँ न कह कर पाठ्यक्रम की सहगामी क्रियाएँ स्वीकार किया है। क्योंकि इन क्रियाओं में भाग लेकर सामाजिक जीवन में भाग लेने की क्षमता प्राप्त करने में बालक को पर्याप्त अभ्यास हो जाता है और उसमें आत्म-संयम, न्याय, सद्भावना, सामूहिक हित, सहिष्णुता, संतुलन, आदि उन गुणों का समावेश हो जाता है जिनके आधार पर वह एक सफल नागरिक बनता है।

(स) पाठ्यक्रम को बहुमुखी (Multi-lateral) बनाना, उसमें उदार व व्यावसायिक (liberal and vocational) शिक्षा को संतुलित रूप में रखना, उसको लचकदार बनाना ताकि वह एक परिवर्तनशील तथा प्रगतिशील समाज की क्रियाओं का प्रतिबिम्बित रह सके। उसमें परम्परागत तथा प्रगतिशील विचारों का समन्वय

करना—ये विचारधाराएँ कई स्रोतों के ऊपर अवलम्बित हैं; और उनमें शिक्षा के सभी दर्शनों व प्रवृत्तियों की समन्वित झलक वर्तमान है। आदर्शवादी दृष्टि से परम्परा का महत्व है, प्रकृतिवादी और प्रयोगवादी दृष्टि से पाठ्यक्रम को विस्तृत और लचकदार बनाने पर जोर है, सामाजिकतावादी दृष्टिकोण उसको सामाजिक क्रियाओं का प्रतिबिम्ब बताता है और मनोवैज्ञानिक तथा प्रयोगवादी विचारधारा उसको बहुमुखी बनाने को बल देती है जिससे प्रत्येक बालक अपनी शक्ति, योग्यता व रुचि के अनुसार उससे लाभ उठा सके। शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति विज्ञान विषयों के प्राधान्य को स्थापित करती है। यह आधुनिक समाहारक प्रवृत्ति की विशेषता है कि उसने इन सब प्रभावों को स्वीकार कर पाठ्यक्रम का आधुनिक आधार व रूप दिया है।

(4) **स्कूल और समाज**—(अ) आधुनिक शिक्षा में स्कूल का कार्य केवल विषयों का ज्ञान देना ही नहीं है बल्कि बालकों को उन क्रियाओं का अभ्यास कराना भी है जिनमें भाग लेकर के वृहत् सामाजिक जीवन में भाग लेने की क्षमता प्राप्त कर सकते हैं। हम पहले एक अध्याय में स्कूल और समाज के सम्बन्धों की चर्चा कर चुके हैं। आधुनिक काल में शिक्षालय का आदर्श समाज के लघु रूप को प्रस्तुत करना है, स्कूल का जीवन सामाजिक जीवन का एक अंग है—और स्कूल का वातावरण सामाजिक वातावरण का सरल, प्राकृतिक व शुद्ध लघुरूप। स्कूल के कार्य के इतने विस्तृत रूप की कल्पना जनतन्त्रीय समाज, सामाजिकतावादी प्रवृत्ति व प्रयोगवादी दर्शन की देन है। आज का समाज बहुत जटिल है और उसमें भाग लेने के लिए उसकी क्रियाओं का पर्याप्त अभ्यास व ज्ञान आवश्यक है। स्कूल का यह कार्य यह है कि सामाजिक संस्था होने के नाते वह बालकों को उनका अभ्यास करावे व उनका उन्हें ज्ञान दे जनतन्त्रीय दर्शन व सामाजिकतावादी प्रवृत्ति स्कूल के इस व्यापक कार्य क्षेत्र की व्याख्या का आधार है।

(ब) स्कूल का सामाजिक जीवन से सम्बन्ध और स्कूल में सामाजिक जीवन का प्रवेश तथा दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का महत्व—यह भी जनतन्त्रीय दर्शन सामाजिकतावादी प्रवृत्ति का प्रभाव है।

(5) **शिक्षा और राज्य की जिम्मेदारी**—आधुनिक काल में राज्य अपनी शिक्षा-सम्बन्धी जिम्मेदारी को अधिकाधिक मात्रा में स्वीकार करता जा रहा है। हमारे संविधान में भी 14 वर्ष तक की अवस्था के बालक और बालिकाओं के लिए अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गई है। संसार के उन्नत देशों में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क हो भी गई है। राज्य की शिक्षा में बढ़ती हुई रुचि और उसको अपनी प्रमुख जिम्मेदारी समझना जनतन्त्रीय विचारधारा का प्रभाव है। जनतन्त्र एक राजनैतिक व्यवस्था ही नहीं है; बल्कि जीवन का एक ढंग है, वह एक सामाजिक विश्वास है जिसकी रक्षा तभी हो सकती है जब व्यक्ति शिक्षित हों और वे अपने अधिकारों व कर्त्तव्यों को समझें तथा अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हुए समाज की क्रियाओं में भाग लें। शिक्षा जनतन्त्र का अस्त्र है और यदि राज्य

अपनी व्यवस्था को पुष्ट बनाना चाहता है तो उसे शिक्षा के सम्बन्ध में अपने दायित्व को पूर्ण रूप में निभाना है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक शिक्षा का रूप कितना विस्तृत है और उसको यह रूप देने के लिए कितने स्रोतों ने अपना-अपना योग दिया है जिनमें कहीं-कहीं पारस्परिक विरोध देते हुए आधुनिक काल की समाहारक प्रवृत्ति ने समन्वित कर एक रूप में ढाल दिया है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि आधुनिक युग की यह समाहारक प्रवृत्ति शिक्षा के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि हमारे समस्त जीवन के ढंग में प्रतिबिम्बत है और एक प्रगतिशील जनतन्त्रीय समाज में उसके अलावा दूसरी प्रवृत्ति हमें सहायता भी नहीं दे सकती। अपनी प्रगतिशीलता, लचकता, समन्वय की भावना, मिलान के उद्देश्य और समझौते की मनोवृत्ति को लेकर यह समाहारक प्रवृत्ति हमारे आधुनिक जीवन के ढंग की विशेषता है।

सारांश

आधुनिक जीवन में समन्वय की आवश्यकता है। वैज्ञानिक आविष्कारों व खोजों के परिणामस्वरूप हम एक दूसरे के बिल्कुल समीप आ गये हैं और दुनियाँ एक छोटी जगह हो गई है। अगर समन्वय की भावना न हो तो संघर्ष बढ़ जावेगा।

जीवन के ढंग में समन्वय की परिचायक आधुनिक काल में हमारी समाहारिक प्रवृत्ति है जिसके द्वारा हम अपने आहार-विहार, खान-पान, आचार-विचार, वेश-भूषा, रहन-सहन, क्रिया-कलापों में एक ढंग को नहीं बल्कि कई ढंगों के समन्वित रूपों का आधार करते हैं। हमारी सारी सभ्यता इस प्रवृत्ति के ऊपर आधारित है। विभिन्न स्रोतों से आती हुई तथा विभिन्न प्रभावों को रखती हुई भी वह अपने आधुनिक रूप में सुडौलता व एकरूपता का परिचय देती है। यह हमारी समाहारिक प्रवृत्ति का परिणाम है।

यही समाहारक प्रवृत्ति हमें अपने शिक्षा के रूप को निश्चित करने में प्रेरणा देती है। हमारी शिक्षा में आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, प्रयोगवाद, मनोवैज्ञानिक विचारधारा, वैज्ञानिक प्रवृत्ति, सामाजिकतावादी प्रवृत्ति, जनतन्त्रीय विचारधारा—सबका प्रभाव है और रूसो, प्लेटो, अरस्तू, कोमीनियस, बेकन, पेस्टालॉजी, हरबार्ट, फ्रोबेल, स्पेन्सर, ड्यूई आदि अनेक शिक्षा-शास्त्रियों के विचारों की झलक है। परन्तु हमारी समन्वय करने की प्रवृत्ति ने सब को एक रूप में लाकर ढाल दिया है और उनका समन्वित रूप आधुनिक शिक्षा का आधार है। विभिन्न स्रोतों से आधार प्राप्त करते हुए भी हमारी शिक्षा में सुडौलता व एकरूपता है जो आधुनिक जीवन को पुष्ट बनाने में योग देती है। समाहारक प्रवृत्ति जनतन्त्रीय दर्शन के अनुकूल है और अपनी लचकता प्रगतिशीलता तथा समन्वय स्थापित करने की भावना के आधार पर वह जनतन्त्रीय व्यवस्था और जीवन के ढंग का अंग बन गई।

१३

जनतन्त्र और शिक्षा[1]

हम पिछले एक अध्याय में कह चुके हैं कि प्रत्येक युग में जितनी भी मानव के द्वारा स्थापित संस्थाएँ होती हैं—चाहे वे राजनीतिक हों, चाहे सांस्कृतिक, शैक्षिक अथवा आर्थिक— वे सब उस युग के मानव समाज के धर्म को स्वीकार करती हैं। उनका वही आदर्श और वही विश्वास होता है जो उस युग के समाज का होता है और अपनी व्यवस्था व संगठन में तथा अपनी कार्य पद्धति में वे उसी के प्रतिबिम्ब की झलक देती हैं। शैक्षिक संस्थाएँ सामाजिक संस्थाओं की एक अंग हैं। वे उनसे अलग नहीं हैं और समाज ने उनको उन आदर्शों, धर्मों, विश्वासों व मनोवृत्तियों की रक्षा तथा उनके प्रसार के हेतु स्थापित किया है जिनको समाज स्वीकार करता है, जिन्हें वह मान्यता देता है तथा जिनकी वह रक्षा करना चाहता है। अतः शैक्षिक संस्थाओं का यह धर्म हो जाता है कि वे अपने प्रतिष्ठाता समाज के आदर्शों को स्वीकार करें तथा उन्हीं के अनुकूल अपने लक्ष्यों व क्रियाओं को रूप दें। आज की सामाजिक व्यवस्था का प्रमुख आधार जनतन्त्रीय व्यवस्था है। जनतन्त्र आज का प्रधान सामाजिक धर्म व विश्वास है। जहाँ जनतन्त्रीय व्यवस्था नहीं भी है वहाँ भी शनैः शनैः जनता में उसके प्रति श्रद्धा बढ़ती जा रही है और उसको स्थापित करने के लिए आन्दोलन चल रहे हैं। जनतन्त्रीय व्यवस्था से लोगों को इतनी श्रद्धा व उससे इतना प्रेम हो गया है कि उसको स्थापित करने के लिए जन-मन बलिदान करने तथा रक्त-रंजित क्रान्ति करने पर भी उतारू हो जाता है। हम आगे चलकर यह विचार करेंगे कि क्या कारण है कि जनतन्त्रीय व्यवस्था लोगों को इतनी भाती है। अस्तु।

हमारा देश अभी हाल ही में स्वतन्त्र हुआ है और हमारे नेताओं ने बहुत सोच विचार के उपरान्त जनतन्त्रीय व्यवस्था को ही स्थापित किया है। हमारी राजनैतिक संस्थायें भी जनतन्त्रीय व्यवस्था के आधार पर स्थापित भी हो चुकी हैं और यह प्रयास निरन्तर जारी है कि हम अपनी समस्त संस्थाओं को जनतन्त्रीय आधार

---

[1] यह अध्याय लेखकों की पुस्तक 'स्कूल एडमिनिस्ट्रेशन' (अँग्रेजी में) के ऊपर आधारित है।

पर ही पुनर्निर्मित करें। शिक्षा संस्थाओं के पुनः संगठन का कार्य भी निरन्तर जारी है और आशा की जाती है कि भविष्य में हमारा जनतन्त्र अधिकाधिक बल प्राप्त करता जावेगा।

उपर्युक्त कथन व परिस्थितियों के स्पष्टीकरण से हम एक विचार की ओर आमुख होते हैं और वह यह है कि जनतंत्रीय व्यवस्था केवल एक प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था ही नहीं है बल्कि एक सामाजिक व्यवस्था है और राजनैतिक संस्थाएँ उसका एक रूप हैं। सामाजिक व्यवस्था होने के नाते उसका विशेष महत्व है और उसकी सफलता के लिए समस्त सामाजिक संस्थाओं—चाहे वे राजनैतिक हों अथवा अन्य प्रकार की—के योग की आवश्यकता है। शिक्षा संस्थाएँ जनतन्त्रीय व्यवस्था को ही नहीं बल्कि उन सब व्यवस्थाओं को जिनमें और जिनके द्वारा वे स्थिति हैं बल देती हैं क्योंकि शिक्षा संस्थाओं का प्रमुख कार्य सामाजिक आदर्शों, विश्वासों, व धर्मों को युवकों को सिखाकर उन्हें उस समाज के लिए तैयार कर देना है जिसने उन्हें स्थापित किया है और जिससे वह यही आशा करता है। आज का जनतन्त्रीय समाज शिक्षा संस्थाओं से यह आशा करता है कि वे बालकों व युवकों को वे आदर्श, गुण, विश्वास, मनोवृत्तियाँ व चारित्रिक विशेषताएँ दें जिनके आधार पर बालक आगे चलकर जनतन्त्रीय समाज के योग्य सदस्य बनें और उस समाज को पुष्ट बनाने में अपना योग दें। अतः जनतन्त्र और शिक्षा तथा जनतन्त्रीय व्यवस्था और शिक्षालयीय व्यवस्था में पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध को हम इस अध्याय में थोड़े विस्तार में अध्ययन करेंगे और यह देखेंगे कि आधुनिक काल में जनतन्त्रीय व्यवस्था को शिक्षा किस प्रकार बल दे सकती है। शिक्षा क्या हैं, उसका क्या अभिप्राय है तथा उसको क्या क्षेत्र है—इन सब बातों पर हम पिछले अध्यायों में उचित स्थानों पर प्रकाश डाल आये हैं। जनतंत्रीय शिक्षा क्या है और उसके क्या उद्देश्य हैं तथा उसकी कैसी व्यवस्था हो, इसे स्पष्ट करने के लिए हमारे लिए यह आवश्यक है कि जनतन्त्र और जनतंत्रीय व्यवस्था के सम्बन्ध में हम अपने विचारों को स्पष्ट कर लें।

जनतन्त्र : अर्थ व व्याख्या

जनतन्त्र के सम्बन्ध में लोगों में कई प्रकार की भ्रमात्मक धारणाएँ हैं और वे उसे एक प्रकार का राजनैतिक संगठन मानते हैं। अमेरिका के एक प्रसिद्ध राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने जनतन्त्र को जनता की, जनता के लिए और जनता के द्वारा सरकार (government of the people, for the people, and by the people) कहा और इस व्याख्या के आधार पर कुछ लोगों ने जनतन्त्र को राजनैतिक संगठन के क्षेत्र तक सीमित स्वीकार किया। जनतन्त्र के लिए इससे अधिक घातक और कोई बात नहीं हो सकती कि उसको केवल राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित रक्खा जाय। व्यापक अर्थ में जनतन्त्र एक प्रकार का सामाजिक विश्वास है, वह एक प्रकार का जीवन का ढंग है जो समाज के सभी सदस्यों के व्यवहारों में, सामाजिक संस्थाओं

के संगठन में, उनकी प्रतिक्रियाओं और कार्य विधियों में तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में झलकता है। जनतंत्रीय व्यवस्था को स्फूर्ति और बल जनतंत्रीय मनोवृत्ति देती है जो मनुष्य के व्यवहारों में ही नहीं बल्कि उसके सम्पूर्ण चिन्तन और विचारों में झलकती है। संस्थाओं का बाह्य रूप और उनका संगठन पूरे समाज की मनोवृत्ति का बाह्य रूप में प्रक्षेपण है और जब तक मानव की मनोवृत्ति में जनतंत्रीय विचारधारा ने अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर लिया तब तक जनतंत्रीय संस्थाओं को वह बल प्राप्त नहीं हो सकता जिसके आधार पर वह अधिकाधिक दृढ़ता प्राप्त करती जायँ। आधुनिक काल में जनतन्त्र की सफलता के प्रति बहुत से लोगों को सन्देह है और कहीं-कहीं जनतंत्रीय व्यवस्था समाप्त भी हो चुकी है। इस प्रकार के सन्देह झूठे नहीं हैं परन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि जनतंत्रीय व्यवस्था को यदि केवल राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित रक्खा गया तो वह निस्सन्देह असफल हो जावेगी। जहाँ कहीं भी जनतंत्रीय व्यवस्था का नाश हुआ है वहाँ पर उसके नाश के कई कारण हो सकते हैं परन्तु उनमें प्रमुख कारण यही रहा है कि जनतंत्र वहाँ पर राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित रक्खा गया। उसे जीवन का ढंग नहीं बनाया गया। जब तक जनतन्त्र जीवन के ढंग के रूप में स्वीकृत हमारे समस्त विचारों, व्यवहारों, रहन-सहन के ढंगों, परिपाटियों व संस्थाओं में नहीं समा जावेगा तब तक वह सफल नहीं हो सकता।[1] यह मानव-समाज की सर्वोत्कृष्ट कृति है और इस व्यवस्था में ही मानव का सम्पूर्ण विकास और उसका कल्याण सम्भव है; परन्तु इसको स्थिर रखने और पुष्ट बनाऐ के लिए निरन्तर परिश्रम और अभ्यास की आवश्यकता है। मानव समाज का आदर्श रूप न अभी आया है और न पूर्ण रूप में शायद आवे; परन्तु उस ओर अग्रसर होते हुए जनतंत्रीय आधार पर खड़े होकर हम उस सीढ़ी पर पहुँच जाते हैं जहाँ से आदर्श मानव-समाज की झलक दीखती है और जहाँ खड़े रहकर हम यह अनुभव करते हैं कि हम उस आदर्श की ओर अग्रसर हैं। जनतंत्र की एक व्याख्या में यह

---

1 "The causes of destruction of political democracy in countries where it was nominally established are complex. But of one thing, I think we may be sure that wherever it has fallen it was too exclusively political in nature. It had not become part of the bone and blood of the people in daily conduct of life. Democratic forms were limited to parliaments, elections and combats between parties. What is happening proves conclusively, I think that unless democratic habits of thought and action are part of the fibre of a people, political democracy is insecure. It cannot stand in isolation. It must be buttressed by the presence of democratic methods in all social relationships." [*Dewey John* : School and Society, April 3, 1937. Ref : Gaind & Sharma ; School Administration, p. 4]

कहा गया है जनतन्त्र धर्म का राजनीति के साथ संयोग है और स्वर्ग वहाँ है जहाँ जनतन्त्र का धर्म के साथ संयोग है।[1] सच्चा जनतन्त्र वही है जहाँ मानव जीवन का मूल्य है और जहाँ मानव जीवन के नस नस में, रग-रग में वह समा गया है और केवल राजनीतिक ही संकुचित करके नहीं रक्खा गया है।

जनतन्त्र के विषय में सन्देह क्यों ?

उपर्युक्त कथन के आधार पर हम यह सहज में ही सोच सकते हैं कि जनतन्त्र के प्रति अनेक लोगों में सन्देह क्यों है। इसमें शक नहीं कि जब तक जनतन्त्र को राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित रक्खा जावेगा तब तक वह सफल हो भी नहीं सकता। हम अपने भारतवर्ष में ही देखते हैं कि किस प्रकार जनतन्त्रीय व्यवस्था को चारों ओर से भयावह परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा है। कारण स्पष्ट है। हमारा जनतन्त्र अभी शिशु अवस्था में है और इसे भोजन देने तथा पुष्ट बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी सारी सामाजिक व्यवस्था को जनतन्त्रीय आधार पर निर्मित करें और अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जनतन्त्रीय भावना का आदर करें और उसे अपने चिन्तन और व्यवहार में प्रदर्शित करें। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो हमारा जनतन्त्र का मूल्य नहीं रहेगा। चूँकि अभी ऐसा नहीं हो पाया है इसीलिए हमारा जनतन्त्र खतरों से घिरा हुआ है और उसकी सफलता के प्रति अनेक लोगों में सन्देह है।

उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त और भी कारण हैं जिनकी वजह से लोगों में जनतन्त्र के प्रति सन्देह होता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि जनतन्त्र एक प्रकार का मानव धर्म है और इसको धर्म के आधार पर स्वीकार कर लेने पर ही इसकी सफलता निर्भर है। वह धर्म क्या है ? मानव-धर्म होने के नाते जनतन्त्र मानव की स्वतन्त्रता, समानता, उसके व्यक्तित्व का मूल्य और आदर, उसकी मानव समाज को दृढ़ करने की क्षमता, उसके अधिकारों की रक्षा और उसको अपने विकास के लिए समान अवसर देने में विश्वास करता है और इसकी स्थिति संस्थाओं के संगठन में नहीं मानव-आचरण व व्यवहार में है। यदि उन आचरणों व व्यवहारों को उक्त धर्म के ऊपर आधारित नहीं किया गया है तो जनतन्त्र कभी जीवित नहीं रह सकता। मानव की अपनी दुर्बलता, उसके विचारों व चिन्तनों की संकीर्णता तथा उसके कठोर और अनन्य दृष्टिकोण उसके स्वयं के धर्म को विकृत रूप दे देते हैं और वह धर्माधर्म का भेद नहीं कर पाता। तभी वह अपने विकृत दृष्टिकोण द्वारा सुन्दर रूप को भी विकृत रूप में ही देखता है। जनतन्त्र के प्रति मानव की विचारधारा के सम्बन्धों में भी यही बात चरितार्थ होती है।

---

1 "Democracy has been described as religion applied to politics and the 'kingdom of heaven' has been described as democracy applied to religion" [*Horne H. H.* : op. cit., p. 17]

हम जनतन्त्र और शिक्षा के सम्बन्धों की आगे चलकर व्याख्या करेंगे। यहाँ इतना कह देना चाहते हैं कि शिक्षा जनतन्त्र का भारी अस्त्र है। शिक्षा द्वारा जनतन्त्र को बल मिलता है और शिक्षा ही उसे अधिकाधिक पुष्ट बनाती जाती है। जहाँ शिक्षा की कमी है और लोग अपने मानव धर्म को नहीं समझते हैं वहाँ जनतन्त्र निर्बल पड़ जाता है और उसके प्रति सन्देह हो जाना स्वाभाविक होता है। जैसा कि हमने कहा है, इस विषय पर आगे प्रकाश डालेंगे।

हमारे समस्त जीवन के ढंग के पीछे हमारे संस्कार, हमारे दृष्टिकोण, हमारी संस्कृति, परम्परा व सामाजिक आदर्श आधार-भूत खड़े हैं। उन्हीं के आधार पर हम अपना समस्त जीवन का ढंग निश्चित करते हैं, अपना व्यवहार निश्चित करते हैं, अपनी संस्थाएँ बनाते हैं और अपने दूसरे से सम्बन्ध निश्चित करते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हमारे जीवन के व्यवहार रूप के पीछे हमारा जीवन-दर्शन है; जिससे स्फूर्ति व प्रेरणा लेकर हम अपने जीवन को व्यवहार रूप देते हैं। उस दर्शन का होना आवश्यक है जो हमारे व्यवहार का सिद्धान्त रूप है। जनतन्त्रीय व्यवहार को बल व स्फूर्ति देने के लिए यह आवश्यक है कि हमारा जीवन-दर्शन जनतन्त्रीय हो। हम जनतन्त्र के सिद्धान्तों को दर्शन के रूप में स्वीकार करें और उन्हीं के आधार पर अपने चिन्तन, मनोवृत्तियों, भावों, रुचियों और संवेगों को रूप दें। हमारे देश में इस प्रकार की चेतना अभी जागृत नहीं हुई है और जनतन्त्र लोगों के जीवन का दार्शनिक आधार नहीं पाया है। अतः उसके प्रति सन्देह स्वाभाविक है।

हम ऊपर धर्म की चर्चा कर चुके हैं। धर्म मानव को अपने जीवन में सबसे अधिक प्रेरणा देता है। उसके संस्कारों और मनोवृत्तियों के संचालन में धर्म का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, और जो बात धर्म के साथ बाँध दी जाती है उसका मानव स्वभावतः आदर करता है। हमारे भारतवर्ष में तो अनेक अंध-विश्वास और पाखण्ड भी धर्म के साथ बँधे हुए हैं और हम देखते हैं कि लोग किस प्रकार उनमें बँधे हुए हैं। चैतन्यशील, तर्कशील, व बुद्धि से प्रयोग करने वाले व्यक्ति के लिए तो वे अन्ध-विश्वास हैं परन्तु साधारण जन-मन में वे धर्म का स्थान लिए बैठे हैं। अस्तु, हमारा अभिप्राय यह है कि धर्म मानव-मनोवृत्ति व व्यवहार को बहुत प्रभावित करता है और जीवन-दर्शन को रूप देने में उसका प्रमुख स्थान है। जनतन्त्र को बल देने तथा उसको सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे धर्म के साथ से मुक्त कर धार्मिक आधार प्राप्त हो। धर्म को हम दो रूपों में देखते हैं—मानव की ईश्वर से सम्बन्धों की व्याख्या के रूप में तथा मानव की मानव से सम्बन्धों की व्याख्या के रूप में। यदि मानव के मानव से सम्बन्ध उसके ईश्वर से सम्बन्धों को दृढ़ करने के साधन स्वीकार कर लिए जाते हैं तो निश्चित रूप में जनतन्त्र को वह शक्ति प्राप्त हो सकती है जिससे वह अपने प्रति उत्पन्न समस्त भ्रमात्मक कथनों व विचारों का नाश कर सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि सच्चे जनतन्त्र की व्याख्या हम उसके

मानव-धर्म के रूप में कर सकते हैं और तभी उसे हम जीवन-दर्शन का रूप दे सकते हैं।

यदि जनतन्त्र को हम एक सामाजिक विश्वास, अथवा जीवन के ढंग व मानव-धर्म के रूप में लेते हैं तो हमारे लिए उसके आदर्शों की व्याख्या करना आवश्यक हो जाता है जिससे हम उसको स्पष्ट रूप में समझ लें।

जनतन्त्र के आदर्श

जनतन्त्र 'जनता' का 'तन्त्र' (control) है और उसी के ऊपर वहा खड़ा है। जनतन्त्री आदर्श के अनुसार नियन्त्रण करने, शासन करने, अधिकार रखने अथवा आज्ञा देने की शक्ति किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के एक समूह में निहित नहीं है बल्कि वह शक्ति जनता को प्राप्त है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह उस शक्ति में अपना भाग ले और प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह उन समस्त मामलों में जिनसे उसका सम्बन्ध है अथवा जिनका उस पर प्रभाव पड़ता है, अपनी राय दे। सब व्यक्तियों के लिए यह भी आवश्यक है कि वे अपने में से प्रत्येक के इस अधिकार को स्वीकार करें और उसकी रक्षा करें।[1] जनतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति सबके लिए है और सब प्रत्येक के लिये। मानव के व्यक्तित्व को मूल्य देकर जनतन्त्र मानव को अत्यन्त प्रिय हो गया है। यदि उसका विरोध है तो इसलिए नहीं कि वह मानव-हित की दृष्टि से अनुपयुक्त व्यवस्था है परन्तु इसलिए कि उसको सफलतापूर्वक चलाना कठिन है। जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं जनतन्त्र मानव के व्यवहारों के नमूनों में झलकता है और यदि मानव अपने व्यवहारों में उनको नहीं अपनाता तो जनतन्त्र को भय उत्पन्न हो जाता है।

जनतन्त्रीय आदर्शों में निम्नलिखित प्रमुखता दी जाती है :

(1) प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व आदरणीय है और विश्व की यह सबसे बहु-मूल्य वस्तु है। वास्तव में व्यक्ति उस भूमि से भी अधिक मूल्यवान् है जिस पर वे रहते हैं।[2]

---

1 "Democracy demands that each human being is to be dealt with by his fellows as a living, growing and potentially flowring organism that has a right to be a participant in the decisions that stand to affect him." [*Mort, Paul, R* : Principles of School Administration, 1946 ed., p. 99, quoted by Gaind & Sharma : op. cit.; p. 10]

2 "Individuals are more precious than the earth on which they live, more precious than the food and clothing which sustains and warms them, more precious than the farms and factories and ships by which they gain their livelihood, more precious

(शेष पेज 257 पर)

(2) अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का विकास करने का तथा उसके लिए समुचित सुविधाएँ और अवसर प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है।

(3) स्वतन्त्रता समानता, विचार अभिव्यक्ति व लेखन की स्वतन्त्रता,—ये जनतन्त्र के नारे हैं और जनतन्त्र प्रत्येक व्यक्ति को उसकी शक्तियों के अनुसार विकास करने के लिए सुविधाएँ देता है।

(4) जनतन्त्र इसमें भी विश्वास करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए निर्णय करने तथा प्राप्त साधनों द्वारा अपना विकास करने के लिए क्षमता रखता है। जनतन्त्र मानव की योग्यताओं में विश्वास करता है।[1]

(5) जनतन्त्र यह मानता है कि इस पृथ्वी की समस्त वस्तुओं पर सबका समक्ष अधिकार है। किसी का कोई विशेषाधिकार नहीं है।[2]

(6) जनतन्त्र में मानव-कृत भेदों को कोई स्थान नहीं है। जाति, रंग, वर्ण आदि के भेद किसी को किसी अधिकार के प्राप्त करने से वंचित नहीं रख सकते। जनतन्त्र में अल्प-संख्यकों के अधिकारों और हितों की रक्षा पर विशेष जोर है। जातीय या वर्गीय भेद धार्मिक कट्टरता व संकीर्णता, आर्थिक शोषण, आदि जैसी बीमारियों को जनतन्त्र में स्थान नहीं है।

(पेज 253 का शेष)

than the paintings and the statuary and symphonies and all the great work of art by which they are inspired." [Educational Policies Commission : The Education of Free Men in American Democracy, p. 34]

1 "It affirms not only that men *should* but also that they *can* rule themselves". [Educational Policies Commission : op. cit, p. 35 quoted by Gaind & Sharma : op. cit, p. 21]

2 "Whatever may be the appropriate arrangements, the earth with its resources of soil, water, climate, flora, fauna and minerals, with its continents and islands, its oceans and seas, its lakes and rivers, its mountains and valleys and plains, the earth which makes physical existence for men possible, is regarded as the exclusive possession of no superior race, or people or class. Litaurse human culture, the social heritage of bequeathed to each new generation by all preceding generations of men, the social heritage of tools, machines, and buildings, of habits, customs and folkways, of knowledge, appreciations and values, of ideas, philosophies and institutions, the social heritage whose nurture raises individual man above the brute and bestows upon him the gift of humanity, is looked upon as the monopoly of no privileged order of men." [*Ibid* : p. 34—35]

(7) जनतन्त्र युद्ध व संघर्ष के तरीकों की अपेक्षा शान्ति और समझौतों के तरीकों में विश्वास करता है। युद्ध और राजनैतिक अथवा अन्य प्रकार के तनावों के मध्य समाज की प्रगति नहीं हो सकती। जनतन्त्र का यह विश्वास है कि पारस्परिक द्वेष, संघर्ष, व तनाव की अवस्थाएँ शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाई जा सकती हैं। मुक्त की अपेक्षा शान्ति की विजय अधिक चिरस्थायी है इसमें जनतन्त्र का पूर्ण विश्वास है।

(8) जनतन्त्र सहयोग, सहिष्णुता, पारस्परिक आदान-प्रदान, न्याय और दृष्टिकोण की विशालता को सामाजिक समस्याओं को हल करने तथा अच्छे मानवीय सम्बन्धों को स्थापित करने में शक्त मानता है। जनतन्त्र विरोधी विचारों व दृष्टकोणों की भिन्नताओं का अनादर नहीं आदर करता है। जनतन्त्र का यह विश्वास है कि विचारों व दृष्टिकोणों के भेदों का आदर होना, वही उनके सामान्य लक्षणों और गुणों का मिलन होता है और विरोध समन्वय की ओर अग्रसर होता है।[1]

दो बातों को स्पष्ट कर हम जनतन्त्र के आदर्शों की व्याख्या समाप्त करते हैं और उन बातों को हम इसलिए स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि लोगों के उनके सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण विचार होने के कारण वे बहुधा उनका गलत मतलब निकालते हैं और उनका दुरुपयोग करते हैं। वे बातें हैं स्वतन्त्रता तथा समानता के अर्थों से सम्बन्धित। इन दोनों का अर्थ लोग अपने स्वार्थवश गलत लगा बैठते हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हम स्वयं अपने देश में ही देख रहे हैं कि स्वतन्त्रता का कितना गलत अर्थ लगाया जा रहा है और उसका कितना दुरुपयोग हो रहा है। हम स्वतन्त्रता को उच्छृङ्खलता समझ बैठे हैं। हम यही नहीं अनुभव करते कि 'स्वतन्त्र' होना अपने ऊपर स्वयं द्वारा अधिक नियंत्रण चाहता है। परतन्त्र होने में तो दूसरे का नियन्त्रण हमें स्वीकार करना पड़ता है और यदि हम अपराध करते हैं तो हमें दण्ड भुगतना पड़ता है। स्वतन्त्र होने पर हमें अपना नियन्त्रण स्वीकार करना पड़ता है और यदि हम ऐसा नहीं करते तो उसके दुष्परिणाम हम को ही भोगने पड़ते हैं। नियन्त्रण के बिना किसी भी प्रकार की व्यवस्था नहीं चल सकती चाहे वह नियन्त्रण दूसरों का हो जो परतन्त्रता की अवस्था में होता है, और चाहे वह अपना हो जो स्वतन्त्रता की अवस्था में होता है यह मानव दृष्टिकोण की संकीर्णता और कठोरता है यदि वह एक विचार अवस्था व स्थिति की आलोचना व खण्डन करने में उसके विपरीत दूसरे मार्ग के सिरे पर पहुँच जाता है। एकतन्त्रीय नियन्त्रण (totalitarianism) बुरा है और उसकी आलोचना करते-करते यदि हम उसके विरुद्ध दूसरे सिरे पर पहुँचते हैं तो वहाँ

---

1 "Democracy has often been described as a great dailogue, between present and past, between diverse points of view among men with different backgrounds and experiences."

[*Kabir, Humayun* : Educational Reconstruction of India, p. 208, quoted by Gaind & Sharma : op. cit. p. 14]

उच्छृङ्खलता है, जहाँ किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं है—न परगत न स्वगत। वास्तविक स्वतन्त्रता दोनों सिरों के मिलन बिन्दु पर है। स्वतन्त्रता अनुशासनहीनता नहीं है बल्कि स्वतन्त्रता के लिए अनुशासन व नियन्त्रण का उस मात्रा तक रहना, जहाँ पर अपनी स्वतन्त्रता दूसरों की स्वतन्त्रता को खतरे में न डाल दे, आवश्यक है। जनतन्त्रीय स्वतन्त्रता इसी बीच के मिलन बिन्दु पर पड़ी है। जनतन्त्रीय व्यवस्था के पैर दोनों ओर हैं और वह दोनों पर चढ़कर ही चलती है, एक पर चढ़कर वह उसी प्रकार नहीं चल सकती जिस प्रकार एक पहिये पर गाड़ी नहीं चल सकती।[1]

इसी प्रकार भ्रम समानता के सम्बन्ध में भी हैं और लोग इसका आशय अधिकारों और अवसरों तथा सुविधाओं के बराबर-बराबर बाँटने से लगाते हैं चाहे कोई उनका लाभ उठा सके अथवा नहीं। सब मनुष्यों में एकसी शक्ति नहीं होती और सब लोग अवसरों व सुविधाओं से बराबर लाभ नहीं उठा सकते। अतः सबको बराबर बाँट कर देने का परिणाम यह होगा कि कुछ उनका लाभ उठा सकेंगे और कुछ नहीं, कुछ उनका दुरुपयोग करेंगे तो कुछ को अधिक अवसरों व सुविधाओं की आवश्यकता होगी। समता या समानता का आशय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को उतनी सुविधा व अवसर दिये जाँय जिनका वह लाभ उठा सके और यदि वह उनसे लाभ न उठा सके तो उसे वे उतनी मात्रा में न दिये जाँय, समानता का अर्थ सबके लिए समान नीति से है, सबको समान बनाने से नहीं।[2]

जनतन्त्रीय जीवन

उपर्युक्त व्याख्या में हम जनतन्त्र की दृष्टि से मानव का क्या मूल्य है और जनतन्त्र मानव को किस प्रकार मूल्य देता है, यह स्पष्ट कर चुके हैं। हम अब संक्षेप में यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जनतन्त्र मानव को मूल्य देकर उससे क्या आशा करता है। किस प्रकार के जीवन के ढंग के प्रति वह उससे आदर की आशा

---

1 It asserts that liberty should be supplemented by authority in both school and state; that liberty left to itself is an arch; that authority needless of indiyidual demands is totalitarianism. It believes that dmocracy maintains itself in a flexible middle ground, where it seeks the most effective balance between two complementary factors."

[*Frederick S. Breed*; Education of the Realistic outlook': Forty-first Year Book, op. cit., p. 137]

2 "Democracy as equal opportunity for all may be an empty concept.', [*Saucier W. A.*: Theory, of practice in the Elementary School, p. 70]

Also : 'In addition to the right to participate, democracy connotes 'capacity' to participate". as well. [*Mort Paul R.* : op, cit, p. 125]

करता है जिससे वह मानव को अपने विकास और प्रगति के लिए सुविधाऐं दे और मानव उसको बल और स्फूर्ति देने में अपना योग दे। जनतन्त्र व्यक्ति और समाज के हितों का संतुलन करता है और व्यक्ति को अपने विकास व हित के लिए पूर्ण सुविधायें देता हुआ उससे समाज के विकास और प्रगति में योग देने की आशा रखता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि जनतन्त्र एक सामाजिक विश्वास है, वह एक जीवन का ढंग है। हमारा अभिप्राय इससे इस बात पर जोर देने का है कि जनतन्त्र की सफलता जनतन्त्रीय ढंग पर अपने जीवन के ढंग को चलाने पर निर्भर करती है। जनतन्त्र तभी सफल हो सकता है जब वह मानव-जीवन की रग-रग में घुस गया हो अर्थात् जब तक अपने चिन्तन, दृष्टिकोण, विचार भावनाओं पारस्परिक सम्बन्धों, क्रियाओं और व्यवहारों में जनतन्त्रीय आदर्शों को मूल्य नहीं देता तब तक जनतन्त्र सफल नहीं हो सकता। जनतन्त्रीय व्यवस्था को अपनाने का अर्थ जनतन्त्रीय ढंग से रहना है जिसका आशय है कि व्यक्ति समस्त सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक मामलों में स्वतन्त्रतापूर्वक सोचे और अपना निर्णय ले, वह अपने दृष्टिकोण को विशाल बनावे और संकीर्ण राष्ट्रीयता, पक्षपात, कट्टरता, मिथ्या विश्वासों व किसी प्रकार के संकुचित विचारों का शिकार न हो। वह सत्यासत्य का न्याय और अन्याय का, तथ्य और अतथ्य का भेद कर सके और शान्ति व तर्कपूर्ण, पक्षपात रहित भाव से अपने जीवन की समस्त समस्याओं को सुलझावे। उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो, उसके विचार संयत और संतुलित हों और उसकी क्रियाएँ और व्यवहार उसके संयत, चैतन्यशील संतुलित चिन्तन की झलक देते हों। यह जनतन्त्रीय नागरिक के जीवन का आदर्श है। सहयोग, विशाल हृदयता, सहिष्णुता, न्याय, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, स्वतन्त्र चिन्तन का इस जीवन में आदर है, संकीर्णता, जातीयता, असहिष्णुता, परिपाटियों की दासता, वर्गीय भेद भाव, स्वार्थ आदि को इसमें कोई स्थान नहीं है। जनतन्त्रीय जीवन ही जनतन्त्र की सफलता में साधक है।[1]

---

1 .....a democratic citizen should have the understanding and intellectual integrity to sift truth from falsehood, facts from propaganda, and to reject the dangerous appeal of fanaticism and prejudice. He must develop a scientific attitude of mind to think objectively and base his conclusions on tested data. He should also have an *open* mind receptive to new ideas and not confined within the prison-walls of outmoded customs, traditions and beliefs. He should neither reject the old because it is old, nor accept the new because it is new, but dispassionately examine both, and courageously reject whatever arrests the forces of justice and progress."

[*Government of India, Ministry of Education*: Report of the Secondary Education Commission (Oct. 1952—June 1953]

जनतन्त्र और शिक्षा

जनतन्त्रीय व्यवस्था और उसके आदर्शों को उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर अब हम जनतन्त्र और शिक्षा के सम्बन्धों को देख सकते हैं और यह भी विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि शिक्षा जनतन्त्र को किस प्रकार बल प्रदान करती है तथा किस प्रकार की शिक्षा की जनतन्त्र के लिए आवश्यकता है।

(1) **जनतन्त्र के लिए शिक्षा की आवश्यकता :** हम ऊपर कह चुके हैं कि जनतन्त्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके नागरिकों ने किस सीमा तक अपने व्यवहार में जनतन्त्रीय आदर्शों को मान्यता दी है। अचैतन्यशील जनतन्त्र सबसे खराब व्यवस्था है। (An unenlightened Democracy is the worst form of government), और इस अचैतन्यशीलता के दुष्परिणाम हम अपने देश में देख भी रहे हैं। जनतन्त्र को भोजन और बल शिक्षा ही देती है। वही उसका अस्त्र है। वही नागरिकों के मस्तिष्क को उज्ज्वल करती है, उन्हें ज्ञान देती है, उन्हें अपने अधिकारों और कर्तव्यों का बोध कराती है और वही उनको वे गुण, आदतें, कौशल और मनोवृत्तियाँ देती है जिनके द्वारा वे समाज में अपना स्थान लेते हैं और अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों को सबके साथ निभाते हैं। जनतन्त्रीय व्यवस्था की सफलता शिक्षा के मूल्य पर अवलम्बित है और उसी से उसे बल प्राप्त होता है।

(2) **किस प्रकार की शिक्षा ? जनतन्त्रीय आदर्श :** जब कुशल नागरिकता जनतन्त्रीय शिक्षा का आदर्श है तो जनतन्त्र में हमें उस शिक्षा को महत्व देना है जो कुशल नागरिक बनावे। ऐसी अवस्था में हमें शिक्षा में केवल विषय-ज्ञान को ही महत्व नहीं देना है, लेकिन जीवन के उन सब अनुभवों के अभ्यास के लिए अवसर देने की व्यवस्था करनी है जिनका अभ्यास कर बालक आगे चलकर समाज की क्रियाओं में भाग ले सके। ज्ञान केवल ज्ञान के लिए मस्तिष्क को अलंकृत करने के लिए नहीं देना है बल्कि इसलिए और इस उद्देश्य से देना है कि बालक उसका प्रयोग कर सके। जो ज्ञान प्रयोग में नहीं लाया जा सकता वह मस्तिष्क में सड़ जाता है, उसका कोई मूल्य नहीं है। अतः कोई भी शिक्षा जो व्यक्ति को सुन्दर ढंग से दूसरों के साथ रहना नहीं सिखाती अर्थात् जो शिक्षा जीवन में उपयोगी सिद्ध नहीं होती वह निरर्थक है और जीवन में उपयोगिता का आशय उस उपयोगिता से है तो जनतन्त्रीय जीवन में सार्थक हो।[1]

---

[1] Compare : Government of India, Mintstry of Education : Report of the Secondary Education Commission :

"No education is worth the name which does not include the qualities necessary for living graciously, harmoniouly. and efficiently with ones fellowmen. Among the qualities which should be cultivated for this purpose are *Discipline, co-operation, social sensitiveness, and tolerance*" p. 25.

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि जनतन्त्र में बहुत सुव्यवस्थित और संतुलित शिक्षा की आवश्यकता है और चूँकि शिक्षा जनतन्त्र को बल प्रदान करती है इसलिए जनतन्त्रीय समाज की यह जिम्मेदारी है कि वह शिक्षा को वह शक्ति दे कि वह समाज को पुष्ट बना सके। ऐसी शिक्षा में केवल मानसिक या बौद्धिक क्रियाओं को ही स्थान प्राप्त न होगा परन्तु उन समस्त सामाजिक गुणों, व्यवहार-कौशलों, आदतों व मनोवृत्तियों को भी महत्त्व दिया जावेगा जिनको प्राप्त करके ही व्यक्ति जनतन्त्र का एक कुशल नागरिक बन सकता है। शिक्षा को केवल दूसरों की आज्ञा के अनुसार कार्य करते हुए और प्रशिक्षण दूसरों से आदेश पाकर काम करते हुए सेवकों को ही तैयार नहीं करना है बल्कि राष्ट्र के कर्णधार नेता तथा अपनी स्वतन्त्र चिन्तन शक्ति व तर्क का प्रयोग करते हुए अपने बारे में स्वयं निर्णय लेने वाले नागरिक तैयार करना है। अतः जनतन्त्रीय शिक्षा एक अत्यन्त ही तंतुलित शिक्षा होगी जिसमें बौद्धिक विकास के साथ-साथ अन्य गुणों और कौशलों को भी महत्त्व प्राप्त होगा जिन्हें प्राप्त कर व्यक्ति जनतन्त्र का आदर्श नागरिक होगा।[1]

(3) **पाठ्यक्रम :** जनतन्त्रीय शिक्षा की उक्त विशेषता को स्पष्ट कर हम जनतन्त्रीय व्यवस्था में शिक्षा के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करना चाहते हैं।

(i) **परिभाषा :** जैसा कि पिछले अध्याओं पर स्थान-स्थान पर पाठ्यक्रम की चर्चा आते समय कह आए हैं पाठ्यक्रम शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करने का साधन है। आधुनिक काल में शिक्षा को द्विमुखी प्रक्रिया के स्थान पर त्रिमुखी प्रक्रिया (tri-polar process) स्वीकार किया जाता है जिसमें शिक्षक और शिक्षार्थी के अलावा पाठ्यक्रम भी बराबर महत्त्व रखता है। पाठ्यक्रम शिक्षक और शिक्षार्थी की क्रियाओं का आधार है। जहाँ पाठ्यक्रम नहीं होगा वहाँ दोनों की क्रियाएँ निश्चल हो जावेंगी, वे आगे नहीं बढ़ सकतीं। अतः शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पाठ्यक्रम एक साधन है। वह स्वयं लक्ष्य नहीं है। उसके आधार पर शिक्षा की क्रिया चलती है, उसको प्राप्त करने के लिए नहीं। हम यह भी कह सकते हैं कि पाठ्यक्रम शिक्षा के उद्देश्यों का संकेत भी करता है। पाठ्यक्रम को देखकर उसका विश्लेषण कर हम यह पता लगा सकते हैं कि इनके द्वारा किन उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है। इसीलिए कुछ शिक्षा शास्त्री तो पाठ्यक्रम को शिक्षा का दर्शन तक कहने को तैयार

---

1 "Training for democracy postulates a balanced education in which social virtues, intellectual development and practical skill all receive the consideration."

[Government of India, Ministry of Education : Report of the Secondary Education Commission : Introduction, p 6. quoted by Gaind & Sharma : op. cit, p. 24]

हैं। स्कूल के कार्य की पाठ्यक्रम धुरी है और उसका रूप व संगठन स्कूल के कार्य व उपयुक्तता तथा शिक्षण के उद्देश्यों का माप-दण्ड है।

जब हम पाठ्यक्रम की इस दृष्टि से चर्चा करते है तो उससे हमारा क्या तात्पर्य होता है। यह तो स्पष्ट है कि उससे हमारा केवल पुस्तकीय ज्ञान से ही अभिप्राय नहीं है। पाठ्यक्रम का आधुनिक अर्थ बहुत ही व्यापक है और जब हम उसको व्यक्ति के विकास और समाज के हित का साधन तथा दोनों के हितों के समन्वय का साधन मानते हैं तो निश्चय ही हमारा तात्पर्य पाठ्यक्रम के व्यापक अर्थ से है, और उस व्यापक अर्थ में पाठ्यक्रम स्कूल के समस्त वातावरण से सम्बन्ध रखता है जिसमें बालकों के पढ़ने-लिखने सम्बन्धी, खेल कूद सम्बन्धी सामूहिक कार्य सम्बन्धी, समाज-क्रिया सम्बन्धी सभी अनुभव आ जाते हैं।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि पाठ्यक्रम विषय ज्ञान-केन्द्रित न होकर शिक्षा में जीवन-केन्द्रित आधार को अपनाता है और केवल पुस्तकीय ज्ञान से ही सम्बन्ध न रखता हुआ बालकों के स्कूल में समस्त अनुभवों से सम्बन्ध रखता है। इस व्याख्या से स्कूल के समस्त जीवन को व्यवस्थित ढंग में प्रस्तुतीकरण ही पाठ्यक्रम बन जाता है।[2]

पाठ्यक्रम के इस व्यापक रूप में विषयों का ज्ञान भी उसका एक अंग है परन्तु विषय-ज्ञान ही सम्पूर्ण पाठ्यक्रम नहीं है। केवल पुस्तकीय ज्ञान द्वारा हम बालकों को जनतन्त्र के कुशल नागरिक नहीं बना सकते। विषय ज्ञान देकर हम उनके मस्तिष्क में ज्ञान व तथ्य भर तो सकते हैं परन्तु उनको उन गुणों, आदतों, कौशल्यों तथा चारित्रिक विशेषताओं और मनोवृत्तियों को नहीं दे सकते और न उनका अभ्यास करा सकते हैं, जिनके द्वारा वे कुशल नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं। पुस्तकीय ज्ञान इनको बालकों में समावेश करने के लिए अपर्याप्त है। इसीलिए

---

1 "Curriculum, in its broadest sense, includes the complete school environment, involving all the courses, activities, readings and associations furnished to the pupils in the school."
[*Bent Rudyard K. and Kronenberg Henry, H.*: Principles of Secondary Education 1955, p. 183, quoted by Gaind and Sharma op. cit. p. 281]

2 It must be clearly understood that, according to the best educational thought curriculum does not mean only the academic subjects traditionally taught in the school, but it includes totality of experiences that a child receives at school. In this sense the whole life of the school becomes the curriculum which can touch the life of students at all points and help in the evolution of a balanced personality" [Government of India, Ministry of Education: Report of the Secondary Education Commission, p. 80, quoted by Gaind & Sharma op. cit, p. 282]

पाठ्यक्रम को जनतन्त्र में इतना व्यापक अर्थ व रूप दिया गया है। पुस्तकीय ज्ञान बहुत संकुचित है। वह आवश्यक है लेकिन पाठ्यक्रम में वही एक आवश्यकता नहीं है। जब हमारा उद्देश्य बालकों को उपयुक्त गुणों और आदतों आदि आ अभ्यास करना है जिनको वे आगे चलकर जीवन में प्रयोग में लायेंगे तो पुस्तकीय ज्ञान हमारे उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता। पाठ्क्रम का वह अंग जिसके आधार पर कक्षा के अन्दर कार्य होता है विषय-ज्ञान से सम्बन्ध रखता है।[1] परन्तु पाठ्यक्रम कक्षा के अन्दर के कार्य से ही सम्बन्ध नहीं रखता, वह तो बालक के सम्पूर्ण अनुभव से सम्बन्ध रखता है। जो कुछ उनके स्कूल के जीवन में हो रहा है, चाहे वह कक्षा के अन्दर है अथवा बाहर, वह सब पाठ्यक्रम का अंग है। कैसवेल (Casvall) ने इसीलिए पाठ्यक्रम को 'गतिशील वातावरण' (environment in motion) कहा है।[2]

(ii) **पाठ्यक्रम-निर्माण के सिद्धान्त :** जब हमारा जनतन्त्रीय व्यवस्था में पाठ्यक्रम से यह अर्थ है जो हमने ऊपर स्पष्ट किया है तब हमें उसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए तथा व्यावहारिक दृष्टि से उसका निर्माण करने के लिए उसके आधार भूत सामान्य सिद्धान्त पर विचार करना होगा। हम कह चुके हैं कि पाठ्यक्रम बालकों के समस्त अनुभवों से सम्बन्ध रखता है अतः उसका आधार बहुत विस्तृत है चूँकि बालकों को केवल कक्षा के अन्दर ही अनुभव नहीं मिलते बल्कि अधिक मूल्यवान अनुभव तो कक्षा के बाहर—खेल कूद के मैदान, पुस्तकालय, प्रयोगशाला, और अपने शिक्षकों के साथ अनेक प्रकार के अनौपचारिक सम्पर्कों में—ही प्राप्त होते हैं। यह दुहराने की आवश्यकता नहीं कि पाठ्यक्रम के अन्तर्गत ये सब आते हैं।

---

1 "The curriculum may be defined as all the experiences that pupils have while under the direction of the school; it includes both class-room and extra-class-room activities, work as well as play. All such activities should promote the needs and walfare of the individual and society. Courses of study may be defined as the part of the curriculum which is organised for class-room use. They suggest content procedures, aids, and materials for the us and guidance of pupils and administrators."

[*Walter C.* "How does your School Rate, quoted by Mohlmen Arthur B. School Administration' p 36]

2 The curriculum is all that goes on in the lives of the children, their parents anb their teachers. The curriculum is made up of everything that surrounds the learner in all his working hours. In fact, the curriculum has been described as, 'the environment in motion." [*Caswell Hollis, L.* ; Curriculum Improvement in Public School, Bureau of Publications, Columbia Univ. N. Y., P. 173]

पाठ्यक्रम के इस रूप को देखकर हम कह सकते हैं कि सबसे प्रथम आवश्यकता यह है कि हमारे पाठ्यक्रमों के आधार पर इतना विस्तृत और इतने लोचदार हों कि विभिन्न प्रकार की रुचियों वाले तथा योग्यताओं में भिन्नता रखने वाले बालकों को अपनी-अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार उससे लाभ उठाने का अवसर मिल जाय। इसमें संदेह नहीं कि पाठ्यक्रम का कुछ भाग सबके लिए सामान्य होगा परन्तु उस सामान्य भाग के अलावा बालकों को कुछ भाग अपनी अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार प्राप्त करने के लिए पाठ्यक्रम में गुंजाइश होनी चाहिए।

दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि हमारे विद्यालयों के पाठ्यक्रम हमारे सामाजिक जीवन के साथ सम्बन्धित हों। स्थानीय आवश्यकताओं को पाठ्यक्रम बनाते समय स्थान दिया जाय और जो ज्ञान बालकों को दिया जाय वह उनके अपने जीवन की परिस्थितियों में प्रयोग में आवे।

पाठ्यक्रम व निर्माण का तीसरा सिद्धान्त यह है कि पाठ्यक्रम इतना विस्तृत हो कि उससे बालक केवल कार्य के करने की ही क्षमता न प्राप्त करें बल्कि वे अपने अवकाश के समय का सदुपयोग करने का तरीका सीखें।

पाठ्यक्रम के सब बिषय चाहे वे शब्द ज्ञान; वस्तु ज्ञान अथवा क्रिया—किससे सम्बन्ध रखते हैं शिक्षा के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि से संगठित किए जायँ तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जाय। ज्ञान के विषयों के सह-सम्बन्धों तथा अध्ययनात्मक व क्रियात्मक पाठ्यक्रम के सह-सम्बन्ध पर आधुनिक शिक्षा में बहुत जोर है।

माध्यमिक स्तर के शिक्षालयों के पाठ्यक्रम का एक और माप दण्ड है और वह यह कि जो विद्यार्थी माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने के बाद आगे शिक्षा नहीं जारी रखना चाहते अथवा जिनके साधन अपर्याप्त होने के कारण जिनको अपनी विद्यालयीय शिक्षा वहीं समाप्त कर देनी होती है तो माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा उन्हें किसी व्यवसाय व रोजगार द्वारा आत्मनिर्भरता की क्षमता दे दे। हमारी माध्यमिक शिक्षा इस दृष्टि से बहुत कमजोर है और उसका आज उद्देश्य विश्वविद्यालय की शिक्षा की तैयारी है; यह भारतवर्ष जैसे गरीब देश में जहाँ अधिकांश विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय जाने के साधन ही प्राप्त नहीं है माध्यमिक शिक्षा की एक बड़ी भारी कमजोरी है। यद्यपि सरकार बहुधंधी स्कूल (Multipurpose Schools), टेकनीकल स्कूल खोलकर तथा आधुनिक पाठ्यक्रमों में संशोधन करके इस कमजोरी को दूर करने की कोशिश कर रही है, परन्तु अभी भी यह कमजोरी चल रही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

जनतन्त्रीय व्यवस्था में शिक्षा के पाठ्यक्रम को उक्त आधारों पर निर्मित करना आवश्यक है। हम कह चुके हैं कि शिक्षा जनतन्त्र का अस्त्र है और शिक्षा में विषयज्ञान देने की ही आवश्यकता नहीं है बल्कि बालकों के समस्त अनुभवों को

संगठित और निर्मित करने की आवश्यकता है। तभी तो शिक्षा जीवन-केन्द्रित शिक्षा सिद्ध होकर जनतन्त्र के कुशल नागरिकों का निर्माण कर सकती है।

(4) **जनतन्त्रीय शिक्षालय :** जनतन्त्रीय व्यवस्था में समस्त सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, व अन्य संस्थाएँ जनतन्त्रीय सिद्धान्तों के ऊपर निर्मित होंगी। उनका वही विश्वास होगा व उनका वही रूप होगा जो उस समाज का है जिसने उनको स्थापित किया। समाज विभिन्न संस्थाओं को इसलिए स्थापित करता है कि वे उन विश्वासों, आदर्शों, आशाओं व क्रियाओं का प्रसार करे जिन्हें समाज मूल्य देता है। एकतंत्रीय व्यवस्था में संस्थाओं के संगठन व कार्य-पद्धतिओं का आधार एकतंत्रीय होगा, सामन्तशाही व्यवस्था में सामन्तशाही, जनतन्त्रीय व्यवस्था में जनतन्त्रीय। जब हम जनतन्त्रीय व्यवस्था को स्थापित करते हैं तो हम उसके मूल्य को स्वीकार करते हैं और जिन मूल्यों को जनतन्त्रीय व्यवस्था स्वीकार करती है उनकी हम रक्षा करते हैं और उनकी पीढ़ी-दर-पीढ़ी रक्षा करने के लिए संस्थाओं को स्थापित करते हैं। स्कूलों का इस दृष्टि से बहुत महत्व है और इस सम्बन्ध में उनकी सबसे अधिक जिम्मेदारी है। उसके प्रमुख कारण दो हैं : (1) स्कूलों की स्थापना समाज ने इसी विशिष्ट उद्देश्य को लेकर की है कि वे समाज को दृढ़ बनाने के लिए बालकों को वे गुण, कौशल, ज्ञान व मनोवृत्तियाँ दें जिन्हें प्राप्त कर बालक आगे चलकर समाज को दृढ़ बना सकें और इस प्रकार अपनी कुशल नागरिकता का परिचय दे सकें। दूसरा कारण यह है कि स्कूल ही एक ऐसी संस्था है जिसमें होकर बालक परिवार के बाद अपने जीवन के प्रथम भाग में प्रवेश करता है और जिसकी सदस्यता सबको प्राप्त हो जाती है। अन्य संस्थाओं में सबको प्रवेश पाने का अवसर नहीं मिल सकता है और सब बालक व युवक सब संस्थाओं में प्रवेश पाने के लिए उत्सुक भी न होंगे। परन्तु स्कूल ऐसी संस्था है जिसमें होकर प्रत्येक बालक अपने जीवन में गुजरता है और जो प्रभाव व अनुभव वह वहाँ प्राप्त करता है वे सारे जीवन उसके साथ रहते हैं। इन दो दृष्टि-कोणों के आधार पर जनतन्त्र में शिक्षालयों पर विशेष प्रकार की जिम्मेदारी आ जाती है और उनको स्थिर रहने का तभी अधिकार प्राप्त हो सकता जब वे अपनी व्यक्ति व समाज के प्रति जिम्मेदारियों को निभावें। यहाँ हम स्कूल की इन दोनों प्रकार की जिम्मेदारियों पर कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं।

(i) **स्कूल और व्यक्ति :** हम ऊपर कह आये हैं कि जनतन्त्र मानव को विश्व की अमूल्य सम्पत्ति मानता है और मानव को मूल्य देकर ही जनतंत्र चल सकता है। जनतंत्रीय व्यवस्था के दृढ़ होने और बल प्राप्त करने की बड़ी शर्त यह है कि इसमें मानव को मूल्य दिया जाय—उससे व्यक्तित्व का सम्मान किया जाय, उसके अधिकारों को मान्यता दी जाय, उसके विचारों का आदर किया जाय और उसके समस्त निर्णयों में जिनका उनसे सम्बन्ध है उसकी सम्मति ली जाय और उसका मान किया जाय या इस व्यवसाय के आधार पर हम स्कूल और व्यक्ति के सम्बन्धों और स्कूल का व्यक्ति के प्रति दायित्व पर विचार करना चाहते हैं। चूँकि समाजिक जीवन

में मानव के व्यक्तित्व को सम्मान प्राप्त है तो स्कूल में जो सामाजिक जीवन का लघु रूप है बालक के व्यक्तित्व का सम्मान होना आवश्यक है। इस आधार में हम स्कूल के समस्त जीवन का सार देखते हैं। इसमें भय का स्थान भ्रम, संघर्ष का समन्वय, अन्याय का न्याय, दासत्व का स्वतन्त्रता, द्वेष व स्वार्थ का सद्भावना, सहयोग व सामूहिक हित ले लेते हैं। प्रत्येक बालक को समझना, उसके व्यक्तित्व का आदर करना, उसको अपनी शक्तियों के विकास के लिए ज्ञान देना व अन्य क्रियाओं का आयोजन करना, उनकी सामाजिक प्रवृत्ति को चेतन करना उसे स्फूर्ति देना—ये स्कूल की विशेष जिम्मेदारी है। जनतन्त्रीय शिक्षालय अपने इस दायित्व को निभाकर ही जनतन्त्रीय समाज के प्रतीक हो सकते हैं।

हमने पिछले अध्यायों में आवश्यकतानुसार स्थान-स्थान पर मानव और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा की है और इस बात पर पर्याप्त प्रकाश डाला है कि समाज के बिना मानव-जीवन स्थित नहीं रह सकता। मानव सामाजिक प्राणी है और समाज का सदस्य रह कर ही उसका विकास सम्भव है। इस सामाजिक जीवन के संवाहित रहने तथा उसकी क्रियाओं के सफलता पूर्वक चालू रहने की प्रमुख आवश्यकता सहयोग है। किस प्रकार सब व्यक्ति सहयोग पूर्वक कार्य करें? सहयोग के बिना सामूहिक क्रिया चल ही नहीं सकती। सहयोग समस्त सामाजिक क्रियाओं की सफलता की कुंजी है। सहयोग होने और सहयोग प्राप्त करने की कुंजी किसी भी सामूहिक क्रिया में भाग लेने वाले सदस्यों का एक दूसरे से परिचय आवश्यक है। वे एक दूसरे को जानें और केवल नाम से ही या शक्ल से ही न जानें (और वह कुछ मूल भी नहीं रखता) बल्कि वे एक दूसरे के बारे में यह जानें कि कौन क्या कर सकता है, कौन किस प्रकार सामूहिक उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकता है, किसमें कितनी शक्ति है, किसकी किस प्रकार की रुचि है, आदि। सब व्यक्तियों की एकसी शक्ति नहीं होती है, एक सी रुचि नहीं होती, एकसी परिस्थितियों में सब कार्य नहीं कर सकते। अतः जहाँ सामूहिक कार्य है वहाँ इस प्रकार की सबके विषय में जानकारी आवश्यक है।

स्कूल का जीवन ऐसी क्रियाओं और वातावरण का आयोजन करता है जहाँ बालक सामूहिक रूप में कार्य करते हैं। उनके व्यक्तिगत कार्य भी होते हैं परन्तु स्कूल की दृष्टि से सब कार्य सामूहिक भी होते हैं क्योंकि प्रत्येक कार्य में शिक्षक और शिक्षार्थी चाहे वह एक हो या अधिक लगे होते हैं। अतः यह आवश्यक है कि स्कूल प्रत्येक बालक को जाने और इस जानने का वही अर्थ है जो हम ऊपर स्पष्ट कर आए हैं। प्रत्येक बालक की शक्तियों, उसके वातावरण व घर के प्रभावों, उसकी रुचियों व अयोग्यताओं, उसकी मनोवृत्ति आदि का जानना और उसके आधार पर उसको उन क्रियाओं में प्रयुक्त करना जिनको वह अपनी शक्ति के अनुसार तथा अपनी रुचि व योग्यता के अनुसार कर सकता है, स्कूल की जिम्मेदारी है। तभी तो स्कूल रूपी समाज की सामूहिक क्रियाओं में प्रत्येक बालक भाग ले सकता है तथा उस समाज की

योग्यता प्राप्त कर सकता है। हमने पाठ्यक्रम को इतना विस्तृत आधार दिया तथा शिक्षा को इतने व्यापक अर्थ में प्रयोग किया। आखिर क्यों ? क्योंकि जनतन्त्रीय समाज यही चाहता है और यही उसकी आवश्यकताएँ है ।

समाज की जिम्मेदारी सदस्यों का एक दूसरे से परिचय कराकर तथा उनको एक दूसरे के बारे में पूरा-पूरा ज्ञान देकर ही समाप्त नहीं हो जाती है, बल्कि उन सदस्यों, को उन क्रियाओं से भी परिचित कराना होता है जो क्रियाएँ उन सदस्यों को करनी हैं। स्कूल रूपी समाज में ये क्रियाएँ ही पाठ्यक्रम है। पाठ्यक्रम स्कूल के सदस्यों, शिक्षक और शिक्षार्थियों की क्रियाओं का संगठित रूप है। साथ ही साथ वह उनको क्रियाओं के करने का आधार भी देता है। शिक्षा को इसलिए त्रिमुखी प्रक्रिया (Tri-polar process) कहा गया है। जिस पर हम पहले प्रकाश डाल आये हैं।

उक्त व्याख्या के आधार पर हम संक्षेप में स्कूल और बालको के सम्बन्धों और स्कूल के उनके सम्बन्ध में दायित्व को इस रूप में रख सकते हैं :—

(अ) स्कूल बालकों को भली प्रकार जाने उसकी पृथक-पृथक शक्तियों, रुचियों, घरेलू वातावरणों, मनोवृत्तियों आदि को समझ कर उनके उपयुक्त उनकी शिक्षा की व्यवस्था करें।

(ब) स्कूल के वातावरण में प्रेम, सहयोग, न्याय, सद्भावना का प्रभाव हो और प्रत्येक बालक के व्यक्तित्व का सम्मान हो व उसके प्रति प्रेम और सहानुभूति का बर्ताव हो।

(स) स्कूल के कार्यक्रम को निश्चित करने में बालकों को अवसर प्राप्त हो।

(द) स्कूल बालकों को सामाजिक जीवन का परिचय देकर उनको उस जीवन में भाग लेने के लिए प्रारम्भिक अभ्यास करावे।

(य) स्कूल बालकों को उनके विकास के लिए सुविधाएँ देता हुआ उनमें समाज हित का भाव भरे तथा उन्हें विषय ज्ञान के अलावा वे गुण, कौशल, मनोवृत्तियाँ तथा चारित्रिक विशेषताएँ दे जिनके द्वारा वे समाज के उत्थान में अपना योग दे सकें।

(ii) **स्कूल और समाज :** हम पहले कह चुके हैं कि जनतन्त्रीय समाज में स्कूलों की जिम्मेदारी ऐसे नागरिकों को तैयार करना है जो उस समाज में रह कर उसके आदर्शों की रक्षा कर सकें और उस समाज को बल दें। अतः शिक्षा संस्थाओं को युवक और युवतियों को एक प्रगतिशील जनतन्त्रीय समाज में सुन्दर ढंग से रहने की क्षमता प्रदान करनी है जिससे वे अपने हितों की पूर्ति करते हुए समाज के हितों की पूर्ति में योग दे सकें।[1]

---

1 "The function of educational institutions is "to help men and women to live fuller and happier lives in adjustment with their

(शेष पेज 269 पर)

ऐसी परिस्थिति में शिक्षालयों को अपने कार्य को सामाजिक आधार देकर ही अपने उद्देश्य की पूर्ति में सहायता मिल सकती है। हमारी शिक्षा व्यवस्थाओं की एक बहुत जबर्दस्त कमजोरी यह है कि उनमें शिक्षा के इस आधार को मूल्य नहीं किया जाता है। परिणाम यह होता है शिक्षालयों का कार्य जीवन से पृथक हो जाता है और स्कूल और समाज के बीच की खाई अधिक चौड़ी हो जाती है। स्कूल के जीवन और समाज के जीवन का अभिन्नत्व और उसके आधार पर शिक्षा के सम्पूर्ण रूप का संगठन ही स्कूल और समाज के सम्बन्धों का प्रतीक है। हम दूसरे शब्दों में शिक्षा के इस आधार को जीवन-केन्द्रित शिक्षा कह सकते हैं—वह शिक्षा जिसका प्रोग्राम, जिसकी क्रिया और जिसका संगठन जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से सम्बन्ध रखता है जिसमें केवल विषयों के ज्ञान को ही महत्व नहीं है बल्कि जिसमें उन समस्त क्रियाओं व अनुभवों को महत्व है जिन्हें समाज मूल्य देता है और जिन्हें वह अपने प्रत्येक सदस्य को जान लेना आवश्यक समझता है। यदि हमारे शिक्षालय इस आदर्श को लेकर चलें तो हमारा जनतन्त्रीय समाज पुष्ट हो सकता है अन्यथा हमारा जनतन्त्र ही नहीं, जहाँ कहीं जनतन्त्रीय व्यवस्था है और जहाँ उक्त आदर्श की पूर्ति नहीं होती वहाँ उस व्यवस्था का स्थित रहना असम्भव हो गया।[1]

अतः जनतन्त्रीय समाज के आदर्शों के आधार पर स्कूल का पुनर्गठन करने की सबसे बड़ी माँग यह है कि स्कूल के जीवन और सामाजिक जीवन के बीच की दीवालें गिरा दी जाँय और स्कूल का जीवन सामाजिक जीवन का लघु रूप बनाया जाय। यथार्थ में यदि स्कूल के जीवन में सामाजिक जीवन प्रवेश करने लगेगा तो स्कूल और समाज के बीच की दीवालें गिर जावेंगी और स्कूल समाज के ही लघु रूप

(पेज 268 का शेष)

changing environment to develop the best element in their own culture and to achieve the social and economic progress which will enable them to take their place in the modern world and to live together in peace." [*UNESCO* : Fundamental Education, Description and Programme, Paris, 1949, p. 9.]

1 "It is only through realistic—and therefore life—centred education that this great gulf between thinking and doing, between school and community, can be permanently bridged and thereafter forgotten. And unless the gulf is speedily eliminated democracy in the Gloal Air Age may not long endure" [*Olsen Edward G* : School & Community, p., 20, quoted by Gaind & Sharma : op. cit., p. 88]

हो जावेंगे। जनतन्त्रीय समाज में स्कूल का वही आदर्श है।[1]

इस आदर्श की पूर्ति के लिए स्कूल का तीन प्रकार के कार्य हैं : (1) स्कूल अपने कार्यक्रम—प्रोग्राम व पाठ्यक्रम को विस्तृत बनाकर उसे जीवन-केन्द्रित शिक्षा का आधार बनावें। पाठ्यक्रम के इस रूप की व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं; (2) स्कूल अपनी शिक्षण पद्धतियों को प्रगतिशील बनावें। कठोर अन्मम, परम्परागत पद्धतियों से शिक्षा के नये व प्रगतिशील उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती। अतः पाठ्यक्रम को विस्तृत बनाते हुए वे अपनी शिक्षण पद्धतियों को भी प्रगतिशील व लचकदार बनावें। हम पिछले एक अध्याय में इस बात पर प्रकाश डाल चुके हैं कि प्रगतिशील पद्धतियाँ क्या हैं। अतः उस पूरी व्याख्या को हम दुहराना नहीं चाहते। सुविधा के लिए यह संकेत करना चाहते हैं कि जो पद्धतियाँ लचकदार हैं और आवश्यकतानुसार जिनमें संशोधन किए जा सकते हैं, जो पद्धतियाँ पाठ्यक्रम को बालक की और समाज की आवश्यकताओं को देखते हुए उन तक पहुँचा सकती हैं, जो पद्धतियाँ बालकों को स्वतन्त्र क्रियाएँ करने तथा स्वतन्त्र चिन्तन और तर्क-शक्ति को बल देती हैं, जो बालकों में ठीक प्रकार की मनोवृतियाँ व स्वावलम्बन की शक्ति का समावेश करती हैं वे ही पद्धतियाँ प्रगतिशील कहलाने का अधिकार रखती हैं; (3) स्कूल की तीसरी जिम्मेदारी यह है कि स्कूल में शिक्षक और व्यवस्थापक, सब यह समझें कि वे जनतन्त्रीय समाज की शिक्षा तभी दे सकते हैं जब वे स्वयं अपने चिन्तन, व्यवहारों, भावों व क्रियाओं में जनतन्त्रीय आदर्श को मान्यता दें। जनतन्त्र के बारे में व्याख्या करने के जनतन्त्रीय व्यवहार को नहीं सिखाया जा सकता। वह तो अपने व्यवहार में लाने से और दूसरों को उसका अभ्यास कराने से सिखाया जाता है। इन तीन प्रकार के दायित्वों को निभाकर स्कूल जनतन्त्रीय समाज का प्रतिबिम्ब हो सकता है और उसकी प्रतिनिधि संस्था कहा जा सकता है। 'एक राष्ट्र

---

1 Compare : Government of India, Ministry of Education Report of the Secondary Education Commission.
"The starting point of educational reform must be the relinking of the school to life and the restoring of the intimate relationship beetween them which has broken down with the development of the formal tradition of education." p. 220, quoted by Gaind & Sharma : op. cit , p. 93.
" . ....Outside life will flow into the school and lower, if not 'knock down' the walls that at present isolate it from the currents of life operating outside.i" p. 221. quoted by Gaind & Sharma : op. cit. p. 95.
Also, "To describe the school as a 'Community' is to emphasise the corporate, social character of education." [*Greene T. M.* : a Liberal Christian Idealistic Philosophy of Education : Fifty-fourth Year Book : op. cit. 117]

के स्कूल' जैसा कि टी० पी० नन ने कहा है "उसके प्राण हैं। वे उसकी आध्यात्मिक शक्ति को दृढ़ करते हैं, उसकी ऐतिहासिक अविरलता को संवाहित रखते हैं, उसके अतीत की रक्षा करते हैं, तथा उसके भविष्य को सुरक्षित बनाते हैं।" वे जीवन को आदर्श रूप से प्रस्तुत करते हुए जीवन के समस्त पहलुओं को स्पर्श करते हैं और उसके अतीत, वर्तमान और भविष्य के रूप का दिग्दर्शन कराते हैं।[1]

(5) **स्वतन्त्रता अथवा नियन्त्रण**—जनतन्त्र और शिक्षा के सम्बन्धों की व्याख्या पर इस अन्तिम विषय पर प्रकाश डाल कर समाप्त कर देना चाहते हैं। हम स्वतन्त्रता के विषय में ऊपर प्रकाश डाल चुके हैं। स्वतन्त्रता का मतलब अनियन्त्रितता अथवा उच्छृंखलता नहीं है और अनुशासन का अर्थ नियन्त्रितता नहीं है। स्वतन्त्रता और अनुशासन दोनों दो सिरों के मिलन बिन्दु पर स्थित हैं। एक सिरे पर पूर्ण नियन्त्रण (totalitarism) है तो दूसरे सिर पर अनियन्त्रित उच्छृङ्खलता है। वास्तविक स्वतन्त्रता अपने ऊपर अनुशासन रखने में ही है। स्वतन्त्रता साधन है उद्देश्य, नहीं है, यदि स्वतन्त्रता का अनुभव करके मानव उससे लाभ न उठा कर अपने को पतित करता है अथवा समाज का अहित करता है तो वह स्वतन्त्रता नहीं है, वह उसका विकृत रूप है। अपनी स्वतन्त्रता का उस सीमा तक भोग करते हुए कि दूसरों की स्वतन्त्रता में वह बाधक न हो, हम अपनी स्वतन्त्रता को सार्थकता का प्रमाण दे सकते हैं, अन्यथा नहीं।

अनुशासन के सम्बन्ध में भी हम कई स्थानों पर चर्चा कर आए हैं। 'अनुशासन' शब्द का प्रायः दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है, एक अर्थ संकुचित अर्थ है जिससे हम अनुशासन का तात्पर्य स्कूल को व्यवस्था की मान्यता (school order) से लगाते हैं; दूसरा अर्थ व्यापक है जिससे अनुशासन से तात्पर्य हम आत्मा, चरित्र और पूरी मनोवृत्ति की ट्रेनिंग से लगाते हैं जिसके फलस्वरूप बालकों में शनैः शनैः अन्दर से उन गुणों आदतों व चारित्रिक विशेषताओं का समावेश होता है। जिनके द्वारा वे समस्त क्रियाओं और व्यवहारों में समाज स्वीकृत नमूनों का परिचय देते हैं। इसका काम बल देने की आवश्यकता नहीं कि वास्तविक रूप में यही सच्चा अनुशासन है और जनतन्त्रीय व्यवस्था जो मानव के गुणों के ऊपर स्थित है और उन्हीं के ऊपर चलती है। ये इसी प्रकार के अनुशासन की आवश्यकता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से युग-युग में अनुशासन का अर्थ भिन्न-भिन्न भले ही रहा हो और हम यह पढ़ते भी हैं कि प्राचीन राज्यों में तथा मध्यकालीन युग में अनुशासन के

---

1 *Cf. Nunn T. P.* : Education, its data and First Principles, 1930 ed, p. 233.

Also, "....the school should be an idealised epitome or model of the world, not merely the world of ordinary affairs, but the whole of humanity, body and soul, past, present and future." [*Branford,* quoted by Nunn : op. cit., p. 233]

भिन्न-भिन्न माप दण्ड थे परन्तु मानव के जीवन में प्रत्येक विचार और प्रत्येक आदर्श में उसके वृहत रूप में सामाजिक जीवन की छाप होती है आज जनतन्त्रीय युग में जब हम शिक्षा को इतना व्यापक अर्थ दे रहे हैं, जब हम अपनी संस्थाओं के कार्य क्षेत्र को इतना विस्तृत बना रहे हैं, जब हम जीवन के ढंग की कल्पना स्वतन्त्र मानव के रूप में जो अपनी समाज और वातावरण से समन्वय करता हुआ, अपनी बुद्धि और चिन्तन तथा तर्क का प्रयोग करता हुआ अपना जीवन बिताता है, कर रहे हैं तो हमें "अनुशासन को भी व्यापक अर्थ में ही स्वीकार करना होगा। जैसा कि जॉन ड्यूई ने कहा है और जिसकी हम ड्यूई के विचारों की व्याख्या करते समय चर्चा कर चुके हैं, अनुशासन वह शक्ति है जो मनुष्य को अपने कार्य में संलग्नता और अभिप्राय-सिद्धि की भावना से प्रेरित करती है, जो श्रम और शक्ति को नष्ट होने से रोकती है और उसका सदुपयोग करती है तथा जो कि भावी अपूर्णावस्था से लेकर पूर्णावस्था तक के मार्ग में मनुष्य के प्रयत्नों को संचालित करती है।" जैसा कि एक अन्य लेखक ने कहा है "अनुशासन रखने का एक ढंग है और हम जो कुछ भी स्कूल रूपी समाज के बारे में कहते हैं अथवा बालकों और शिक्षकों के बारे में कहते हैं वह सब अनुशासन की ओर ही हमें खींचता है क्योंकि यथार्थ में सारी शिक्षा का मूल्य यही है कि बालक अपनी सब शक्तियों का उचित प्रयोग करके अच्छे ढंग से रहना सीखे।"[1]

इसके लिए यह आवश्यक है कि बालक अपनी शक्तियों का उचित प्रयोग करे, अपने जीवन में अपने अभिप्रायों और उद्देश्यों को समझे और उनकी सिद्धि के लिए दृढ़ता पूर्वक लगन से प्रयत्न करे, अपनी क्षणिक वर्तमान की आवश्यकताओं के प्रलोभन में न आकर दूर की सोचे और भविष्य के लिए उज्ज्वल रास्ता अपनावे, अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण करे तथा जीवन को फूलों की सज्या ही न समझे, अपने जीवन के सामाजिक रूप को महत्व दे तथा अपने व्यवहार में सामाजिक गुणों का परिचय दे। अनुशासन की अनुभूति तथा उसके आधार पर अपना समस्त व्यवहार व चिन्तन संचालित करना आसान नहीं है परन्तु जीवन में सफलता की दूसरी कंजी भी नहीं है।[2]

---

1 *Cf. Castle E. B* : People in School, p. 15.

2 "It (discipline) means the putting of loyalties and knowledge to efficient use, the ordering of life in the light of understanding and toward the attainment of purpose. It involves the subordination of the near to the remote, of the present to the future, of the lesser to the greater good. It involves the restraint of the impulses of the moment, the regulation of desire, the postponement of satisfaction, the sacrifice of immediate comforts and pleasures, the choice of the harder way where the easier one is open. Discipline is never indulgent it may be rigorously exacting. But

(शेष पेज 273 पर)

अनुशासनहीनता व्यक्ति, समाज, राष्ट्र—सबके लिए बरबादी व अव्यवस्था का सूचक है। जनतन्त्रीय व्यवस्था में अनुशासन का बहुत मूल्य है क्योंकि इस व्यवस्था में किसी बाहरी शक्ति द्वारा अनुशासन को स्थापित नहीं किया जाता बल्कि जनतन्त्र के नागरिक ही व्यक्तिगत रूप में अनुशासन का परिचय देकर सामाजिक अनुशासन की स्थापना करते हैं। अतः जनतन्त्र में अनुशासन की स्थापना के लिए दमनात्मक विधियों—दण्ड आदि, को स्थान नहीं है। चूंकि अनुशासन सकारात्मक रूप लिए हुए है और शक्ति के उचित प्रयोग तथा मनोवृत्तियों तथा चारित्रिक विशेषताओं की सामाजिक दृष्टि से वांछनीयता के ऊपर आधारित है अतः अनुशासन की भावना बालकों में उत्पन्न करने के लिए उन्हें इस प्रकार की ट्रेनिंग दी जाय और उनको ऐसी परिस्थितियों में रक्खा जाय कि वे अपनी शक्तियों का सदुपयोग सीखें और सामाजिक दृष्टि से वांछनीय मनोवृत्तियों और गुणों को अभ्यास द्वारा प्राप्त कर लें। इस प्रकार का अनुशासन भय व दण्ड विधान द्वारा बाहर से थोपा नहीं जाता बल्कि अनुशासित जीवन रह कर ही प्राप्त किया जा सकता है और उस जीवन को सम्भव बनाने की जिम्मेदारी केवल शिक्षकों की ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज की है।

सारांश

प्रत्येक युग की संस्थाएँ उस युग के मानव समाज द्वारा स्थापित की जाती हैं और वे उस समाज के आदर्शों, विश्वासों व परिपाटियों आदि को अपने संगठन व प्रक्रियाओं में प्रतिबिम्बित करती हैं। समाज पितृ-संस्था है, अन्य संस्थाएँ उसी से अपना रूप व उद्देश्य आदि प्राप्त करती हैं। जनतन्त्रीय समाज की सब संस्थाएँ जनतन्त्रीय आदर्श पर चलकर ही स्थित रह सकती हैं।

जनतन्त्र केवल एक राजनैतिक व्यवस्था ही नहीं है। वह एक सामाजिक विश्वास है, एक जीवन का ढंग है। उसके इस रूप को समझकर ही उसकी रक्षा हो सकती है। केवल राजनैतिक क्षेत्र तक सीमित रखना ही उसके प्रति सन्देह की भावना पैदा करता है। ऐसा जनतन्त्र कभी चल नहीं सकता। इतिहास इस बात का साक्षी भी है।

जनतन्त्र के आदर्शों में मानव के व्यक्तित्व का मूल्य, उसके अधिकारों की रक्षा, उसकी स्वतन्त्रता, उसके प्रति न्याय व समानता का बर्ताव तथा उसकी शक्ति और उसकी योग्यताओं की मान्यता, मुख्य हैं। जनतन्त्र मानव को विश्व की अमूल्य वस्तु

(पेज 272 का शेष)

it assumes this severe form, not because there is virtue in severity, but rather because such is the condition of achievement." [Educational Policies Commission, U. S. A. : The Education of Free Men in American Democracy.]

मानता है। जनतन्त्र अशान्ति, युद्ध, संघर्ष के तरीकों के स्थान पर शान्ति, सहयोग और समन्वय के तरीकों में विश्वास करता है।

शिक्षा जनतन्त्र का अस्त्र है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य को वे गुण, आदत, कौशल तथा ज्ञान आदि प्राप्त होते हैं जिनसे वह जनतन्त्र का सफल नागरिक बन सकता है।

जनतन्त्रीय शिक्षा केवल विषय-ज्ञान से ही सम्बन्ध नहीं रखती बल्कि बालक के समस्त अनुभव से सम्बन्ध रखनी है। जनतन्त्री शिक्षा का अर्थ बहुत व्यापक है।

जनतन्त्रीय शिक्षा में पाठ्यक्रम पुस्तकीय ज्ञान से ही सीमिति नहीं बल्कि उसका बहुत विस्तृत आधार है। जीवन-केन्द्रित शिक्षा जनतन्त्रीय शिक्षा का वास्तविक रूप है।

जनतन्त्रीय शिक्षा में शिक्षण विधियों का प्रगतिशील, नम्य तथा क्रियात्मक होना आवश्यक है तभी वे शिक्षा के व्यापक अर्थ को सार्थक कर सकती हैं।

जनतन्त्रीय शिक्षालय समाज के लघु रूप होंगे। अपने पाठ्यक्रम को जीवन-केन्द्रित बनाकर, अपनी शिक्षण पद्धतियों को प्रगतिशील व नम्य बनाकर तथा शिक्षकों और व्यवस्थापकों के व्यवहारों व मनोवृत्तियों में जनतन्त्रीय आदर्श को झलकाकर स्कूल जनतन्त्रीय आदर्शों की पूर्ति कर सकते हैं। स्कूलों की व्यक्ति तथा समाज दोनों के प्रति जिम्मेदारी है।

जनतन्त्रीय व्यवस्था में स्वतन्त्रता और अनुशासन जनतन्त्र के आदर्शों की प्राप्ति के साधन हैं। उनका सदुपयोग श्रम व शक्ति की बचत कर जीवन के ढंग को व्यवस्थित करता है। अनुशासन शक्ति है और वह बाहर से थोपा नहीं जाता बल्कि शनैः शनैः अन्दर से उत्पन्न होता है जो ढंगपूर्वक रहने में झलकता है। अनुशासन रहने का ढंग है। जनतन्त्र में शिक्षा के अर्थ की तरह अनुशासन का भी व्यापक अर्थ है और वही अर्थ जनतन्त्र में मूल्य रखता है।

१४
शिक्षा में विशिष्ट पद्धतियाँ

बुनियादी (बेसिक) शिक्षा
(Basic Education)

बेसिक शिक्षा के अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि हम उन परिस्थितियों पर ध्यान दें जिनके मध्य इसका जन्म हुआ। कुछ शताब्दियों से लोगों में यह धारणा प्रबल होती जा रही थी कि शिक्षा की परम्परागत पद्धति दोषपूर्ण और नवीन परिस्थितिओं के प्रतिकूल है। दिन पर दिन बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावना ने उस पुरानी शिक्षा-पद्धति के विरोध में असंतोष भी प्रकट करना आरम्भ कर दिया और बहुत दिनों से अनुभव होने लगा है कि परम्परागत शिक्षा-व्यवस्था राष्ट्रीय जीवन को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने में पूर्णतया असफल रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद वह राष्ट्रीय शक्तियों और प्रवृत्तियों को न तो संगठित ही कर पाई है और न उनका उचित मार्ग निर्देश ही कर सकी है।

"शिक्षा को हमारे समाज के गतिशील स्वरूप को ध्यान में रखकर चलना चाहिए तथा नवयुवकों को इस गतिशील समाज के उपयुक्त बनाने की नैतिक जिम्मेदारी अनुभव करनी चाहिए। शिक्षा उन शक्तियों को जो समाज के सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन कर रही हैं ध्यान में रखे बिना शिक्षा के वे एक कदम भी आगे बढ़ नहीं सकती हैं।[1]

परम्परागत शिक्षा पद्धति वास्तव में पुस्तक-ज्ञान पर जोर देने वाली थी। उसमें न तो बालकों के अन्दर संगत, अभिवृत्तियों और अन्य आवश्यक व्यक्तित्व सम्बन्धी गुणों को पैदा करने की क्षमता थी और न राष्ट्रीय जीवन में उनमें उचित स्थान ग्रहण करने की योग्यता पैदा करने की शक्ति थी। इस शिक्षा पद्धति की अक्षमता का जाकिर हुसैन कमेटी रिपोर्ट में निम्न प्रकार से उल्लेख किया गया है—

---

[1] Hand book for Teachers of Basic schools : Ministry of Education, Government of India, p. 2.

"आज जबकि दिन-पर-दिन होने वाले महत्वशील परिवर्तन राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का पुनर्निर्माण कर रहे हों, और देश नागरिकों से अनेक प्रकार की आशाएँ लगाये बैठा हो तब शिक्षा पद्धति जीवन के वास्तविक मार्ग से दूर उपेक्षा भाव से चलती जावे, और बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बनाने का प्रयत्न भी न करे। न तो यह शिक्षा वर्तमान परिस्थितियों के वास्तविक तत्वों को लेकर चलती है और न सजीव एवं रचनान्मक आदर्शों से प्रभावित ही प्रतीत होती है। यह पद्धति व्यक्तियों को समाज के उपयोगी एवं उत्पादक सदस्य बनाने, उनमें आत्म-निर्भरता की भावना पैदा करने, और इसके काम में योग्यता पूर्वक भाग लेने की शिक्षा नहीं देती। नवीन सामाजिक व्यवस्था का बोध देना तो बहुत दूर रहा जिसकी स्थापना में सहायता करना शिक्षा का लक्ष्य है। वह शिक्षा शोषण और निरंकुश शक्ति पर आधारित वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को दूर करने में सहायक सिद्ध नहीं हो सकती।"

परम्परागत शिक्षा प्रणाली

(1) यह शिक्षा प्रणाली अव्यावहारिक एवं पुस्तक ज्ञान को प्रधानता देने वाली थी। इसका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था। सीखने की प्रक्रिया में बालकों से किसी प्रकार का सहयोग प्राप्त नहीं हो सकता था, क्योंकि बालक बिल्कुल निष्क्रिय और अपने विषय में उदासीन बने रहते थे।

(2) इस शिक्षा से उनकी आदतों के निर्माण, और चरित्र के संगठन में किसी प्रकार का योग प्राप्त नहीं हो सकता था। इस शिक्षा ने विद्यार्थियों का उनके वातावरण से सम्बन्ध ही तोड़ दिया था। आदर्श रूप में शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो बालकों में से सर्वश्रेष्ठ को निकालने की चेष्टा करती है किन्तु परम्परागत शिक्षा प्रणाली ऐसा करने में सर्वथा असमर्थ थी क्योंकि वह न तो बालकों के सम्मुख ऐसी परिस्थितियाँ ही पैदा कर सकती थी जिनमें वे अपने प्रकृतिजन्य गुणों का प्रदर्शन कर सकते और न उनके व्यक्तित्व का विकास ही कर सकती थी।

(3) 'वर्तमान शिक्षा प्रणाली एक जंजाल एवं धोखा रही है।' गाँधी जी ने बतलाया "कि यह शिक्षा प्रणाली न केवल अहितकर ही है, अपितु वह बालकों का समय भी नष्ट करती है। यह शिक्षा पाने के बाद बहुत से विद्यार्थी अपने माता पिता एवं पेशे से भी अलग हो जाते हैं। उनमें बुरी आदतें पड़ जाती हैं, वे नागरिक जीवन पर बुरा प्रभाव डालते हैं, और सम्पूर्ण शिक्षा काल के उपरान्त कुछ ऐसी वस्तु ग्रहण करते हैं जिसे हम मुश्किल से शिक्षा का नाम दे सकते हैं।"

(4) परम्परागत शिक्षा को प्राप्त कर विद्यार्थी यह जान पाता था कि उसे क्या करना है। 'छोटे लड़के और लड़कियाँ प्राइमरी कक्षाओं से माध्यमिक कक्षाओं में, और माध्यमिक कक्षाओं से महाविद्यालयों में प्रवेश पाते रहते थे किन्तु उस प्रवेश का प्रयोजन उन्हें ज्ञात न होने के कारण जीवन के 20 वर्ष बेकार चले जाते थे।

फलत: उनमें टालमटोल करने, संकोच दिखाने, और जीवन के कार्यों में अनिश्चितता दिखाने की आदत पड़ जाया करती थी। इस प्रकार दी गई शिक्षा बालकों को किसी व्यवसाय के लिए तैयार नहीं कर सकती और न उनमें सामर्थ्य ही पैदा कर सकती है कि वे अपने पैरों पर खड़े रह सकें। यह शिक्षा न तो उनको स्वावलम्बी और न आत्मनिर्भर ही बना सकती है। शिक्षा को सार्थक बनाने की समस्या हमारे सामने अब भी विद्यमान है।

(5) यदि शिक्षा पद्धति वास्तव में उपयोगी होना चाहती है तो वह बालक में से सबसे अच्छी बातें निकाल सकने में समर्थ होनी चाहिए। यह उनको दक्ष नागरिक एवं सुचरित्र व्यक्ति बनाने में भी समर्थ होनी चाहिए।

(6) चूँकि उस प्रणाली में अंग्रेजी एक अनिवार्य विषय थी एवं शिक्षा का माध्यम भी थी। अत: उन विद्यार्थियों को उसमें विशेष अड़चन पड़ा करती थी जो अंग्रेजी भाषा में कमजोर होते थे।

(7) जीवन की वास्तविकताओं से इस प्रकार की शिक्षा का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। "सरकार का यह विश्वास है कि प्राइमरी स्कूलों में इस अनुचित विनाश का मुख्य कारण उन स्कूलों के वातावरण में है। इन स्कूलों में न तो विद्यार्थियों के बैठने का उचित प्रबन्ध ही है, और न उनकी शिक्षण विधियाँ बालकों के जीवन से किसी प्रकार सम्बन्धित ही हैं।"[1]

(8) "इस प्रणाली का प्रमुख दोष पाठ्यक्रम का अति साहित्यिक एवं अवास्तविक होना था क्योंकि इसका सम्बन्ध न तो अध्यापक से ही था और न अध्यापित से ही।"[2]

इस प्रकार सम्पूर्ण देश एक समय उस प्राचीन शिक्षा प्रणाली को किसी अन्य प्रगतिशील एवं सजीव शिक्षा प्रणाली से स्थानापन्न करने की आवश्यकता का अनुभव करता था।[3]

बुनियादी (बेसिक) शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास

जुलाई 1937 में गांधीजी ने 'हरिजन' में लिखा था "शिक्षा से मेरा तात्पर्य बालक के शरीर मन और आत्मा में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है उसको बाहर निकालने से है। साक्षरता शिक्षा आरम्भ नहीं है। अत: बच्चों को शिक्षा देते समय शिक्षा में उनको किसी लाभदायक हस्तशिल्प को सिखाना आवश्यक समझूँगा और उन्हें उत्पादन में सहयोग देता हुआ देखना चाहूँगा। इस प्रकार प्रत्येक विद्यालय आत्मनिर्भर बनाया

---

1 Press Communique issued by the Government of Madras on June 26, 1937 ; cited in the Year Book of Education 1940, p. 427-40.

2 *Lord Ronaldshay* : The Heart of Aryavarta, p. 13.

3 *Shrimali,* The Wardha Scheme, p. 31.

जा सकेगा। शर्त केवल यह रहेगी कि विद्यालय की उत्पन्न की हुई वस्तुएँ राज्य को खरीदनी पड़ेंगी।" इसके फलस्वरूप गांधी जी की अध्यक्षता में सन् 1937 अक्टूबर के महीने में वर्धा में एक राष्ट्रीय कार्य-कर्ताओं की कान्फ्रेंस हुई। इस परिषद् ने गांधी जी के विचारों का समर्थन किया और निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किये—

(1) सारे देश में सात साल के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय।

(2) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा रखा जाय।

(3) शिक्षा की प्रक्रिया किसी हस्तकला पर केन्द्रित रहे और जितनी भी योग्यताओं का विकास बालकों में करना हो उनका सम्बन्ध पूरी तरह से उस केन्द्रीय हस्तशिल्प से रखा जाय। यह हस्तशिल्प बालकों के वातावरण से चुना जाय।

इस परिषद् ने प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियों की एक कमेटी नियुक्त की जिसके अध्यक्ष डा० जाकिर हुसैन चुने गये। इस परिषद् का काम बेसिक शिक्षा के सामान्य एवं विशिष्ट उद्देश्यों को ध्यान में रखकर विस्तृत पाठ्यक्रम का निर्धारण करना था। मार्च, 1938 में इस कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित की गई। गांधी जी ने इस योजना का अनुमोदन किया। कांग्रेस ने भी इसे मार्च सन् 1938 में अपने हरिपुरा सत्र में स्वीकार कर लिया। बेसिक राष्ट्रीय शिक्षा का कार्यक्रम तैयार करने के लिए अप्रैल में 'हिन्दुस्तानी तामिल संघ' की स्थापना हुई। भारत में आठ प्रान्तों में इस समय कांग्रेस मन्त्रिमण्डल काम कर रहा था। अतः बेसिक शिक्षा को बहुत जल्दी इन प्रान्तों में आरम्भ कर दिया गया। मध्य प्रदेश की सरकार ने एक कमेटी नियुक्त की जिसका काम कांग्रेस प्रस्ताव के अनुसार पाठ्यक्रम बनाना था। उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी बेसिक शिक्षा को स्वीकार कर लिया किन्तु बिहार, असम और उड़ीसा में इस योजना को एक प्रयोग के रूप में लागू किया। जनवरी 1938 में सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड ऑफ ऐजूकेशन ने एक कमेटी नियुक्त की जिसके अध्यक्ष बी० जी० खेर थे। इस कमेटी का काम भारत सरकार को बेसिक शिक्षा के विषय में अपनी सम्मतियाँ देना था। डा० जाकिर हुसैन ने, जो खेर कमेटी के एक सदस्य थे, इस शिक्षा प्रणाली के क्षेत्र पर प्रकाश डालते हुए कहा कि 'यह योजना शिक्षा की योजना है उत्पादन बढ़ाने की योजना नहीं है' जो कुछ हस्तकौशल शिक्षा के साधन के रूप में चुना जाय वह शैक्षणिक उपयोगिताएँ रखता हो। यह हस्तकौशल ऐसा हो जो प्रधान मानवीय कार्यों एवं रुचियों से घनिष्ट सम्बन्ध रखता हो।"[1] खेर कमेटी की रिपोर्ट सर्वसम्मति से मान ली गई। एक दूसरी कमेटी बेसिक शिक्षा के लिए वित्तीय व्यवस्था करने एवं उच्च शिक्षा से इस बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध पर विचार विमर्श करने के लिए नियुक्त की गई। इस कमेटी के सम्पूर्ण अभिस्तावों को मई 1940 में बोर्ड ने

---

1 Report of the Committee appointed by the Central Advisory Board of Education in India, 1938—45, p. 2.

स्वीकार कर लिया। इस बोर्ड की राय में 'बेसिक शिक्षा का जो स्वरूप सेन्ट्रल एड-वाइजरी बोर्ड ने स्वीकार किया है वह वर्धा योजना से बहुत कुछ मिलता जुलता है; अन्तर केवल कुछ विशेष बातों में है। सम्पूर्ण संसार के शिक्षाशास्त्री क्रियात्मक कार्यों की सहायता से लिखने पर जोर देते हैं। नीची कक्षाओं में ये क्रियात्मक कार्य कई प्रकार के हो सकते हैं, लेकिन सबसे अच्छा कार्य स्थानीय हस्तकौशल से सम्बन्धित हो तो और अच्छा है। इस सामान्य सिद्धान्त को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम का निर्माण किया जा सकता है। दक्ष नागरिकता के लिए केवल अंकगणित का ज्ञान, लेखन, और पठनपाठन ही काफी नहीं है। बोर्ड यह मानने के लिए तैयार नहीं कि किसी भी स्तर की शिक्षा का खर्च उन चीजों के बेचने से मिली धनराशि से चल सकता है जिनको बालकों ने तैयार किया हो।"[1] कुछ प्रान्तों की सरकारों की प्रार्थना पर बोर्ड ने जनवरी 1943 में एक कमेटी की स्थापना की जिसका उद्देश्य बेसिक स्कूलों के लिए पाठ्यक्रम का निश्चित करना एवं उन स्कूलों के अध्यापकों के लिए आदेश-हस्तपुस्तिका तैयार करना था।

बेसिक शिक्षा की विशेषताएँ

(1) **शिक्षा का केन्द्र क्रिया :** बेसिक शिक्षा ने हमारे विचारों को बिल्कुल बदल सा दिया है। परम्परागत शिक्षा पद्धति में बालक एक सक्रिय इकाई था। सीखने की प्रक्रिया में वह कोई सक्रिय भाग नहीं लेता था। शिक्षा पूरी तरह से पुस्तकीय ज्ञान से सम्बन्धित एक मानसिक क्रिया थी। किन्तु बेसिक शिक्षा प्रणाली में शिक्षा रचनात्मक एवं उत्पादक क्रिया की सहायता से दी जाती है। इसके द्वारा बालक अपनी भावनाओं एवं अतिरिक्त शक्ति को शिक्षा के कार्य में लगा सकता है। इस पद्धति में बच्चे ऐसे अनुभव ग्रहण करते हैं जिनसे उनका पूर्ण विकास हो सके। यह कार्य उनके प्रयोजन को सिद्ध करता है अतः उनकी रुचि की अभिवृद्धि करता है। शिक्षा इस प्रकार आनन्ददायक कार्य बन जाता है। जो नीरसता पहले दिखाई देती थी उसका मूल नाश हो जाता है जो कुछ बालक सीखता है अपने को अन्वेषक की स्थिति में रखकर सीखता है। स्कूल की सफाई करते समय स्वास्थ्य विज्ञान के तत्वों से परिचय प्राप्त करता है। उसके गाँव का तालाब उसे जीवविज्ञान समझने में सहायक होता है। कातते समय वह सूत का नम्बर और काते हुए सूत की लम्बाई मालूम करने में अंकगणित के तत्वों को समझ लेता है। अंकगणित के पाठ अब उसको अपूर्त नहीं दिखाई देते, लेकिन उनका जीवन में कुछ न कुछ महत्व दिखाई देता है।[2]

(2) **बेसिक शिक्षा की अभिनति व्यवसाय की ओर :** यह प्रणाली शिक्षा के क्षेत्र में किसी प्रकार का क्रान्तिकारी परिवर्तन पैदा नहीं करना चाहती किन्तु भार-

---

1 Post War Educational Development in India (fifth edition, 1947), p. 7.

2 Syllabus for Basic Schools, Ministry of Education, p. 5.

तीय समाज के सामाजिक, आर्थिक, एवं मनोवैज्ञातिक ढाँचे में एक प्रकार की क्रान्ति अवश्य पैदा करना चाहती है। यदि कोई शिक्षा प्रणाली उपयोगी एवं उत्पादक होना चाहती है तो उसका जनता के व्यवसायों एवं उप-व्यवसायों से सम्बन्ध होना चाहिये। "पाठ्यक्रम में किसी क्राफ्ट के चालू कर देने से लड़कों में कार्य के लिए प्रेम और परिश्रम के प्रति गौरव का भाव जागृत किया जा सकता है। कुछ समय के बाद बालक अपने उपयुक्त पेशे को चुन सकते हैं, इस प्रकार समाज में पराश्रयी व्यक्तियों की संख्या कम की जा सकती है। नौकरी की समस्या भी कुछ हद तक हल की जा सकती है। बेसिक शिक्षा इस प्रकार देश की सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट कर सकती है।"[1]

देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न क्राफ्ट के द्वारा शिक्षा दी जायगी। ऐसा करने का प्रयोजन है स्थानीय संसाधनों का प्रयोग। 'ऐसी शिक्षा उनके वास्तविक जीवन के प्रभाव से भिन्न न होगी।'[2] मानसिक शिक्षण. एवं व्यवसायों के प्रशिक्षण के लिए हस्तकार्य का महत्व अब उन लोगों को भी मालूम होने लगेगा जो इस विचार से सर्वथा असहमत थे। इस शिक्षा ने हस्त-कार्य को यांत्रिक कर्म के रूप में नहीं लेना है, ऐसे कार्य को चतुराई से समझना एवं चतुराई से ही करना है। मस्तिष्क का विकास केवल हस्त-कार्य द्वारा ही किया जाता है। 'व्यय को ध्यान में रखकर शिक्षा अपने पैरों पर खड़ी हो सकती है' इस विचार पर अधिक जोर नहीं देना है। लेकिन इस बात पर अवश्य बल देना है कि क्राफ्ट के माध्यम से दी गई शिक्षा उन्हें उनके भावी जीवन में अवश्य सहायता दे सकेगी।[3]

---

1 "My plan to impart education through the medium of village handicrafts like spinning and carding etc., is thus conceived as the spearhead of a silent social revolution fraught with the most far-reaching consequences. It will provide a healthy and moral basis of relationship between the city and village and thus go a long way towards eradicating some of the worst evils of the present social insecurity and poisened relationship between the classes."
[Basic National Education, published by the Hindustani Talimi Sangh, pp. 5—8]

2 Education cannot remain a living force if it does not keep pace with the changes and development that take place in the social organization and economic life of the people. [Hand-book for Teachers of Basic schools, Ministry of Education, p. 2]

3 "By making work the basis of all educative experiences, Basic education seeks to cut accross the barriers which divide our rural and urban population and intellectual and urban classes". [*Ibid*, p. 5.]

(3) **सहसम्बन्ध** : परम्परागत शिक्षा प्रणाली में भिन्न-भिन्न विषयों में शिक्षा अप-खण्डित रूप में दी जाती थी। पाठन विधियों में किसी प्रकार का सहसम्बन्ध न था। यही कारण था कि शिक्षा केवल सैद्धान्तिक और पुस्तक ज्ञान को प्राधान्य देने वाली थी। उदाहरण के लिए इतिहास पढ़ाते समय केवल ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों पर ही जोर दिया जाता था; अन्य विषयों से इस विषय का क्या सम्बन्ध है, इस पर किसी अध्यापक का ध्यान कभी नहीं जाता था। इस प्रकार की शिक्षा कोष्ट-वद्ध (Compartmentalised) कही जा सकती है। भिन्न-भिन्न विषय अलग-अलग करके पढ़ाए जाते थे और भिन्न-भिन्न विषयों का बालकों के भौतिक एवं सामाजिक वातावरण से सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाता था। लेकिन बेसिक शिक्षा में भिन्न-भिन्न विषयों को किसी तरह के कार्य से समन्वित किया जाता है। शैक्षणिक प्रविधि में इस प्रकार का समन्वय नई वस्तु नहीं है। भिन्न-भिन्न विषयों से सम्बन्धित सीखने के अनुभवों का एकीकरण करने के लिए इस प्रकार का समन्वय आवश्यक प्रतीत होता है। बेसिक शिक्षा पाठ्यक्रम के भिन्न-भिन्न विषयों के अध्यापन को उनके पारस्परिक सम्बन्ध में देखती है। इस प्रकार वह व्यक्ति के मानसिक जीवन में एकत्व और संमनुगति देखती है। बेसिक शिक्षा के अध्यापक का अत्यधिक साधनयुक्त, एवं पूर्ण पण्डित होना जरूरी है ताकि वह उपयुक्त स्थान पर इन विषयों में साहचर्य स्थापित कर सके। तभी तो बालकों का शिक्षण वास्तविक हो सकेगा। महान् व्यक्तियों के जीवन चरित्र, एवं उत्सव, बालकों को इतिहास पढ़ाना शुरू करने के लिए काफी है। यदि तकली से धागा बराबर टूटता हो तो अध्यापक उसे शुष्क जलवायु के विषय में जो धागे के टूटने का कारण है, बतला सकता है। बढ़ईगीरी का काम सीखते हुए लड़कों को भिन्न-भिन्न तरह की लकड़ियों का ज्ञान दिया जा सकता है, उनके प्राप्ति स्थानों को बतलाया जा सकता है, यन्त्रों का प्रयोग करते समय वह उनकी रचना के विषय में कुछ सीखेगा। वह इन यन्त्रों के मॉडल बना सकता है, और इस प्रकार ज्यामित तथा अंकगणित के विषय में जानकारी हासिल कर सकता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी यह शिक्षा क्राफ्ट से सहसम्बन्ध स्थापित करके बालकों के अनुभवों के मानसिक एवं व्यवहारिक स्वरूपों में संतुलन रखना चाहेगी।

(4) **बेसिक शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार** : यदि शिक्षा को लाभकारी बनना है, तो उसे बालकों की परिवर्तनशील रुचियाँ एवं अभिरुचियों को सन्तुष्ट करना पड़ेगा। तभी वे क्षैक्षणिक अवसरों से अत्यधिक लाभ उठा सकेंगे, तभी वे अपनी प्राकृतिक मनोवृत्तियों और देनों का भरसक उपयोग कर सकेंगे। कोई दो विद्यार्थी एक से नहीं होते, वे अपनी अभिरुचियों, और शक्तिओं और सीमाओं में भिन्न होते हैं। बेसिक शिक्षा ही बालकों की भिन्नात्मक योग्यताओं का उपयोग कर सकती है क्योंकि वही उनको उनकी योग्यता, रुचि एवं वातावरण के अनुसार काम दे सकती है। कुछ लोग खेती करना पसन्द करेंगे, कुछ सरकारी शिक्षण तथा टैकनी-

कल पेशों में जाना पसन्द करेंगे। बेसिक शिक्षा ही उन भिन्न-भिन्न पेशों का उपबन्ध कर सकती है।

बेसिक शिक्षा में किसी अनाम्य पाठ्यक्रम को स्थान नहीं दिया जाता। जितने भी हस्तकार्य इस शिक्षा के संचालन एवं संगठन में प्रमुख स्थान ग्रहण किये हुए हैं वे सब व्यक्ति और उसके भौतिक एवं सामाजिक वातावरण में आवश्यक तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ हैं। एक ओर तो यह बालकों को आत्मनिर्भर एवं उत्पादक बनाती है और दूसरी ओर अध्यापकों को अधिक स्वतन्त्रता एवं कार्यों का सूत्रपात्र करने की क्षमता प्रदान करती है। अध्यापक बालकों की रुचि और योग्यता सम्बन्धी विभिन्नताओं की ओर अधिक ध्यान देने लगता है। इस प्रकार विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का समायोजन आसान कार्य बन जाता है।

(5) **नागरिकता का आदर्श** : यह ठीक ही कहा गया है कि शिक्षा का लक्ष्य न केवल पूर्ण-विकसित और उत्तम नागरिक पैदा करना ही नहीं है, लेकिन सामाजिक ढंग से उपयोगी व्यक्ति भी पैदा करना है जो सबकी भलाई एवं हित की रक्षा कर सकें। बेसिक शिक्षा सक्रिय नागरिकता का पाठ पढ़ावेगी और उन्हें सहकारिता के सिद्धान्त सिखावेगी। यह प्रजातन्त्रात्मक समाज की नींव पक्की करेगी। जब विद्यार्थी सार्वजनिक कार्यों में रुचि लेने लगेंगे तब विशेष-अधिकारी वर्ग एवं अनधिकारी वर्ग के बीच में स्थित महान् दूषित भिन्नता का लोप हो जायगा। सच्चे लोकतन्त्रात्मक समाज के निर्माण के लिए पारस्परिक समझौते एवं सामाजिक चेतना के भाव को जनता में भर देना होगा। बेसिक शिक्षा इस उद्देश्य को महसूस करती है और किसी न किसी क्राफ्ट के माध्यम द्वारा उसकी प्राप्ति का प्रयत्न भी करती है। जाकिर हुसैन रिपोर्ट के अनुसार यह योजना भावी नागरिकों में वैयक्तिक योग्यता, गौरव एवं कुशलता का भाव पैदा कर सकेगी, 'सामाजिक कार्यों में विद्यार्थी शिक्षा के प्रयोजन को जानने लगता है, जिसका सम्बन्ध लोकतन्त्रात्मक समाज की स्थापना से है। बेसिक शिक्षा का महान् नैतिक आधार है अहिंसा एवं सहकारिता न कि स्पर्धा। बेसिक शिक्षा की राष्ट्रीय योजना 6 से 14 वर्ष के लड़के और लड़कियों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा देना चाहती है। देश की प्राइमरी शिक्षा का ढाँचा बेसिक शिक्षा के अनुसार ही बनता जा रहा है।

(6) **मातृभाषा शिक्षा का माध्यम**—विद्यालय में पढ़ाई जाने वाली भाषाओं में मातृभाषा को प्रथम स्थान दिया जायगा। पाठ्यक्रम भी राष्ट्रीय चेतना जागृत कर सकेगा। इस योजना का प्रत्यक्ष लक्ष्य है राष्ट्रीय समाज। किन्तु राष्ट्रीयता से हमारा तात्पर्य संकीर्ण राष्ट्रीयता अथवा अभ्याक्रामी सामाजिकता से कदापि नहीं।

बुनियादी (बेसिक) शिक्षा का पाठ्यक्रम

(1) क्राफ्ट

(अ) कताई और बुनाई

(ब) खेतीबाड़ी और कृषि

(स) पुस्तक कला और काष्ट और धातु-कला
(द) चमड़े का काम
(य) मिट्टी का काम और पौटरी
(फ) मछली का काम
(ह) गार्हस्थ्य-कला

(2) मातृभाषा
(3) सामाजिक विज्ञान
(4) गणित
(5) सामान्य विज्ञान
(6) संगीत, चित्रकला आदि
(7) हिन्दी
(8) खेल एवं अन्य शारीरिक कार्य

बेसिक शिक्षा की आलोचना

यद्यपि इस शिक्षा की मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, एव साशैक्षिक उपयोगिताएँ अधिक हैं किन्तु तब भी इसकी आलोचना करने वालों की भी कमी नहीं है। जिन विद्यालयों में बेसिक शिक्षा आरम्भ हो गयी है, उनमें भी इसको यान्त्रिक ढंग से दिया जाता है। इसकी शैक्षणिक शक्तियों पर जोर नहीं दिया जाता। जिन सिद्धान्तों को यह योजना उपधारण करती है उन सिद्धान्तों के अनुसार इस प्रकार की शिक्षा नहीं दी जाती। अब तक इन आलोचकों ने भारत जैसे विशाल देश के लिए किसी अन्य योजना का सुझाव नहीं दिया है; केवल बेसिक शिक्षा की निम्न प्रकार से कटु आलोचना मात्र की है :

(1) इस योजना के निर्माण का आधार भावनागत है। अतः इसको स्वीकार कर लेने का कारण यह नहीं कि इस योजना में अपनी कुछ विशेषताएँ हैं वरन् यह तो इसके निर्माता महात्मा गांधी के प्रति सम्मान प्रदर्शन करने के लिए स्वीकार करली गई है। बेसिक शिक्षा के कई अर्थ निकाले जाते हैं। यही कारण है कि इस योजना को उस मात्रा में अंगीकार नहीं किया गया जिस मात्रा में इसे अंगीकार करना था। उत्तर प्रदेश जैसे कुछ राज्यों में उत्पादकता को कम महत्त्व दिया जाता है। कभी-कभी इसकी उपेक्षा भी की जाती है। इन राज्यों में उत्पादक-कार्य के स्थान पर रचनात्मक कार्य पर अधिक बल दिया जाता है। बेसिक शिक्षा के सम्बोध और प्रयोग को अवमिश्रित कर दिया जाता है इसके कारण उत्पादक-कार्य को शैक्षणिक और आर्थिक प्रतिकारक मानने में लोगों को हिचकिचाहट है। पश्चिमी बंगाल और उत्तर प्रदेश ने उस विशदीकरण को भी स्वीकार नहीं किया है जिसे बेसिक एजूकेशन स्टैंडिंग कमेटी ने अभी प्रकाशित किया है और जिसका अनुमोदन सेन्ट्रल एडवाइजरी बोर्ड ऑफ

एजूकेशन ने किया था ।[1] बेसिक शिक्षा की एसेसमेन्ट कमेटी की रिपोर्ट बेसिक शिक्षा के मौलिक गुणों और मूल्यों को निश्चित करने एवं विशदीकरण करने पर जोर देती है ।

(2) आलोचकों का मत है कि प्रत्येक विषय को क्राफ्ट के माध्यम से पढ़ाना सम्भव नहीं है । भिन्न-भिन्न विषयों को एक ही केन्द्रीभूत माध्यम के द्वारा पढ़ाया जाना, और इसकी सहायता से सब विषयों में सह-सम्बन्ध स्थापित करना, व्यवहारिक रूप से न तो सम्भव ही है और न शैक्षणिक दृष्टिकोण से लाभप्रद ही । यदि ऐसा किया गया तो निस्सन्देह बालकों का भिन्न-भिन्न विषयक ज्ञान अपूर्ण और अपखण्डित होगा । ज्ञान की रिक्तियों को भरने के लिए कुछ न कुछ शालेय शिक्षण की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों में उचित सम्बन्ध स्थापित किए जा सकें । बेसिक शिक्षा के पास इन ज्ञान की रिक्तियों को भरने के लिए कुछ भी साधन नहीं हैं ।

(3) बेसिक शिक्षा के लिए ऐसे अध्यापकों की आवश्यकता है जो योग्य तथा अर्हता प्राप्त हों । बेसिक स्कूलों में कार्य करने के लिए आवश्यक योग्यता वाले गम्भीर और ईमानदार अध्यापकों की कमी है । इसी कारण से ऐसे विद्यालय ठीक ढंग से चल नहीं पा रहे हैं । बेसिक स्कूलों में काम करने वाले बहुत से अध्यापक ऐसे हैं जिन्होंने प्रशिक्षण तो प्राचीन पाठन-विधियों में प्राप्त किया था और जिन्होंने बेसिक शिक्षा में प्रशिक्षण पाने के लिए कुछ ही महीने अध्ययन किया था । ऐसे अध्यापकों को भिन्न-भिन्न क्राफ्ट में विशेष दक्ष होना चाहिए, साथ ही वे सह-सम्बन्ध की विधि को अच्छी तरह समझते हों । आजकल क्राफ्ट और अन्य विषयों के बीच बहुत ही कम साहचर्य स्थापित किया जाता है, बहुधा यह देखा गया है कि क्राफ्ट का काम अलग ही किया जाता है ।

(4) राज्यों के शिक्षा-विभाग बेसिक शिक्षा की योजना के प्रचार की आवश्यकता नहीं समझते । 'शिक्षा-विभाग के उच्च पदाधिकारी जो शासन एवं सेविवर्ग की नियुक्ति सम्बन्धी नीति पर अधिकार जमाए हुए हैं, अथवा जिनके हाथ में बेसिक शिक्षा की वित्त व्यवस्था है बेसिक शिक्षा की उपयोगिता में कोई विश्वास नहीं रखते ।'[2]

(5) बेसिक स्कूल ऐसी इमारतों में चल रहे हैं जो स्वास्थ्य की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त हैं और जिनमें आवश्यक सामग्री और सज्जा की विशेष कमी नजर आती है । बेसिक स्कूलों में क्राफ्ट के काम के लिए अधिक स्थान की आवश्यकता होती है,

---

1 Basic Education in India, Ministry of Education and Scientific Research (1957), p. 7.

2 Report of the Assessment Committee on Basic Education. Ministry of Education and Scientific Research, p. 21.

सामान को सुरक्षित रखने के लिए कमरों की अलग जरूरत होती है और कृषिकार्य के लिए कुछ जमीन की भी आवश्यकता होती है। इन सब कामों के लिए बेसिक स्कूलों के पास स्थान और भूमि का सर्वथा अभाव है और न उपयोग में ली जाने वाली सामग्री ही ठीक समय पर उपलब्ध ही हो पाती है।

(6) राष्ट्रपिता गांधी का सबसे अन्तिम और शायद सबसे बड़ी देन बेसिक शिक्षा है जिसमें उनका बालक के प्रति गूढ़ प्रेम दृष्टिगोचर होता है। ऐसी शिक्षा का भविष्य उन लोगों के हाथ में है जो उसको देने के लिये जिम्मेदारी ले रहे हैं। इसकी सफलता के लिए अधिक लचीले अभिगमन की आवश्यकता है। बेसिक शिक्षा के संबोध में कोई कमी नहीं है, किन्तु खेद है कि बेसिक शिक्षा की कार्य-प्रणाली सिद्धान्त से दूर हटती चली जा रही है। यदि हम सैद्धान्तिक आदर्शवाद तथा व्यावहारिक कार्य में ठीक समन्वय स्थापित करना चाहते हैं तो बेसिक शिक्षा के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का काफी प्रयोगात्मक अध्ययन करना होगा।

प्रोजेक्ट पद्धति
(Project Method)

शिक्षा का पुराना आदर्श 'ज्ञान के लिए' है—धीरे-धीरे लुप्त होता चला जा रहा है। शिक्षा के प्रति यह मानसिक अभिगमन सीखने की प्रक्रिया में बालक को निष्क्रिय बना देता है। वह ज्ञान जो बालक ने क्रियाशील होकर प्राप्त न किया हो, अवास्तविक बना रहता है। इस प्रकार सीखे गये सम्बोध गूढ़ नहीं हो पाते, न वे बालकों के व्यक्तित्व से सामञ्जस्य ही रखते हैं। इस प्रकार के अभिगमन से व्यक्तित्व में किसी तरह का विकास नहीं हो पाता। शिक्षा अब पुस्तक ज्ञान के देने से ही सम्बन्धित नहीं रह गई है, किन्तु इसका लक्ष्य बालकों के व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास बन गया है।

प्रोजेक्ट पद्धति में विद्यालय, पाठ्यक्रम एवं पाठनविधि बालक के दृष्टिकोण से देखे जाते हैं। यदि अध्ययन को उपयोगी बनाना है तो यह ऐसा हो जिसकी उपयोगिता बालक समझ सके। इस प्रणाली से अध्यापन करते समय बालकों में रुचि और उत्सुकता को जाग्रत कर दिया जाता है, उनका अवधान विषय की ओर खींच लिया जाता है, इस प्रकार वे पाठ्य-वस्तु की ओर ध्यान अधिक केन्द्रित करके उसे ठीक प्रकार से समझ लिया करते हैं। कक्षा की मन को मारने वाली नीरसता के स्थान पर आत्म-सन्तुष्टि का भाव आजाया करता है, इस प्रकार वह सीखने में आनन्द और रस ग्रहण करता है। प्रोजेक्ट प्रणाली एक प्रकार से क्रियात्मक प्रणाली का रूप ही है जिसका उपयोग बालकों की मूलप्रवृत्तियों को शिक्षण कार्य के लिए किया जाया करता है, पाठ्य-विषय अथवा कोई अन्य क्रिया को बालक के दैनिक जीवन से सम्बन्धित कर देने से शिक्षण लाभदायक और उपयोगी बन जाया करता है साथ ही वह उनकी मूल-वृत्तियों को सन्तुष्ट करने में समर्थ भी हो सकता है।

प्रोजेक्ट पद्धति का अर्थ

प्रोजेक्ट वह वस्तु है जिसकी योजना की जा रही हो। अतः प्रोजेक्ट प्रणाली का कुछ न कुछ व्यावहारिक प्रयोजन होगा। सब शिक्षाशास्त्री मानते हैं कि सबसे प्रभावशाली और लाभदायक सीखने की क्रिया उस समय होती है जब यह किसी उपयोगी कार्य की सहायता से की जाय। प्रोजेक्ट पद्धति का सार भी यही है। डाक्टर किलपैट्रिक ने प्रोजेक्ट की परिभाषा देते हुए बतलाया है कि 'सामाजिक वातावरण में पूरे मन से की गई उपयोगी क्रिया' ही प्रोजेक्ट कही जा सकती है। स्टीवैन्सन के मतानुसार प्रोक्जेट 'अपने प्राकृतिक वातावरण में पूरी की गई कोई समस्या' है। प्रोफेसर वेलार्ड का कहना है कि प्रोजेक्ट जीवन का एक अंश है जो विद्यालय में दिया जाता है। प्रोजेक्ट प्रणाली का सार यह है कि बालक किसी बात को तभी आसानी से हृदयंगम करते हैं जब वे उसका अभ्यास करें। वे उस बात को कभी नहीं सीख सकते जिसका वे अभ्यास नहीं करते। जिसका वे तन मन से अभ्यास करते हैं उसी को वे सीख सकते हैं, 'जो समस्या जीवन में उठती है और जिसका जीवन में ही प्रवेश होता है उन समस्याओं के सीखने के लिए प्रोजेक्ट प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। प्रभावशाली शिक्षण की दशाओं को सर्वोत्तम विधि से प्रयोग में लाना ही प्रोजेक्ट पद्धति है। व्यापक अर्थ में यह एक प्रणाली मात्र ही है किसी विषय को पढ़ाने के लिए संकीर्ण विधि नहीं, जिस प्रकार पढ़ना सिखाने के लिए कहानी-विधि का प्रयोग किया जाता है। चूँकि कोई बालक जब तक किसी चीज का अभ्यास नहीं करेगा उसे सीख नहीं सकेगा। इसलिए हमें प्रत्येक वस्तु इस प्रकार सजा देनी चाहिए कि वह ठीक वस्तुओं का अभ्यास करे और उन्हें सीखे।[1]'

प्रोजेक्ट पद्धति के सिद्धान्त

(1) वास्तविक एवं साधारण जीवन की प्राकृतिक पृष्ठ भूमि में कार्य का सम्पादन इस प्रणाली का आधारभूत सिद्धान्त है। वर्तमान शिक्षा विधि का एक बड़ा दोष इसका वास्तविक जीवन से अलग होना है। वास्तविकता से दूर रहने के कारण इस शिक्षा का झुकाव सिद्धान्तों की ओर अधिक और व्यवहारिकता की ओर कम है। अतः इसका कोई शैक्षणिक मूल्य नहीं दिखाई देता। हमारे विद्यालयों का मत है कि जो शिक्षा स्कूल में बालक प्राप्त करता है वह उसे अपने वातावरण का स्पष्ट चित्र नहीं देती। वे बहुत से विषयों को सीखते हैं किन्तु न तो उन्हें समझते ही हैं और न उनका अपने जीवन पर प्रभाव ही देख पाते हैं। एक उत्तम विद्यालय वह है जो वाह्य जीवन के अनुभवों को मूर्त रूप से बालकों के सामने रखे। स्कूल का पाठ्यक्रम और पाठन-विधियाँ बालकों की रुचियों के अनुसार निश्चित की जाती हैं और शिक्षा के प्रयोजन के अनुसार उनकी विशिष्ट आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करती हैं। प्रोजेक्ट प्रणाली का आविष्कार आजकल के पाठ्यक्रम एवं पाठनविधियों की कमियों को दूर

---

1 Kilpatrick, William, H. : How We Learn, p. 10

करने के लिए किया गया है। "हमारी सारी शिक्षा का मूल वास्तविकता है, चीजें बनाने और काम करने में ही वास्तविकता का अंश निहित है। ऐसा करने के लिए मन और चरित्र के गुणों को पैदा करने की आवश्यकता होती है। अध्यापक की समस्या काम का इस प्रकार प्रबन्ध करना और इस प्रकार शिक्षा देना है कि इन गुणों का समान रूप से विकास होता रहे।" स्कूल के कार्य और शिक्षा का विषय बालक के दैनिक जीवन से सम्बन्धित हो और बालक यह अनुभव करता रहे कि किसी विषय को सीखने से ही वह किसी उद्देश्य की पूर्ति कर सकेगा।

(2) "प्रोजेक्ट कोई कार्य होता है केवल सिद्धान्त ही नहीं। बालक विषय वस्तु के याद करने से ही सन्तुष्ट नहीं रहता किन्तु वह जो कुछ भी सीखता है उसे पूरा करने का प्रयत्न भी करता है। इस प्रकार इस विधि से बालक करके सीखता है, बालक शारीरिक एवं मानसिक कार्य करता हुआ सदैव सजीव और सक्रिय बना रहता है। बालकों की रचनात्मक, संग्राहात्मक, आत्मप्रदर्शनात्मक मूलप्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए काफी अवसर मिल जाया करता है। विषय सामग्री का प्रोजेक्ट में बाँट देना, उनका इस प्रकार संगठन करना कि विद्यार्थियों को काम करने की काफी सुविधा एवं अवसर मिल सके जिसमें वे लिखने, पढ़ने और वक्तृता में आत्मप्रदर्शन कर सकें। ऐसे कार्यों से शरीर और मन का सहयोग मिल सकेगा। "यदि शिक्षा में कार्यात्मक अभिगमन स्वीकार कर लिया जाय, यदि काम की योजना बनाने में कल्पना का सहारा लिया जाय, तो पुस्तक ज्ञान पर जोर देने वाले आधुनिक विद्यालय कार्य-विद्यालयों में बदले जा सकते हैं। इस प्रकार से बालक सम्पूर्ण व्यक्तित्व को शिक्षा के केन्द्र बन सकते हैं।[1]"

(3) प्रोजेक्ट कोई साधारण कार्य नहीं है किन्तु यह समस्या पूर्ण कार्य हैं जिसमें सामाजिक शक्तियों के सक्रिय प्रयोग की आवश्यकता होती है। ये मानसिक शक्तियाँ कल्पना, अभिनिर्धारण आदि हैं। इस प्रकार किया हुआ कार्य अव्यवहारिक न होकर बहुत मात्रा में शैक्षणिक और स्वभाव से ही शारीरिक न होकर मानसिक है।

साथ ही ऐसे कार्य से बालका को अनेक अच्छे अनुभव मिलते हैं। 'जब हम विद्यार्थियों को अपनी विचार क्रिया की उपज देते हैं तब हम उनकी विचार क्रिया का गला घोंट डालते हैं। वे निष्क्रिय भाव से विषय-वस्तु को स्वीकार करते तथा हृदयंगम करने का प्रयत्न करते हैं। हम अपने विचारों को ही दूसरों पर आरोपित न करें। इसके बजाय बालकों को अपनी समस्याओं का सामना करने के योग्य बनावें और इस योग्य बनावें कि वे स्वयं सोचें जब तक वे समस्या के हल को न प्राप्त कर लें। इसी तरीके से वे सीख सकते हैं और अपने जीवन को बना सकते हैं। वास्तविक विचार

---

1 Report of the Secondary Education Commission (Oct. 1952–June 1953), p. 106.

क्रिया वास्तविक अनुभवों से प्राप्त होती हैं और बाद में उन अनुभवों को प्रभावित करती है जो बाद में उन्हें प्राप्त होते हैं।[1]"

(4) प्रोजेक्ट पद्धति में पूरे मन से की जाने वाली उपयोगी क्रिया पर जोर दिया जाता है। इसका आशय यह है कि जब तक विद्यार्थी का सक्रिय सहयोग नहीं लिया जायगा। वह काम में आनन्द और रुचि ले। यह भी सम्भव है जब इसे बालक महसूस करे कि कार्य का पूरा करना उसके लिए लाभदादक होगा और मनोवैज्ञानिक सन्तोष दे सकेगा।" जिन तरीकों या कामों में हम सफल होते हैं और जो हमें सन्तुष्टि देते हैं उन्हीं को हम सीखते हैं किन्तु जो तरीके हमें दुख देते हैं और जिनमें हम असफलता का अनुभव करते हैं उन्हें हम नहीं सीख पाते। जिन कामों को हम पूरे मन से करते हैं उन्हें अच्छी तरह करने का सन्तोष सबसे अधिक होता है।" इसका आशय यह है कि जो काम करने हैं वे न केवल शैक्षणिक ढंग से महत्वपूर्ण हों, किन्तु वे किसी न किसी प्रयोजन को सिद्ध करें, वे बालकों की आवश्यकताओं और रुचि को संतुष्ट करने वाले हों और जिनमें बालक विशेष अभिरुचि लेते हों। दूसरे शब्दों में, ये कार्य ऐसे हों जो उनके जीवन से सम्बन्धित हों। 'विद्यार्थी स्वयं यह अनुभव कर सकें कि इन कार्यों का उनके जीवन से गूढ़ सम्बन्ध है अतः उनका ढाँचा भी वास्तविक है।[2]"

(5) प्रोजेक्ट के स्थान का स्वाभाविक होना आवश्यक है क्योंकि ऐसी दशा में किया गया कार्य सत्य और बहुत कम अप्राकृतिक होता है। विद्यालय और जीवन के बीच में स्थित खाई भर जाती है। विद्यार्थी व्यावहारिक रूप से बहुत सी बातें सीखता है। सम्पूर्ण यथा सम्भव साधनों की मदद से वह वास्तविकता का सामना करता है। जितनी भी प्रोजेक्ट चुनी जाय वे सब जीवन और ज्ञान के बीच सम्बन्ध पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करें।

(6) प्रोजेक्ट की परिभाषा देते हुए कहा गया था कि यह कोई साधारण किस्म का कार्य नहीं है किन्तु वह समस्या पूर्ण कार्य (On problematic act) है। समस्या शब्द विशेष अर्थ में लिया जाता है, प्रोजेक्ट पूरा करने में योजना बनाने, तर्क-युक्त विचार करने और व्याख्या करने आदि की प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं। ये सारी प्रक्रियाएँ मानसिक हैं अतः मस्तिष्क के विकास में सहायक सिद्ध हो सकती हैं। इस प्रणाली से विचार शक्ति तीव्र होती है....यह खोज करने का तरीका है।[3]

(7) प्रत्येक प्रोजेक्ट को पूरा करना है।प्रोजेक्ट को पूरा करने के लिए विद्यार्थियों को इस प्रकार अभिप्रेरित किया जाय कि उनकी रुचि कम न हो, अर्थात प्रोजेक्ट

---

1 *Armstrong, Jeam M. A.* : Projects and Their Place in Education, p. 1.

2 *Bramwell, R. D.* : Integrated Courses in Social Studies, p. 22.

3 *Dewey John* : Democracy and Education, p. 173.

ऐसी हो कि रुचि उसमें जागृत हो सके और चतुराई से बनी भी रहे। प्रोजेक्ट को अन्त तक डालने की इच्छा तभी तीव्र हो सकती है जब उसमें रुचि अधिक हो, और उसकी उपयोगिता भी अधिक हो।

(8) प्रोजेक्ट पद्धति का 'सामाजिक आधार' विशेष उल्लेखनीय है। एक ओर तो यह विद्यार्थी को आत्मनिर्भर तथा प्रत्युत्पन्न प्रति बनाता है दूसरी ओर यह समय पड़ने पर उसमें दूसरों से सहयोग प्राप्त करने और उन्हें सहयोग देने की भावना जाग्रत करता है। 'सामाजिक निपुणता' का भाव पैदा करने में यह प्रणाली विशेष सहायक सिद्ध हुई है क्योंकि इस विधि से बालक दूसरों के साथ मिल जुलकर सबकी भलाई का काम करने में मन लगाता है। इस प्रकार उसमें पारस्परिक सहायता, सद्भावना, मैत्री भाव आदि गुण पैदा हो जाते हैं।

संक्षेप में, इस प्रणाली के मुख्य सिद्धान्त हैं—रुचि, प्रयोजन, महत्वशीलता और स्वाभाविकता। तभी यह शिक्षक प्रणाली विशेष शैक्षणिक महत्ता रखती है।

भिन्न-भिन्न प्रकार की योजनाएँ

यद्यपि इस प्रोजेक्ट-विधि से शिक्षण देते समय अध्यापक अनेक योजनाओं को लेकर चलता है किन्तु प्रत्येक योजना का मुख्य तत्व उसका वास्तविक प्रयोजन है। विद्यार्थी पूरे मन से उस लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयत्नशील रहता है। एक स्थान पर हमने बतलाया था कि बालक और प्रौढ़ व्यक्ति को उत्तम ढंग से सीखने के लिए 'mind set' की आवश्यकता पड़ती है। अच्छे कामों में पूर्ण सन्तोष, उनके लिए तत्परता, रुकावट पैदा करने वाले कामों पर रोष और उनके लिए तत्परता का अभाव, तभी मिल सकता है जब सीखने वाला तीव्र प्रयोजन का अनुभव करे। प्रत्येक प्रोजेक्ट की बस यह विशेषता होती है। प्रायः चार प्रकार की प्रोजेक्ट सहायक सिद्ध हुई हैं।

(1) **उत्पादकों की योजनाएँ**—इस प्रकार की योजनाओं में सीखने वाला विद्यार्थी कुछ न कुछ उत्पादन करने का प्रयत्न करता है। यह योजना अस्थायी बालू का घरोंदा अथवा स्कूल की इमारत भी हो सकती है। यह एक विश्वविद्यालय अथवा राष्ट्र संघ का नमूना भी हो सकता है, यदि बालक सारे मन से अपने विद्यालय का नैतिक स्तर (moral) बनाने का प्रयत्न कर रहा है तब वह एक उत्पादक काम कर रहा है। कोई योजना हाथ के काम पर जोर न देते हुए भी उत्पादन की योजना बन सकती है, यदि उसको पूरा करने वाला हार्दिक इच्छा से काम कर रहा हो।

(2) **उपभोक्ताओं की योजनाएँ**—इस प्रकार की योजना में हम उपभोग करना, वस्तुओं का प्रयोग करना, उनसे आनन्द उठाना और रसास्वादन सीखते हैं। गोला-बारूद की चीजों के प्रयोग से आनन्द प्राप्त करना, उत्तम संगीत का रसास्वादन करना, सुन्दर दर्शनीय वस्तुओं को देखना ये सब काम उपभोक्ताओं की योजनाओं के अन्तर्गत आ सकते हैं। इन परिस्थितियों में बालक नई वस्तु पैदा नहीं करता किन्तु दूसरों द्वारा पैदा की गयी वस्तुओं का उपभोग करता है।

(3) तीसरे प्रकार की योजनाओं में व्यक्ति किस कठिनाई को पार करने को प्रयत्नशील होता है। यह समस्या उत्पादन-कार्य करते समय उठ खड़ी होती है। अन्तर केवल यह होता है कि यह समस्या मानसिक क्रिया द्वारा ही हल की जा सकती है।

(4) कभी-कभी अन्य प्रकार की योजनाओं का सम्पादन करते समय बालक कुछ बातों का अभ्यास करने की भी आवश्यकता अनुभव करता है। उदाहरण के लिए उसे किसी अंक स्तम्भ के जोड़ करने में शुद्धता और गति की जरूरत महसूस हो सकती है।

किसी योजना को पूरा करने में आवश्यक प्रक्रियाएँ

प्रत्येक योजना की पूर्ति 4 पदों में होती है। (1) प्रयोजन का निश्चय, (2) योजना का निर्माण, (3) योजना की पूर्ति, (4) व्याख्या।

(1) **प्रयोजन का निश्चय**—किसी योजना को बनाने से पहले यह निश्चय करना होता है कि उसका प्रयोजन क्या है। योजना की उपयोगिता पर ही तो उनकी रुचि निर्भर होती है। अध्यापक कभी भी बालकों को उस योजना का प्रयोजन न बतावे किन्तु केवल उनका मार्ग प्रदर्शन करता रहे, केवल यह जानने के लिए कि वे किसी प्रोजेक्ट का गलत प्रयोजन तो नहीं समझ बैठते। इसके लिए उन्हें काफी अवसर प्रदान करता रहे। वह उन्हें निरन्तर ऐसे प्रश्न पूछता रहे जिनका सम्बन्ध उस योजना की पूर्ति से हो।

(2) **योजना का निर्माण**—जब विद्यार्थी किसी कार्य की योजना बनाता है तब वह उन पदों का निर्णय करता है जो उस योजना की पूर्ति में सहायक हो सकते हैं। प्रोजेक्ट के बनाने का काम समूहों से किया जाता है। प्रत्येक समूह उस प्रोजेक्ट के भिन्न-भिन्न पदों की व्याख्या करता है। इस कार्य में अध्यापक का भी विशेष सहयोग आवश्यक है। उसका काम योजना का मार्ग निर्देश करना है। वह केवल अपने सुझाव ही पेश करता रहे तो भी बहुत है। किन्तु जब विद्यार्थी गलत मार्ग का अनुसरण कर रहे हों उस समय उसके लिए मार्ग-प्रदर्शन नितान्त आवश्यक हो जाता है।

(3) **योजना की पूर्ति**—योजना बनाने के बाद उसकी पूर्ति का पूरा उत्तर-दायित्व विद्यार्थियों पर ही होता है। अध्यापक का काम यहाँ पर सहानुभूति रखने वाले मार्ग प्रदर्शक का सा हो जाता है। जहाँ तक हो सके योजनाओं को स्वयं पूरा करें। यदि अध्यापक ने उन्हें आवश्यकता से अधिक सहायता दी, तो विद्यार्थियों को अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने का अवसर न मिल सकेगा।

(4) **व्याख्या**—किसी प्रोजेक्ट को पूरा कर लेने के बाद उसके परिणाम की व्याख्या करना भी आवश्यक हो जाता है। इस कार्य के लिए आलोचक का दृष्टिकोण, तर्क करने की अभिवृत्ति, और अपने काम का परीक्षण करने का भाव होना चाहिए। ऐसा करने से उनकी मानसिक शक्तियाँ तीव्र होती हैं और उनमें (Percepetion) का

भाव पैदा हो जाता है। परिणामों की व्याख्या करते समय बालक निम्न प्रकार के प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है। इस योजना से किस प्रकार की शिक्षा मिलती है ? हम किस प्रकार के नतीजों पर पहुँच सकते हैं ? कहाँ तक हमने उन उद्देश्यों की पूर्ति की है जिनको हमने ध्यान से रखकर काम करना शुरू किया था ? दूसरी बार हम किस प्रकार अधिक सफल हो सकते हैं ? इन अनुभवों के आधार पर अपनी आलोचना करने से बालकों में व्यक्तित्व विकसित होता है और उन्हें अनेक प्रकार की शिक्षाएँ भी मिलती हैं।

प्रोजेक्ट प्रणाली में अध्यापक का स्थान

प्रोजेक्ट प्रणाली में अध्यापक भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है किन्तु उसका काम न तो संचालक का ही है और न एक शास्त्री का ही। उसका काम मार्ग प्रदर्शक का होता है जो अपने विद्यार्थियों की समस्याओं को ठीक तरह समझता है। वह कभी अपने मत को उन पर थोपता नहीं किन्तु उन्हें अधिक से अधिक शैक्षणिक स्वतन्त्रता प्रदान करके वह उनके अनुभवों को शैक्षणिक कार्यों में लगाता है। यदि वह इनमें प्रमुख भाग लेता तो विद्यार्थियों की अरुचि का विनाश हो जाता और योजना की गुप्त शक्तियों का शैक्षणिक उपयोग न हो पाता। इस प्रणाली में अध्यापक निम्नलिखित कार्य कर सकता है।

(1) सीखने की क्रिया को अग्रसर करने के लिए बुद्धिमान अध्यापक विद्यार्थियों के अनुभवों का पूर्ण उपयोग करता है। वह विद्यार्थियों को पढ़ाता नहीं किन्तु उन्हें सीखने के लिए बाध्य करता है। इस कार्य के लिए वह उन्हें प्रयोजनात्मक कार्य करने का अवसर प्रदान करता है। वह विद्यार्थियों में विश्वास पैदाकर अपनी शक्तियों के अनुसार कार्य करने को सचेष्ट करता है।

(2) उत्तम अध्यापक के प्रयत्नों के फलस्वरूप चुनी हुई प्रोजेक्ट भिन्न-भिन्न स्तरों पर बालकों में कल्पना शक्ति और स्वतन्त्रता की भावना पैदा करती रहती है। उनमें अध्यापक की सहायता के कारण निश्चय करने और ध्यान को केन्द्रित करने की शक्ति पैदा हो जाती है। वह अपने काम की इस प्रकार योजना बनाता है और भिन्न-भिन्न कार्यों का इस प्रकार संचालन करता है कि सीखने की क्रिया रचनात्मक ढंग से होती रहे।

(3) किलपैट्रिक के अनुसार प्रोजेक्ट प्रणाली से पढ़ाने ने लिए अध्यापक को बालकों के विषय में सहानुभूतिपूर्ण समझ होनी चाहिए। उसमें ज्ञान का उचित भंडार होना चाहिए। 'विद्यार्थी और अध्यापक दोनों नये ज्ञान की प्राप्ति में लगे रहते हैं। अध्यापक नए ज्ञान का स्रोत होता है किन्तु सारा का सारा ज्ञान वह अपने मस्तिष्क में संचित नहीं रखता।[1]'

---

[1] *Kilpatrick, W. H.* : How We Learn ? p. 73

(4) उत्तम अध्यापक इस विधि को यान्त्रिक एवं अव्यवहारिक न बना दे। इस विधि से बालकों के चरित्र का समुचित विकास किया जाय। यही शिक्षा का एक उद्देश्य है। वह विद्यार्थियों के प्रयोजनों को इस प्रकार विस्तृत और विकसित करे कि वे अपने उद्देश्यों की पूर्ति कठिनाइयों और बाधाओं को पार करते हुए कर सकें।

(5) जितना भी ज्ञान बच्चे प्राप्त करें उनका अभिप्राय अध्यापक उन्हें समझा दे। इस विधि से ज्ञान प्राप्त करते समय जो कमियाँ रह जाती हैं उनकी पूर्ति करना अध्यापक का काम है।

(6) "प्रोजेक्ट से सम्बन्धित व्यक्तिगत और सामूहिक कार्यों के द्वारा सामाजिक अनुभव पैदा किया जा सकता है, यही अनुभव सामाजिक जीवन के लिए आधारशिला बन जाता है। यही समस्त संसार की शिक्षा-व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य है" अध्यापक इस तथ्य को समझकर प्रोजेक्ट का मार्ग निदर्शन करे।[1]

प्रोजेक्ट प्रणाली से शिक्षण की सफलता की कसौटियाँ

यदि किसी प्रोजेक्ट के निर्माण एवं संचालन में सफलता मिल सकी है तो उसकी जाँच निम्न प्रकार की जा सकती है—

(1) एक सफल प्रोजेक्ट विद्यार्थियों को जोश पैदा करने वाला शैक्षणिक अनुभव दे सकती है। ये अनुभव सामाजिक उपयोगिताएँ रखते हैं और बालकों की अभिवृत्तियों और आचरणों को बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं।

(2) किसी प्रोजेक्ट की प्रभावशीलता इस बात पर निर्भर रहती है कि वह प्रोजेक्ट कहाँ तक बालकों के उन प्रयोजनों को सिद्ध कर सकती है जिनमें वे विशेष रुचि लेते हैं।

(3) एक उत्तम प्रोजेक्ट बालकों के लिए अलभ्य और अप्राप्य नहीं होती। यदि उसमें कोई कठिनाई ऐसी हो जिसको आसानी से पार नहीं किया जा सकता तो अध्यापक की सहायता से उसे हल किया जा सकता है। बालक जो कुछ भी सीखता है उससे सन्तुष्टि ग्रहण करता है और व्यवहारिक जीवन में भी उसे प्रयोग कर सकता है।

(4) एक अच्छी प्रोजेक्ट की विशेषता यह है कि वह न तो विद्यालय के धन और न विद्यार्थियों की विशेष योग्यताओं का विनाश ही करती है। निश्चित समय में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने की क्षमता प्रत्येक प्रोजेक्ट में होनी चाहिए।

(5) एक अच्छे प्रोजेक्ट के अन्तर्गत बालक लाभदायक कार्यों में लगे रहते हैं, उनकी रुचियाँ वास्तविक होती हैं और साथ ही उनमें स्वतन्त्रता और मौलिकता की भावना पैदा होती है।

---

1 *Armstrong, Jean, M.A.* : Projects and Their Place in Education, p. 59.

(6) अच्छे प्रोजेक्ट सब विषयों के ज्ञान का एकीकरण करने में समर्थ हों और यह कार्य किसी शिक्षा सम्बन्धी विधि द्वारा हो सके।

भिन्न-भिन्न कक्षाओं में इस विधि की सफलता का विवेचन

प्रारम्भिक विद्यालयों में प्रोजेक्ट विधि का प्रयोग करना एक कठिन कार्य होता है। यद्यपि हम इस विधि को भिन्न-भिन्न विषयों के शिक्षण के लिए प्रयोग में ला सकते हैं किन्तु इस शब्द में छिपी हुई इसकी यथार्थ भावनाओं और इसके रचनात्मक अर्थ का अवलोकन हम इस प्रारम्भिक अवस्था में नहीं कर सकते। प्रोजेक्ट विधि शिक्षण के मनोवैज्ञानिक क्रम पर आधारित है, इसलिए जब बच्चों को किसी वस्तु का ज्ञान दिया जावे तो उसमें कुछ समय विभाजन अवश्य रखा जाता है। इस विधि की सफलता बालकों द्वारा प्रदर्शित उत्तरदायित्व पर ही निर्भर करती है। इस विधि के शैक्षणिक महत्त्व तभी जाने जा सकते हैं जबकि बालक अपनी योजना के विषय में स्वयं स्वतन्त्रता पूर्वक सोचें और उस पर कार्य कर सकें तथा बाद में उस योजना के परिणामों पर अपने विचार रख सकें। इस विधि में विचार-विश्लेषण का प्रयोग, बुद्धि का अभ्यास एवं कल्पना शक्ति का विकास सम्मिलित है। इसलिए प्रायः प्रोजेक्ट विधि मिडिल तथा ऊँची कक्षा के क्षात्रों के लिए ही उपयुक्त है। विशेष रूप से यह बुद्धिमान और होनहार छात्रों के लिए अति उपयुक्त समझी जाती है। जब इस विधि को छोटी कक्षाओं के छात्रों के लिए प्रयोग में लाई जावे तो छात्रों को स्वयं निरीक्षण और परीक्षण द्वारा ही किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सहायता देनी चाहिए। उनके लिए जो योजनाएँ बनाई जावें वे बहुत सरल, छोटी तथा सीमित क्षेत्र की ही होनी चाहिए, हमको उस समय बौद्धिक तथा विशलेष्णात्मक दृष्टिकोण पर अधिक महत्व नहीं देना चाहिए। यद्यपि शिक्षण की प्रत्येक अवस्था में प्रोजेक्ट विधि के लाभ अनेक हैं किन्तु प्राथमिक अवस्था में इसका प्रयोग सीमित ही रहना चाहिए।

प्रोजेक्ट योजना का उदाहरण

डाक घर (छोटे-छोटे बालकों के लिये)—जहाँ तक सम्भव हो सके छात्रों को योजना के ऊपर स्वयं ही विचार करने का अवसर देना चाहिये। वे सोचें कि उनको किस योजना पर कार्य करना है, केवल कुछ विशेष अवसरों पर उनको ठोस सुझाव देने चाहिये। सबसे पहले योजना के लिये सुझाव देना आवश्यक हो जाता है लेकिन बाद में बालकों को स्वयं उस पर विचार करने के लिये छोड़ देना चाहिये कि अध्यापक चाहें तो समय-समय पर कुछ ऐसे सुझाव दे सकता है जो उनको लाभदायक हों तथा उस योजना का सम्बन्ध किसी दूसरी योजना से जोड़ते हों।

'डाक घर' योजना एक सात वर्षीय बालक द्वारा प्रारम्भ की गई थी जो कि स्थानीय डाक घर को देखने गया। गाँव का वह डाकघर एक स्थान से दूसरे स्थान को बदल दिया गया। इससे बालकों में डाकघर के प्रति रुचि उत्पन्न हो गई है। पाँच से ग्यारह वर्ष के इक्कीस बालकों ने इस योजना में भाग लिया। वह योजना आठ सप्ताह तक चली।

बालकों ने इस योजना के सामान तथा यन्त्रों को निम्न रीति से पूरा किया :—

एक मोटे गत्ते का लम्बा सन्दूक बनाया गया तथा उसको लाल रंग कर डाक बम्बा (Letter-Box) बनाया गया बालकों ने गाँव के डाक-बम्बे का निरीक्षण किया और दस वर्षीय तीन बालकों के जिम्मे इस डाक-बम्बे को पूर्ण करने का भार सौंपा गया। अब इन तीन बालकों में यह विचार-विमर्श हुआ कि क्या अपने डाक-बम्बे की ऊँचाई वही होनी चाहिये जो गाँव के डाक-बम्बे की है या कोई दूसरी होनी चाहिये। तब एक छात्र ने बतलाया कि यदि डाक-बम्बे की ऊँचाई गाँव के डाक-बम्बे के मुताबिक होगी तो छोटे बच्चों को अपने पत्र डालने में परेशानी होगी। इस तरह विचार विमर्श के बाद यह तय हुआ कि ऊँचाई इतनी होनी चाहिये, जिससे पाँच या छः वर्ष के बच्चे को पत्र डालने में कष्ट न हो।

अब काउन्टर की बारी आई और वह भी निम्न प्रकार बनाया गया।

कुछ डेस्कों या मेजों को एक लम्बी कतारों में फैला लिया गया, छात्रों में से एक के पिता ने कुछ स्तेमाल किया हुआ 18″ का तारों का जाल दे दिया। इन तारों को डैस्कों के चारों ओर लगा दिया गया। किशन जिसके पिताजी पोस्ट मास्टर थे उसने बताया कि तार के जाल को डैस्कों की सतह से लगभग 3″ की ऊँचाई पर लगाना चाहिये जिससे पैसा इत्यादि काउन्टर पर दिया जा सके।

टिकटें तथा लेबिल—तार के जाल के ऊपर भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न काम के लेबिल लगा दिये गये कि यहाँ पर टिकट मिलती है, वहाँ मनीआर्डर होता है इत्यादि।

कुत्तों तथा रेडियो के लाइसैन्स—कुछ बालक अपने घर से कुत्तों तथा रेडियो के वास्तविक लाइसैन्स लाये। हमने इन लाइसैन्सों को नापकर और उस नाम के हरे पतले कागज में से लाइसैन्स काटे गये। ऐसी रंगीन पेंसिल से उस पर लाइसैन्स फीस लिख दी गई जो पानी से न मिट सके और वास्तविक लाइसैन्स की अन्य बातें भी उस पर लिख दी गईं। उस कागज पर बीच में उन्होंने तारीख तथा लाइसैन्स बनवाने वाले के नाम के लिये स्थान छोड़ दिया तथा नीचे बाँये किनारे पर एक छोटा-सा वर्ग बनाया जिस पर डाकखाने की मुहर लगाई जा सके। अब लाइसैन्स बनाने के ऊपर विचार होने लगा। जो बच्चे लाइसैन्स बनाते थे उनको पता लगा कि जो लाइसैन्स बनाये जाते हैं उनकी मुख्य प्रतिलिपि (original) तो फाड़ ली जाती है। विचार विमर्श के बाद एक बालक को याद आया कि उसके पिताजी के पास डाकखाने से एक पत्र आया था जिसमें लाइसैन्स को नये वर्ष के लिये बदलवाने के लिये लिखा था।

इस प्रकार और आगे विचार विमर्श हुआ। प्रत्येक व्यक्ति जानता था कि डाकखाने में प्रत्येक लाइसैन्स का रिकार्ड रहता है। हमने भी इस पर विचार किया कि हम

भी किस प्रकार अपने रिकार्ड रखें। बालकों ने मुझे दावतों के निमन्त्रण के लिये कार्बन का प्रयोग करते देखा था—इसलिये एक छः वर्षीय बालक द्वारा कार्बन के प्रयोग का सुझाव दिया गया। इसलिये हमने प्रत्येक लाइसैन्स को कार्बन के प्रयोग द्वारा डुपलीकेट में देने का विचार कर लिया जिसमें एक तो ग्राहक को देदी जाती थी तथा दूसरी फाइल में लगा दी जाती थी।

पार्सल—पार्सल के काउन्टर पर कम से कम एक तराजू का होना तो आवश्यक है। बालकों ने भिन्न शक्ल और तौल के पार्सल बनाये और उन पर 'पार्सल डाक' लिख दिया जिससे पार्सल-क्लर्क को पहिचानने में तथा दाम लगाने में कठिनाई न होवे।

काउन्टर पर प्रत्येक विभाग के लिये एक-एक क्लर्क रखा गया जिनको गत्ते के बने हुए सिक्के दे दिये गये। ये क्लर्क बारी-बारी से अपना काउन्टर बदलते रहते थे। स्कूल की रबर स्टाम्प, तारीख स्टाम्प को पत्रों, पार्सल, लाइसैन्स इत्यादि पर प्रयोग किया जाने लगा। बच्चों को ब्लाटिंग पेपर, कलम, रोशनाई इत्यादि दिये गये जिससे पत्र, तार तथा पते लिखकर काउन्टर पर दे सकें। कमरे के एक कोने में 'Sorting office' लिखकर टाँग दिया गया। यहाँ पर कुछ बच्चे पत्रों को पते के अनुसार छाँटने लगे।

बालकों ने प्रयोग की हुई टिकटें एकत्रित कीं और उनको उनके मूल्यानुसार मोड़कर रखीं। बच्चों के लिये एक कार्य अति रुचि कर तथा मनोरंजक था। बच्चों ने डाक-बम्बे में पत्र डाले थे जिनको निश्चित लिखे समय पर एक डाकिया-छात्र डाक-बम्बे से निकालता था। पत्रों को तब छटनी के लिए दफ्तर (Sorting office) में लाया जाता था और वहाँ पर उन पत्रों को एक छात्र ने पतों के अनुसार छाँटकर डाकिये छात्र को दे दिये जाते थे। वह डाकिया छात्र उन पत्रों को उनके पते पर पहुँचाता था।

तार (Telegrams)—तार के लिये हमने कुछ तार के फार्म डाकखाने से मँगवा लिये। बड़े छात्रों ने उन फार्म के बराबर कुछ सफेद कागज काट लिये और उन पर तार के फार्म की भाषा लिख दी तथा उनमें डाक-मोहर के लिये भी स्थान छोड़ दिया।

पोस्टल-आर्डर के लिये भी हमने वही रीति अपनाई जो लाइसैन्सों के बनाने में अपनाई थी। हमने पोस्टल आर्डर के नमूने के अनुसार अपने पोस्टल आर्डर बनाये तथा उनकी डिजाइन को डाकखाने की तरह न बनाकर एक बहुत सरल और सादा डिजाइन बनाई। उन पोस्टल-आर्डर फार्मों के ऊपर बड़े अक्षरों में 'POSTAL ORDER' लिख दिया। पोस्टल आर्डर की दोनों बाजुओं पर उनकी कीमत अंकित कर दी गई, मध्य भाग रिक्त छोड़ दिया गया, नीचे दाहिने कोने में तारीख की मोहर के लिये एक वर्ग बना दिया गया। हमको बहुत अधिक पोस्टल आर्डर तथा लाइसैन्सों की आवश्यकता नहीं थी। डाक घर योजना में अधिक सामान रखने की

अपेक्षा सामान तथा आवश्यक वस्तुओं को समय-समय पर नया करते (Renew) रहना चाहिये।

टेलीफोन—आठ वर्षीय चार छात्रों ने टेलीफोन-सन्दूक बनाया, इन बच्चों ने वह सन्दूक एक मोटे कागज से बनाकर उस पर Telephone लिख लिया। एक 5½ वर्षीय छात्र एक टेलीफून का खिलौना ले आया और इस टेलीफून को उस डिब्बे में रखकर उस डिब्बे को एक निश्चित स्थान पर रख दिया जहाँ एक गत्ते के टुकड़े पर 'Telephone from here' लिखकर टाँग दिया गया।

पोशाक (Uniforms)—डाकिया-छात्र तथा तार बाँटने वाले छात्र को एक टोपी, एक थैला तथा एक पेटी दी गई, इसे पहनकर छात्र एक बस-कन्डक्टर की तरह दिखाई देने लगे इसलिये हमने उनके बैजों पर "Postman 19" या Postman 2" के लेबिल लगा दिये। एक किसान ने हमको एक बड़ा थैला दिया जिसमें डाकिया पत्र और पार्सल एकत्रित करके लाया करता था, एक बड़ा बालक अपने घर से एक छोटा थैला लाया जिसमें डाकिया पत्र इत्यादि रखकर उनको गाँव में बाँटने जाया करता था।

कुछ गत्ते के सिक्के बनाकर उनको एक डिब्बे में रख दिया और डिब्बे को एक सुविधाजनक स्थान पर रख दिया जहाँ से बच्चे आसानी से डाकखाने से टिकिट इत्यादि खरीदने के लिये उसमें से सिक्के ले सकें। वहाँ पर यह देखना बड़ा मजेदार था कि कौन सा बच्चा बिलकुल ठीक गिन कर सिक्के लेता है तथा कौन-सा बच्चा अधिक तथा कम सिक्के लेता है। इस विषय में बच्चों की गलतियों को ठीक नहीं करना चाहिये अपितु उनको स्वयं ही अपनी गलतियों को सुधारने का अवसर देना चाहिये। वे अपनी गलती को स्वयं ही जान लेंगे जबकि वे काउन्टर पर पहुँचेंगे। तब तुमको पता लगेगा कि वे तुम्हारे पास इस विषय में सहायता और सुझाव के लिये आयेंगे और इस तरह से उसमें से स्वयं ही एक नये पाठ का उदय हो जावेगा।

तुम्हें National Savings Association से कुछ पोस्टर भी प्राप्त हो सकते हैं ये पोस्टर कक्षा-कक्ष में एक डाकखाने का वातावरण उत्पन्न करने में बड़ी सहायता करेंगे तथा कक्षा के नीरस वातावरण को एक रुचिकर वातावरण बनायेंगे।

इस योजना का एक सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें बच्चे भिन्न-भिन्न क्रियाओं में लगे रहते हैं तथा वे इस योजना में थके हुए प्रतीत नहीं होते। इसमें कुछ बच्चे पत्र लिखते हैं, कुछ पास्टकार्ड, कुछ पार्सल भेजते हैं, कुछ सामान को नया करते रहते हैं, कोई बच्चा डाक-बम्बे से डाक निकालता है तथा शेष बालक टिकट खरीदने या लाइसैन्स तथा पार्सल इत्यादि के कार्य में लगे रहते हैं।

एक योग्य शिक्षक को पता लगेगा कि इस योजना से बालकों का किस प्रकार ज्ञानोपार्जन बढ़ता तथा किस प्रकार उनको गिनना, समझना और हिसाब लगाना आ

जाता है, इस प्रकार कुछ अंकगणित का भी ज्ञान इस योजना द्वारा बालकों को दिया जा सकता है।

बड़े बालकों के लिये—ग्यारह वर्ष से लेकर चौदह वर्ष के बड़े बालकों में हम इस योजना को अधिक विस्तारपूर्वक तथा पूर्ण रूप से चला सकते हैं। आजकल डाक घर तथा G. P. O. में बालकों को टेलीफून तथा तार के यन्त्रों को दिखाने तथा समझाने इत्यादि का एक अच्छा प्रबन्ध कर दिया गया है।

इस योजना में हम इतिहास तथा भूगोल के भी दर्शन कर सकते हैं। ऐसे पोस्टर हमको प्राप्त हो सकते हैं जिनमें यह दर्शाया जाता है कि देश के दुर्गम स्थानों में डाक किस प्रकार पहुँचाई जाती है तथा वहाँ टेलीफून और तार का प्रबन्ध किस प्रकार प्रकृति पर विजय प्राप्त करके किया गया है—इस प्रकार बालकों में भूगोल के प्रति रुचि बढ़ती है। हम किसी डाकिये द्वारा बच्चों को उसके अनुभव सुनवा सकते हैं तथा बच्चों को G. P. O. में भी लेजाकर वहाँ की कार्य करने की प्रणाली उनको समझा सकते हैं। इस योजना में बच्चों को विदेशों के बच्चों से भी पत्र व्यवहार करने के लिए प्रेरित करना चाहिए, इससे उनमें अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना तथा मित्रता का विकास होगा। इस योजना में एक स्कूल के बच्चे ने तो अमरीका, चीन तथा आस्ट्रेलिया के बच्चों से पत्र व्यवहार किया था।

हमने 6 सप्ताह तो केवल इन बालकों की रुचि को इस योजना पर केन्द्रित करने में खर्च कर दिये। डाक घर का कोई इस समय नमूना नहीं बना लेकिन G. P. O. की मेहरबानी से एक टेलीफोन कुछ दिनों के लिए हमारे प्रधानाध्यापक के कमरे में लगा दिया गया। इस टेलीफोन का बालकों ने बड़े सुन्दर ढंग से प्रयोग किया तथा इसके बारे में ज्ञान प्राप्त किया। टेलीफोन पर बातचीत करने के लिए बालकों की बारी बना दी गई। इस टेलीफोन में घण्टी के बजाय एक लाल बत्ती का प्रयोग किया गया। जब टेलीफून पर कोई बात करना चाहता था तो यह लाल बत्ती जलती थी और बालक टेलीफून उठाकर उस पर उत्तर देता था। बालकों को टेलीफून पर बात करने का सही तरीका सिखाया गया तथा उन्हें समझाया गया कि टेलीफून पर शब्दों को बिल्कुल स्पष्ट बोलने चाहिए। इस प्रकार बालकों ने टेलीफून पर सन्देश लेना तथा भेजना सीखा। इस योजना द्वारा बच्चों ने बात करने का ढंग तथा आत्म विश्वास का पाठ प्राप्त किया। हमारी इस योजना से एक H. M. I. बड़ा प्रभावित हुआ और सुझावों के अनुसार कालिज के इन 14 वर्ष तक के बालकों के लिये कालिज में एक टेलीफोन लगवा दिया गया। G. P. O. ने कुछ निर्देश-पुस्तिकायें भेजीं जैसे "Post office Private Communication Service", "The use of the Telephone", और कुछ पुस्तिकायें स्व-चलित टेलीफून की कार्य-प्रणाली पर भेजीं। कक्षा के दो ग्रुप एक G. P. O. तथा एक टेलीफोन Exchange को देखने गया। G. P. O. तथा Exchange की यात्रा के सम्बन्ध में जो पत्र व्यवहार हुए उन्होंने हमारी इस योजना में एक महत्वशाली भाग लिया।

स्कूल बैंक भी अब बालकों की सहायता के द्वारा व्यापारिक रूप में चलाई जाने लगी। दूध का पैसा (जो साप्ताहिक दिया जाता था) तथा अन्य प्रकार की अदायगी भी बालकों द्वारा की जाने लगी। इसका एक रजिस्टर बनाकर एक पूर्ण हिसाब रखा गया। अब जो धन शेष रह जाता था उसको सोमवार को 11·45 पर स्थानीय डाकघर में स्कूल के खाते में जमा कर दिया जाता था।

जैसा कि हमें विदित है कि 80% विद्यार्थी ऐसे होते हैं जो स्कूल छोड़ने के पश्चात् किसी व्यवसाय में प्रवेश करते हैं इसलिए धन सम्बन्धित यह शिक्षा उनके जीवन में बड़े काम में आती है। मेरे स्कूल में तो यह देखा गया कि एक बार स्कूल छोड़ने वाले 17 विद्यार्थियों में से 9 विद्यार्थियों को डाकघर में कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ तथा दो विद्यार्थियों ने तार (Telegraph) का कार्य प्रारम्भ किया।

मान्टेसरी प्रणाली
(Montessori Method)

मॉन्टेसरी प्रणाली का आविष्कार डा० मैरिया मॉन्टेसरी ने किया। मैरिया मॉन्टेसरी का जन्म 1870 ई० में इटली के अन्दर हुआ था। उसका जन्म ऐसे समय में हुआ था जबकि उनके देश में बड़ी राजनैतिक उथल-पुथल हो रही थी तथा शिक्षा का कोई वैज्ञानिक रूप नहीं था। वह एक डाक्टर थीं किन्तु शीघ्र ही उनको यह ज्ञान हुआ कि उनका कार्य तब तक प्रभावशाली नहीं हो सकता जब तक बच्चों की शिक्षा के प्रति अधिक ध्यान नहीं दिया जावेगा। प्रारम्भ से उन्होंने कुछ ऐसे बालकों की शिक्षा के प्रति ध्यान दिया जिन्हें शिक्षा सम्बन्धित किसी प्रकार की सुविधाएँ न थीं। उन्होंने उन बालकों को एक विशेष प्रकार का शिक्षित वातावरण दिया और अपने अनुभवों द्वारा उन्होंने उन बालकों का बौद्धिक विकास करने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने अनुभव किया कि ऐसी कोई चिन्ता करने की बात नहीं है कि मन्द-बुद्धि वाला बालक उन्नति नहीं कर सकता है। उन्होंने बताया कि ऐसे बालकों के विकास को सीमित कर दिया जाता है तथा ऐसे बालकों के लिए हमारी शिक्षा-पद्धति में भी अनेक दोष हैं। उन्होंने ऐसे बालकों के मनोवैज्ञानिक विकास पर विशेष ध्यान दिया। उनकी प्रारम्भिक सफलताओं ने उनको विश्वास दिला दिया कि एक मन्द-बुद्धि वाला बालक भी चतुर हो सकता है और इस तरह उत्साहित होकर उन्होंने मन्द तथा साधारण बुद्धि वाले बालकों के लिए एक नई शिक्षा पद्धति को जन्म दिया। उन्होंने प्रयोगात्मक मनोविज्ञान (Experimental Psychology) का सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology) का अध्ययन किया। उनका विश्वास था कि आधुनिक विज्ञान की प्रगति न तो मानव को नैतिक उन्नति में सहायता दे सकती है और न नष्ट होती हुई सभ्यता तथा संस्कृति को बचा सकती है। उन्होंने कहा कि बालक के सही विकास की लोगों ने उपेक्षा करना प्रारम्भ कर दिया है इसलिए विज्ञान को मानव लाभ के लिए बालकों में एक नई तथा मानवीय आन्तरिक भावना का उदय करना

चाहिए—इसी को हम वास्तविक "मानवीय जीवन" (Human life) कहेंगे। इस तरह विज्ञान बालक के सही बौद्धिक और चारित्रिक विकास की ओर अग्रसर होकर बालक की छिपी हुई शक्तियों का प्रदर्शन करेगा। मेरिया मॉन्टेसरी रूसो के प्राकृतिकवाद के सिद्धान्त से अत्यन्त प्रभावित हुई थीं। अब उनके कार्य तथा सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण समझे जाने लगे थे क्योंकि मनोविज्ञान का एक अलग विषय के रूप में जन्म हो चुका था। शिक्षा-शास्त्री पेस्टालॉजी (Pestalozzi) के मनोवैज्ञानिक आन्दोलन के उदय का श्रेय भी श्रीमती मेरिया मॉन्टेसरी को ही मिलता है। श्रीमती मॉन्टेसरी का कथन है कि यदि छोटे बालकों की मानसिक शक्तियों को ठीक तथा सही तरह से निर्देशित किया जावे तथा उनको उचित वातावरण में पोषित किया जावे तो उनका बहु-मुखी विकास हो सकता है। वह कहती हैं, "The broder the teachers' scientific culture and practice in experimental psychology, the sooner will come for her the marvel of unfolding life and her interest in it" (शिक्षण का जितना विस्तृत वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का अभ्यास होगा उतनी ही शीघ्र उसे बालक के जीवन में नया मोड़ लाने पर उसमें आनन्द प्राप्त होगा) यद्यपि फ्रोबेल (Frobel) का प्रतीकवाद (Symbolism) का सिद्धान्त भी वही उद्देश्य पूरा करता है किन्तु उसका यह वाद बहुत ही अव्यवहारिक था। इसीलिए मॉन्टेसरी का दार्शनिक सिद्धान्त तथा पद्धति बहुत ही सरल, शक्तिशाली तथा उपयोगी है।

मॉन्टेसरी पद्धति क्या सूचित करती है ?

परम्परा प्राप्त शिक्षा का उद्देश्य बालकों के मस्तिष्क को वस्तुओं का यथार्थ ज्ञानोपार्जन कराना था। बालक ज्ञानोपार्जन काल में अधिक ध्यान तथा शिक्षक के साथ नहीं चलता था। पहले शिक्षा-पद्धति मस्तिष्क को ही केन्द्रित करके चलती थी तथा जहाँ कोई बौद्धिक समस्या आती थी उसी पर अधिक महत्व दिया जाता था। उसमें कोई क्रियात्मक (Practical) ज्ञान नहीं होता था। उसमें चरित्र-विकास पर कोई महत्व नहीं दिया जाता था तथा आवेगों की तरफ तो बिल्कुल ध्यान नहीं था। स्पष्ट है कि ऐसी विधि बालकों के अध्यात्मक, सांस्कृतिक एवं भावात्मक विकास में कोई सहायता नहीं देती है। आजकल बीसवीं शताब्दी में शिक्षा का आधार मनोवैज्ञानिक हो गया है जहाँ बालक स्वयं क्रियाओं में भाग लेते हुए अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करते हैं। आजकल बाल-मनोविज्ञान शिक्षा-पद्धतियों के निर्माण में एक बहुत बड़ी सहायता देता है। अब बालकों को निर्देश व्यक्तिगत आधार पर दिये जाते हैं जिससे उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। आजकल हम लड़के लड़कियों दोनों को शिक्षण देते हैं, प्रारम्भ में वे बालकों के मस्तिष्क को भिन्न-भिन्न संकीर्ण भागों में बँटा हुआ मानकर उनको विषयों को पढ़ाया जाता था। लेकिन अब इस कथन पर विश्वास किया जाने लगा है कि बालक के मस्तिष्क के केवल एक ही भाग को शिक्षित नहीं करना अपितु सम्पूर्ण बालक को शिक्षित करना है। मॉन्टेसरी विधि

बालकों के सामूहिक शिक्षण विधि के विरुद्ध है तथा इसके विरुद्ध वह व्यक्तिवाद पर महत्त्व देती है। डा० मॉन्टेसरी ने बालकों की ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित करने के आधार पर एक अद्वितीय विधि का विकास किया तथा उन्होंने बालक के विकास के लिए वैज्ञानिक भावनाओं का प्रयोग किया है। उन्होंने जिस विधि का आविष्कार किया है वह पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक है, इस विधि के मुख्य उद्देश्य-बालकों के चरित्र विकास, जीवन की परिस्थितियों के साथ मुकाबला करने का साहस देना एवं उनकी क्रियात्मक शक्तियों को उन्हीं के हाथों तथा क्रियाओं द्वारा शिक्षण देना है।

मॉन्टेसरी पद्धति के शिक्षा-सिद्धान्त

(1) **आत्म-शिक्षण का सिद्धान्त** (Principle of auto-education)—डा० मॉन्टेसरी का कथन है कि प्रभावशाली शिक्षण वही है जिसमें बालक स्वयं अपनी आवश्यकतानुसार प्राकृतिक रूप से अपने ही अनुभवों द्वारा कुछ सीखता है। यहाँ पर इनका कथन रूसो (Rosseau) के कथन से मिलता है किन्तु इनके अनुभव का सिद्धान्त ऋणात्मक न होकर धनात्मक है जो बालक को उसके पूर्ण विकास के लिए शिक्षा सम्बन्धी एक उत्तेजित वातावरण प्रदान करता है। यह विधि सूचित करती है कि शिक्षक को बालकों के लिए अपनी इच्छा तथा निर्देश नहीं देने चाहिए क्योंकि ऐसा करने से उसके विकास में बाधा पहुँचेगी। उसके कथनानुसार शिक्षक का हस्तक्षेप कम से कम होना चाहिए तथा बालक के लिए उचित वातावरण तैयार करना चाहिए। शिक्षक को बालक को इस प्रकार उत्साहित करना चाहिए कि वह उस वातावरण में उत्पन्न अवसरों का पूर्ण रूप से उपयोग कर सके। वह कहती हैं कि बालक अपनी उन्नति को देखकर बहुत प्रसन्न होता है और यही प्रसन्नता सबको आगे कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। उन्होंने अपनी योजना में पुरुष्कार या दण्डों का कोई अधिक महत्त्व नहीं दिया है। उनके शिक्षा-दर्शन का मुख्य बीज यही था कि बालक ही अपने विकास के लिए उत्तरदायी है। शिक्षक का कर्तव्य केवल इतना ही है कि वह बालक को उसके व्यक्तित्व के बारे में ज्ञान करादे—यदि यह कर दिया जावे तो बालक का विकास अवश्य होगा। अपने शिक्षा-सिद्धान्त को प्रयोग में लाने के लिये डा० मॉन्टेसरी ने एक प्रबोधक यन्त्र का आविष्कार किया जिसमें बालक अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करता है। जब बालक विद्यालय में आता है तो वह अन्य बालकों को तरह-तरह के खेल खेलते देखता है। यह बालक भी तब उसी खेल को चुनता है जिसमें उसे सबसे अधिक आनन्द आता है और जब उसे खेलते-खेलते थक जाता है तब उसे छोड़ देता है। इस प्रकार बालक की रुचि ही उसे कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। बालकों को बैठने के लिए छोटी-छोटी कुर्सी तथा नीची मेजें प्रदान की जाती हैं। फर्स पर कम्बल या कालीन बिछा दिया जाता है। इस विधि में बालक प्रयत्न करता, गलती करता है तब उस गलती को स्वयं ही सुधार लेता है—इस प्रकार वह इस विधि एवं शिक्षा के सिद्धान्त पर ज्ञान प्राप्त करता है। मॉन्टेसरी विधि में बालक के दोनों शारीरिक तथा मानसिक विकास पर ध्यान केन्द्रित रहता है।

(2) **ज्ञानेन्द्रिय प्रशिक्षण द्वारा शिक्षा :** (Education through Sensory Training)—डा० मॉन्टेसरी का मत है कि बाल-शिक्षा के लिए बालक की ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षण करना अति आवश्यक होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान के द्वार होते हैं। यदि बालक की भिन्न-भिन्न ज्ञानेन्द्रियों को सही प्रकार से प्रशिक्षित किया जावे तो उसकी शिक्षा अधिक प्रभावशाली हो सकती है। यदि हम प्रारम्भ में बालक के मस्तिष्क पर ध्यान न देकर उसकी चक्षुरिन्द्रिय पर ही अपना उद्देश्य केन्द्रित करें तो इसके बालक को उसके आन्तरिक तथा बाहरी संसार के सम्बन्ध का ज्ञान सरलता पूर्वक हो सकता है। बालक की ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित करने का समय 3 वर्ष से लेकय 7 वर्ष तक का ही है, यदि इस काल की उपेक्षा कर दी जायगी तो बालक की उन्नति असंतुलित तथा रुक जाने की सम्भावना है। इसका यह भी परिणाम हो सकता है कि एक साधारण बालक भी मन्द-बुद्धि वाला बन सकता है। डा० मॉन्टेसरी का कहना है कि साधारण बालक तो सरलतापूर्वक आगे बढ़ता रहता है किन्तु मन्द एवं हीन बालकों को इस तरह के अभ्यास देने चाहिए जो उसकी उत्तेजनाओं में वृद्धि कर दे। ऐसे बालकों के लिए उन्होंने अपने शिक्षा-यन्त्रों में सुधार किया जिससे मन्द बुद्धि बालक का भी विकास हो सके। मॉन्टेसरी के शिक्षा यन्त्रों में कुछ लकड़ी के टुकड़े होते हैं। जिसमें एक-एक कतार में 10—10 लकड़ी के बेलन लगे रहते हैं। ये बेलन भिन्न-भिन्न लम्बाई तथा भिन्न व्यास के होते हैं किन्तु उन सबकी शक्ल एक-सी होती है। बालक पहले तो उन बेलनों को निकाल लेता है तथा बाद में उन बेलनों को उन्ही के छेदों में लगाने का प्रयत्न करता है। प्रारम्भ में वह गलती करता है और उस गलती को स्वयं सुधार लेता है—बेलन को उसी के छेद में लगा देता है—इस तरह इस यन्त्र से उसकी चक्षुरिन्द्रिय का प्रशिक्षण होता है। इसी प्रकार उन्होंने ध्वनि, गन्ध और स्वाद का ज्ञान कराने के लिए भिन्न-भिन्न शिक्षा यन्त्र बनाये।

(3) **व्यक्तिगत आधार द्वारा शिक्षा** (Individual basis of Education)—डा० मॉन्टेसरी का कथन है कि शिक्षा तब ही प्रभावशाली हो सकती है जबकि इसे व्यक्तिगत आधार पर ही दिया जावे। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक बालक को उसके उच्चतम विकास का अवसर प्रदान करना चाहिए तथा शिक्षक को प्रत्येक बालक पर व्यक्तिगत ध्यान रखना चाहिए। यह तब ही सम्भव हो सकता है जबकि बालक को शिक्षा उसकी आवश्यकता, सामर्थ्य तथा स्वभाव के अनुसार ही दी जावे। उन्होंने कक्षा द्वारा शिक्षण का विरोध किया है। उनका कथन है "The child is a body which grows and a soul which develops." कक्षा शिक्षण में भिन्न-भिन्न प्रकार के बालकों को एक ही प्रकार के पाठ को एक ही समय में पढ़ना पढ़ता है। डा० मॉन्टेसरी ने कहा है कि शिक्षा-क्षेत्र में प्रत्येक बालक एक अलग इकाई है इस-लिए शिक्षक को प्रत्येक बालक को उसी के आवश्यकता तथा वातावरण के अनुसार सहायता करके आगे बढ़ाना चाहिए। इसके साथ ही साथ इस व्यक्तिवाद को अधिक संकुचित नहीं बनाना चाहिए वरना यह स्वयं हानिकारक सिद्ध हो सकता है। कक्षा-

अध्यापक को समय-समय पर कक्षा विभक्त करते रहना चाहिए जिससे प्रत्येक बालक पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जा सके किन्तु ऐसे भावनात्मक विषयों के लिए सामूहिक शिक्षण ही लाभप्रद होता है।

(4) **शिक्षा-स्वतन्त्रता** (Educative Freedom)—डा० मॉन्टेसरी का कथन है कि शिक्षा क्षेत्र में बालक को उसकी रुचि के अनुसार पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए। इस प्रकार की स्वतन्त्रता देने से बालक प्राकृतिक रूप में कार्य करेगा तथा तब यह स्वयं ही वास्तविक शिक्षा का सही आधार बन जावेगा। इस प्रकार बालक बाहरी वस्तुओं का सही बौद्धिक ज्ञान प्राप्त कर लेगा। बाहरी हस्तक्षेप बालक की उन्नति में बाधक बन जावेगा। वह कहती हैं, "बालक के इच्छानुसार कार्यों के अवरोध के परिणामों से परिचित नहीं हैं, जबकि बालक कोई अपनी क्रिया प्रारम्भ करने वाला होता है, हम उसमें अवरोध उत्पन्न करते हैं। यह अवरोध बालक की उन्नति के लिए बड़ा हानिकारक होता है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर सूरजमुखी का फूल अपनी पंखड़ियों को खोलता है उसी प्रकार बालक की इस कोमल अवस्था में उसकी ज्ञान-पंखड़ियों का खोलने का अवसर आता है।" (We donot know the consequences of suffocating a spontaneous action all the time, when the child is just beginning to be active, perhaps we suffocate life itself. Humanity shows itself in all its intellectual splendour during this tender age as the sun itself at dawn and the flower at just unfolding of the petals)" बालक के लिए शिक्षण विधि तमाम प्रतिबन्ध और अवरोधों से मुक्त होनी चाहिए। स्वतन्त्रता व्यक्ति का केवल अधिकार ही नहीं है बल्कि पूर्ण विकास के लिए इसका होना अति आवश्यक है। यदि बालक पर कोई बाहरी प्रतिबन्ध लगाया जायगा तो उसकी प्राकृतिक शक्तियों के लिए स्वतन्त्र क्षेत्र नहीं मिल पावेगा।

(5) **तार्किक अनुशासन का सिद्धान्त** (Doctrine of rational discipline)—डा० मॉन्टेसरी का कथन है कि जब बालक को शिक्षा शिक्षा-सम्बन्धी वातावरण में प्रदान कर दी जावेगी तो वह अपने उत्तरदायित्वों के प्रति सजग हो जावेगा। यह उत्तरदायित्व उसके अन्दर एक अनुशासन की भावना उत्पन्न करेगा। श्रीमती मॉन्टेसरी का विश्वास है कि अनुशासन बाहर से नहीं लादा जाता है अपितु यह तो एक आन्तरिक प्रेरणा है। बाहर से लादा हुआ अनुशासन विरोधी एवं क्रूर होता है तथा इसका प्रभाव तब तक ही रहता है जबकि इसका भय बालक के सामने रहता है। वास्तविक अनुशासन कार्य की स्वतन्त्रता में से ही उत्पन्न होता है। जबकि बालक को किसी कार्य को करने का स्वतन्त्र वातावरण प्रदान कर दिया जाता है तो उसकी बाल-क्रियायें स्वयं ही लाभप्रद अनुशासन का मार्ग ढूँढ़ लेती हैं। इसी प्रकार का अनुशासन सफल अनुशासन कहलाता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मॉन्टेसरी का अनुशासन सिद्धान्त ऋणात्मक न होकर धनात्मक तथा उद्देश्य पूरक है। डा० मॉन्टेसरी का शिक्षा सिद्धान्त बालक पर किसी प्रकार का बाहरी प्रतिबन्ध तथा किसी

निश्चित कार्यक्रम पर महत्व नहीं देता है। इसके साथ ही साथ उनका कथन है कि व्यक्ति को सामाजिक कार्य भी करते रहना चाहिए तथा उसका विकास इस प्रकार विकसित होना चाहिए कि उसका समाज की भलाई से कोई टकराव न हो। स्वतन्त्रता से विकसित अनुशासन से ही बालक में सही दृष्टिकोण का निर्माण होगा।

(6) **शिक्षा की मनोवैज्ञानिक विधि** (Psychological method of Education)—डा० मॉन्टेसरी ने शिक्षा की एक मनोवैज्ञानिक विधि का प्रतिपादन किया है जिसमें बालक के मानसिक विकास पर अधिक जोर दिया गया है इस विधि में बालक की रुचि एवं उसकी इच्छाओं पर ही महत्व दिया जाता है। किसी पाठ्य-विषय को छाँटने तथा उसकी विधि पर विचार करते समय बालक की आवश्यकताओं तथा सीमाओं का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। यह बात पुनः कहनी पड़ती है कि सब बालकों की सामान्य योग्यतायें तथा ग्रहण-शक्ति बराबर नहीं होती है। मॉन्टेसरी विधि में बालक को वे अभ्यास दिये जाते हैं जिसकी आवश्यकता उसके अंगों के विकसित करने में पड़ती है। यदि इस अवस्था में बालक की आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं दिया गया तो उसका पूर्ण विकास कभी सम्भव नहीं हो सकता है। शिक्षा के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के विषय में हम यह भी कह सकते हैं कि इस विधि में बालक की भिन्न-भिन्न प्राकृतिक शक्तियों का सही ढंग से प्रयोग किया जाता है तथा उनको शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों में लगाया जाता है। अब शिक्षा-चिकित्सा (Education pedagogy) का सिद्धान्त मान लिया गया है कि प्रारम्भिक अवस्था में शिक्षा को प्राकृतिक शक्तियों का सहारा लेकर आगे बढ़ना चाहिए।

(7) **वातावरण ही शिक्षा का आधार है** (Environment as the basis of Education)—डा० मॉन्टेसरी ने ठीक कहा है कि शिक्षा सम्बन्धी उचित वातावरण बालक के इच्छित विकास में बहुत बड़ी सहायता करता है। यह वातावरण ऐसा होना चाहिये जिससे बालक को स्वयं-शिक्षा का अवसर प्राप्त हो। "बालक को ऐसा वातावरण दो जिसमें प्रत्येक वस्तु उसी की आवश्यकता के अनुसार हो और तब ऐसे वातावरण में उसको स्वतन्त्रतापूर्वक छोड़ दो, तब उसको उसके क्रियाशील जीवन में एक महान विकास देख कर बहुत आश्चर्य होगा। वे लोग जो विद्यालय में स्वतन्त्रता की वकालत करते हैं वे बालक को ऐसे वैज्ञानिक यन्त्र प्रदान करते हैं जिससे उक्त प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके।"[1] इसलिए विद्यालयों के लिए यह

---

1 "Give the child an environment in which every thing is constituted in proportion to himself and let him live therein. Then there will develop within the child that 'active iife' which has caused so many to marvel. He who speaks at liberty in the school ought at the same time to exhibit objects—approximating to a scientific apparatus which will such make liberty possible."

अति आवश्यक है कि वे केवल यांत्रिक कारखाने ही न बने रहें अपितु उनको इस प्रकार का होना चाहिए जिससे बालक को तथा उसकी प्राकृतिक शक्तियों को रचनात्मक आनन्द एवं सन्तोष प्रदान कर सकें। इसीलिये डा० मॉन्टेसरी ने बाल घरों (Children Houses) को विद्यालय कहा है जहाँ बालकों को रचनात्मक क्रियाओं द्वारा उनके आत्म-विकास के लिए तरह-तरह के अवसर प्रदान किये जाते हैं। आदर्श घर (Ideal Houses) बालकों के लिए उद्यान हैं, जहाँ उनको खुली हवा में सोने तथा खेलने को मिलता है। भवन का केन्द्रीय कक्ष बौद्धिक कार्यों के लिए प्रयोग में लाया जाता है। दूसरे कक्ष जैसे स्नान गृह, भोजन कक्ष तथा व्यायाम कक्ष, विश्राम गृह इत्यादि शारीरिक कार्यों के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं।

माण्टेसरी शिक्षा-पद्धति (Montessori Educational Methodology)

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर मॉन्टेसरी की शिक्षा-पद्धति को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) कर्मेन्द्रियों की शिक्षा
(2) ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा
(3) भाषा की शिक्षा

(1) **कर्मेन्द्रियों की शिक्षा** (Motor education)—वह सूचित करती है कि बालक प्रत्येक प्रकार के ज्ञान को स्वयं क्रियाओं द्वारा अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ग्रहण करता है। बाल घरों (Children Houses) में शैक्षिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उचित वातावरण तैयार किये जाते हैं। इसलिए यहाँ पर बालक अपनी क्रियाओं द्वारा आत्म-अनुशासन सीखता है। यदि यहाँ बालक के किसी भी एच्छिक कार्यों में हस्तक्षेप होगा तो यह उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधा उत्पन्न करेगा। क्रर्मेन्द्रियों की शिक्षा में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जाती है कि बालक चलने-फिरने के साधारण कार्य से लेकर अपने से सम्बन्धित सभी कार्यों को स्वयं कर लेता है। हाथ मुँह धोना, कपड़े पहनना व उतारना, मेज तथा कुर्सी को ठीक स्थान पर रखना, कमरा सजाना, चीजों को संभाल कर क्रम से रखना, भोजन बनाना, भोजन परोसना, बर्तन धोना आदि कार्य बालक स्वयं कर लेते हैं। शिक्षा उपकरणों में कई ऐसे फ्रेम होते हैं जिन पर कपड़े के टुकड़े लगे रहते हैं और उनमें हुक लगे रहते हैं। बालक इनैं कपड़ों में हुक लगाने का प्रयत्न करते हैं और इस अभ्यास द्वारा वे अपने कपड़ों में स्वयं बटन लगाना सीख जाते हैं। ऐसे कार्य करने में बालक आनन्द का अनुभव करते हैं और इनके द्वारा वे अपने अंगों को साध लेते हैं और अनेकानेक बातें सीख जाते हैं। ये सब कार्य बालक एक शिक्षक के निरीक्षण में करते हैं।

बाल घर का समस्त प्रबन्ध भी बालकों द्वारा ही किया जाता है। बालक ही मेज तथा कुर्सियों को लगाते हैं और मेज पर वे ही वस्तुओं को क्रम से रखते हैं। बालक गृह-कार्यों को बारी-बारी से करते हैं। इस तरह धीरे-धीरे वे बर्तनों को बिना

तोड़े तथा बिना आवाज किये साफ करना सीख जाते हैं। उनको स्वयं मुँह धोना, जूतों पर पालिश करना, भूमि पर झाड़ू लगाना इत्यादि सिखा दिया जाता है। हस्त-कार्य के लिए उनको मिट्टी के खिलौने बनाना तथा ईंटें इत्यादि बनाना सिखाया जाता है। दूसरे शब्दों में बालक की कर्मेन्द्रियाँ विकसित हो जाती हैं और उनमें व्यवहार कुशलता आ जाती है। साथ ही वे शिष्ट तथा सभ्य हो जाते हैं। उनके स्वास्थ्य का भी ध्यान रखा जाता है। अवस्था तथा स्वास्थ्य के अनुसार व्यायाम तथा शारीरिक कार्य कराये जाते हैं। इस प्रकार बालघर की प्रत्येक क्रिया बालक की प्राकृतिक शक्तियों को सन्तोष एवं आत्म-आनन्द प्रदान करती है और इस प्रकार बालक अपने पूर्ण विकास की ओर अग्रसर होता जाता है।

(2) **ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा** (Sensory Education)—जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है कि डा० मॉन्टेसरी का कथन है कि ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के द्वारा ही शिक्षा का सही रूप प्राप्त होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ बाहरी संसार के ज्ञान के द्वार हैं (Senses are gateway of the external world) ज्ञानेन्द्रियाँ ही बालक का उसके आन्तरिक और बाहरी संसार से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। इन्द्रियों की शिक्षा अथवा ज्ञानेन्द्रियों के विकास के लिए मॉन्टेसरी ने विभिन्न प्रकार के शिक्षा-यन्त्रों अथवा शिक्षोपकरणों (Didactic Apparatus) का निर्माण किया। **सिलण्डर बक्स** (Cylindar Box), यह एक ऐसा बक्स होता है जिसके भीतर के तख्ते पर भिन्न-भिन्न माप के छेद बने होते हैं। इसी बक्स में भिन्न-भिन्न नाप के गुटके भी होते हैं किन्तु इन गुटकों की शक्ल करीब-करीब एक सी होती है। एक गुटका एक ही छेद में ठीक-ठीक बैठ सकता है। यदि बालक छोटे गुटके को बड़े छेद में डाल देता है, तो वह ठीक नहीं बैठता। गुटके को ठीक प्रकार से बैठाने का बार-बार प्रयत्न करता है और इस प्रकार अपनी गलती को सुधार लेता है। इस प्रकार उसे गलती एवं सुधार के द्वारा गुटकों के भिन्न-भिन्न नापों का ज्ञान शीघ्र हो जाता है। शिक्षक केवल बालक की क्रियाओं को निरीक्षण द्वारा ही उसकी सहायता करता रहता है। सही गुटके को सही छेद में बैठाने की इच्छा बालक की रुचि एवं आनन्द बढ़ा देती है। बालक की चक्षु-इन्द्री को प्रशिक्षित करने के लिए तीन प्रकार के अभ्यास कराये जाते हैं। (1) लकड़ी के त्रिपार्श्व घन (Cubes), (2) लकड़ी के त्रिपार्श्व (Prisms), (3) लकड़ी की छड़ें (rods)—इन तीन प्रकार के अभ्यासों से बालक लम्बाई, रंग इत्यादि की सहायता से एक प्रकार की वस्तुओं की भिन्नता सरलतापूर्वक कर सकता है।

(1) लकड़ी के दस आयताकार घनों को गुलाबी रंग में रंग लिया जाता है। सबसे बड़े घन की भुजा 10 से० मी० होती है। इसके बाद प्रत्येक घन की भुजा 1-1 से० मी० कम होती जाती है और सबसे छोटा घन 1 से० मी० की भुजा

का होता है। बालक इन घनों को एक के ऊपर एक रखकर मीनार सी खड़ा कर लेता है।

(2) इसी प्रकार दस बीस से० मी० के बाद भी त्रिपार्श्व (Prisms) लिए जाते हैं। इनकी अनुप्रस्थ काटों (Cross-sections) में 1 से० मी० से 10 से० मी० तक अन्तर होता है।

(3) तीसरे अभ्यास में लकड़ी की 10 हरे रंग की छड़ होती हैं जिनकी अनुप्रस्थ काट 4 से० मी० होती है किन्तु लम्बाई में 1 से० मी० से 10 से० मी० तक का अन्तर होता है। सबसे बड़ी तथा सबसे छोटी छड़ क्रमशः 10 से० मी० तथा 11 से० मी० की होती है।

इसी प्रकार कुछ दूसरे निम्न यन्त्र भी प्रयोग में लाये जाते हैं—

(1) विभिन्न भारों की कुछ लकड़ी की टिकियाँ।

(2) दो सन्दूक—प्रत्येक में 64 रंगीन टिकियाँ होती हैं।

(3) तीन जोड़ी कार्ड होते हैं जिन पर ज्यामिति (Geometrical) चित्र बने होते हैं।

(4) कुछ बन्द बेलनाकार सन्दूक होते है (ध्वनि)।

(5) कुछ घण्टियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं, कुछ लकड़ी के तख्तों पर संगीत में प्रयोग में आने वाली पंक्तियाँ लिखी होती हैं।

उक्त विवरण से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि मॉन्टेसरी ने समस्त ज्ञानेन्द्रियों के विकास पर बल दिया है। मॉन्टेसरी ने कहा है "ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा-सम्बन्धी क्रियाओं का यह ध्येय नहीं है कि बालकों को विभिन्न वस्तुओं के रूप, वर्ण और गुण का ज्ञान हो जाय वरन् उनसे हम उनकी ज्ञानेन्द्रियों को परिष्कृत करना चाहते हैं। इनसे उनकी बुद्धि का विकास होता है।" बालक सबसे प्रथम उन तीन लकड़ी के टुकड़ों की तरफ आकर्षित होता है जिनमें दस गुटके लगे रहते हैं। इन गुटकों को वह हुकों की सहायता से पकड़ कर छेदों में लगाता है। लकड़ी के पहले गुटकों में जो गुटके होते हैं उनकी ऊँचाई तो एकसी होती है किन्तु उनका व्यास भिन्न होता है। दूसरे गुटकों का नाप (Size) ही बदल दिया जाता है, किन्तु तीसरे में गुटकों की ऊँचाई भिन्न होती है और व्यास वही होता है। बालक भिन्न-भिन्न गुटकों को उठाता है और उनको उनके सही स्थान में रखने का प्रयत्न करता है। वह अपनी गलती को स्वयं ही बार-बार प्रयत्न करने से सुधार लेता है। इस तरह उसे परीक्षण करने का ज्ञान प्राप्त होता है तथा उसकी चक्षु-इन्द्रि का विकास होता है। डा० मॉन्टेसरी ने एक दूसरे प्रकार के यन्त्र का भी आविष्कार किया है। एक आयताकार लकड़ी होती है जिसके दो भाग किये जाते हैं—एक भाग तो चिकना होता है तथा दूसरा खुरदरा होता है। इसके स्पर्श द्वारा बालक को खुरदरेपन, तथा चिकनी सतह का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

एक दूसरे प्रकार का एक और यन्त्र होता है जिसमें एक सन्दूक होता है। इस सन्दूक में 6 दराजें (Drawers) होती हैं। जब वे खोली जाती हैं तो उनमें से प्रत्येक में छः वर्गाकार चौखटे (Frames) होते हैं। प्रत्येक फ्रेम के केन्द्र में एक ज्यामिति (Geometrical) आकृति रखी होती है। इस शक्ल में एक हुक लगा होता है जिसके द्वारा वह शक्ल उसमें से निकाली जा सकती है। उस आकृति को बाहर निकालने पर जो रिक्त स्थान बच रहता है उसका रूप भी उसी ज्यामिति आकृति का सा होता है। एक सी आकृतियाँ एक ही दराज में रखी जाती हैं अर्थात एक दराज में एक ही प्रकार की भिन्न व्यास वाली वृत्ताकार शक्लें होती हैं तथा दूसरी दराज में छः त्रिभुज होते हैं। इसी प्रकार अन्य आकृतियाँ दराजों में रखी रहती हैं। बालक को सबसे प्रथम सरल आकृतियों का ज्ञान कराया जाता है अथा बाद में धीरे-धीरे कठिन आकृतियों का ज्ञान कराया जाता है। इस यन्त्र द्वारा बालक की स्पर्श तथा चक्षुन्द्रियों का विकास होता है और साथ ही बालक को वस्तु की सही आकृतियों का ज्ञान प्राप्त होता है।

श्रीमती मॉन्टेसरी का कथन है कि ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा में निम्न प्रक्रिया होती है।

(1) सारूफ वस्तुओं में अन्तर करने का ज्ञान---(एक सी वस्तुओं के जोड़े बनाना तथा गुटकों को उनके सही स्थान पर रखना)

(2) बहुत सी वस्तुओं के समूह में वस्तु को पहिचानना।

(3) बहुत सी मिलती-जुलती वस्तुओं में अन्तर करना।

डा० मॉन्टेसरी ने संगीत के शिक्षण के एक दूसरे चक्राकार यन्त्र का आविष्कार किया है। इसमें घंटियों की दो श्रेणियाँ होती हैं जो अष्टक (Octake) स्वर (Tones) एवं अर्ध स्वर (Semi Tone) बनाती हैं। जब इन घण्टियों को एक छोटे लकड़ी के हथौड़े द्वारा बजाया जाता है तो इनमें से (music scale) के स्वर से सम्बन्धित ध्वनि निकलती है। "यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि मॉन्टेसरी विधि में ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण केवल उन्हीं के लिए या मस्तिष्क के उस ज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्र के विकास के लिए नहीं होता है अपितु इस प्रशिक्षण के द्वारा बालक का इन्द्रिय-ज्ञान प्रशिक्षित होता है।"[1]

---

1 "It should be remembered that what is implied in Montessori Method is not the sense organs themselves or the sensory areas in the brain are developed. What is trained is actually child's power of perception or interpretations of his senses." (Language Teaching) :

[*Khan and Saxena* : 'Modern Educational Developments', p. 23.]

(3) **भाषा की शिक्षा**—श्रीमती मॉन्टेसरी का कथन है "यदि बालक को किसी भाषा के वातावरण में जन्म से ही रखा जाय तो वह उस भाषा को बहुत सरलता पूर्वक सीख सकता है। वह इस कार्य को मस्तिष्क की अर्ध चेतनावस्था में करता है और बाद में धीरे-धीरे वह अपने को उसी में स्थायी कर लेता है।"[1]

बालक की श्रवणेन्द्रिय को प्रशिक्षण करने का तात्पर्य उसको ध्वनि का स्पष्ट ज्ञान कराना होता है जिससे वह किसी भाषा के शब्द का सही उच्चारण कर सके। भाषा शिक्षण में ज्ञानेन्द्रियों का अनुभव बहुत सहायता देता है; जैसे यह ऊँचा है, यह नीचा है, यह छोटा है, यह बड़ा है, यह मोटा है, यह पतला है—इनके ज्ञान को हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बड़ी सरलता पूर्वक करा सकते हैं जैसे "बच्चो अपना हाथ ऊँचा उठाओ।" इसी प्रकार अन्य कार्य-विधियों से हम उपर्युक्त बातों का ज्ञान करा सकते हैं। इस प्रकार से गुण वाचक विशेषण (Adjectives of quality) बालक को विभिन्न शब्दों के सही अर्थ करने में सहायता देते हैं।

जब विभिन्न अभ्यासों द्वारा बालक की ज्ञानेन्द्रियाँ विकसित हो जाती हैं तब वह मानसिक रूप से पढ़ने, लिखने तथा अंकगणित के सीखने के लिये तैयार हो जाता है। बालक लिखने से प्रारम्भ करता है। खुरदरे कागज में से अक्षर काट लिये जाते हैं। बालक इन अक्षरों पर अपनी उँगलियाँ फेरता है। एक सादे कागज के टुकड़े पर बालक से ज्यामिति आकृतियों की बाहरी रेखाओं को रंगीन पेन्सिलों से अक्श (Trace) करवाया जाता है। इस तरह वह पेन्सिल पकड़ना तथा उसका प्रयोग करना सीख जाता है। वह समझ जाता है कि कहाँ पर पेन्सिल को लिखने के लिये दबाना चाहिये तथा किस प्रकार छोटा एवं बड़ा लिखना चाहिये। लिखने और वर्णमाला का ज्ञान कराने वाला यन्त्र एक सन्दूक का बना होता है। इसमें खुरदरे कागज (Sand Paper) के कटे हुए अक्षर होते हैं। बालक को इन कटे हुए अक्षरों पर उँगली फेरने को कहा जाता है। उँगली फेरते-फेरते बालक की उँगलियाँ सध जाती हैं और वह अक्षर सरलता से लिख लेता है। अक्षर पर उँगली फेरने तथा अक्षर लिखने के समय शिक्षिका अक्षर का उच्चारण करती है। इस प्रकार बालक अक्षर की ध्वनि से परिचित हो जाता है और लिखने के कुछ अभ्यास के पश्चात् वह स्वयं ध्वनि का उच्चारण भी करने लगता है। इस प्रकार लिखने का शिक्षण पढ़ाने के शिक्षण से पहले दिया जाता है। अंकगणित के शिक्षण में Long stair को प्रयोग में लाया जाता है। इस यन्त्र में 1 डेसीमीटर तक के दस गुटके होते हैं। ये गुटके अंकगणित

---

1 "The child can easily construct the mechanism of language and he can speak any number of languages, if they are in his environment at birth. He begins this work in the darkness of the subconscious mind and fixes itself permanently."

[*Montessori Mari*: 'Education for a New Child', p. 53.]

के प्रथम चार सिद्धान्त (First four rules) के शिक्षण में प्रयोग किये जाते हैं। यह शिक्षा यन्त्र बालक को किसी वस्तु के परिमाण तथा क्रमानुसार सम्बन्ध स्थापित करने में बड़ी सहायता देता है। इस तरह का ज्ञान बालक के अंकगणित के शिक्षण में बड़ी सहायता प्रदान करता है। जैसे-जैसे ठोस वस्तुओं द्वारा बालक का चक्षु-ज्ञान विकसित होता जाता है उसे समतल वस्तुओं की ओर आगे बढ़ाया जाता है। डाक्टर मॉन्टेसरी किसी निश्चित समय विभाग-चक्र पर विश्वास नहीं करती हैं बल्कि उनका कथन है कि बालक को अपनी इच्छानुसार ही प्रगति करने का अवसर प्रदान करना चाहिये।

मॉन्टेसरी पद्धति में शिक्षक का कार्य

मॉन्टेसरी पद्धति में शिक्षक का बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। वास्तव में यह कथन बिल्कुल सत्य है कि मॉन्टेसरी पद्धति की सफलता शिक्षक के ऊपर निर्भर करती है कि वह किस प्रकार उस कार्य में लग्न के साथ कार्य करता है।

अपनी शिक्षा-योजना को सफल बनाने के लिये शिक्षक में सबसे महत्त्वपूर्ण गुण यह होना चाहिये कि वह बालक की किसी क्रिया में हस्तक्षेप न करे। शिक्षक को अधिनायक (Dictator) न होकर एक योग्य निर्देशक होना चाहिये जो बालक की आवश्यकताओं को समझ सके। उसे बालक को पूर्ण शिक्षा सम्बन्धी स्वतन्त्रता देनी चाहिये जिससे वह अपनी इच्छानुसार प्राकृतिक शक्तियों का विकास कर सके। रोबर्ट आर० रस्क ने ठीक कहा है "मॉन्टेसरी पद्धति के शिक्षण के लिये उन शिक्षकों की नियुक्ति करनी चाहिये जिन्होंने बाल-मनोविज्ञान तथा उसके प्रयोग का प्रशिक्षण लिया हो।[1]

शिक्षक को यह भी ज्ञान होना चाहिये कि कब उसे हस्तक्षेप करना है तथा कब उसे निर्देशक के रूप में कार्य करना है। शिक्षक को स्नेही एवं बालकों की उन्नति को चाहने वाला होना चाहिये। बालक का मनोवैज्ञानिक विकास तब ही सम्भव है जबकि शिक्षक को प्रायोगिक मनोविज्ञान का पूर्ण ज्ञान हो। इसीलिए मॉन्टेसरी ने शिक्षकों को निर्देशिका कहा है। डा० मॉन्टेसरी ने अपनी विधि में शिक्षका के कार्य की निम्न परिभाषा दी है—'बोलने के स्थान पर उसे शान्त रहने की शक्ति प्राप्त करनी चाहिये, शिक्षण के स्थान पर उसे देखते रहना चाहिये।'[2]

शिक्षक को बालक के लिये ऐसे शिक्षा सम्बन्धी वातावरण उत्पन्न करने के प्रयास करते रहने चाहिये जिसमें रहकर बालक को सन्तोष एवं आनन्द प्राप्त हो।

---

1 Robert R. Rusk righly says, "The Montessori method necessitates the employment of teachers who are possessed of a training in child psychology and its application to young children.

2 Instead of felicity of speech she has to acquire the power of silence; instead of teaching she has to observe.

बालक को पूर्ण स्वतन्त्र रूप से कार्य करने देना चाहिये, ऐसा कोई भी बाहरी हस्तक्षेप उत्पन्न नहीं करना चाहिये जिससे उसके आनन्द एवं रुचि में विघ्न पड़े।

शिक्षक को अपने कार्य में न तो दृढ़ और न सिद्धान्तवादी ही होना चाहिये। शिक्षक को बालकों में वास्तविक अनुशासन की भावना उत्पन्न करनी चाहिये। बालकों पर शिक्षक द्वारा लादा हुआ अनुशासन नहीं होना चाहिये बल्कि स्वयं बालक के अन्तःकरण से उत्पन्न हाना चाहिये। डा० मॉन्टेसरी ने बालक को एक सामाजिक प्राणी माना है। इसीलिये बालक की आन्तरिक आवश्यकता को लेकर प्रेमपूर्वक उसके विकास की ओर आगे बढ़ती हैं। डा० मॉन्टेसरी की इच्छानुसार शिक्षिका को क्रियाशील, चतुर एवं निरीक्षक होना चाहिये। उसके अन्दर वे सब गुण होने चाहिये जो उसकी पद्धति के सिद्धान्तों एवं विधि में होते हैं।

मॉन्टेसरी पद्धति के गुण

डा० मॉन्टेसरी की पद्धति के शिक्षा सम्बन्धी गुण एवं मूल्य उनकी पद्धति के सिद्धान्तों से स्पष्ट हैं। डा० मॉन्टेसरी का नाम प्रसिद्ध शिक्षा-विशेषज्ञों में लिया जाता है। उन्होंने अपने विद्यालयों के लिये जो सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक कार्य किये हैं वे सब अमर हो गये हैं।

(1) "डाक्टर मॉन्टेसरी ने अपनी पद्धति में दूसरे विद्यालयों की विधियों से भिन्न एक नई वैज्ञानिक विधि प्रदान की है। उनकी पद्धति का आधार बालक द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक निरीक्षण एवं परीक्षण है।"[1]

उनकी पद्धति का विशेष गुण वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी उनकी विधि बहुत गुणकारी है क्योंकि इस प्रक्रिया में बालक पूर्ण रूप से क्रियाशील सहयोगी रहता है जहाँ वह अपने अनुभवों के आधार पर एवं 'गलती तथा सुधार' (Trial and errors) के सिद्धान्त द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है। शिक्षा के तत्वों को बालक भार एवं औपचारिक रूप में ग्रहण नहीं करता बल्कि एक खेल के रूप में वह मूल सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करता है। मॉन्टेसरी पद्धति में जो निर्देश दिये जाते हैं वे मनोवैज्ञानिक एवं व्यक्तिगत दोनों प्रकार के होते हैं। बालक की सामर्थ्य एवं आवश्यकताओं का सदैव ध्यान रखा जाता है।

(2) यद्यपि यह सत्य है कि डा० मॉन्टेसरी के सिद्धान्तों में रूसो, पेस्टालॉजी एवं फ्रोबेल के सिद्धान्तों की झलक पाई जाती है किन्तु इस पर भी उनकी अपनी

---

1 "She has established a scientific pedagogy totally different from the empirical performances of the common schools and from no less empirical performances of her predecessors in reform. What she asserts is that she has based her method or exact observations of children's behaviour under free conditions."

[*John Adams* : 'Educational Movements & Methods,' p. 51.]

पद्धति में अपनी एक नई विशेषता है जो इस पर उनकी मोहर लगाती है। डा० मॉन्टेसरी ने अनुभव किया कि बालक के ऊपर नियम तथा हस्तक्षेप लादना उचित नहीं है। बालक के ऊपर नियम एवं हस्तक्षेप लादने से उसका विकास रुक जायगा। यदि बालक को अध्यापक के निरीक्षण में अपना प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग करने के लिए एक स्वतन्त्र वातावरण में छोड़ दिया तो वह अपने पूर्ण विकास पर पहुँच सकता है। डा० मॉन्टेसरी का व्यक्ति की महानता एवं मूल्य में विश्वास था।

(3) डा० मॉन्टेसरी ने शिक्षा को एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया है। उनका विश्वास था कि ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान के प्रवेश द्वार हैं जो कि बालक का बाहरी संसार से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। उनका विश्वास था कि हमको ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण द्वारा सामान्य नियमों से सूक्ष्म विचारों की ओर सूक्ष्म, विचारों से नैतिकता की ओर बढ़ना चाहिए।[1]

मॉन्टेसरी की ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण का उद्देश्य है कि बालक मनोयोग, तुलना एवं परिणामों के अभ्यासों द्वारा अपनी ज्ञानेन्द्रियों को परिष्कृत करता है।[2] इस प्रकार उनके शिक्षा के सिद्धान्त एवं विचार एक उच्च श्रेणी के मनोवैज्ञानिक एवं प्रयोगात्मक हैं।

(4) डा० मॉन्टेसरी की दूसरी साहित्यिक देन 'अनुशासन की परिभाषा' है। उनके कथनानुसार वास्तविक अनुशासन बाहर से नहीं लादा जाता बल्कि अन्दर से ही उत्पन्न होता है। अनुशासन आत्म-संयम एवं आत्म निर्देशन की क्रिया से विकसित होता है। उत्तम अनुशासन प्राप्त करने के लिये शिक्षण-पद्धति को बालक की आवश्यकताओं के अनुसार बनाना चाहिये। शिक्षा पद्धति में बालक की रुचियों एवं उद्देश्यों का समावेश होना चाहिये तथा उसे बालक पर ही केन्द्रित होना चाहिये।

(5) मॉन्टेसरी पद्धति में हम देखते हैं कि उसमें शिक्षण के स्थान पर सीखने पर अधिक जोर दिया गया है। बालक को स्वयं अपने अनुभवों एवं निरीक्षणों के द्वारा सीखने दिया जाता है। उनकी पद्धति के मुख्य सिद्धान्त जैसा कि पूर्व वर्णन किया जा चुका है—आनन्द, स्वतन्त्रता एवं इच्छानुसार कार्य है। उनकी पद्धति में बालकों को प्राकृतिक रूप में सीखने दिया जाता है। बालक को ऐसे उचित शिक्षा सम्बन्धी, सुन्दर एवं आकर्षक वातावरण में रखा जाता है कि वह स्वयं आत्म-प्रयास

---

1 "She believed that we should proceed from the training of senses, from general notions to abstract thoughts and from abstract thoughts to morality."

2 "For Montessori the goal of this sort of training is that he refines his senses through exercises of attention, of comparision of judgement." [*Meyer Adolphe*. The Development of Education in Twentieth Century, p. 68.]

के लिये प्रेरित होता है। उनका विश्वास है कि शिक्षा की आत्स-शिक्षा (Auto-education) होनी चाहिये। ज्ञान प्राप्त करना तब ही प्रभावशाली हो सकता है जबकि यह बालक की उद्देश्य-पूरक हो एवं उसको इसके अन्दर सन्तोष एवं आनन्द प्राप्त होता हो।

(6) अपनी शिक्षा-पद्धति को प्रयोग में लाने के लिये उन्होंने शिक्षा यन्त्रों में भी ऐसे सुधार किये जिससे वे सरल एवं बालक की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के अनुसार ग्राह्य हो सकें। उन्होंने अपनी पद्धति में जीवन के नित्य-प्रति के अनुभवों पर जोर दिया है। यह बात बालक को अपनी माँस-पेशियों के प्रयोग को समझने में सहायता देती है। बालक लेखन-कला नहीं सीखता है बल्कि दौड़ना, चलना और कूदना आदि को वह शीघ्र ही सीख लेता है। इन अभ्यासों द्वारा उसकी शर्म एवं झिझक भी दूर हो जाती है। इस प्रकार उसमें आत्म-संयम एवं आत्म-प्रदर्शन आ जाता है।

(7) उनकी लेख-शिक्षण की विधि भी अद्वितीय थी क्योंकि उन्होंने लेखन-प्रक्रिया में बालक की माँसपेशियों की क्रियाओं पर उचित ध्यान दिया है। लिखने तथा पढ़ने के लिये जो अभ्यास उन्होंने बताये हैं—वे क्रमानुसार एवं एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। उनका विश्वास है कि बालक को प्रथम लिखना सीखना चाहिये इसके उपरान्त पढ़ना सीखना चाहिये।

(8) हम देखते हैं कि उनकी पद्धति में शिक्षक का कार्य भी बहुत महत्त्वशाली होता है। वह इस प्रकार कार्य नहीं करती है जिस प्रकार वह अन्य पद्धतियों में करती है। उनकी विधि में वह वास्तविक निर्देशिका एवं मित्र होती है जो बालक के विश्वास को प्रोत्साहन देती है, जो उनको कार्य करने के लिये प्रेरित करती है, जो उनकी कठिनाइयों में सहायता करती है एवं जो उनके रचनात्मक तथा उद्देश्य-पूरक कार्यों में नेतृत्व करती है। जॉन एडम ने मॉन्टेसरी पद्धति की सत्यता का वर्णन करते हुये उसके निम्न लक्षण बताये हैं :—[1]

(1) सीखने में बाहरी प्रतिबन्ध को दूर करने का प्रयास।
(2) बालक को उसकी इच्छानुसार कार्य करने के लिए अवसर।
(3) बालक को व्यक्तिगत रूप से उसके स्वभावानुसार कार्य करने देना।
(4) बालक के कार्य पर निगरानी रखने के लिए कोई निश्चित नियमों का न होना।

मॉन्टेसरी पद्धति की सीमायें

(1) मॉन्टेसरी पद्धति की कुछ विशेष बातों पर अधिक वाद विवाद हुआ है। जॉन एडम ने कहा है कि मॉन्टेसरी-पद्धति में कुछ छिपे हुए दोष हैं जो कि उसकी

---

1 *John Adams*: Educational Movements and Methods, pp. 58-59.

प्रगति में बाधा पहुँचाते हैं। "शिशु एवं बाल काल में ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित करने की बात कोरी मनोवैज्ञानिक कल्पना है।"[1] आधुनिक मनोवैज्ञानिक इस मान्यता पर सन्देह करते हैं कि मानसिक आधुनिक विश्लेषण करते हुए बालक के विकास क्रम में ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण पहले आता है। वे एकसे तथा समान उत्तेजक के अतिरिक्त 'Transfer of Training में भी विश्वास नहीं रखते हैं। किस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण बौद्धिक विकास में सहायता देता है— इस पर उन लोगों को सन्देह है।

(2) डा० मॉन्टेसरी ने अपनी पद्धति में आवश्यकता से अधिक ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण पर जोर दिया है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास में सहायता नहीं देती हैं। उन्होंने बालक की कल्पना-शक्ति के विकास पर उचित ध्यान नहीं दिया है। बालकों को काल्पनिक (day-dreamers) बनाने के आधार पर उन्होंने उनको छोटी-छोटी काल्पनिक कहानियाँ (fairy tales) सुनाने को कहा है— इस कथन में भी कुछ वजन नहीं मालूम पड़ता है।

(3) वह कहती हैं, "बालक का विकास मानव जाति के प्राकृतिक विकास की ही तरह होता है। संक्षेप में इस प्रकार की शिक्षा व्यक्ति के चक्र को मानवता के साथ बाँधे रहती है। यह भी एक काल्पनिक विचार है और यह बालक की उन परिस्थितियों में से उत्पन्न नहीं हुआ है जिनमें रहकर वह विकसित होता है। साढ़े चार वर्षीय बालकों को लिखना सिखाना कोई अधिक लाभदायक नहीं है, इसी प्रकार 6 और 7 वर्षीय बालकों को ज्यामिति की आकृतियों का ज्ञान करना भी बिल्कुल बेकार है। इसलिए हम कह सकते हैं कि मॉन्टेसरी विधि से पाठ्यक्रम को उचित ढंग से निर्धारित नहीं किया गया है। क्योंकि इन छोटे-छोटे बालकों को पैरेललो पीपड्स तथा इलिप-सोइड्स आदि की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है।"

(4) मॉन्टेसरी पद्धति साहित्यक-प्रशिक्षण की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देती है। "गुणग्राही विषय बचपन में या किसी दूसरी अवस्था में भी शिक्षक के बिना नहीं पढ़ाये जा सकते—इतिहास, साहित्य एवं धर्म इत्यादि विषय या तो बिल्कुल छोड़ दिये जाते हैं या एक तरह से बेकार से टाल दिये जाते हैं।[2]

---

1 "The idea of sense training in infancy and early childhood, as the precursor of ordinary Education rests on psychologica".
[*John Adams* : Educational Movements and Methods. pp. 59-60.]

2 "The appreciation subjects which cannot be taught in childhood or at any time of life without some intrusion of the teacher's personality—subject like history, literature art, and religion—are either passed over altogether or are introduced perfunctorily at the tale of some practical work." *Ibid*, p. 61.

(5) व्यक्तिवाद के ऊपर उनके विचार बहुत हद तक जैवकीय (Biological) हैं। उनके कथनानुसार पूर्ण व्यक्तित्व में बालक की ऊँचाई, भार तथा भुजाओं की लम्बाई इत्यादि आती हैं। स्वभाव एवं चरित्र पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उन्होंने अपना ध्यान नहीं दिया है।

(6) यद्यपि यह सत्य है कि मॉन्टेसरी के शिक्षा यन्त्र वास्तव में अद्वितीय हैं किन्तु इनमें बालक की काल्पनिक शक्ति का बहुत प्रयोग किया है। यन्त्र का कार्य-क्षेत्र कुछ विशेष क्रियाओं के ही लिए सीमित है। इसमें बालक को अपने विचारों को प्रदर्शन करने का अवसर दिया जाता है और न ही वह उन वस्तुओं के विषय में अपनी पसन्द प्रकट कर सकता है। कुछ समय बाद यन्त्र की क्रियाएँ बालक के लिए स्वचलित एवं यांत्रिक हो जाती हैं।

(7) उनको विधि में सामूहिक कार्य करने के लिए कोई अवसर नहीं दिया गया है। यह विधि वास्तव में व्यक्तिवादी है। इस तरह इस विधि में बालक की सामूहिक एवं सामाजिक चेतना को बहुत हानि उठानी पड़ती है।

डाल्टन पद्धति
(Dalton Method)

डाल्टन पद्धति (Dalton Plan) का उद्देश्य व्यक्तिवाद है किन्तु इसमें साथ ही साथ कक्षा-शिक्षण के लाभों को भी नहीं छोड़ा गया है। कक्षा-शिक्षण में कुछ भारी दोष पाये जाते हैं। "प्रत्येक विचारशील शिक्षक इस बात को मानता है कि कक्षा-शिक्षण में कुछ गम्भीर दोष हैं—कक्षा-शिक्षण में शिक्षक का प्रत्येक छात्र से एक समान सम्पर्क स्थापित नहीं हो सकता और न ही शिक्षक के प्रयासों को प्रत्येक छात्र एक समान ग्रहण कर सकते हैं।[1] कक्षा-शिक्षण विधि में बालक की आवश्यकताओं एवं रुचियों के अनुसार शिक्षा नहीं दी जाती है। परिणाम स्वरूप इसमें व्यक्तिगत प्रशिक्षण सम्भव नहीं है। इस प्रकार की शिक्षा-विधि की क्रियाओं में छात्र व्यक्तिगत रूप से भाग नहीं लेते हैं। उनका केवल निष्क्रिय अस्तित्व रहता है। टाइम-टेबिल की दृढ़ता एवं शिक्षण की यान्त्रिक विधि बालक की शक्तियों के बहुमुखी एवं समान विकास में सहायता नहीं पहुँचाते हैं। इस प्रकार की यान्त्रिक शिक्षा बालक की रुचियों को नष्ट कर देती है और वह कक्षा में निष्क्रिय बैठा रहता है। शिक्षण को इन्हीं दोषों से मुक्त रखने के लिए डाल्टन पद्धति तैयार की गई। आजकल की नई शिक्षा सैद्धान्तिक तौर पर व्यक्तिगत है, इसमें बालक को प्रधान मानकर उसी के

---

[1] Every thoughtful teacher has long felt that in the normal class or form system there is a serious if not an insuperable difficulty of getting into sufficiently close touch with the individual pupils to secure adequate results of his efforts." [*John Adams* : Educational Movements and Methods, p. 39.]

हाथों में सारा कार्य-भार दे दिया गया है। लेकिन आजकल के दिनों में व्यक्तिगत शिक्षण आर्थिक दृष्टि से कठिन है। लेकिन इस शिक्षा का उद्देश्य सामूहिक एवं सामाजिक शिक्षा के रूप में बालकों को समूहों में सहयोग के साथ रहने का अवसर देना है। आधुनिक समय में व्यक्तिगत एवं सामूहिक शिक्षा में एक बहुत सुन्दर सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है। डाल्टन पद्धति में इस कार्य को सम्पादित किया है। इस पद्धति में व्यक्तिगत शिक्षा का प्रयोग कई विद्यार्थियों के समूह पर किया गया है।

डाल्टन पद्धति का इतिहास

डाल्टन-पद्धति की योजना मिस हेलन पार्कहर्स्ट (Miss Hellen Parkhurst) ने पंगुओं के विद्यालय में बनाई थी। लेकिन प्राप्त अनुभवों के प्रकाश में इसका सर्वप्रथम प्रयोग मेसेच्यूसेट्स (Massachusetts, U. S. A.) प्रान्त के डाल्टन (Dalton) नामक नगर के एक हाईस्कूल में हुआ था। अतः यह योजना डाल्टन पद्धति (Dalton Plan) के नाम से प्रसिद्ध हुई। सर्वप्रथम उनकी योजना विभिन्न उम्रों के 30 बालकों के ऊपर प्रयोग की गई थी। उन्होंने कुछ बालकों को तो कुछ कार्य करने को दिया तथा कुछ बालकों को समूह में पाठ पढ़ाया। उन्हें मॉन्टेसरी पद्धति का पूर्ण ज्ञान था अतः उन्होंने उस पद्धति की मूल बातों को स्वीकार करके अपनी शिक्षा योजना तैयार की। इस तरह उनकी पद्धति मॉन्टेसरी पद्धति की ही शृंखला में है। उनकी पद्धति का उद्देश्य ऐसे स्कूलों का गठन करना है जिसमें अध्यापकों एवं बालकों दोनों का लाभ हो तथा जिनमें उनकी कार्य क्षमता अधिक से अधिक हो जावे। यह पद्धति पाठ्यक्रम में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहती, और न किसी एक विशेष विधि पर ही विचार करती है, किन्तु इसमें शिक्षण का उद्देश्य व्यक्तिगत ही रहता है। इस पद्धति में तेज और मन्द बालक को एकसा मानकर चला जाता है, क्योंकि दोनों एक ही स्थान से शिक्षक के निरीक्षण में कार्य करना प्रारम्भ करते हैं। कभी-कभी डाल्टन पद्धति (Dalton Plan) को प्रयोगशाला पद्धति (Laboratory Plan) भी कहा जाता है क्योंकि इस पद्धति में बालक स्वयं स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करता है और कक्षा-कक्ष को कई उद्योगशालाओं एवं प्रयोगशालाओं में विभाजित कर दिया जाता है जहाँ बालक पूर्ण स्वतन्त्रता के वातावरण में अपना कार्य करते हैं। डाल्टन पद्धति किसी दृढ़ शिक्षा विधि पर विश्वास नहीं रखती है। मिस पार्कहर्स्ट ने अपनी इस पद्धति की विशेषताओं का विवेचन अपनी पुस्तक डाल्टन पद्धति द्वारा शिक्षा (Education on the Dalton Plan) में किया है। उन्होंने इस पद्धति को विशेष नियमों तथा बन्धनों से नहीं जकड़ा है ताकि भिन्न-भिन्न देशों के लोग इस पद्धति को अपने देश की आवश्यकता तथा अवस्थानुकूल प्रयोग में ला सकें। उन्होंने लिखा है, "मैंने अपनी पद्धति को बड़े ध्यानपूर्वक विशेष नियमों तथा बन्धनों से मुक्त रखा है ताकि यह हर विद्यालय एवं स्थान के उपयुक्त बन सके। जब तक इस पद्धति

के सिद्धान्त जीवित हैं इसको किसी भी विद्यालय एवं वहाँ के अध्यापकों की आवश्यकता तथा अवस्थानुकूल बनाया जा सकता है।[1]

डाल्टन पद्धति के मुख्य लक्षण

(1) कक्षा-कक्ष के स्थान पर विषय-कक्ष बना दिये जाते हैं। डाल्टन पद्धति को प्रयोग में लाने के लिए पहला कदम यह होता है कि कक्षा-कक्ष तथा कक्षा-अध्यापकों को हटा दिया जाता है और उनके स्थान पर विशेष-अध्यापक (Specialist teachers) रखे जाते हैं।

(2) यह पद्धति पूर्ण रूप से पाठ का ठेका (Contract) एवं निर्दिष्ट पाठ (Assignment) पर आधारित है। विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों द्वारा वाद-विवाद में यह ध्यान रखा जाता है कि प्रत्येक विषय का दूसरे के साथ सम्बन्ध बना रहे। वर्ष भर के पाठ्यक्रम को बारह महीने के हिसाब से बारह भागों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक मास के कार्य को सप्ताह के अनुसार बाँट दिया जाता है। एक सप्ताह के कार्य को निर्दिष्ट पाठ (Assignment) कहते हैं। पद्धति की सफलता निर्दिष्ट पाठ की कार्यक्षमता पर निर्भर होती है तथा इस बात पर भी निर्भर करती है कि निर्दिष्ट पाठ कितने ध्यानपूर्वक एवं सोच विचार कर बनाये गये हैं। साल के साल इन निर्दिष्ट पाठों से प्राप्त-अनुभवों के आधार पा सुधार किये जाते हैं।

(3) प्रत्येक निर्दिष्ट पाठ के लिए शिक्षक सहायक नोट (Helpful notes) देता है जिससे बालक प्रत्येक विषय पर प्रभावशाली अतिक्रमण कर सकता है। निर्दिष्ट पाठों (Assignments) में पाठ्यपुस्तकों (Text books) तथा सह-पुस्तकों (Reference books) के नाम भी दे दिये जाते हैं जिससे बालक अन्य पुस्तकों का भी अध्ययन कर सकें।

(4) प्रत्येक बालक को यह ज्ञान होता है कि उसे क्या करना है तथा कहाँ से और किनकी सहायता से करना है। उसे अपने पाठ को ठेके (Contract) के निर्धारित समय के अन्दर ही समाप्त करना होता है। लेकिन इतने पर भी बालकों के ऊपर कोई बन्धन नहीं होता है। पद्धति का मुख्य उद्देश्य बालक को उसकी इच्छानुसार पूर्ण स्वतन्त्रता देना है। इसीलिए बालक अपनी इच्छानुसार और अपने ही वेग से कार्य करता है।

(5) उसकी प्रगति के लिए उसके ऊपर कोई बाहरी हस्तक्षेप नहीं होता है। वह किसी भी विशेषज्ञ के कक्ष में जाने के लिए स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार वह

---

1 "I have carefully guarded against the temptation to make my plan a steretyped cast-iron thing ready to fit any school any where. So long as the principle that animates it is preserved it can be modified in practice in accordance with the circumstances of the school and the judgement of the staff."

अपनी इच्छानुसार किसी भी विशेषज्ञ के कक्ष में जाकर कार्य करता है। विभिन्न कक्ष विभिन्न विषयों की सामग्री से सुसज्जित होते हैं। वहाँ पर शिक्षक बालक की प्रगति, को देखकर उसकी कठिनाइयों एवं आवश्यकताओं के अनुसार उसे आवश्यक निर्देश देता रहता है। बालक अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग नहीं करते हैं क्योंकि उन्हें यह ध्यान रहता है कि उनको निर्दिष्ट-पाठों को निर्धारित समय के अन्दर ही समाप्त करना है।

(6) विद्यार्थियों की प्रगति को जानने के लिए 'प्रगति सूचक' रेखा-चित्रों (Graphs) का प्रयोग किया जाता है। स्वयं शिक्षक के पास भी बालक की प्रगति को दिखाने वाला एक रेखा चित्र होता है।

(7) डाल्टन पद्धति में कक्षा-शिक्षण का भी महत्व प्रदर्शित किया गया है। डाल्टन पद्धति इस तथ्य को स्वीकार करती है कि जब कभी किसी पाठ की रूप-रेखा या पाठ के सामान्य सिद्धान्त बताये जाते हैं या निर्दिष्ट पाठ (Assignment) या उसकी विधि के ऊपर कुछ वर्णन करना होता है तब कक्षा-शिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। मौखिक वाद-विवाद के लिए पाठों की संख्या या कक्षा-निर्देशों की संख्या विषय की आवश्यकताओं के ऊपर निर्भर होती है।

डाल्टन पद्धति में शिक्षक के कार्य

(1) डाल्टन पद्धति में शिक्षक का दृष्टिकोण पूर्णरूप से बदल जाता है। वह अपने आप को कक्षा के सामने प्रदर्शित नहीं करता है। वह भाषण देने के कार्य को तो बहुत कम कर देता है और विद्यार्थी स्वयं उनके पास विशेष बातों पर सलाह लेने के लिए आते हैं। अध्यापक विद्यार्थियों पर न तो एक अधिकारी का कार्य करता है और न ही उनसे बिल्कुल अलग ही रहता है। इस प्रकार छात्रों और शिक्षक में एक उत्तम सम्बन्ध बना रहता है जो अनुशासन बनाये रखने के लिए अति आवश्यक है।

(2) डाल्टन पद्धति में शिक्षक एक कक्षा-अध्यापक के रूप में कार्य नहीं करता है बल्कि वह एक विशेष विषय का विशेषज्ञ होता है जिसे अपने विषय पर पूर्णरूप से अधिकार होता है तथा अपने विषय की प्रत्येक शाखाओं में नई-नई बातों के आविष्कारों का उसे पता रहता है। शिक्षक अपने रुचि वाले विषय के अध्ययन में अपना पूर्ण समय व्यय करता है। वह अपने विषय का सम्बन्ध दूसरे विषयों से स्थापित करता है और इसी दृष्टिकोण को लेकर वह अपना अध्ययन करता है। इस प्रकार का विशेष ज्ञान छात्रों में विषय के ऊपर रुचि उत्पन्न करता है तथा उनको विषय का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने में भी बहुत सहायता प्राप्त होती है।

(3) कुछ व्यक्ति यह सोचते हैं कि डाल्टन पद्धति में शिक्षक का कार्य बहुत साधारण एवं सरल होता है। लेकिन यह केवल एक भ्रम मात्र है। वास्तव में उसका कार्य धीरे-धीरे अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण एवं कठिन होता है। डाल्टन पद्धति की

सफलता शिक्षक की मानसिक-सामग्री एवं उसकी बौद्धिक जाग्रति के ऊपर निर्भर है। उसे अपने विषय के विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है जो उसे निर्दिष्ट पाठ तैयार करने में सहायता देता है। शिक्षक बालकों के कार्य का निरीक्षण करता रहता है। तथा उनको उनकी कठिनाइयों में सहायता करता है। उसे उनके कार्य की भी देख-भाल करनी पड़ती है कि वे उचित उन्नति कर रहे हैं या नहीं। उसे मन्द बुद्धि वाले बालकों पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता होती है और उनके लिए उसे अधिक कार्य करना पड़ता है। वह उनके कार्य की सूक्ष्म परीक्षा या अनुसन्धान भी करता है।

(4) डाल्टन पद्धति में शिक्षक का दूसरा कार्य विषय के लिए बालक की रुचि को उत्पन्न करना तथा उसमें स्वस्थ परम्पराएँ निर्माण करना है।

कार्य के लेख-प्रमाण (Record of work)

डाल्टन पद्धति में शिक्षक को तीन प्रकार के लेखा-चित्र (Graphs) रखने पड़ते हैं। (1) प्रयोगशालाओं के निर्देशक लेखा-चित्र (Instruction Laboratory graphs), (2) बालकों के लेखा-चित्र (Pupil's graphs), (3) गृह लेखा-चित्र (House graphs)।

(1) **प्रयोगशाला के निर्देशक लेखा-चित्र** (Instructor's Laboratory garphs)—निर्देशक के प्रयोग के लिए होता है। वह प्रत्येक विषय की प्रयोगशाला में टँगा होता है। इसमें बालकों द्वारा किया हुआ कार्य अंकित होता है। इन लेखा-चित्रों द्वारा शिक्षक को बालकों की प्रगति के बारे में ज्ञान रहता है।

(2) **बालकों के लेखा-चित्र** (Pupil's graphs)—बालकों द्वारा ही भरे जाते हैं। इसमें उनकी प्रगति अंकित रहती है तथा उन्होंने अमुक विषय में कितना कार्य समाप्त किया—यह भी अंकित रहता है।

(3) **गृह लेखा-चित्र** (House graphs)—इसमें बालक के पूरे मास के ठेके (Contract) के विषय में उनकी प्रगति अंकित की जाती है। यह साप्ताहिक भरा जाता है तथा बालक ने कितना कार्य किया है और उसे अब कितना करना है—यह सब अंकित रहता है।

इन लेखा-चित्रों की तीन-तीन प्रतिलिपियाँ बनाई जाती हैं। एक प्रतिलिपि विषय-कक्ष में टाँग दी जाती है, एक बालक को दी जाती है तथा एक बालक के संरक्षक को भेज दी जाती है। ये लेखा-चित्र बालकों की प्रगति का ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी सहायता देते हैं। इनके द्वारा बालक को स्वयं यह ज्ञान रहता है कि उसने अमुक विषय में कितनी प्रगति की है और उसे अब एक समान प्रगति के अन्य विषयों पर कितना समय देना चाहिए। शिक्षक की भी बालकों के कार्य पर निगरानी रहती है और वह उनकी आवश्यकताओं के अनुसार उनकी सहायता करता रहता है।

डाल्टन पद्धति के लाभ

(1) मिस पार्कहर्स्ट के कथनानुसार डाल्टन पद्धति को व्यक्तिगत कार्य के सिद्धान्त को प्रयोग में लाने के लिए एक बनाया गया है।[1] डाल्टन पद्धति में व्यक्तिगत निर्देश दिये जाते हैं। यहाँ विद्यार्थी अपने लिए तथा अपनी रफ्तार से कार्य करता है। अपनी इच्छानुसार विषय को चुनता है और उस कार्य को वह करता है जिसमें उसे आनन्द प्राप्त होता है।

(2) ठेका या प्रतिज्ञा जिसको कि बालक स्वीकार करता है उसमें एक कार्य की भावना तथा आत्म सम्मान पैदा करता है। उत्तरदायित्व एवं प्रगति की भावनाएँ उसे कार्य करने के लिए उत्तेजित करती हैं।

(3) जॉन ड्यूई कहते हैं कि प्रजातान्त्रिक शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को उसके जीवन के लिये बुद्धिमान राही ही बनाना नहीं होता है अपितु भिन्न समुदायों को एक दूसरे के पास इस प्रकार लाना होता है कि व्यक्ति एक के बिना दूसरे में न रह सकें।[2] बालक की बहुमुखी प्रगति के साथ-साथ सामाजिक कार्य-क्षमता भी है जो कि समूह की प्रतिक्रिया द्वारा उत्पन्न होती है।

(4) डाल्टन पद्धति में बालक का केवल अनावश्यक अस्तित्व ही नहीं बना रहता है। यह पद्धति बालक के अन्दर 'इच्छा' (Will) तथा कार्य करने की इच्छा उत्पन्न करती है। बालक के अन्दर भविष्य की कठिनाइयों का मुकाबला करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

(5) विद्यार्थी अपनी सामग्री को स्वयं बनाता है और वह भिन्न-भिन्न प्रकार की पुस्तकों का प्रयोग करना सीखता है तथा भिन्न-भिन्न मार्गों द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है।

(6) डाल्टन पद्धति में विद्यार्थी द्वारा लेखन कार्य की अधिकता की कल्पना पहले ही से कर ली जाती है और जैसे-जैसे समय बीतता जाता है उसके विचार स्पष्ट एवं तार्किक होते चले जाते हैं।

(7) डाल्टन पद्धति में विद्यार्थी एक विशेष दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं। उनका ठेका (Contract) उनके लिए एक योजना (Project) के समान होता है।

---

1 "The Dalton Plan has been portrayed as a piece of machinery for putting into operation the principle of individual work..." says Miss Parkhurst.

2 John Dewy says, "The object of a democratic education is not merely to make an individual intelligent participator in the life of his immediate group but to bring the various groups into such constant interaction that no individual, no economic group could presume to live independently of others."

तदनुसार वह अपना समय अपनी आवश्यकताओं के अनुसार खर्च करता है। कठिन कार्यों में अधिक समय खर्च करता है और उनके लिए अधिक प्रयास करता है। उसकी उन्नति का मापदण्ड प्रत्येक विषय में एक समान रहता है।

(8) डाल्टन पद्धति में विद्यार्थी किसी वस्तु को रटते नहीं हैं, बल्कि जो कुछ वे सीखते हैं उसको क्रियात्मक रूप में करके देख लेते हैं। कक्षा-कक्ष की शान्ति यहाँ पर रचनात्मक एवं शिक्षा सम्बन्धी क्रियाओं में बदल दी जाती है। इस पद्धति में अध्यापक किसी 'शब्द' का परम्परागत अर्थ नहीं बताता है। वह विद्यार्थी को पहले से लिखा हुआ ज्ञान नहीं बताता बल्कि वह विद्यार्थियों को स्वयं अवसर देता है कि वह पता लगायें कि अमुक ज्ञान किस प्रकार और कहाँ से आया। इस प्रकार उनके दृष्टिकोण का विकास होता है। यह पद्धति मन्द तथा तेज दोनों प्रकार के बालकों को प्रगति के लिए समान अवसर देती है।

(9) डाल्टन पद्धति ने व्यक्तिगत तथा कक्षा-कक्ष शिक्षण पद्धतियों में एक उत्तम समन्वय कराया है। व्यक्तिगत कार्य के घन्टे कक्षा-कक्ष शिक्षण के घन्टों से समय-समय पर बदलते रहते हैं। इस प्रकार बालक का व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों प्रकार का विकास होता है। इसके साथ ही साथ एक ही विषय के अध्ययन से उत्पन्न नीरसता को यह पद्धति दूर करती है।

(10) वास्तविक ज्ञान स्वतन्त्र एवं प्राकृतिक वातावरण में ही प्राप्त होता है। जब तक बालक किसी विषय में रुचि नहीं लेंगे तब तक वे उस विषय को पढ़ ही नहीं सकते। डाल्टन पद्धति में इन दोनों बातों का ध्यान रखा गया है।

(11) डाल्टन पद्धति में विद्यार्थी अपने प्रयासों द्वारा ही शिक्षा ग्रहण करते हैं। वहाँ पर कोई निश्चित एवं दृढ़ नियम नहीं होते और न ही भय होता है। जो ज्ञान प्राप्त होता है वह स्व-प्राप्त तथा अपनी इच्छानुसार होता है।

(12) डाल्टन पद्धति विद्यालयों में 'खेल तथा कार्य' (Play and work) की विधि द्वारा शिक्षण का प्रयास है। व्यक्तिगत निर्देश, रचनात्मक कार्य एवं सलाह बालक को मानसिक रूप से दक्ष रखती है तथा उसके अन्दर सामाजिक कार्यक्षमता को बढ़ाती है।

डाल्टन पद्धति की सीमाएँ

(1) डाल्टन पद्धति में बालकों द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने की कल्पना पहले से ही कर ली जाती है। तदनुसार यह बालक पर एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व एवं बोझा लाद देती है। इसलिए यह पद्धति प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने वालों के लिए उपयोगी नहीं है क्योंकि अभी इस अवस्था में उनकी विचार-शक्ति सीमित होती है तथा वर्णन शक्ति अपूर्ण होती है। इस पद्धति के उपयोग के लिए जो 8 वर्ष की अवस्था रखी गई है—वह भी सही नहीं है।

(2) पुनः यह पद्धति मौखिक-पाठों के लिए उपयोगी नहीं है। इसलिए यह पद्धति भाषा के पाठों के लिए प्रयोग में नहीं लाई जा सकती क्योंकि उसके लिए अभ्यास-कार्य की अधिक आवश्यकता पड़ती है। बातचीत करने का ढंग, सही एवं स्पष्ट उच्चारण के शिक्षण के लिए यह पद्धति सहायक नहीं हो सकती है।

(3) यद्यपि यह पद्धति सामूहिक शिक्षण द्वारा बालकों के अन्दर सामाजिक कार्य-क्षमता उत्पन्न करती है लेकिन यह विधि न तो क्रम-बद्ध है और न पूर्ण ही है। अनुभवों से यह ज्ञात होता है कि बहुत सी चीजों के लिए केवल सामूहिक रूप से औपचारिक शिक्षण की ही आवश्यकता पड़ती है। डा० कौक्स (Dr. Cox) ने कहा है कि "डाल्टन पद्धति बालकों को जो सामाजिक व्यवहार देती है—उसका मुख्य गुण बौद्धिक न होकर व्यवहारवादी होना चाहिए। डाल्टन पद्धति सामाजिक शिक्षा के लिए तो बिलकुल अपूर्ण है।" साम्यवादी शिक्षा विशेषज्ञ पिनकेविच (Pinkevitch) ने कहा है कि "इस पद्धति के बारे में कुछ अधिक न कहकर केवल इतना ही कहेंगे कि हमें यह डर है कि यह पद्धति बालकों को व्यक्तिवादी बनाने का यन्त्र न बन जावे।[1]"

(4) इस पद्धति द्वारा की गई बालकों की प्रगति प्रायः धोखा देने वाली होती है। कुछ बालक ऐसे भी होते हैं जो स्वयं कुछ कार्य नहीं करते हैं, बाद में दूसरों की नकल कर लेते हैं। प्रारम्भ में इसकी जो गति होती है वह बहुत मन्द होती है। इस प्रकार बालक का अधिक समय बरबाद जाता है जब तक कि बालक को दिये निर्दिष्ट-पाठ छोटे न हों और उनको ध्यानपूर्वक जाँचा न जावे।

(5) डाल्टन पद्धति में असामयिक विशेषीकरण का एक बहुत बड़ा डर रहता है। यह विशेषीकरण शिक्षा की दृष्टि से भी उचित नहीं है तथा इसका बालक के अस्तित्व के विकास पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

(6) इस पद्धति में जो निर्दिष्ट-पाठ दिये जाते हैं वे बहुत ही अप्राकृतिक होते हैं। उनमें वातावरण की भिन्नता एवं बालकों की ग्रहण करने की शक्ति की भिन्नता के ऊपर ध्यान नहीं दिया जाता है।

(7) अच्छी पुस्तकों की कमी भी इस पद्धति के दृष्टिकोण से लिखी हुई पुस्तकों के अभाव में केवल शिक्षण के लिये लिखी गई पुस्तकें प्राप्त हैं। पुस्तकों में विषय बालकों के मनोविज्ञान के अनुसार नहीं लगे हुए होते हैं।

(8) इस पद्धति में विशेषीकरण पर अधिक जोर दिया गया है। पाठ्यक्रम में किसी एक विषय को ही लेकर उस पर अधिक जोर दिया जाता है। इसलिए पद्धति में 'शिक्षा में समन्वय' अथवा 'सानुबन्ध शिक्षा' (Correlation of studies) का

---

[1] "We cannot but express the fear that it will be instrumental in developing individualistic tendencies in children."

सिद्धान्त काम में नहीं लाया जाता है। बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था में यह विशेषीकरण प्रारम्भ कर दिया जाता है जो बालक के लिए शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार से हानिकारक है।

(9) स्कूल के पाठ्यक्रम के सब विषयों में डाल्टन पद्धति प्रयोग में नहीं लाई जा सकती है। विज्ञान में कुछ प्रयोग केवल शिक्षा द्वारा ही प्रदर्शित किये जा सकते हैं तथा भिन्न-भिन्न बालकों के लिए प्रयोगों का प्रबन्ध करना असम्भव हो जाता है।

हमारे विद्यालयों में डाल्टन पद्धति की स्वीकृति

इसलिए यह स्पष्ट है कि यद्यपि यह पद्धति बालकों में उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करती है तथा शिक्षक एवं विद्यार्थी में एक गहरा सम्बन्ध स्थापित करती है किन्तु इतने पर भी इस पद्धति में अनेक दोष हैं जिनके कारण विद्यालयों में इसका पूर्ण उपयोग करना असम्भव है। भाषा की कठिनाई, उचित पुस्तकें तथा भवनों का अभाव, वैज्ञानिक रीति से निर्दिष्ट पाठों को तैयार करने की समस्या, योग्य शिक्षकों की कमी, हमारी परीक्षा विधि तथा उसके कड़े नियम आदि कठिनाइयाँ ऐसी हैं जो इस पद्धति को हमारे क्विालयों में प्रयोग में लाने से रोकती हैं।

आर्थिक समस्या एक दूसरी कठिनाई है। धन के बिना न तो अच्छी पुस्तकें ही प्राप्त हो सकती हैं और न ही प्रयोगशाला के लिए अच्छे यन्त्र तथा अन्य सामग्री ही प्राप्त हो सकती है, लेकिन ये वस्तुएँ इस पद्धति की सफलता के लिए अति आवश्यक हैं।

आजकल हमारे विद्यालयों में यह पद्धति तब तक प्रयोग में नहीं लाई जा सकती जब तक कि विद्यालयों का संगठन ही पूर्णरूप से न बदल दिया जावे। बारह वर्ष की आयु से पहले यह पद्धति काम में नहीं लाई जा सकती। पुनः यह पद्धति उसी समय सफल हो सकती है जबकि 'कक्षा-कक्ष शिक्षण' को 'आत्म अध्ययन' के साथ मिश्रित कर दिया जावे। यदि बालकों को दशमलव तथा संलग्न भिन्न को स्वयं समझने के लिए छोड़ दिया जावे, तो यह उनके लिए हानिकारक सिद्ध होगा। जब अध्यापक को यह विश्वास हो जाता है कि बालकों ने प्रारम्भिक तथ्यों को समझ लिया है तब शिक्षक उनको निर्दिष्ट-पाठ दे सकता है जिनको कि वे स्वयं पुस्तकों की सहायता से पूरा कर सकते हैं लेकिन अधिक निर्दिष्ट पाठ उनकी पाठ्य पुस्तकों (Text books) के आधार पर ही होने चाहिए। कुछ विषयों (जैसे इतिहास, भूगोल तथा सामाजिक अध्ययन आदि) के लिए तो कुछ व्यक्ति इस पद्धति की स्वीकृति देते हैं किन्तु गणित तथा विज्ञान जैसे विषयों के लिए तो लोग पद्धति के प्रयोग के विरुद्ध हैं।

लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पद्धति में कैसी भी दृढ़ता एवं कोई खास सिद्धान्त नहीं है। यह तो केवल एक रूपरेखा बनाती है तथा इस रूप रेखा के अन्दर पद्धति को विद्यालयों की परिस्थितियों के अनुसार बनाया जा सकता

है। इस प्रकार पद्धति में स्थान तथा देश की आवश्यकतानुकूल कुछ परिवर्तन कर लेने से इसकी अनेक कठिनाइयाँ तथा दोष दूर हो जाते हैं। दोष दूर हो जाने पर यह पद्धति सुगमता से अपनाई जा सकती है। हम अपने यहाँ के स्कूलों में वैयक्तिक तथा सामूहिक शिक्षा दोनों का प्रबन्ध कर सकते हैं। हमारी पाठशालाओं में कुछ विषयों में कुछ समय तक वैयक्तिक कार्य का प्रबन्ध हो और शेष समय में कक्षा-शिक्षण हो। इस प्रकार हमारे विद्यार्थियों को वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनों प्रकार की शिक्षा का लाभ हो सकता है और हमें अधिक धन की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। इस प्रकार हमारे विद्यालय भी इस पद्धति का लाभ उठा सकते हैं।

सारांश

बुनियादी शिक्षा (Basic Education)

पिछली कुछ दशाब्दियों से लोगों का यह मत हो गया था कि परम्परागत शिक्षा-प्रणाली दोषयुक्त थी और यह नई बदली हुई परिस्थितियों में ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर सकती थी। बढ़ते हुये राष्ट्रीयता के विचारों ने इस असन्तोष को और अधिक बढ़ा दिया। शिक्षा प्रणाली समाज के बढ़ते हुये सामाजिक और आर्थिक विचारों से अछूती नहीं रह सकती है। इसलिये शिक्षा में पूर्ण परिवर्तन एवं इसका पुनरुद्धार होना चाहिये। इसलिये समाज की माँग को पूरा करने के लिये बुनियादी शिक्षा (Basic education) लाई गई।

परम्परा प्राप्त या पुरानी शिक्षा प्रणाली (Traditional system of Education)—(1) इस शिक्षा प्रणाली का क्षेत्र बहुत सीमित था तथा यह किताबी एवं कोरी सैद्धान्तिक थी। इसकी शिक्षा-प्रक्रिया में विद्यार्थी पूर्णरूप से भाग नहीं लेते थे।

(2) इसके अन्दर चरित्र-निर्माण पर कैसा भी प्रशिक्षण नहीं दिया जाता था। केवल नये तथ्यों की जानकारी पर ही जोर दिया जाता था।

(3) यह प्रणाली विद्यार्थियों में व्यावसायिक दृष्टिकोण नहीं देती थी।

(4) शिक्षा न तो प्राकृतिक थी और न ही उपयोगी थी। यह शिक्षा विद्यार्थियों को न तो आत्म-विश्वासी और न आत्म-सहायक ही बनाती थी।

(5) अंग्रेजी जो कि शिक्षा का माध्यम थी, विद्यार्थियों में बड़ी असुविधा उत्पन्न करती थी।

(6) बालकों को जो शिक्षा दी जाती थी, उसका उनकी बाहरी दुनियाँ से कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। इस प्रकार विद्यार्थी को अपने वातावरण के अनुसार शिक्षा नहीं प्राप्त होती थी।

(7) इस शिक्षा-प्रणाली में शिक्षक तथा विद्यार्थी में कोई सम्बन्ध नहीं होता था।

बुनियादी शिक्षा (Basic Education) का संक्षिप्त इतिहास—(1) अक्टूबर 1937 वर्धा में गाँधी जी की अध्यक्षता में एक शिक्षा सम्मेलन वर्तमान शिक्षा प्रणाली के सुधार पर विचारार्थ हुआ।

(2) बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम को निर्धारित करने के लिये डा० जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई गई।

(3) जब गाँधी जी तथा काँग्रेस ने उस पर अपनी स्वीकृति देदी तब एक अखिल भारतीय बोर्ड (हिन्दुस्तान तालीम संघ) इस प्रणाली को व्यवहार में लाने की योजना बनाने के लिये बनाया गया।

(4) कुछ राज्यों ने भी बुनियादी शिक्षा अपनाने के लिये अपनी-अपनी स्वयं योजनायें बनाईं।

(5) 1938 में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड (Central Advisory Board of Education) ने श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की।

(6) एक दूसरी कमेटी बुनियादी शिक्षा और उच्च शिक्षा में सम्बन्ध स्थापित करने के लिये नियुक्त की गई।

(7) जनवरी 1947 में बुनियादी स्कूलों के लिये पाठ्यक्रम निर्धारित करने के लिए कमेटी बनाई गई।

बुनियादी शिक्षा के प्रमुख लक्षण—इसके प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं :—

(1) क्रियाशीलता केन्द्रित—बुनियादी शिक्षा प्रणाली में शिक्षा रचनात्मक क्रियाओं द्वारा दी जाती है। इसमें बालक अपनी क्रियाओं द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करता है।

(2) बुनियादी शिक्षा का व्यवसायिक आधार—बुनियादी शिक्षा में हस्तकलाओं के समावेश से बालक के अन्दर कार्य के प्रति प्रेम (Love of work) तथा श्रम के प्रति मान्यता उत्पन्न हो जाती है।

(3) सानुबन्ध (Correlation)—बुनियादी शिक्षा में भिन्न-भिन्न विषय अलग-अलग नहीं हैं। इस शिक्षा प्रणाली में प्रत्येक विषय एक दूसरे से सानुबन्धित है। बालक द्वारा इस प्रकार प्राप्त ज्ञान में एक संयोग एवं एकता रहती है।

(4) बुनियादी शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार—बुनियादी शिक्षा में प्रत्येक बालक को उसकी रुचि एवं वातावरण के अनुसार कार्य करने के लिये दिया जाता है। इस विधि में अध्यापक द्वारा वैयक्तिक शिक्षण की मात्रा भी अधिक है।

(5) नागरिकता का आदर्श—बुनियादी शिक्षा विद्यार्थियों को सामाजिक कार्य क्षमता देती है। यह प्रणाली सच्ची नागरिकता का पाठ पढ़ाती है तथा एक सहकारी समुदाय में उनको प्रजातान्त्रिक जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार करती है।

प्रणाली में सामान्य हस्तकला के समावेश से यह कार्य सम्पन्न होता है। बुनियादी शिक्षा की राष्ट्रीय योजना का उद्देश्य यह है कि 6 वर्ष से.लेकर 14 वर्ष तक की उम्र के राष्ट्र के प्रत्येक बालक को यह शिक्षा निःशुल्क एवं अनिवार्य होनी चाहिए।

(6) शिक्षण का माध्यम मातृ-भाषा—बुनियादी शिक्षा ने मातृ-भाषा को ही शिक्षण का माध्यम माना है।

बुनियादी पाठ्यक्रम—(1) हस्तकला—स्थानीय हस्तकलाओं में से कोई सी एक,

(2) मातृ-भाषा,

(3) सामाजिक अध्ययन,

(4) सामान्य विज्ञान,

(5) कला की शिक्षा,

(6) गणित,

(7) हिन्दी,

(8) खेल एवं शारीरिक क्रियायें।

योजना की समालोचना (Criticism of the Scheme)—इतने मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, शैक्षिक लाभों के अतिरिक्त भी बुनियादी शिक्षा की योजना की समालोचना की गई है। जो निम्न है—

(1) इस योजना में शिक्षा की अपेक्षा भावनायें तथा कल्पनायें अधिक पाई जाती हैं। इस प्रणाली की स्वीकृति के विरोध में बहुत सी बातें कही गई हैं। हस्त-कला को इस प्रणाली का आर्थिक एवं सामाजिक अंग माना है—लेकिन बाद में यह बात भी फीकी पड़ गई है।

(2) ऐसा कहा जाता है कि प्रत्येक विषय को हस्तकला के ही द्वारा नहीं पढ़ाया जा सकता है। इसी प्रकार हस्तकला का प्रत्येक विषय के साथ सानुबन्ध नहीं हो सकता है। इस प्रणाली द्वारा क्रम-बद्ध शिक्षण नहीं हो सकता है।

(3) इस प्रणाली को ठीक ढंग से चलाने के लिए योग्य शिक्षकों का अभाव है। शिक्षक प्रत्येक हस्तकला में निपुण नहीं होता है।

(4) राज्य शिक्षा विभाग इसके प्रति उदासीन है।

(5) बुनियादी शिक्षा प्रणाली की सामग्री का अभाव रहता है।

प्रोजेक्ट पद्धति (Project Method)

शिक्षा के विषय में यह पुराना विचार गलत होता जा रहा है कि शिक्षा की प्रक्रिया में बालक का अस्तित्व केवल सुनने वाले के रूप में होता है। ऐसा ज्ञान कोरा सैद्धान्तिक होता है और इससे बालक के व्यक्तित्व का उचित विकास नहीं हो पाता है।

प्रोजेक्ट पद्धति में स्कूल, पाठ्यक्रम तथा अध्ययन की विधि आदि पर बालक के ही दृष्टिकोण को साथ लेकर विचार किया जाता है। प्रोजेक्ट पद्धति में नीरस अध्ययन को आनन्ददायक अनुभव में बदल दिया जाता है। शिक्षा प्राप्त करने की प्रोजेक्ट अध्ययन की एक क्रियाशील विधि है। योजना पद्धति में बालक की सहज-प्रकृति क्रियाओं को शिक्षा के कार्यों में मोड़ दिया जाता है।

प्रोजेक्ट पद्धति में क्या होता है—प्रोजेक्ट पद्धति का सार यह है कि इसमें बालक अपनी क्रियाओं द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। Dr. W. H. Kilpatric ने प्रोजेक्ट पद्धति की परिभाषा इस तरह से की है "सामाजिक वातावरण में पूर्ण लग्न के साथ की गई आशय-पूर्ण क्रिया है।" (A whole hearted purposeful activity proceeding in a social environment.) Stevenson का कथन है "यह एक सन्दिग्ध कार्य है जो अपने प्राकृतिक वातावरण में पूर्ण किया जाता है।" ("It is a problematic act carried to completion in its natural setting.") प्रोजेक्ट पद्धति कहती है कि एक बालक को किसी वस्तु का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि वह उसे क्रियात्मक रूप में न करके देख ले।

प्रोजेक्ट पद्धति के सिद्धान्त—(1) इस पद्धति में जो कार्य किया जाता है वह वास्तविक एवं साधारण जीवन की प्राकृतिक पृष्ठ-भूमि में किया जाता है। इसका एक क्रियात्मक आधार होता है। इस पद्धति का कथन है कि बालक की स्कूल में शिक्षा सम्बन्धी जो भी क्रियायें हों सब उसके नित्य-प्रति जीवन की क्रियाओं से सम्बन्धित होनी चाहिए।

(2) प्रोजेक्ट का अर्थ है कि केवल सिद्धान्त ही न होकर कुछ क्रिया भी होनी चाहिए। यह 'क्रिया द्वारा प्राप्त ज्ञान' (Learning by doing) है। यह बालक को मानसिक तथा शारीरिक दोनों रूप से क्रियाशील रखती है। प्रोजेक्ट पद्धति बालक के शरीर और मस्तिष्क का सम्बन्ध जोड़ती है।

(3) प्रोजेक्ट पद्धति केवल एक साधारण प्रकार की क्रिया नहीं है अपितु यह एक संदिग्ध कार्य है जो बालक की मानसिक क्रियाओं का अभ्यास चाहता है। इस प्रकार बालक को उपयोगी अनुभव प्राप्त होता है।

(4) प्रोजेक्ट पद्धति में जो क्रियायें होती हैं वे सब आशय-पूर्ण तथा पूर्ण लग्न के साथ की जाती हैं। इस पद्धति का कहना है कि कोई भी शिक्षण कार्य तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि उसमें बालक भाग न लें। यदि कार्य बालक की रुचियों के अनुसार तथा उनको आत्म-सन्तोष पैदा करने वाला होगा तो वे उसमें पूर्ण लग्न के साथ भाग लेंगे। केवल शिक्षा की दृष्टि से ही कोई क्रिया महत्त्वशाली नहीं हो सकती जब तक कि वह बालकों की रुचि एवं आवश्यकतानुसार आशयपूर्ण न हो। योजनायें वास्तविक होनी चाहिए।

(5) योजना का निर्माण प्राकृतिक होना चाहिए। योजना-कार्य को सही ढंग से करना चाहिए। स्कूल और जीवन की खाई को कम कर देना चाहिए।

(6) प्रोजेक्ट पद्धति कहती है कि यह कार्य कोई साधारण कार्य नहीं है बल्कि एक संदिग्ध कार्य है जिसके लिए बालक की मानसिक शक्तियों का प्रयोग किया जाता है जैसे विचार करना, योजना बनाना तथा परिणाम निकालना आदि।

(7) योजनाओं को पूर्ण ही करना चाहिए। यह योजना की उपयोगिता और उसकी प्रकृति के ऊपर निर्भर है।

(8) प्रोजेक्ट पद्धति का एक सामाजिक आधार है। यह बालकों में एक सामाजिक कार्य-क्षमता उत्पन्न करती है जहाँ बालक दूसरों के साथ सहयोग से रहना सीखता है।

(9) इच्छानुसार कार्य, आशय-पूर्ण कार्य, बालक का महत्त्व एवं उसकी रुचि आदि इस योजना के आधार हैं।

योजनाओं की किस्में (Different kinds of Projects)—चार प्रकार की योजनायें होती हैं—

(1) **उत्पन्न करने वाली योजनायें** (Producer's Projects)—इसमें सीखने वाले का उद्देश्य कुछ उत्पन्न करना होता है।

(2) **उपभोक्ता योजनायें** (Consumers Projects)—इसमें हम किसी वस्तु का उपभोग करते हैं तथा उसका आनन्द लेते हैं।

(3) **समस्या-प्रदान योजनायें** (Problem Projects)—इसमें बालक किसी समस्या के ऊपर कार्य करते हैं।

(4) **विशेष ज्ञान की योजनायें** (Specific learning Projects)—इसमें बालक किसी विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए अभ्यास करते हैं।

प्रोजेक्ट पद्धति के प्रयोग की अवस्थाएँ—प्रोजेक्ट पद्धति के प्रयोग की चार अवस्थायें होती हैं :—

(1) संकल्प करना (Purposing)
(2) योजना बनाना (Planning)
(3) सम्पादन करना (Executing)
(4) निर्णय करना (Judging)

प्रोजेक्ट पद्धति में शिक्षक के कार्य—शिक्षण की योजना-पद्धति में शिक्षक का बहुत महत्त्वपूर्ण योग होता है। वह न तो एक निर्देशक होता है और न अधिनायक बल्कि वह तो एक मार्ग-दर्शक का कार्य करता है। उसके कार्य निम्नलिखित होते हैं :—

(1) उसे शिक्षा के आशय के लिए बालकों के अनुभवों को एकत्रित करना चाहिए। वह बालकों को शिक्षण नहीं देता है बल्कि बालकों को ज्ञान प्राप्त करने के लिए तैयार करता है तथा उनमें विश्वास उत्पन्न करता है।

(2) उसे बालकों की कठिनाइयों तथा समस्याओं को बहुत ही सहानुभूति के साथ हल करना चाहिए। उसे उस योजना का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

(3) उसे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि बालकों में केवल यान्त्रिक क्रिया ही न उत्पन्न हो जावे। शिक्षक को बालकों में एक स्वस्थ दृष्टिकोण एवं चरित्र का निर्माण करना चाहिए।

(4) उसे बालकों के ज्ञान को पूर्ण करना चाहिए।

(5) शिक्षक को यह देखना चाहिए कि इस पद्धति द्वारा बालक का बहु-मुखी विकास हो रहा है या नहीं।

प्रोजेक्ट पद्धति की सफलता के प्रमाण (Criteria for success in Project Teaching)—(1) शिक्षा पद्धति को बालकों को शिक्षा सम्बन्धी उत्तम अनुभव प्रदान करने चाहिए जिससे बालक का पूर्ण व्यक्तित्व निखर सके।

(2) आशय पूर्ण क्रिया का अर्थ है कि योजना बालक की विशेष आवश्यकताओं तथा रुचियों को पूरा करती है।

(3) योजना के उपयोगी तथा क्रियात्मक उद्देश्य का अर्थ है कि यह बालक के जीवन से सम्बन्ध रखता है और बालक इसमें अपने अनुभवों के आधार पर भाग लेते हैं।

(4) योजना के आर्थिक दृष्टिकोण का अर्थ है कि कम से कम सामग्री तथा कम से कम समय में बालकों को अधिक से अधिक शिक्षा सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त हो।

(5) स्वस्थ तथा अच्छी योजना का अर्थ है कि बालक इसमें पूर्ण रूप से लगे रहें और योजना उनकी रुचियों के अनुसार ही चलती रहती है।

प्रोजेक्ट पद्धति की सफलता का मूल्यांकन—प्राइमरी अवस्था में प्रोजेक्ट पद्धति को ग्रहण करना कुछ कठिन होता है। इस अवस्था में पद्धति द्वारा निर्धारित कोई भी रचनात्मक कार्य सम्भव नहीं है। प्रोजेक्ट पद्धति शिक्षण की मनोवैज्ञानिक विधि पर आधारित है जिसमें छोटे बालकों को शिक्षण देते समय कुछ अवकाश अवश्य छोड़ दिया जाता है। इस अवस्था में छोटे बालकों की विचार करने की तथा स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने की शक्तियाँ सीमित होती हैं। प्रोजेक्ट पद्धति बड़ी कक्षा के बालकों के लिए अधिक उपयोगी होती है। यद्यपि प्रोजेक्ट पद्धति प्रत्येक अवस्था में बहुत अधिक लाभदायक है किन्तु प्राइमरी अवस्था में इसका प्रयोग सीमित ही रहता है।

मान्टेसरी पद्धति (Montessori Method)

इस पद्धति का आविष्कार डा० मैरिया मॉन्टेसरी ने किया था। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि बालक के पूर्ण विकास प्राप्त करने के लिए प्रयोगात्मक

मनोविज्ञान का प्रयोग किया जाना चाहिए। डा० मॉन्टेसरी ने कहा है[1] "बालक के विकास की तो बिल्कुल उपेक्षा कर दी जाती है और उन्होंने इस बात पर जोर दिया है विज्ञान का उपयोग उनके आन्तरिक जीवन के लाभ के लिए होना चाहिए जो कि वास्तविक मानवीय जीवन होता है।" उन्होंने पेस्टालॉजी (Peltalozzi) के मनोवैज्ञानिक आन्दोलन को भी आगे बढ़ाया है।

मान्टेसरी पद्धति क्या कहती है?—मॉन्टेसरी पद्धति बालकों के सामूहिक शिक्षण के विरोध में एक प्रतिक्रिया प्रदान करती है। यह बालक की ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण के आधार पर शिक्षा में व्यक्तिवाद पर जोर देती है। उन्होंने कहा है कि शिक्षा को ही अपने सही उद्देश्य प्राप्त करने के लिए मनोवैज्ञानिक होना चाहिए।

मान्टेसरी पद्धति के शिक्षा सिद्धान्त—यह सिद्धान्त निम्न प्रकार के हैं:—

(1) **स्व-शिक्षा या आत्म-शिक्षा का सिद्धान्त**—इसमें बालक स्वयं क्रियाओं में भाग लेकर प्राप्त अनुभवों के आधार पर शिक्षा ग्रहण करता है तथा अपने विकास की ओर अग्रसर होता है।

(2) **ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण द्वारा शिक्षा**—ज्ञानेन्द्रियों का पूर्ण शिक्षण ही शिक्षा का अर्थ होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान के प्रवेश-द्वार हैं।

(3) **शिक्षा का वैयक्तिक आधार**—शिक्षा व्यक्तिगत होनी चाहिए एवं बालक पर व्यक्तिगत ही ध्यान देना चाहिए। उन्होंने कक्षा-कक्ष शिक्षण का विरोध किया है। प्रत्येक व्यक्ति शिक्षा की प्रक्रिया की एक इकाई है और उसे अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अनुसार ही ज्ञान-मार्ग पर अग्रसर होने के लिए सहायता देनी चाहिए।

(4) **शिक्षा सम्बन्धी स्वतन्त्रता**—स्वतन्त्रता प्रदान करने पर ही बालक अपनी इच्छानुसार एवं स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकता है। बालक की भलाई के लिए स्वतन्त्रता प्रदान करना अति आवश्यक है।

(5) **विचारयुक्त अनुशासन का सिद्धान्त**—वास्तविक अनुशासन बाहर से नहीं लादा जाता है अपितु यह तो बालक के अन्तःकरण से ही उत्पन्न होता है। अनुशासन की उन्नति के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक होती है। उसका अनुशासन का विचार निषेधात्मक न होकर धनात्मक है।

(6) **शिक्षा की मनोवैज्ञानिक पद्धति**—बालकों की शिक्षा में उनकी आवश्यकताओं और रुचियों पर ध्यान अवश्य देना चाहिए। शिक्षा की पद्धति बालक

---

1 She deplored "The Childrens' growth in spirit had been ignored and advocated that the science must be further used to benefit and to reinforce their inner life which is the real human life".

के विकास की अवस्थानुकूल ही होनी चाहिए। इसके अन्तर्गत शिक्षा के उद्देश्य के लिए बालक का नैसर्गिक-शक्तियों (Instincts) का उदात्तीकरण (Sublimation) आ जाता है।

(7) शिक्षा का आधार परिस्थिति (Environment)—डा० मॉन्टेसरी के कथनानुसार शिक्षा-सम्बन्धी उत्तम परिस्थितियाँ बालक के उचित विकास में बहुत सहायक होती हैं। परिस्थितियाँ ऐसी होनी चाहिए जिसमें कि बालक को स्व-शिक्षा का अवसर मिल सके। वह बालकों की शिक्षा के लिए बालघरों पर जोर देती हैं।

डा० मान्टेसरी की शिक्षा-पद्धति—मॉन्टेसरी पद्धति को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(अ) कर्मेन्द्रियों की शिक्षा (Motor education)

(ब) ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा (Sensory education)

(स) भाषा की शिक्षा (Language teaching)

मान्टेसरी पद्धति में शिक्षक के कार्य—(1) जब कि बालक शिक्षा-यन्त्र का प्रयोग कर रहे हों, उस समय शिक्षक को कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

(2) उसे समवेदक मार्ग-दर्शक होना चाहिए।

(3) उसे प्रयोगात्मक-मनोविज्ञान का ज्ञान होना चाहिए।

(4) उसे बालकों को अधिक से अधिक शिक्षा-स्वतन्त्रता देनी चाहिए।

(5) उसे बाखकों को शिक्षा-उत्तेजक परिस्थितियाँ प्रदान करनी चाहिए।

(6) उसे बालकों को व्यक्तिगत आधार पर व्यक्तिगत शिक्षा देनी चाहिए।

(7) उसको बालकों के अन्दर आन्तरिक अनुशासन उत्पन्न करना चाहिए।

(8) उसे क्रियाशील, सावधान एवं निरीक्षक होना चाहिए।

मान्टेसरी पद्धति का मूल्यांकन—(1) उनकी पद्धति वैज्ञानिक विचारों पर आधारित है जहाँ बालक ज्ञान की प्रक्रिया में एक क्रियाशील भागीदार है एवं जहाँ वह 'त्रुटि एवं प्रयास' (Trial and error) द्वारा शिक्षा ग्रहण करता है। बालक खेल की भावना में शिक्षा लेता है और उस पर किसी प्रकार का कोई पाठ्यक्रम लादा नहीं जाता है। निर्देश व्यक्तिगत एवं मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार के होते हैं।

(2) वह कहती हैं कि बालकों के ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध नहीं उत्पन्न करना चाहिए क्योंकि किसी प्रकार की भी बाधा बालकों के विकास के लिए हानिकारक होती है। वह व्यक्ति के मूल्य एवं उसकी महानता में विश्वास रखती थीं।

(3) उनका कथन है कि ज्ञानेन्द्रिय-अनुभव ज्ञान के प्रवेश-द्वार हैं जो कि बालक को बाहरी दुनिया से सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता देती हैं। उनके शिक्षा सम्बन्धी विचार उच्च श्रेणी के मनोवैज्ञानिक एवं क्रियात्मक विचार हैं।

(4) उन्होंने अनुशासन के विषय में एक विचार युक्त धारणा दी है। वास्तविक अनुशासन बाहर से नहीं लादा जाता अपितु अन्तःकरण से ही उत्पन्न होता है। वास्तविक अनुशासन प्राप्त करने के लिए शिक्षा-निर्देशों को बालक की रुचियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार ही होना चाहिए।

(5) उनकी पद्धति में शिक्षण (Teaching) के स्थान को सीखने (Learning) ने ग्रहण किया है। बालक स्वयं अपने अनुभवों एवं निरीक्षणों के आधार पर ही ज्ञान प्राप्त करता है। वह बालकों की स्व-शिक्षा में विश्वास करती थीं।

(6) उनका शिक्षा-यन्त्र अति सरल एवं बालकों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं तथा प्रवृत्तियों के अनुसार ग्रहण करने योग्य है।

(7) उनकी लेखन-विधि बालकों की माँस-पेशियों की क्रियाओं पर अधिक ध्यान देती है। डा० मॉन्टेसरी के अभ्यास क्रम-बद्ध एवं सानुबन्ध हैं।

(8) उनकी पद्धति में शिक्षक एक समवेदक मार्गदर्शक के रूप में कार्य करता है।

मान्टेसरी पद्धति की सीमायें—(1) उनका प्रशिक्षण का सिद्धान्त दोष-युक्त है और उसे वर्तमान मनोवैज्ञानिक मान्यता प्रदान नहीं करते हैं।

(2) उन्होंने ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया है। यह विधि बालक के पूर्ण व्यक्तित्व के विकास को प्राप्त करने में असफल सिद्ध हुई है। उन्होंने अपनी पद्धति में बालक की काल्पनिक शक्ति के विकास की उपेक्षा की है।

(3) उनका सिद्धान्त कि "बालक मानव जाति के प्राकृतिक विकास की ओर असग्र होता है" कोरा आदर्शवादी एवं अव्यवहारिक है।

(4) यह पद्धति बालक के साहित्यिक प्रशिक्षण की ओर ध्यान नहीं देती है।

(5) उनकी बालक के व्यक्तित्व की धारणा कोरी जैवकीय है। इसमें बालक के चारित्रक एवं स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है।

(6) यह पद्धति बालकों को अपने आपको व्यक्त करने का बहुत कम अवसर प्रदान करती है।

(7) यह पद्धति सामूहिक कार्य की उपेक्षा करती है और सामाजिक प्रतिक्रिया के लिए कोई अवसर प्रदान नहीं करती है।

डाल्टन पद्धति (Dalton Method)

डाल्टन पद्धति वह शिक्षा-विधि है जिसमें व्यक्तिगत शिक्षण के साथ ही साथ कक्षा-कक्ष शिक्षण के लाभों पर भी ध्यान दिया जाता है।

कक्षा-कक्ष शिक्षण के दोष—(1) व्यक्तिगत विद्यार्थी से निकट सम्पर्क स्थापित करने की सम्भावनायें नहीं होती हैं।

(2) यह शिक्षा-विधि बालकों की आवश्यकताओं और रुचि के अनुसार नहीं होती है।

(3) बालक ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया में क्रियाशील भागीदार नहीं बनते हैं।

(4) इस विधि द्वारा बालकों की शक्तियों का समान विकास नहीं होता है।

डाल्टन पद्धति का इतिहास—डाल्टन पद्धति को सर्वप्रथम मिस हेलेन पार्कहर्स्ट ने पंगुओं के विद्यालय के लिए बनाई थी। डाल्टन पद्धति एक शिक्षक के निर्देशन में तेज और मन्द बुद्धि दोनों प्रकार के बालकों के लिए क्रियान्वित होती है। डाल्टन पद्धति लचीली एवं सरल ग्राह्य है।

डाल्टन पद्धति के मुख्य लक्षण—(1) कक्षा-कक्ष (Class rooms) के स्थान पर विषय-कक्ष (Subject rooms) स्थापित किये जाते हैं।

(2) यह पद्धति पाठ के ठेका (Contracts) एवं निर्दिष्ट पाठ (Assignment) पर आधारित है जिसमें बालक को निर्दिष्ट पाठ निर्धारित समय के अन्दर ही समाप्त करने होते हैं। इस पद्धति में मासिक, साप्ताहिक एवं दैनिक निर्दिष्ट पाठ होते हैं।

(3) शिक्षण द्वारा निर्दिष्ट पाठों पर सहायक नोट (Notes) दिये जाते हैं। इसमें पाठ्य पुस्तकों (Text books) एवं निर्देश पुस्तकों (Reference books) के नाम होते हैं।

(4) बालकों के ऊपर कोई भी बाहरी हस्तक्षेप नहीं लादा जाता है तथा बालक एक स्वतन्त्र वातावरण में कार्य करते हैं।

(5) प्रत्येक बालक यह जानता है कि उसे क्या करना है तथा कहाँ से और किस प्रकार करना है।

(6) बालकों की प्रगति लेखा-चित्रों (Graphs) द्वारा प्रदर्शित की जाती है।

(7) समय-समय पर सामूहिक-शिक्षण का भी प्रयोग किया जाता है। कक्षा को शिक्षण की इकाई के रूप में न मानकर संगठन की इकाई माना गया है।

डाल्टन पद्धति में शिक्षक के कार्य—डाल्टन पद्धति में शिक्षक का दृष्टि-कोण बिलकुल बदल जाता है।

(1) उसका भाषण करना बहुत कम हो जाता है।

(2) वह न तो पूर्ण अधिकारी होता है और न ही बालकों से बिलकुल अभिन्न रहता है।

(3) शिक्षक कक्षा-अध्यापक के रूप में कार्य नहीं करता है बल्कि वह किसी विषय का विशेषज्ञ-अध्यापक होता है। उसे स्वयं बहुत सानुबंध अध्ययन करना पड़ता है।

(4) डाल्टन पद्धति में उसका कार्य और अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण एवं कठिन होता है। उसे लगातार बालकों का निरीक्षण करना पड़ता है तथा उनको निर्देश देने पड़ते हैं। उसे मन्द-बुद्धि वाले बालकों पर विशेष ध्यान देना पड़ता है।

(5) उसे बालकों के अन्दर शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न करनी पड़ती है तथा उनमें उचित विद्या-सम्बन्धी परम्परायें स्थापित करनी पड़ती हैं।

कार्य का लेख प्रमाण (Record)—डाल्टन पद्धति के अन्तर्गत शिक्षक को तीन प्रकार के लेखा-चित्र रखने पड़ते हैं।

(अ) शिक्षा निर्देशक प्रयोगशाला लेखा-चित्र (Instructor's laboratory) graph)।

(ब) विद्यार्थियों के लेखा-चित्र (Pupil's graph)।

(स) गृह लेखा-चित्र (House graph)

लेखा-चित्रों की तीन-तीन प्रतिलिपियाँ बनाई जाती हैं। इन लेखा-चित्रों द्वारा शिक्षक को बालकों की प्रगति का पूर्ण ज्ञान बना रहता है।

डाल्टन पद्धति के लाभ—(1) इस पद्धति में बालकों को निर्देश व्यक्तिगत रूप से एवं उनकी आवश्यकताओं तथा रुचियों के अनुसार ही दिये जाते हैं। विद्यार्थी प्रत्येक कार्य को अपने वेग एवं अपनी चित्र-वृत्ति से करते हैं।

(2) पाठ के ठेके (Contract) बालक के अन्दर आत्म-सम्मान एवं महानता की भावना उत्पन्न करते हैं।

(3) इस पद्धति द्वारा बालक का बहुमुखी विकास होता है और यह उसके अन्दर सामाजिक कार्यक्षमता उत्पन्न करती है।

(4) यह पद्धति बालक में 'इच्छा' (Will) एवं कार्य करने की इच्छा उत्पन्न करती है।

(5) बालक स्वयं अध्ययन करना सीख जाते हैं।

(6) इस पद्धति में अत्यधिक लेखन कार्य होता है जो कि बालक में स्पष्ट एवं तार्किक विचार उत्पन्न करता है।

(7) इस पद्धति में बालक एक विशेष उद्देश्य को साथ लेकर कार्य करते हैं।

(8) विद्यार्थी केवल रटते ही नहीं हैं किन्तु स्वयं के लिए तथ्यों की खोज करते हैं।

(9) इस पद्धति ने व्यक्तिगत शिक्षण तथा कक्षा-कक्ष शिक्षण में एक सुन्दर समन्वय किया है।

(10) इस पद्धति में सामूहिक शिक्षण एक स्वतन्त्र एवं प्राकृतिक वातावरण में होता है।

(11) यह पद्धति बालकों को स्वयं के द्वारा शिक्षा ग्रहण करने की बड़ी सहायता देती है।

(12) यह पद्धति खेल द्वारा कार्य (Work and Play) के सिद्धान्त से शिक्षा देती है।

डाल्टन पद्धति की सीमायें (दोष)—(1) डाल्टन पद्धति छोटे बालकों पर बहुत अधिक भार डाल देती है जिसको कि वे अपने सीमित सामर्थ्य के कारण वहन नहीं कर सकते हैं।

(2) यह पद्धति मौखिक कार्य के लिए प्रयोग में नहीं लाई जा सकती है।

(3) यह बालकों में पूर्ण रूप से सामाजिक कार्यक्षमता नहीं लाती है। यह बालकों में व्यक्तिगत भावनायें उत्पन्न करती है।

(4) इसमें प्रायः बालकों की प्रगति धोखा देने वाली होती है।

(5) इस पद्धति में असामयिक विशेषीकरण होने का भय होता है।

(6) इस पद्धति में व्यक्तिगत भिन्नता पर बहुत थोड़ा ध्यान दिया गया है। निर्दिष्ट पाठ कुटिल (Indirect) प्रकृति के होते हैं।

(7) अच्छी पाठ्य-पुस्तकों (Text books) की कमी भी पद्धति के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती है।

(8) अत्यधिक विशेषीकरण से अन्य विषयों के साथ सानुबन्ध की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं।

(9) डाल्टन-पद्धति विद्यालय के प्रत्येक विषय के लिए प्रयोग में नहीं लाई जा सकसी है।

हमारे विद्यालयों में डाल्टन पद्धति की स्वीकृति—भाषा की कठिनाई पाठ्य-पुस्तकों की कमी, भवनों का अभाव, वैज्ञानिक रीति से निर्दिष्ट-पाठ निर्माण करने की समस्या, योग्य एवं प्रशिक्षित शिक्षकों का प्राप्त न होना तथा परीक्षा के दृढ़ नियम आदि—ये सब विद्यालयों में पद्धति के प्रयोग के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं। पद्धति बारह वर्ष की अवस्था से कम के विद्यार्थियों पर प्रयोग में नहीं लाई जा सकती है।

१५

अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव के लिए शिक्षा

शिक्षा का उद्देश्य केवल वैयक्तिक ही नहीं है जिसमें व्यक्ति के विकास के ऊपर ध्यान अधिक देकर उस समाज के लाभों की उपेक्षा की जाती है जिसका कि वह एक अभिन्न अंग है ।

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सामाजिक कार्यक्षमता प्रदान करना है जिससे कि वह समाज में सहयोग तथा प्रजातांत्रिक रूप से रह सके तथा अपनी प्रगति एवं विकास को और आगे बढ़ा सके ।

युवकों के मस्तिष्क में देश-भक्ति की उत्तेजना उत्पन्न करने के लिये यही शिक्षा का स्वीकृत उद्देश्य है जिससे वे अपने देश के भूत पर गर्व कर सकें तथा अपनी सब शक्तियों को देश के भविष्य को उज्जवलमय बनाने में लगा सकें । वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रभक्ति सुन्दर गुण है जिनको कि युवकों में उत्पन्न करने चाहिये, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीयता के विचार को संकीर्ण एवं सीमित नहीं होना चाहिये ।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिये शिक्षा

शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य की विवेचना करते समय जब हम छात्रों में राष्ट्रीयता का वर्णन करते हैं तब हम राष्ट्रीयता पर बहुत अधिक जोर देते हैं । इस प्रकार राष्ट्रीयता पर अत्यधिक महत्व देना हानिकारक हो जाता है । आजकल के वैज्ञानिक आविष्कारों तथा यान्त्रिक ज्ञान ने पूरी दुनिया को बहुत अधिक निकट ला दिया है । एक देश की घटना का प्रभाव दूसरे देश पर अवश्य पड़ता है । इसलिए शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य में अन्तर्राष्ट्रीयता का होना आवश्यक है ।

आजकल संसार में जो सबसे बड़ी खतरनाक भावना कि "मेरा ही देश चाहे भला या बुरा" (My country right or wrong) बहुत अधिक फैली हुई है । आज पूरा संसार इस प्रकार एक दूसरे से सम्बन्धित हो गया कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के बिना रह नहीं सकता तथा राष्ट्रीय नागरिकता के महत्व को विश्व नागरिकता ने ग्रहण कर लिया है । "इसलिये वास्तविक अर्थ में राष्ट्रीयता की भावना ही अब काफी नहीं है बल्कि राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीयता का स्थान लेना चाहिये तथा हम

लोगों को अपने आप को एक विश्व का सदस्य मानना चाहिये तथा विश्व नागरिकता के कर्त्तव्यों को पूर्ण मानसिक तथा भावात्मक रूप से पूरे करने चाहिए।"[1] आजकल की इस अणु आयु में हमें मानवीय-चेतना का एकीकरण करना है। आजकल का मानव स्वयं अपने आप को युद्ध के अणु साधनों द्वारा नाश के मार्ग पर अग्रसर होने की तैयारी कर रहा है। यदि ऐसा होता है तो यह मानवीय चेतना के यान्त्रिक-चक्र की ओर एकीकरण न होने का फल होगा।"[2] इसलिए हमारे विद्यालयों में शिक्षा द्वारा अन्तर्राष्ट्रीयता की भावनायें उत्पन्न होनी चाहिए।

हमें अपने बालकों की प्रगति को विश्व की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के अनुसार ही बनाना चाहिए, हम उनको आधुनिक विज्ञान, साहित्य तथा उद्योग के आविष्कारों से अछूता नहीं रख सकते हैं तथा इन आविष्कारों के लाभों का तभी उपयोग कर सकते हैं जब कि पूरा विश्व एक साथ भ्रातृत्व की भावना के साथ रहे।

अन्तर्राष्ट्रीय तनाव
(International Tensions)

हम युद्ध की बुराइयों से पूर्णरूप से परिचित हैं। युद्ध सर्वनाश के साधन हैं। ये किसी समस्या का समाधान नहीं कर सकते हैं बल्कि अनेक बड़ी-बड़ी समस्याओं को उत्पन्न कर देते हैं। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध के परिणामों से हम पूर्णरूप से परिचित हैं। इन युद्धों ने हमारी अनेकों शताब्दियों के परिश्रम से बनी हुई सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभ्यताओं को नष्ट कर दिया। "जब विश्व में युद्ध के बादल मँडराते हैं तब वहाँ न तो स्वास्थ्य, न आर्थिक लाभ, न आराम और न साहित्य एवं

---

1 There is no more dangerous maxim in the world of today than "My country, right or wrong." The whole world is now so intimately inter-connected that no nation can or dare to live alone and the development of a sense of world citizenship has become just important as that national citizenship. In a very real sense, therefore patriotism is not enough, and it must be supplemented by a lively realization of that fact that we are all members of one world and must be prepared mentally and emotionally, to discharge the responsibilities which such membership implies"—Report of the Secondary Education Commission (October 1952—June 1953) pp. 26-27.

2 "We need today an adjustment of the human consciousness to the nuclear age in which we live. It is now conceivable that the human race may put an end to itself by nuclear warfare or preparations for it. This, if happens will be the result of the failure of man's consciousness to adjust itself to the technological revolution."—*Dr. S. Radhakrishnan.*

सभ्यता ही रहती है।"[1] यह बात तो आजकल और अधिक सत्य चरितार्थ होती है जबकि विश्व में परमाणु बम तथा राकेट आदि जैसे विनाशकारी अस्त्रों का आविष्कार हो गया है। इन आविष्कारों ने विश्व की सभ्यता को एक बहुत बड़ी चुनौती देदी है। यदि विश्व के लोग आपस में शान्तिपूर्वक समान रूप से नहीं रहेंगे तो एक दिन वे अपने आपको नष्ट कर लेंगे। युद्ध और शान्ति बिलकुल अभिन्न वस्तुएँ बन गई हैं। युद्ध के परिणाम कलह, असहिष्णुता, बर्बादी हैं।[2] यही मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक कारण हैं जिनको शिक्षा दूर कर सकती है।

शिक्षा इस चुनौती का मुकाबला कर सकती है

शिक्षा संस्थायें ही इस चुनौती का सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकती हैं। इन संस्थाओं में हमारे युवक तथा युवतियों को अन्तर्राष्ट्रीय भातृत्व की शिक्षा मिल सकती है। उनके अन्दर एक दूसरे देश के प्रति सम्मान तथा सहयोग की भावना जाग्रत करनी चाहिये। बालकों के अन्दर जिस प्रकार का दृष्टिकोण इस समय उत्पन्न कर दिया जावेगा वैसा ही दृष्टिकोण उनके जीवन भर रहेगा। जब वे युवावस्था को प्राप्त होंगे तब उनका दृष्टिकोण और अधिक विस्तृत होता जायगा, वे और अधिक सहिष्णु तथा उनके अन्दर अधिक ज्ञान उत्पन्न होगा। इस प्रकार का दृष्टिकोण हम बालकों के मस्तिष्क में किस प्रकार उत्पन्न कर सकते हैं—यह बात हम बाद में वर्णन करेंगे। यहाँ पर इतना कहना ही अधिक होगा कि "हमें अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनैनिक संगठनों में नये मानव-सिद्धान्तों पर आधारित शैक्षिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियाँ चालू रखनी चाहिए जो कि मानव जीवन के लिए आवश्यक सहकारी एवं शान्तिपूर्ण भावनाओं को अधिक शक्तिशाली बनाती हैं। शिक्षा का यह कार्य बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में वह शिक्षा मूल्यहीन है जो बदलती हुई परिस्थितियों में एकीकरण न उत्पन्न कर सके। इसलिए विश्व के शिक्षकों के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि किस प्रकार मानव सम्बन्धों के सही विचार एवं आदर्शों का प्रचार किया जा सकता है, और किस प्रकार मानव के मस्तिष्क को विश्व-भ्रातृत्व की भावना के अनुसार बनाया जा सकता है ? किस प्रकार संकीर्ण राष्ट्रीय मस्तिष्कों को अन्तर्राष्ट्रीय मानसिक दृष्टिकोण में बदला जा सकता है ? अब धीरे-धीरे राष्ट्रीय-बन्धनों के स्थान पर विश्व-नागरिकता के विचार आ रहे हैं तथा पूर्ण विश्व-जाति

---

1 "There can neither be health, nor economic prosperity nor the leisured pursuit of art and literature and culture in a world that is either plunged in or overshadowed by war."—*Saiyiden, K. G.*, Education for International Understanding, p. 21.

2 *Saiyiden K. G.*, Education for International Understanding p. 8.

के लिए भ्रातृत्व की भावनायें व्यक्तियों के अन्दर उत्पन्न हो रही हैं।[1] यदि हमें विश्व को जीवित रखना है तो मानव के मस्तिष्क के अन्दर शान्ति-रक्षक विचार उत्पन्न करने होंगे। मानव-समाज के मोक्ष का एक ही उपाय है कि व्यक्तियों के मस्तिष्क का पुनरुद्धार किया जावे।[2] इस प्रकार यदि हम विचार करें तो हमें पता लगेगा कि हमने अभी तक विश्व-सम्बन्धी शिक्षा देने के यथार्थ प्रयास नहीं किये हैं जिनसे व्यक्तियों के अन्दर विश्व-नागरिकता की भावनायें उत्पन्न हों सकें। पाठ्यक्रम निर्धारित करते समय हमने अभी तक कोई अन्तर्राष्ट्रीय आधार नहीं अपनाया है। यूनिस्को के प्रकाशन के शब्दों के अनुसार "शिक्षा के उद्देश्यों में से मुख उद्देश्य युवक तथा युवतियों को विश्व समाज के निर्माण में क्रियाशील भाग लेने के लिए तैयार करना चाहिए।"

अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान का अर्थ

(1) अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान का अर्थ है कि हमें अपने बालकों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे कि वे यह जान सकें कि दुनिया अकेली नहीं रह सकती है तथा सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक एवं वैज्ञानिक क्षेत्र में मानव ने जो प्रगति की है—वह अनेक राष्ट्रों के आपसी सहयोग का ही परिणाम है। इस प्रकार विद्यार्थी अनेक संस्कृतियों द्वारा की गई प्रगति का महत्त्व समझेंगे। इन्हीं प्राचीन संस्कृतियों की प्रगति से आधुनिक सभ्यता का उदय हुआ है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान या शिक्षा का यह अर्थ भी होता है कि भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को बन्धुत्व की भावनाओं को लेकर एक साथ रहने की अति आवश्यकता है। विश्व के भिन्न-भिन्न देश इस प्रकार एक दूसरे से सम्बन्धित हो गये हैं कि एक देश की घटना का प्रभाव दूसरे देश पर अवश्य पड़ता है। यदि भिन्न-भिन्न देश आपस में सन्देह और भय के वातावरण में रहेंगे तो वैज्ञानिक आविष्कार मानव जाति का कल्याण नहीं कर सकते हैं तथा प्रत्येक देश अपनी मानवीय एवं आर्थिक राष्ट्रीय सम्पदाओं को युद्ध के लिये ही प्रयोग करेगा। प्रत्येक देश नये-नये नाशकारी अस्त्रों का निर्माण करेगा। शक्ति-संगठन एवं सैन्य-सन्धियों का निर्माण होगा। इन सब बातों का प्रभाव शान्तिपूर्ण एवं रचनात्मक कार्यों पर बहुत बुरा पड़ेगा।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान का आशय है कि बालकों को यह ज्ञात हो जावे कि विश्व में अनेक देश तथा अनेक संस्कृतियाँ हैं। उन्हें यह भी ज्ञान होना चाहिए कि प्रत्येक देश तथा संस्कृति उनके लिये कुछ न कुछ करती अवश्य है तथा एक देश दूसरे देश के तथ्यों से कुछ न कुछ सीखता है।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान के लिये जो शिक्षा दी जाती है उससे बालक दूसरे देश के लोगों की भावनाओं का सम्मान करना सीख जाते हैं। सामाजिक वैज्ञानिकों

---

1 *Masani, R. P.* Education for World Understanding, pp. 2—3.

2 *Ibid*, p. 3.

ने इसे 'एम्पेथी' (Empathy) कहकर पुकारा है और इसे बालक के अन्दर उत्पन्न किये जाने वाला मुख्य दृष्टिकोण माना है।[1]

(5) बालकों को इस बात को भी समझा देना चाहिए कि छोटे तथा बड़े प्रत्येक देश महत्त्वशाली होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान में छोटे तथा बड़े सब राष्ट्रों का महत्त्व सम्मिलित होता है।

आज के संसार की मनो-भौतिक आवश्यकताएँ
(The Psycho-physical Needs of the World of Today)

वर्तमान संसार की मनो-भौतिक आवश्यकताओं का अध्ययन करते सयय तो अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा का ज्ञान होना अनिवार्य हो जाता है। विज्ञान के आविष्कारों ने संसार के लोगों के जीवन में बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन कर दिये हैं। रेडियो, टेलीफोन, बेतार का तार तथा टेलीविजन आदि आविष्कारों ने भिन्न-भिन्न देशों की सीमाओं को समाप्त कर दिया है। आज का संसार बहुत सिकुड़ गया है तथा यदि किसी एक देश में कोई घटना घटित होती है तो उसका प्रभाव हमारे देश पर अवश्य पड़ता है। दूरियाँ बहुत कम हो गई हैं तथा हम में दूसरे देशों के प्रति एकता की भावना उत्पन्न हो गई है। वैज्ञानिक एवं यांत्रिक आविष्कारों द्वारा विश्व की स्वतन्त्रता एक मान्य-वास्तविकता बन गई है। प्रगतिशील देशों के लिये अकेला रहना असम्भव बन गया है। "एक युद्ध योरुप में प्रारम्भ होता है और तीन लाख बंगाल में मरते हैं और लाखों लोग बेघरबार तथा बेकार हो जाते हैं एवं लाखों लोगों के जीवन का आनन्द समाप्त हो जाता है।"[2]

अनेक देशों में आजकल के बढ़ते हुए प्रजातान्त्रिक विचारों ने भी इस बात को आवश्यक बना दिया है कि हमारे देश के युवकों का दृष्टिकोण प्रगतिशील होना चाहिए जिससे कि उनका यह विश्वास हो जावे कि भिन्न-भिन्न देशों के लोगों को शान्ति एवं बन्धुत्व की भावनाओं के साथ रहना चाहिए। संसार के लोगों को ऐसी सम्पदायें निकालनी चाहिए जिससे कि विश्व और अधिक सम्पन्न एवं शान्तिमय बन सके। राष्ट्रों के आपसी मतभेदों को केवल बातचीत एवं समझौतों द्वारा ही मिटाना चाहिए। उनमें युद्ध का अवसर नहीं आने देना चाहिये। जब कभी तथा जहाँ कहीं भी युद्ध हुआ उसने समस्या का कोई उचित रूप से समाधान नहीं किया। उन्होंने समस्याओं को और अधिक बढ़ा दिया।

---

1 *Kenworthy Leonard S.*, Introducing Children to the World, p. 136.

2 "A war starts in Europe and three million die of famine in Bengal and millions more find themselves uprooted from their homes, cut of from their normal occupations and deprived of all that makes life pleasant, gracious and meaningful"—*Saiyiden K. G.*, Education for International Understanding, p. 22.

अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान की समस्या एक शैक्षिक आदर्श है जिसकी सम्पूर्ण देश में आवश्यकता है। आज शताब्दियों की दासता के बाद हमारा राष्ट्र एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उदय हुआ है। भारत शान्ति-पूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त में विश्वास रखता है। प० नेहरू के नेतृत्व में भारत अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल इसी सिद्धान्त के आधार पर कर रहा है। हम तब तक अन्तर्राष्ट्रीय रूप से न तो सोच सकते हैं और न कुछ कार्य कर ही सकते हैं जब तक कि हमें अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रशिक्षण न मिल जावे। इसके पाठ्यक्रम की निर्देशों की रचनात्मक पद्धतियाँ तथा विधियाँ एवं अन्य पाठ्यक्रम उद्योगितायें (Extra-curricular activities) आदि द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। लेकिन शिक्षा को सीमित अर्थों में नहीं होना चाहिये। "शिक्षा से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि स्कूल तथा कालिजों में क्या हो रहा है बल्कि हमारा अभिप्राय विस्तृत क्षेत्र से होता है जैसे रेडियो, प्रेस, भाषण, सिनेमा तथा अन्य धार्मिक संस्थायें अपने विचारों द्वारा लोगों में किस प्रकार की भावनायें उत्पन्न कर रही हैं।"[1]

शिक्षा : अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान का एक प्रभावशाली साधन

अब अनेक प्रश्न इस विषय पर उठाये जाते हैं कि शिक्षा के क्या सिद्धान्त होने चाहिये जिससे कि हमारे बालकों में अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास हो सके। हमारे विद्यालयों में पाठ्यक्रम क्या होना चाहिये, उसका क्षेत्र क्या होना चहिये तथा उसकी शिक्षण पद्धति क्या होनी चाहिये ? शिक्षक को इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये क्या कार्य करने चाहिये ? युवक तथा युवतियों में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने के लिये कैसी पाठय-पुस्तकें होनी चाहिये ? आगे हम पुस्तक में इन्हीं प्रश्नों के उत्तर देंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त

(1) शिक्षक को व्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को बढ़ाने के लिए सर्व प्रमुख सिद्धान्त यह होना चाहिए कि लड़कों को आलोचनात्मक एवं स्वतन्त्र विचार शक्ति प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रेरित किया जाय। विभिन्न प्रकार के कथनों की अच्छाई बुराई को तोलकर वे अपने युक्तिसंगत निर्णय बनावें। यह निर्णय ऐसा होना चाहिए, जो कि वस्तु-स्थिति के अनुकूल हो और जिस पर उसके वैयक्तिक रुचि का

---

1 By "Education we are not thinking merely of what goes on in our schools and colleges but of the wider network of formative influences, what affect the ideas, feelings and of opinions of the people—the trees, the platform, books, radio, theatre, cinema, religious services and all other means for the diffusion of ideas and appeal to emotions".—*Saiyiden K. G.* Education for International Understanding, p. 26.

प्रभाव न पड़े। यह प्रकृति बालकों को सत्य और वास्तविकता तक पहुँचने में सहायक होगी। इस सम्बन्ध में के० जी० सैयदन ने ठीक ही कहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि के लिये शिक्षा का अर्थ है कि लोगों को स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने की प्रशिक्षा दी जाय, जिससे वे सत्य के प्रति निष्ठा को जीवन की अन्य निष्ठाओं की अपेक्षा (चाहे वह देश के प्रति हो या जाति, राष्ट्र, समाज अथवा किसी अन्य के प्रति) अधिक महत्वपूर्ण समझने लगें।

(2) नवयुवको में संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना न भरी जाये, क्योंकि वह उन्हें अपने देश की त्रुटियों को विस्मरण करने किन्तु अन्य देशों की त्रुटियों को बढ़ा-चढ़ा कर देखने के लिए उकसाती है। किसी विशेष परिस्थिति के बारे में कोई दृष्टि-कोण अपनाने से पहले उन्हें उनके बारे में द्वेष और पक्षपात से रहित होकर सोच-विचार करना चाहिये। वे ऐसे कारणों को महत्व दें, जो उस परिस्थिति की तह में मौजूद हैं। उन्हें चाहिये कि विभिन्न युगों में रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों के साथ सहानुभूति रखते हुये उनके दृष्टिकोण से भी घटनाओं पर विचार करें। जो वे अपने देश के लिये उचित समझते हैं उन्हें दूसरों के लिये भी 'उचित' ठहराने की भूल नहीं करनी चाहिये। यही ऐसा गुण है जिसकी एक प्रगतिशील पीढ़ी को आवश्यकता है। उन्हें चाहिये कि सच्चाई और दृढ़ता के साथ करना सीखें।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास करने के लिये एक अन्य आवश्यक सिद्धान्त यह है कि नवयुवक न तो अपने को दूसरों की अपेक्षा 'बड़ा' अनुभव करें और न दूसरों से अपने को 'तुच्छ'। यदि वे दूसरों से अपने को 'बड़ा' अनुभव करने की भावना से पीड़ित हैं, तो यह भावना उन्हें हठी, अभिमानी और आत्म-सन्तोषी बना देगी। इस प्रकार उनका भावी विकास रुक जायगा। इसके विपरीत, यदि वे अपने को दूसरों से तुच्छ समझते हैं, तो उनमें निराशा और असफलता की भावना पैदा होगी। यह भावना भी उनके विकास में रोड़े अटकायेगी और अपने स्वयं की योग्यता पर से उनका विश्वास उठ जायेगा।

(4) यही नहीं हमें अपने विद्यालयों में बालकों को यह अनुभव कराना चाहिये कि विश्व में सब देश एक दूसरे पर निर्भर हैं। इसे ठोस उदाहरणों द्वारा समझाया जा सकता है, जैसे विश्व के देशों की यह पारस्परिक निर्भरता जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में (जैसे शिक्षा, वैज्ञानिक ज्ञान, टेक्नोलॉजिकल एवं वैज्ञानिक प्रगति, आर्थिक उन्नति एवं अध्यात्मिक एवं नैतिक लक्ष्यों की पूर्ति) उन्नति करने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। ये तथ्य उनके सामने सजीव एवं प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किये जाने चाहिये। उनको यह अनुभव होना चाहिये कि एकाकी रहकर वे पिछड़ जायेंगे।

(5) विभिन्न देशों के नवयुवकों को अपने व्यक्तित्वों का पूर्ण विकास करने के लिए अधिकतम अवसर मिलना चाहिये। जो बालक भय एवं तुच्छता की भावना से पीड़ित हैं अथवा जिनका विकास बाधित रहा है, वे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय हितों की सेवा नहीं कर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के लिये शिक्षा की समुचित

प्रणाली का अर्थ होगा कि विभिन्न देशों के नवयुवक मानवता में विश्वास पैदा करें। उन्हें पारस्परिक सहयोग से न कि गला-काट प्रतिद्वन्दिता से, रहने का ढंग सीखना चाहिये। उन्हें चाहिये कि वे अपनी विभिन्न समस्याओं का समाधान पारस्परिक विचार-विनिमय एवं सहायता द्वारा करें। हमारे बालकों को यह सिखाया जाना चाहिए और उन्हें ऐसा व्यक्तिगत अनुभव होना चाहिये कि दूसरे देशों में रहने वाले लोग हमारे भाई हैं और मानवता रूपी परिवार के ही सदस्य हैं। जातिगत द्वेषभाव, वर्ण-विचार, धर्म-भेद आदि के स्थान में एक ऐसी भावना उत्पन्न होनी चाहिये कि मानवता के कल्याण की वृद्धि के लिये सब लोग प्रयत्नशील बनें।

(6) यदि हम चाहते हैं कि विश्व के विभिन्न देशों में रहने वाले लोगों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को लाने में शिक्षा एक प्रभावयुक्त भूमिका अदा करे, तो हमें चाहिये कि हम नवयुवकों में उपयुक्त गुणों के बीज बोयें। विश्व के विभिन्न देशों में रहने वाले लोगों के लिये उन्हें मानसिक और मनोवैज्ञानिक सहानुभूति अनुभव करनी चाहिये। उन्हें अपना दृष्टिकोण पक्षपात रहित एवं व्यापक बनाना चाहिये। वे सहिष्णु बनें, स्वार्थी या व्यक्तिवादी नहीं। उन्हें 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त का लाभ समझना चाहिये। मानवता की आवश्यक एकता में उनका विश्वास होना चाहिये।

हमारे लड़कों एवं लड़कियों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को विकसित करने के उक्त सारे सिद्धान्त कल्पना मात्र ही रहेंगे यदि वे कार्यान्वित न किये गये। उन्हें कार्यान्वित करने के लिये ठोस उपाय करना आवश्यक है। वे तब ही अर्थपूर्ण बन सकते हैं जबकि 'कार्य-सिद्धान्त' बना लिया जाय, जो कि प्रयत्न करने एवं प्राप्त करने योग्य हो। न केवल हमारे नवयुवकों को ऐसे सिद्धान्तों की आवश्यकता एवं महत्व की सैद्धान्तिक रूप से जानकारी हो, अपितु इस दिशा में कुछ क्रियात्मक कार्य करने के लिये भी उन्हें विविध अवसर दिये जाने चाहिये। "स्कूल अपनी पाठ्यक्रम और गैर-पाठ्यक्रम क्रियाओं के माध्यम में सामाजिक, नैतिक एवं नीति युक्त प्रशिक्षण के उचित संचालन एवं अभिनवीकरण द्वारा यह उद्देश्य सिद्ध कर सकता है।"[1] अब हमें यह देखना चाहिये कि पाठ्यक्रम, शिक्षण पद्धतियाँ और अध्यापक की प्रभावपूर्ण भूमिका (Role) इस महान उद्देश्य की पूर्ति में किस प्रकार सहायक हो सकती है।

• पाठ्यक्रम एवं अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

'अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के लिये शिक्षा' का अर्थ है कि विद्यार्थियों को विश्व के विभिन्न देशों से सम्बन्धित सही प्रकार का ज्ञान प्रदान किया जाय। 'सही प्रकार के ज्ञान' से आशय है पाठ्य-पुस्तकों में जो तथ्य दिये जायें वे सत्य हों और सही

---

1 *Saiyiden, K. G.*, "Education for International Understanding," p. 33.

सन्दर्भ में दिये गये हों। अध्ययन की सामग्री में कोई बात शामिल नहीं करनी चाहिये, जो उन देशों के प्रति घृणा एवं उपहास की भावना पैदा करे। हमें राजनैतिक या आर्थिक रूप में उनकी दृष्टि से ही वस्तु स्थिति की आलोचना करनी चाहिये। महत्त्वपूर्ण तथ्यों को छोड़ कर या अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण लेकर तथ्यों का भ्रान्त वर्णन करके जातिगत द्वेषभाव या अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को बढ़ावा नहीं दिया जाना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि तथ्यों को दबा लिया जाय, लेकिन इसका यह अर्थ अवश्य है कि ऐसे तथ्यों को अनावश्यक और गजल रंग से न रंगा जाय और उन तथ्यो को सन्दर्भ (Content) से अलग करके या अपने नग्न रूप में प्रस्तुत नहीं करना चाहिये।

विभिन्न देशों का वर्णन करते समय उनके निवासियों के रहन-सहन के ढंग, रीति-रिवाज, उनके इतिहास एवं विश्व के इतिहास में उनकी सामान्य स्थिति के बारे में सही-सही प्रकाश डाला जाय। विभिन्न देशों में आजकल जो तनाव और असहयोग पाया जाता है उसका कारण मूलतः लोगों का एक दूसरे के देश के बारे में अनजान होना है। उचित सन्दर्भ सहित विश्व के विभिन्न देशवासियों का वर्णन करके ही हम अपने बालकों के मस्तिष्क को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के माध्यम द्वारा विश्व शान्ति की दिशा में मोड़ सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण उत्पन्न करने के लिए हमारे स्कूलों में जो पाठ्यक्रम अपनाया जाय वह ऐसा होना चाहिए जो कि बालकों को निम्न बातों में सहायता दे—

(1) पृथ्वी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए, जो कि मनुष्य एवं अन्य जीव-धारिओं का निवास स्थान है।

(2) विश्व के विभिन्न लोगों से परिचय कराने के लिए, जिनमें समानता और असमानता की अनेक बातें हैं।

(3) इस गृह पर जीवनयापन करने के अनेक ढंगों का ज्ञान प्राप्त करना और उनमें अन्तर के कारणों का पता लगाना।

(4) विश्व में आनन्द और सुन्दरता का ज्ञान प्राप्त करना।

(5) विश्व के विभिन्न लोगों की पारस्परिक निर्भरता के मूल कारणों का ज्ञान प्राप्त करना और यह मालूम करना कि और अधिक मधुर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए क्या किया जा सकता है।

(6) विश्व का विभिन्न राष्ट्रों और सभ्यताओं में जो विभाजन हुआ है और विभिन्न वर्गों के जो आदर्श हैं एवं इन विभिन्नताओं में जो समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं उनका ज्ञान प्राप्त करना, जिससे आने वाले वर्षों में विभिन्न लोगों में अधिक अच्छा सामंजस्य उपस्थित किया जा सके।

(7) विश्व में प्रचलित प्रमुख धर्मों, विश्वासों एवं आदर्शों का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने और अपने से भिन्न विचार वाले लोगों की भी प्रतिष्ठा करना सीखने के लिए।

(8) संघर्ष का स्थान सहकारिता को दिलाने के लिए मानवता ने जो लम्बे प्रयास किए हैं उनका ज्ञान प्रदान करना और एक अधिक सुखी विश्व का निर्णय करने के लिए इच्छा पैदा करना।[1]

प्राइमरी कक्षाओं में जबकि बालकों की समझने की शक्तियाँ सीमित होती हैं, अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता उन्हें समझाना सम्भव न होगा। इस अवस्था में तो यही काफी होगा कि शिक्षक अपने विद्यार्थियों में एक सुखद संतुलित चरित्र का विकास करे और अपने चारों ओर जो विश्व विस्तृत है उसके बारे में जानने का कौतूहल जगाए। जूनियर कक्षाओं में हम शिक्षा को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सम्बन्धित साधारण धारणाओं का ज्ञान प्रदान करने के लिए एक साधन के रूप में प्रयोग कर सकते हैं। लेकिन यह अधिक से अधिक ठोस और स्पष्ट शब्दों में किया जाना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपने बालकों को इस अवस्था में अपने निजी अनुभव से बाहर निकलने के लिए प्रोत्साहन दे और अन्य देशों के बालकों के बारे में उनकी मामूली बातों में रुचि लेने को प्रेरित करे। उदाहरण के लिए वह उन्हें बतलाये कि अन्य देशों के बालक कैसा भोजन करते हैं, कैसे कपड़े पहिनते हैं, कैसे घरों में रहते हैं, कैसे खेल, गाने और नाच करते हैं। उन्हें उन प्रसिद्ध वैज्ञानिकों, धर्म सुधारकों, अन्वेषकों और आविष्कर्ताओं की कहानियाँ पढ़ने के लिये कहे जिन्होंने कि मानवता की समृद्धि और उन्नति में योग दिया है। उच्च कक्षाओं में विद्यार्थियों की आलोचनात्मक शक्ति बढ़ जाती है और उनके समझने की शक्ति भी बहुत बढ़ जाती है। यह भी सम्भव है कि इस अवस्था के पश्चात् बहुत से विद्यार्थी वास्तविक जीवन में प्रवेश करने के लिए विद्याध्ययन छोड़ दें। अतः इस अवस्था पर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण उत्पन्न करने पर विशेष बल दिया जाना चाहिए।

पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित करना

हम अपने विद्यार्थियों को जो विषय सामग्री पढ़ाते हैं वह उद्देश्य प्राप्ति का एक साधन है, स्वयं 'साध्य' नहीं। हमारी शिक्षा केवल तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करना नहीं है। अन्य उद्देश्यों के अलावा इसका एक महत्वपूर्ण उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित करना होना चाहिए। स्कूल के पाठ्यक्रम में जो भी विषय रखे जाते हैं उनका एक महत्त्व होता है, जिसे हम राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास करना कह सकते हैं।

साहित्य—यदि उचित रूप से पढ़ाया जाय तो साहित्य बालकों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण उत्पन्न करने का एक प्रभावपूर्ण साधन हो सकता है। साहित्य में मानवता की भावना पर बल दिया जाता है, जो कि सम्पूर्ण विश्व में व्यापक है और जो

---

1 *Kenworthy, Leonard S.* "Introducing Children to the World", p. 10.

विभिन्न लोगों को एक सूत्र में बाँधे हुए हैं। साहित्य में उन बातों का वर्णन किया जाता है जो कि सर्व उपयोगी हैं एवं जो किसी एक देश की सीमा तक संकुचित नहीं हैं वरन् जो हर देश में मानी जाती हैं। वह पीढ़ियों का अनुभव संचित रखता है। वास्तविक साहित्य समाज के आधारभूत तत्वों पर प्रकाश डालता है। यह ज्ञान नव-युवकों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण उत्पन्न करने में बड़ा सहायक होता है।

कला भी साहित्य की भाँति है और सर्व उपयोगी बातों का ज्ञान प्रदान करती है। वह विश्व के विभिन्न देशों में रहने वाले विभिन्न लोगों की अच्छी और रचनात्मक भावनाओं को प्रगट करती है। सच तो यह है कि कला की भाषा राष्ट्रीय नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय है। दूरी और जातिगत विशेषताओं का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।[1]

आधुनिक भाषाओं का अध्ययन भी हमारे स्कूलों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित करने के महान उद्देश्य की पूर्ति में बहुत कुछ सहायता पहुँचा सकता है। "भाषाओं का जो सामाजिक उद्देश्य है और विश्व के लोगों के शान्ति पूर्ण मिलन में उनकी जो महान भूमिका है उस पर बल देने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् यह तो स्वयं स्पष्ट है। पाठ्यक्रम के अन्य विषयों की तुलना में भाषाओं की सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण उत्पन्न करना बहुत ही सरल है, क्योंकि भाषा वास्तव में उस जीवन की झलक है जो कि यह भाषा बोलने वाला बताता है और जिसकी सहायता से अन्य राष्ट्रों के लोग उस भाषा को बोलने वाले समाज की आत्मा को समझ सकते हैं।[2]

इतिहास—यह बिल्कुल ठीक ही कहा गया है कि इतिहास की शिक्षा का क्षेत्र संकीर्ण नहीं होना चाहिए अपितु वह विस्तृत होना चाहिए। यदि इतिहास की शिक्षा को स्थानीय, क्षेत्रीय, प्रान्तीय एवं राष्ट्रीय इतिहास के अध्ययन तक ही सीमित कर दिया जायगा तो इसका विद्यार्थियों के मस्तिष्कों पर बड़ा हानिप्रद और अस्वास्थ्य-जनक प्रभाव पड़ेगा। "मेरा देश सही हो चाहे गलत हो" (My country right or wrong) उनके लिए एक अन्धविश्वास का आदर्श बन जायगा। संकीर्ण मनोवृत्तियाँ, आवेशपूर्ण विचार एवं अविवेक पूर्ण राष्ट्रप्रेम इस आदर्श के कारण विकसित होने लगेंगे, जिससे विद्यार्थी निष्पक्ष निर्णय नहीं ले पायेंगे और न वे अपने ही देश की प्रतिष्ठा करना सीखेंगे, भले ही उसके काम गलत हों। वे अपने देश की महत्ता को आवश्यकता से अधिक आँकने लगेंगे अथवा अन्य देशों की सफलताओं को तुच्छ समझने लगेंगे। यदि इतिहास के पाठ्यक्रम और उसकी शिक्षा को प्रभावपूर्ण बनाना है,

---

1 "It can traverse distance and time and speak to a Conginial spirit across the oceans and continents as well as across the centuries."

2 *Strong, C. F.* "Teaching for International Teaching", p. 27.

इतना प्रभाव पूर्ण कि जो अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दे सके, तो यह आवश्यक है कि वह इतिहास की नवीन व्याख्या पर आधारित एक नई भावना का विकास करे। ऐसा होने से राष्ट्रप्रेम उचित सीमाओं के भीतर रहेगा और विद्यार्थियों का दृष्टिकोण सर्वलोक हितकारी बन सकेगा। वे यह अनुभव कर सकेंगे कि मानवता 'एक' है और अब हम विश्व में एकाकी नहीं रह सकते, क्योंकि ऐसा करना हानिप्रद होगा। के० जी० सैयदन ने अन्तर्राष्ट्रीयता एवं शान्ति के विकास में इतिहास का जो योग रहा है उसके बारे में बोलते हुये कहा है कि हमें अपने इतिहास-शिक्षण को एक उच्च एवं श्रेष्ठ उद्देश्य की पूर्ति में लगाना चाहिये—यह है लोगों के विचारों का पुनर्निर्माण करना। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये हमें इतिहास के शिक्षण में निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिये[1] :—

(1) दूसरे देशों का इतिहास पढ़ाते समय इतिहास के राजनैतिक एवं सामरिक पहलुओं पर अधिक बल नहीं देना चाहिये। अन्य तेशों का इतिहास पढ़ाते समय सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं पर अधिक ध्यान देना चाहिये।

(2) स्कूलों में इतिहास की शिक्षा देते समय टैक्नोलॉजिकल एवं वैज्ञानिक प्रगतियों का विश्व के विभिन्न देशों के जीवन पर जो प्रभाव पड़ता है उस पर भी जोर देना चाहिये, जिससे यह ज्ञान हो जाय कि विश्व ने नैतिक, सामाजिक औद्योगिक एवं आर्थिक एकता की ओर किस प्रकार निरन्तर प्रगति की है।

(3) इतिहास पढ़ाते समय विद्यार्थियों को सजीव शब्दों में उस पारस्परिक निर्भरता का ज्ञान करना चाहिये जो कि विश्व के विभिन्न देशों में आजकल पाई जाती है—जैसे, "उनका देश शेष विश्व के प्रति भौतिक समृद्धि, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रगति के लिये कितना ऋणी है, विभिन्न देशों ने ज्ञान, विचारों, वैज्ञानिक उन्नति के भण्डार में तथा साहित्य एवं कला के सामान्य विकास में किस सीमा तक योग दिया है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण एवं विश्व-बन्धुत्व की आवश्यकता पर बल देना कितना आवश्यक है यह बात उन्हें समझानी चाहिए।"

(4) प्रोफेसर फिशर ने अपनी पुस्तक 'Teaching of History' में यह बतलाया है कि, "यदि प्रत्येक बालक गुफा में रहने वाले मनुष्य से इतिहास प्रारम्भ करें और बेबीलोनिया, मिश्र, अरब, ग्रीस एवं रोम निवासियों के बारे में अपना प्रारम्भिक पाठ पढ़ें, तो मुझे बहुत प्रसन्नता होगी। इस अवस्था में, जबकि इतिहास वर्णनात्मक रूप में पढ़ाया जाता है, हमें चाहिए कि विश्व की महान् विभूतियों (जैसे महात्मा गांधी, ईसा मसीह, मुहम्मद, बुद्ध, अल्फ्रेड लिन्कन आदि) की कथाओं को पढ़ावें।

---

1 *Masani R. P.*—"Education for World Understanding"—p. 43.

(5) इस बात को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है कि इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों में उचित संशोधन कर दिये जाँय। इतिहास की पाठ्य-पुस्तकें अन्तर्राष्ट्रीय भावना को जगाने के लिए एक ठोस और रचनात्मक प्रयास करें। इतिहास के तथ्यों को निष्पक्ष बाह्य रूप से (Objectively) पढ़ाया जाय।

(6) समाचार पत्रों एवं इतिहास सम्बन्धी पत्रिकाओं का अध्ययन करने के लिए बालकों को प्रोत्साहन देना चाहिए, जिससे वे तत्कालीन घटनाओं को एवं उनके प्रभाव को समझ सकें।

(7) विद्यार्थियों को यू० एन० ओ० एवं यूनेस्को जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के बारे में, जिनका उद्देश्य विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना को बढ़ावा देना है, अधिक से अधिक बतलाया जाय। "इन संस्थाओं में भले ही कुछ कमियाँ हों, उन्हें मनुष्य जाति के उन प्रयासों की शृंखला का एक अंग समझना चाहिए, जोकि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास करने, युद्ध का भय मिटाने, मौलिक मानवीय अधिकारों की रक्षा करने, न्याय की स्थापना करने, सामाजिक प्रगति को बढ़ावा देने एवं सभी लोगों के लिए स्वतन्त्रता तथा जीवन के श्रेष्ठ स्तर उपलब्ध करने के लिए किए जाते रहे हैं।"[1]

भूगोल—भूगोल की शिक्षा भी लड़कों और लड़कियों में अन्तर्राष्ट्रीय विचार-धारायें उत्पन्न करने का एक प्रभाव पूर्ण साधन बनाई जा सकती है। भौगोलिक तथ्यों की शिक्षा देना ही अर्थ पूर्ण न हो सकेगा। भूगोल की शिक्षा के द्वारा हमें लोगों को बतलाना चाहिए कि विभिन्न देशों की स्थित क्या है और भौगोलिक दशाओं ने उनके वातावरण एवं इतिहास के क्रम को किस प्रकार प्रभावित किया है। उन्हें विभिन्न देशों के यातायात सम्बन्धी साधन, उनके आयात निर्यात, उनके प्राकृतिक एवं खनिज साधन आदि का ज्ञान कराना चाहिए। उन्हें इस बात को समझने के लिए प्रेरित करना चाहिए कि उनके प्राकृतिक साधनों का शोषण एवं उपयोग उनकी राष्ट्रीय समृद्धि में कैसे सहायक हुआ है। भूगोल की शिक्षा देने का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण यह है कि विद्यार्थियों को इस बात की जानकारी हो जाय कि विभिन्न देशों के लोग अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए एक दूसरे पर किस प्रकार निर्भर रहते हैं। उन्हें विश्व के विभिन्न देशों की पारस्परिक निर्भरता के कारणों का पता लगेगा, जो कि अधिक श्रेष्ठ जीवन बिताने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। विभिन्न देशों के लोगों के उद्योग धन्धे उनका रहन-सहन, उनके रीति रिवाज, उनके उद्योग एवं अन्य सूचनाओं का अध्ययन करने से विद्यार्थियों को इन देशों के लोगों से हार्दिक सहानुभूति अनुभव होगी और उनमें उनके प्रति बन्धुओं के भाव जाग्रत होंगे। यह बात कि विश्व के सभी लोगों को समान समस्याओं का सामना करना पड़ता है और

---

1 Quoted from *Strong, C. F.* "Teaching for International Understanding."

समान उपायों से ही उनका समाधान करते हैं बड़ी शिक्षाप्रद सिद्ध होगी। भूगोल के शिक्षण में, मानवीय भूगोल पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। इससे हमें यह समझने में सरलता होगी कि अन्य लोग जो कुछ भी वह इस समय हैं ऐसे क्यों हैं, उनकी क्या शक्तियाँ एवं सीमायें हैं। यदि सही प्रकार से भूगोल पढ़ाई जाय, तो उससे विद्यार्थियों में अन्य लोगों के प्रति सद्भावनायें जाग्रत होंगी। बालक ठीक-ठीक यह समझने लगेंगे कि वे अन्य लोगों पर अपनी समृद्धि एवं सुख के लिए किस प्रकार निर्भर होते हैं। हम सबको एक दूसरे की सहायता करते हुए मिलजुल कर रहना चाहिए। यह पाठ विभिन्न देशों के लोगों के लिए सद्भावना का विकास करने में बहुत सहायक होगा। सच ही कहा गया है कि "भूगोल एक विश्व विषय है और उचित रूप से पढ़ाये जाने पर आज के बालकों को कल की विश्व नागरिकता के लिए तैयार करने में सहायता देगा। भूगोल की यह नई धारणा है कि वह भौतिक वातावरण के प्रति मनुष्य के समायोजित (Adaptation) होने के प्रयास का एक अध्ययन है। आधुनिक भूगोल-शिक्षण के आधार वास्तव में विश्व से सम्बन्धित हैं।" जब कोई नागरिक पत्र पढ़ता है, वायरलैस सुनता है, फिल्म देखता है, किसी दुकान में प्रवेश करता है, यात्रा पर निकलता है, टेलीफोन का प्रयोग करता है, तार भेजता है या कोई पत्र लिखता है, तो उसका भूगोल के क्षेत्र में होकर गुजरना अनिवार्य है। यदि अध्ययन यह बतलाता है कि आधुनिक रहन-सहन की दिशाओं का टैक्नोलौजी की प्रगति के द्वारा, किस प्रकार निर्माण हुआ है, तो भूगोल भी व्यक्तियों एवं समुदायों के जीवन पर उनका प्रभाव दर्शाती है।"

नागरिकशास्त्र—जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, बालकों में विश्व-नागरिकता की भावना का विकास करना चाहिए। उन्हें अपने प्रति और अपने ही देश के लिए संकीर्ण बफादारी से ऊपर उठाना चाहिये। यदि उनके अपने हितों का व्यापक हितों के साथ संघर्ष पैदा हो, तो उन्हें त्याग देना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से नागरिकशास्त्र पढ़ाने में विद्यार्थीगण समायोजन का मूल्य समझने लगेंगे और मानव-सम्बन्धों की जटिल समस्याओं को अधिक वास्तविक रूप में और युक्तिसंगत ढंग से समझ सकेंगे। नागरिकशास्त्र के पढ़ाने का अभिप्राय उस कला या विज्ञान से है जो कि मनुष्य को यह सिखलाते हैं कि उसे अपने साथियों के साथ शांति एवं सुखपूर्वक विश्व में कैसे रहना चाहिए। लेकिन यह बातें सैद्धान्तिक रूप से नहीं बताई जानी चाहिए। बल्कि इनका अनुभव करने के लिए बालकों के समक्ष विविध क्रिया-त्मक अवसर स्कूल में प्रस्तुत करने चाहिए।

विज्ञान—हमारे स्कूलों में विज्ञान का शिक्षण भी लड़कों और लड़कियों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित करने में सहायता कर सकता है। "जब एक ओर विज्ञान आधुनिक युद्ध के विनाशकारी साधन प्रदान करता है, तो दूसरी ओर उसने हमें अनेक ऐसी भौतिक वस्तुयें प्रदान की हैं, जो कि हमारे जीवन को सुखमय बना रही हैं और सारे विश्व में लोगों के शान्तिपूर्ण मिलन में अत्यन्त उपयोगी सहायक

सिद्ध हुआ है।"[1] विज्ञान के अध्ययन से बालकों में यह समझ उत्पन्न होनी चाहिए कि विभिन्न वैज्ञानिक अनुसंधानों ने सभ्यता की प्रगति में कितना योग दिया है। विज्ञान उनको यह अनुभव करायेगा कि वैज्ञानिक आविष्कारों ने यातायात के साधनों को किस प्रकार इतना गतिशील बना दिया है कि उनसे मानव सभ्यता की प्रगति को बड़ा प्रोत्साहन मिला है। निसंदेह यह बड़े दुख की बात है कि अभी कुछ समय से वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रयोग मानवता के विनाश के लिये उपयोग किया गया है। लेकिन हमें अपने स्कूलों में विद्यार्थियों को इसके धनात्मक एवं रचनात्मक उपयोग पढ़ाना चाहिए, विशेषत: इस बात पर बल देना चाहिये कि उन्हें शान्तिमय उद्देश्यों के लिये कैसे उपयोग किया जा सकता है। गरीबी, बुरा स्वास्थ्य एवं कम और खराब भोजन की समस्यायें, सभी को इनकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर हल किया जा सकता है।

विज्ञान की शिक्षा में, हमें अपने विद्यार्थियों को यह अनुभव करने में सहायता करनी चाहिये कि मानव जीवन को सुखी बनाने में उसका क्या योग रहा है। इसके लिये हम महान वैज्ञानिकों की सफलताओं का (जैसे गैलिलियो, बेकन, डेसकेटीज न्यूटन, डाल्टन, डार्विन, पेस्टूर, लिस्टन, रमन, सर जगदीशचन्द्र बोस इत्यादि) का वर्णन करना चाहिये। जब भी सम्भव हो, विश्व नागरिकता की भावना भरने का प्रयास करना चाहिए। विज्ञान-तथ्य तब तक बालकों के लिए विशेष अर्थ पूर्ण न होंगे जब तक कि विद्यार्थियों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा न करें। विज्ञान का अध्ययन विद्यार्थियों में इस बात की रुचि एवं जिज्ञासा उत्पन्न करता है कि वे सत्य का पता लगाने के लिये अनुसन्धान करें। "इसके लिये, विज्ञान के शिक्षण में एक अनौपचारिक दृष्टिकोण (Informal approach) लेकर बढ़ना चाहिए। वह विद्यार्थियों की उस युग की जिसमें हम रह रहे हैं, एवं हमारे रहन-सहन के ढंग के राष्ट्रीय पहलुओं की भूमिका को समझने में सहायक होना चाहिए।"[2]

शिक्षा का भाग

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को बढ़ावा देने के लिये जो शिक्षा देना आवश्यक है वह आवश्यक रूप से शिक्षक के गुणों पर एवं उसकी कार्य प्रणाली पर निर्भर होगी। यदि स्वयं शिक्षक ही सामाजिक कुशलता से पूर्ण नहीं है या वह व्यापक दृष्टिकोण एवं विश्व बंधुत्व की भावना नहीं रखता अथवा यदि उसे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के विकास में शिक्षा के लाभों से पर्याप्त रूप से परिचित नहीं है, तो शिक्षार्थियों में ऐसा दृष्टिकोण विकसित करना उसके लिए असम्भव है। विद्यार्थियों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास करने के उद्देश्य की पूर्ति के लिये जो विभिन्न विषय पढ़ाये

---

1 *Strong, C. F.* "Teaching for International Understanding", p. 45.

2 *Ibid*, p. 48.

जाते हैं और जो विविध पाठ्यक्रमान्तर्गत एवं पाठ्यक्रम से बाहर क्रियायें संगठित की जाती हैं, उनकी सफलता तभी हो सकती है जबकि उसकी शिक्षण विधियों एवं मानसिक प्रवृत्तियों में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना निहित हो।[1] अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना विद्यार्थियों में उत्पन्न करने के लिये एक शिक्षक के जो कार्य हैं उनका संक्षिप्त रूप से नीचे वर्णन किया जाता है :—

(1) उसे अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना एवं सहयोग में विश्वास एवं रुचि होनी चाहिये। यही भावना अपने विद्यार्थियों में जगाने के लिये आवश्यक योग्यता भी उसमें होना आवश्यक है।

(2) उसे यह अनुभव करना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का उद्देश्य पूरा करने के लिए वह जो शिक्षण दे उसके प्रभावशील होने के लिए यह आवश्यक है कि वह (शिक्षण) केवल तथ्यात्मक या बौद्धिक न हो वरन् उसे अपनी विषय सामग्री कार्य रूप से (Functionally) समझानी चाहिए, जैसे कि विद्यार्थियों की मानवता की एकता एवं पारस्परिक निर्भरता को अनुभव करने के लिए प्रेरणा दे।

(3) उसे अपने बालकों में अन्य देशों एवं वहाँ के निवासियों को अधिक से अधिक जानने की जिज्ञासा एवं रुचि पैदा करनी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण की प्रवृत्ति ऐसी नहीं है, जिसे बरबस लादा जा सके या जिसे सहसा ही पैदा किया जा सके, वरन् इसके लिए तो शिक्षक को अपने विद्यार्थियों में सतत एवं दृढ़ प्रयासों द्वारा एक उपयुक्त भावनात्मक भूमिका उत्पन्न करनी पड़ेगी, जिसकी सहायता से ये विद्यार्थी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता, उपयुक्तता एवं अनिवार्यता को स्पष्ट रूप से अनुभव कर सकें। पढ़ाते समय शिक्षक को चाहिए कि बालकों की मनोवृत्तियों एवं व्यवहार करने के ढंगों को उचित मार्ग पर ढाले तथा उन पर यह प्रभाव डालने का यत्न करे कि जाति, रंग एवं दूरी की बाधायें आज विभिन्न देशों के निवासियों को वास्तव में अलग-अलग नहीं करतीं। अलगाव करने वाली बातें हैं—आजादी या गुलामी, न्याय अथवा अन्याय, सह अस्तित्व या शोषण आदि।

(4) शिक्षक को चाहिए कि यह ध्यान रखे कि विद्यार्थी जनतन्त्र या अन्तर्राष्ट्रीयता के बारे में न केवल पढ़ें वरन् उसका अपने जीवन में आचरण भी करें। विश्व के अन्य देशों के बालकों को अपना 'पत्र-मित्र' (Pen Friends) बनाने के लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहन देना चाहिए। इस स्वतन्त्र विचार विनिमय से उनमें अन्तर्राष्ट्रीयता की सच्ची भावना पैदा होगी। इसके लिए एक बुद्धिमान शिक्षक विभिन्न दैनिक क्रियाओं का उपयोग करेगा, जिनमें यू० एन० ओ० और उसकी विभिन्न शाखा समितियों का संचालन एवं संगठन शामिल होगा। शिक्षक को चाहिए

---

1 "He and the curriculum represent two vital formative factors for translation of the aims and ideals of education into practice."

कि स्कूल में विभिन्न सह-पाठ्यक्रम क्रियाओं (Co-curricular activities) का इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठन करे। अन्य बातों के अलावा ऐसी क्रियाओं में शान्ति के इन व्यक्तियों का स्कूलों में जन्म-दिवस मनाना, उनकी जीवन कक्षाओं एवं संस्कृति और शान्ति के प्रोत्साहन के लिए उन्होंने जो कार्य किये हैं उन्हें नाटक के रूप में खेलना, और सभी देशों और राष्ट्रों के महान स्त्री पुरुषों के जन्म दिवस मनाना तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय दिन जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ दिवस, बाल दिवस, इत्यादि मनाना शामिल हैं। श्री सैयदन ने ठीक ही इस सम्बन्ध में शिक्षक की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर बल दिया है। उसे चाहिए कि विद्यार्थियों को स्पष्टतः एवं सजीव रूप से यह समझावे कि एक शिक्षित एवं शान्ति पूर्ण जनतन्त्र के सफल रूप से कार्य करने की पहली शर्त यह है कि लोगों को अपने आप सोचने की शिक्षा दी जावे और उन्हें यह अनुभव कराया जाय कि सत्य का प्रेम जीवन की अन्य बातों से बढ़कर है, चाहे यह अन्य प्रेम अपने राष्ट्र के प्रति हो या जाति, देश, या समाज या किसी अन्य बात के प्रति।

(5) शिक्षक की एक प्रमुख स्थिति है और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास करने के लिए शैक्षिक अवसरों का उपयोग करने के लिए जो ठोस कदम उठाया जायगा उसका नेता है। इस हेतु शिक्षकों को व्यवस्थित रूप से प्रशिक्षित करना होगा और उनका मानसिक स्तर ऊँचा उठाना होगा। उनकी प्रशिक्षा का क्रम शिक्षा दर्शन से सम्बन्धित करना आवश्यक है। उसे चाहिए कि वह विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर सिद्धान्तों और मतों का बोझ न डाले। उसे प्रचार एवं पक्षपात नहीं करना चाहिए बल्कि निष्पक्ष रूप से तथ्यों की व्याख्या करनी चाहिए।

यूनेस्को और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण पैदा करने में उसका भाग

विश्व के राष्ट्रों में यह चेतना दिनोंदिन बढ़ती जा रही है कि युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव मानवीय सभ्यता और जीवन में जो भी अच्छी बात है उस सबके लिए विनाशकारी है। इसी चेतना के कारण यूनेस्को का संगठन हुआ है। यह महान संगठन विश्व के तीन दर्जन से अधिक देशों के वैज्ञानिकों, कलाकारों, विचारकों, शिक्षा-शास्त्रियों एवं संस्कृति के ज्ञाताओं के सम्मिलित प्रयासों एवं सूझबूझ का परिणाम था। इन महान व्यक्तियों ने इस महान सत्य का अनुभव किया कि, "शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना केवल राजनैतिक और आर्थिक संधियों और योजनाओं के आधार पर ही नहीं बनाई जा सकती। युद्ध की रोक-थाम और शान्ति की स्थापना जितनी एक राजनैतिक समस्या है उतनी ही एक मनोवैज्ञानिक समस्या भी और इसलिए यह आवश्यक है कि राजनैतिक एवं आर्थिक सुरक्षा के लिए जो राजनैतिक एवं आर्थिक संगठन बनाये जा रहे हैं उनके लिए एक शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक भूमिका तैयार की जाय।[1] इन व्यक्तियों का विश्वास था कि केवल संयुक्त मान-

---

1 *Saiyiden,* K. G. "Education for National Understanding," p. 124.

वीय प्रयास ही कला, साहित्य, विज्ञान और संस्कृति की प्रगति के लिए, जो कि सभी सभ्य राष्ट्रों की महान विरासतें हैं, उचित वातावरण पैदा कर सकता है।

यूनेस्को के उद्देश्य

संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन के प्रमुख उद्देश्य उसकी भूमिका में बतलाए गये हैं। इसमें कहा गया है कि "चूँकि लड़ाइयों का जन्म मनुष्यों के मस्तिष्कों में होता है, इसलिए मनुष्यों के मस्तिष्कों में ही शान्ति की दीवारें बनानी चाहिए ..... संस्कृति का व्यापक विस्तार एवं न्याय और शांति के लिए मानवता को शिक्षित करना मनुष्य की प्रतिष्ठा रखने के लिए अनिवार्य है और यह ऐसे पुनीत कर्तव्य हैं जिन्हें सभी राष्ट्रों को पारस्परिक सहायता की भावना रखते हुए पूर्ण करना चाहिए" केवल सरकारों की राजनैतिक एवं आर्थिक संधियों पर आधारित शान्ति वह शान्ति न होगी जो कि विश्व के लोगों का एकमत, स्थाई एवं वास्तविक समर्थन प्राप्त कर सके। अतः यह आवश्यक है कि सफल होने के लिए मानवता को बौद्धिक और नैतिक एकता की शान्ति का आधार बनाया जाय।

यूनेस्को विश्वास करती है कि अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और शान्ति का विचार अधर में ही नहीं लटका रह सकता वरन् इन गुणों को मनुष्यों के मस्तिष्कों में स्थापित करना चाहिए। विश्व के लोगों को एक ऐसा मनोवैज्ञानिक एवं मानसिक अनुशासन अपने में पैदा करना चाहिए कि वे लड़ाइयों से घृणा करने लगें और जीवन में अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना एवं सहयोग की आवश्यकता एवं महत्त्व को अनुभव करने लगें। जिन लोगों में गलत मत-मतान्तर भरे हुए हैं वे इस सिद्धान्त की उपयोगिता को नहीं समझ सकेंगे। यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ही, जैसे कि यू० एन० ओ० जो विश्व में शान्ति और एकता की स्थापना के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं वे भी असफल हो जायेंगे यदि लोगों ने इन गुणों में वास्तविक विश्वास न रखा। यूनेस्को यू० एन० ओ० की सफलता के लिए उचित वातावरण का निर्माण करेगी। डा० राधाकृष्णन ने सही बतलाया है कि "शिक्षा वास्तव में एक राष्ट्र की वस्तु नहीं है। विभिन्न देश एक सामान्य सांस्कृतिक गणराज्य के प्रान्त हैं.....नाजी रसायनशास्त्र, यहूदी भौतिक शास्त्र आदि जैसे कोई विषय नहीं होते। वास्तव में संस्कृति अन्तर्राष्ट्रीय होती है"। यह बहुत उत्साहवर्धक बात है कि यूनेस्को ने विश्व के विभिन्न लोगों पर अपना प्रभाव दिखाना प्रारम्भ कर दिया है। विश्व के लोग दृढ़ता के साथ इस विचार को अपनाते जा रहे हैं कि शिक्षा एवं संस्कृति अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना विकसित करने की बहुत उपयोगी एजेंसियाँ हो सकती हैं।

यूनेस्को का कार्यक्रम

(1) अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना विकसित करने के लिए स्कूलों को निम्न के द्वारा प्रोत्साहित किया जायगा :—शिक्षा जगत के नेताओं में अनुसंधान कर्त्ताओं एवं प्रशासकों के मध्य अधिकाधिक सम्पर्क, पाठ्यक्रम में सुधार, पाठ्य-पुस्तकों का संशोधन और शिक्षकों के ट्रेनिंग स्कूलों में प्रयोगात्मक क्रियाएँ।

(2) प्रकाशनों, रेडियो, फिल्मों एवं टैलीविजन-कार्यक्रमों द्वारा सामान्य जनता के लिए सूचना का अधिक व्यापक और उत्तम आदान-प्रदान किया जायेगा। साहित्यिक कृतिओं के अनुवाद किये जायेंगे, यात्रा-प्रदर्शिनियाँ, कला और संगीत के क्षेत्र में संगठित की जायेंगी, पुस्तकालयों एवं अजायबघरों का विस्तार किया जायगा तथा प्रौढ़ शिक्षा-संगठनों का समर्थन प्राप्त किया जायेगा।

(3) यूनेस्को राष्ट्रीय संगठनों की सहायता करेगी जिससे कि उनमें आवश्यक समन्वय और सहयोग प्राप्त किया जा सके।[1]

उक्त कार्यक्रम को सफल एवं प्रभावशील बनाने के लिए विश्व के विभिन्न राष्ट्रों का एच्छिक सहयोग अनिवार्य होगा और यह एच्छिक सहयोग स्वयं इस बात पर निर्भर होगा कि यूनेस्को विभिन्न राष्ट्रों के हितों का समान रूप से ध्यान रखती है या नहीं। विश्व के शैक्षिक और सांस्कृतिक पुनर्वास का तात्कालिक उद्देश्य एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना एवं सहयोग की भावना का विकास करने का अन्तिम उद्देश्य दोनों ही के असफल हो जाने की आशंका है यदि विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में इस स्फूर्ति का जन्म न हुआ कि उनमें से प्रत्येक को इस उद्देश्य की पूर्ति के सम्बन्ध में, जिस पर न केवल विश्व की प्रगति वरन् उसका अस्तित्व भी निर्भर है, बराबर-बराबर योग देना है। हम सभी को चाहिए कि इस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए दृढ़ता एवं ईमानदारी से प्रयत्न करें।

सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के लिए शिक्षा

शिक्षा का उद्देश्य केवल व्यक्तिवादी (Individualistic) नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सामाजिक दृष्टिकोण से कुशल बनाना है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि राष्ट्रीयता एवं देश-प्रेम बड़े अच्छे गुण हैं जिनका नवयुवकों में विकास करना चाहिए। लेकिन राष्ट्रीयता का यह विचार संकीर्ण एवं द्वेष पूर्ण नहीं होना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा

वैज्ञानिक आविष्कार एवं टेकनोलौजीकल ज्ञान की प्राप्ति ने विश्व को एक सूत्र में बाँध दिया है। शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य है विद्यार्थियों में अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना पैदा करना। शिक्षा का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह विद्यार्थियों में इस बात की चेतना उत्पन्न करे कि वे सब एक-विश्व (One World) के सदस्य हैं। हमारे विद्यार्थियों को यह बतलाये जाने की आवश्यकता है कि हम एकाकी नहीं रह सकते और यदि ऐसा किया तो व्यक्तिगत उन्नति को ही हानि पहुँचेगी।

---

1 U N E S C O. Proposed Programme and Budget for 1957-58, Document 9C/5 Corr, pp. 49-63 and UNESCO Chronicle Volume II Number II November 1956, pp. 330-331.

अन्तर्राष्ट्रीय तनाव

युद्ध एवं अन्तर्राष्ट्रीय तनाव राष्ट्रों की प्रगति में बड़े भीषण रोड़े हैं, विशेषतः आजकल जबकि विनाशकारी हथियारों का आविष्कार हो गया है। अब शान्ति एवं युद्ध एक एवं अपृथकनीय हो गए हैं। यदि इस नए अणु युग की चुनौती का सामना करना है तो यह आवश्यक है कि विभिन्न राष्ट्रों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना का विकास करने में शिक्षा अपनी उचित भूमिका अदा करे।

शिक्षा चुनौती को स्वीकार कर सकती है

हमारे स्कूलों के नवयुवकों और नवयुवतियों को अन्तर्राष्ट्रीय बंधुत्व एवं एकता के आदर्श के लिए शिक्षित किया जाय। इस सम्बन्ध में शिक्षा जो भूमिका अदा कर सकती है वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। वास्तव में, शिक्षा का कोई अर्थ नहीं रह जायगा यदि वह बदलते हुए विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार निरन्तर समायोजन करने में सहायक न हो। हमारे शिक्षण की यह बड़ी भारी कमी है कि हमने अब तक इस आवश्यकता की ओर एक वांछनीयता का समुचित ध्यान नहीं दिया है।

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अर्थ

(1) अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अभिप्राय यह है कि विश्व कभी एकाकी (Isolated) नहीं रहा। वर्तमान युग की सभ्यता अनेक राष्ट्रों के सहयोग का परिणाम है।

(2) वैज्ञानिक आविष्कारों एवं टैक्नोलौजीकल प्रकृति का अधिकतम लाभ उठाने के लिए विश्व के विभिन्न राज्यों को परस्पर सक्रिय रूप से सहयोग करना चाहिए। विश्व के विभिन्न देशों में इस हेतु जो उपलब्ध ज्ञान है उस सबको मानवता के सामूहिक कल्याण के लिए इकट्ठा कर लेना चाहिए।

(3) शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो इस बात का ज्ञान और अनुभव करावे कि बहुत से देश और बहुत सी संस्कृतियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक ने हमारे लिए कुछ न कुछ किया है।

(4) उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि छोटे देशों का भी उतना ही महत्व है जितना कि बड़े देशों का।

आधुनिक विश्व की मनोवैज्ञानिक एवं भौतिक आवश्यकताएँ

वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रभाव से लोगों के जीवन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया है। अब सारा विश्व बहुत संकुचित हो गया है और जो कोई बात किसी अन्य देश में होती है उससे हम अछूते नहीं रह सकते। विश्व की पारस्परिक निर्भरता ने आज एक मान्य वास्तविकता का रूप धारण कर लिया है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण या सद्भावना की समस्या विशेष कर भारत के लिए बड़ी महत्वपूर्ण बन गई है। जब तक विशेष रूप से प्रशिक्षण न मिले तब तक हम अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से न सोच

सकते हैं और न कोई कार्य ही कर सकते हैं। शिक्षा का यह कर्तव्य है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के लिए कार्य करे। शिक्षा के अन्तर्गत प्रेस, प्लेटफार्म, पुस्तकें, रेडियो, थ्येटर, सिनेमा, धार्मिक सेवाएँ इत्यादि शामिल हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की एक प्रभावशील एजेंसी के रूप में शिक्षा

(1) आलोचनात्मक एवं स्वतन्त्र सोच विचार को प्रोत्साहन देना, विवेकयुक्त एवं सही-सही विचार करने की शक्ति को बढ़ाना।

(2) विद्यार्थियों को निष्पक्ष रूप से काम करने योग्य बनाना, न तो वे अपनी शक्ति का अधिक अनुमान लगायें और न वे अपनी दुर्बलताओं को कम समझें।

(3) बड़प्पन अथवा तुच्छपन दोनों ही भावनाओं से उनको अलग रखना।

(4) विभिन्न देशों में बढ़ती हुई पारस्परिक निर्भरता का उन्हें ज्ञान कराना।

(5) उन्हें अपने व्यक्तित्व का पूर्ण सीमा तक विकास करने योग्य बनाना।

ये सब सिद्धान्त तभी प्रभाव पूर्ण बनाए जा सकते हैं जबकि स्कूलों की पाठ्यक्रम सम्बन्धी क्रियाओं में उनका आचरण कराया जाय। बालकों के लिए ऐसे अवसर जुटाए जायँ कि वे वास्तविक जीवन-परिस्थितियों में उनका महत्व अनुभव करें।

पाठ्यक्रम एवं अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को प्रोत्साहन देने के लिऐ यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को सही प्रकार की जानकारी दी जाय। जो तथ्य बताए जायँ वे सत्य होने चाहिए और उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए कि विभिन्न देशों के लोगों के प्रति उपेक्षा या घ्रणा की भावना पैदा न हो। अविश्वसनीय तथ्यों को शिक्षा देते समय प्रयोग नहीं करना चाहिए। विभिन्न देशों का चित्रण करते समय उन देशों में रहने वाले लोगों के रहन-सहन के ढंगों, रीतिरिवाजों और विशेष कर प्रवृत्तियों को पर्याप्त बल देना चाहिए।

प्राइमरी कक्षाओं के शिक्षक को चाहिए कि वह बालकों को दूसरे देशों के लोगों के बारे में जानने को प्रोत्साहित करे। जूनियर कक्षाओं में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के बारे में सामान्य धाराएँ विकसित की जा सकती हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिकों एवं धर्म सुधारकों की कथायें, जिन्होंने विश्व की उन्नति और समृद्धि में महान योग दिया है, बालकों को पढ़ाई जा सकती हैं। हायर सैकिन्डरी कक्षाओं में विश्व की घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करने को प्रमुख स्थान देना चाहिए।

पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास

साहित्य—साहित्य मानवीय भावना पर, जो कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति में ओतप्रोत है, बल देता है। सच्चा साहित्य एवं समाज की शिक्षा का दिग्दर्शन कराता है। कला विश्व के विभिन्न देशों के व्यक्तियों की रचनात्मक इच्छाओं को प्रकट करती है। विभिन्न आधुनिक भाषाओं की शिक्षा देने से विश्व के लोगों में शान्तिमय मिलन एवं विचार विनिमय को सहायता मिलेगी।

इतिहास—शिक्षण का क्षेत्र संकुचित नहीं होना चाहिए। 'मेरा देश चाहे सही या गलत' की प्रवृत्ति हानिप्रद प्रभाव उत्पन्न करती है। देश प्रेम को सीमित रखना चाहिए और ऐसा होना चाहिए जो कि विद्यार्थियों में सर्वहितकारी दृष्टिकोण उत्पन्न करे। इतिहास का शिक्षण ऐसा हो कि लोगों के विचारों एवं आवेशों को नया और लाभप्रद मोड़ मिले। इसके लिए—

(1) इतिहास के राजनैतिक एवं सामाजिक पहलुओं पर अत्यधिक बल नहीं देना चाहिए वरन् उसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहलू पर अधिक बल देना चाहिए।

(2) वह लोगों के जीवन पर टैकनोलौजिकल एवं वैज्ञानिक टैक्नीक का प्रभाव दरशावे।

(3) विभिन्न देशों की एक दूसरे पर निर्भरता का अनुभव करावे।

(4) उन्हें युगों से क्रमशः प्रगति करने वाली सभ्यता का हाल बतलावे।

(5) पाठ्य-पुस्तकों को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास करने के उद्देश्य से संशोधित किया जाय।

(6) समकालीन घटनाओं के अध्ययन को प्रोत्साहन देना चाहिए।

(7) विद्यार्थियों को विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के कार्यों का जो कि विभिन्न देशों में सद्भाव का विकास करने की चेष्टा कर रही हैं, ज्ञान कराना चाहिए।

भूगोल— भूगोल का शिक्षण अर्थपूर्ण होना चाहिये और उसमें यह दरशाया गया हो कि भौगोलिक दिशायें जीवन के अन्य क्षेत्रों को किस प्रकार प्रभावित करती हैं। विश्व के विभिन्न देशों में अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए पारस्परिक निर्भरता पाई जाती है। विश्व के सभी लोगों को लगभग समान समस्याएँ झेलनी पड़ रही हैं और वे लगभग समान रूप से उनका समाधान करने की चेष्टा करते हैं। भूगोल के शिक्षण में क्षेत्रीय भूगोल पढ़ाने में अधिक बल देना चाहिए। भूगोल की नई विचार धारा के अनुसार भूगोल मनुष्य द्वारा अपना भौगोलिक वातावरण से सामजस्य करने की चेष्टा का अध्ययन है।

नागरिक शास्त्र— विद्यार्थियों को क्रमशः विश्व नागरिकता का विचार-प्रदान करना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण उत्पन्न करने के उद्देश्य से नागरिक शास्त्र का शिक्षण विद्यार्थियों को समायोजन का महत्व सिखलायेगा और उन्हें मानवीय सम्बन्धों की जटिलता को उचित रूप से समझने की योग्यता प्रदान करेगा। नागरिक शास्त्र का अध्ययन प्रत्यक्ष एवं औपचारिक न होकर ठोस एवं अनौपचारिक होना चाहिए।

विज्ञान—विद्यार्थियों को यह अनुभव कराना चाहिए कि वैज्ञानिक अनुसंधानों ने सभ्यता की प्रगति में कितना योग दिया है। हमारे स्कूलों में हमें विद्यार्थियों को

लिए तथा जीवन को अधिक समृद्धशाली तथा पूर्ण बनाने के लिए जिसे विज्ञान तथा शिक्षा ने मनुष्यों की सुविधाजनक पहुँच तक ला दिया है, अधिक आवश्यक समझी गई है।

धर्म क्या है ?

धर्म को अपनी शिक्षा की योजना में शामिल करने से लाभ प्राप्त करना इस बात पर निर्भर होगा कि हम धर्म से क्या अर्थ समझते हैं और उससे हमें क्या महत्व-पूर्ण बातें प्राप्त होती हैं। अलग-अलग व्यक्तियों ने अलग-अलग तरीके से धर्म की व्याख्या की है। धर्म में यह प्रकृति है कि मनुष्यों को महान आत्मा (अर्थात् ईश्वर) की आस्था में विश्वास करना पड़ता है जो पूर्णतया सत्य तथा वास्तविक है, इसीलिए यह तथ्यपूर्ण है। साधारण मनुष्य उस महान आत्मा को अपने जीवन में नहीं मान सकता इसलिए उससे उस महान आत्मा के बारे में पूर्णतया विकास करने को कहा जाता है।[1] यह एक सैद्धान्तिक तरीका है जिसमें कुछ आवश्यक प्रतीक सम्बन्धी सिद्धान्त होते हैं। इस दृष्टि से धार्मिक व्यक्ति वह होता है जो पूर्ण विश्वास के साथ चाहे जैसे भी हो अपने जीवन की स्थितियों के अनुसार होता है और उनमें कुछ सुधार करना चाहता हो।[2] यह भी सम्भव है कि वह आदमी जिसको धार्मिक कहते हैं उसका व्यवहार विशेष हो चाहे वह सविधिक धर्म शिक्षा में कमजोर हो या धार्मिक शिक्षा के तथा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विरोधी भावनाएँ रखता हो।[3]

कुछ ऐसे भी मनुष्य हैं जो धर्म को अनन्त तथा अपार भावना से सम्बन्धित करते हैं। ऐसे आदमी ईश्वर को वैयक्तिक तथा सर्वत्र विद्यमान मानते हैं। वही सारे विश्व का सृजन करता है और मानव जीवन को बनाने तथा प्रभावित करने के सर्वथा समर्थ हैं, वे अपने विचारों के द्वारा उस ईश्वर के साथ सम्बन्ध बनाने का प्रयत्न करते हैं, विश्वास करते हैं कि धार्मिक विचारधाराएँ एवं अनुभव एक समान तथा आनन्दित करने वाली होती हैं। यह अनुभव नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य को योग्य तथा उन्नतिशील बनाते हैं। यह धर्म का आध्यात्मिक अर्थ है। यह स्पष्ट है कि धर्म का ऐसा अध्ययन न तो पाठ्यक्रम की दृष्टि से ही कम नहीं किया जा सकता और न इसे आध्यात्मिक पुस्तकों के द्वारा पढ़ाया ही जा सकता है। यह सही कहा गया है यदि किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाय तो यह

---

1 "To believe in the existence of absolute being in which all reality and hence of all truth is embodied. The ordinary man unable in his life to know absolute being is asked to accept beliefs about its nature." [*Maddan Ward* : Religious Values in Education, p. 3.]

2 Ibid. p. 9.

3 Ibid. p. 8.

उसी प्रकार प्रभावपूर्ण योजना के साथ पढ़ाना चाहिए जिस प्रकार कोई अन्य अध्यापित विषय पढ़ाया जाता है।[1]

दूसरा वर्ग उन मनुष्यों का है जो धर्म की सामाजिक व्याख्या देते हैं। वे यह कहते हैं कि धर्म मनुष्य के लिए सामाजिक संयोग तथा सांस्कृतिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है। "व्यक्ति का ईश्वर के प्रति सम्बन्ध उसके सामाजिक समूह के सम्बन्ध से व्यक्त होता है। सामाजिक बन्धन जो संसार के सभी व्यक्तियों को एक शृंखला में बाँधते हैं भिन्न-भिन्न मतों के संकुचित विचारों, आदर्श रीति-रिवाज तथा राष्ट्रीयता को ऊँचा करते हैं तथा बढ़ाते हैं। धर्म हमें यह सिखाता है कि सारे मानव समाज को भाई की तरह समझें। इससे धर्म की विश्व व्यापकता को विशेष प्रोत्साहन मिलता है जहाँ सभी धर्मों के तात्विक सिद्धान्त मानव समाज को सहयोग के साथ मिल कर रहने को प्रेरित करते हैं। उनमें जीवित रहो तथा जिन्दा रहने दो की भावना भर जाती है। वे कहते हैं कि सभी धर्मों के अन्दर पाये जाने वाले समान लक्षणों को बढ़ावा देना चाहिए और विश्वव्यापी धार्मिक विचारों को जो ईश्वर के प्रति निर्भरता को बल देते हैं अधिक जोर देकर बढ़ाना चाहिए।

सदाचार तथा धर्म

दूसरा वर्ग मनुष्यों का और है जो धर्म का वास्तविक तथा व्यावहारिक अर्थ लगाते हैं, जो न तो सैद्धान्तिक है और न कट्टरवादी ही है। वे धर्म की नैतिक व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार धर्म तथा सदाचार अभिन्न तथा एक हैं। सदाचार ही धर्म का वास्तविक तत्व है। धार्मिक विश्वास के द्वारा ही नैतिक महत्व बढ़ता है। यह विश्वास किया जाता है समाज में पाया जाने वाले सही तथा गलत, उचित तथा अनुचित के स्तर का साधन धर्म ही है जो उसी पर आधारित मानी हुई विचारधाराओं पर चलता है। दूसरे शब्दों में सदाचार धार्मिक तथा नैतिक विकास पक्की बुनियाद पर खड़ा है जो राष्ट्र के निवासियों के व्यक्तिगत धार्मिक रुखों पर निर्भर अर्थात मनुष्य तथा ईश्वर के नैतिक सम्बन्धी विचारों पर आधारित है।[2] प्रसिद्ध समाज

---

1 "If religious instructions of any kind is to have a place in curriculum it should be as well as taught and effectively planned as any other branch of study." Spens Report, p. 208 [England]

2 It is believed that the standards of right and wrong prevelent in any society have their ultimate source in religion and are merely approximations to those expounded and prescribed by it.....Morality in other words has its roots in religion and moral progress, depends on the religious attitude of the individual or nation, that is, on their conception of moral relation of God and man." [*Mohiyuddin, M. Sultan, Saiddalingaiya, M* : School Organization and Management, p. 135.

शास्त्री वेन्जोनिन किड ने कहा है कि धर्म नैतिकता, शक्ति तथा प्रभावोत्पादक गुण प्रदान करता है। वरटैन्ड रसल ने भी यह स्वीकार किया है कि धर्म सामाजिक कर्तव्य की भावना पैदा करने का साधन है।[1]

धर्म मनुष्यों में जीवन का उचित दृष्टिकोण बनाने में सहायक होता है जिसके द्वारा उनमें सदाचार के गुण आ जाते हैं। यह मनुष्य में मानवीय विचार तथा क्रियाओं को बढ़ावा देता है जिसके द्वारा वे जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। ईश्वर का भय मनुष्यों में बुरी प्रवृत्तियों से दूर रहने की आदत डालता है। यह मनुष्य में बुरे कामों के प्रति संघर्ष की भावना पैदा करता है। आत्मा का रुख बदल जाता है तथा मनुष्य की आत्मा ईश्वर के प्रत्यक्षीकरण तथा आनन्द की भावना से भर जाती है। शिक्षा शास्त्री ऐसा बताते हैं कि धार्मिक शिक्षण सदाचार की शिक्षा का आधार है। जब स्कूल के बालकों की संख्या विरुद्ध प्रकृति की होती है और उनके रचनात्मक गुणों में अन्तर होता है तब इस धार्मिक शिक्षण विधि के नये मार्ग से चरित्र पर परिवर्तन करने के लिए प्रभावित किया जा सकता है। यह धार्मिक शिक्षा इन समुदायों में एकता तथा पारस्परिक ग्रहण करने की भावना पैदा करती है, जिसे बालकों की नैतिक तथा मानसिक स्वास्थ्य का आधार माना जाता है।[2]

परन्तु इस विचार का दूसरे लोग विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि सदाचारी होने के लिए कट्टर धर्मावलम्बी होना आवश्यक नहीं है। विस्तृत अर्थ में धर्म का अर्थ उदार शिक्षा से है, जिससे मनुष्यों के दृष्टिकोण में वृहदता तथा विस्तृतता आ जाती है। धर्म तथा उसके क्षेत्र को अक्सर बड़ा संकीर्ण बना दिया जा सकता है परन्तु नैतिकता तथा सदाचार का क्षेत्र बड़ा विस्तृत हो सकता है जिसमें सामाजिक नागरिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का समावेश किया जाय तथा जो व्यक्तित्व के ऐसे लक्षणों को बढ़ावा दे सके जैसे आत्मसम्मान, सदाचार, ईमानदारी, आत्म-निर्भरता तथा सहयोग, जो बहुत सी धार्मिक शिक्षा के द्वारा प्राप्त न हो सकते हों। धर्म से संकुचित की गई सदाचार की शिक्षा एक वर्ग सम्बन्धी हो सकती है। लेकिन धर्म के विस्तृत अर्थ में वह सदाचार का पूरक ही है। सदाचार तथा धर्म के इस विस्तृत अर्थ में दोनों में स्पष्ट अन्तर प्रगट होता है। सदाचार पूर्णतया धार्मिक बन जाती है तथा धर्म मनुष्य के चाल-चलन के सिद्धान्तों को बताने वाला हो जाता है।[3] धर्म यह

---

1 *Bertrand Russel* : Education and Social Order, p. 101.

2 "The character transforming influence of this new approach is evident particularly where the school population is hetrogeneous and diverse in composition. It has injected into these communities a spirit of unity and mutual acceptance that is basis for the moral and mental health of the young." The *Ayer V. T.* : Religion in Public Education, p. 71.

3 *Mohiyuddin* and *Saiddaliugaiya* : School Organization and Management, pp. 137-138.

सिखाता है कि संसार में मनुष्य तथा ईश्वर के बारे में तत्व की सत्य बातें क्या हैं और यही बातें सदाचार में बतलाई जाती हैं।

विचारशील व्यक्तियों की बढ़ती हुई संख्या का आज यह विचार है कि यदि शिक्षा का उद्देश्य उच्च स्तर की सभ्यता बनाना तथा कायम रखना तथा बर्बरता से इस सभ्यता की बचाये रखना है तो वह धर्म पर आधारित होनी चाहिए।[1]

धर्म मनुष्यों के सामने उचित तथा वास्तविक चित्र प्रस्तुत करता है और वे इसके द्वारा अपना जीवन सुखमय तथा गौरव के साथ बिताना सीखते हैं। धर्म के बिना बर्बरता का नियम (Law of Jungle) समाज में कार्यान्वित होता है तथा विश्वास के स्थान पर जीवन के नियन्त्रण में शक्ति को अपनाया जाता है। हक्स ने कहा है कि धर्म और शिक्षा के अभाव में जीवन अल्प, जंगली तथा बर्बर हो जाता है। जब व्यवहार की स्थापना में नैतिकता के नियमों के बजाय केवल धर्म के आत्मसम्बन्धी महत्त्व का सहारा लिया जाता है तो संसार ऐसा बन जाता है जिसमें शक्ति ही उचित मानी जाती है।

इटली के शिक्षा शास्त्री तथा दार्शनिक ने ठीक ही कहा है कि राष्ट्रीय संस्कृतियों की ओर कभी भी उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना मानसिक आवश्यकताओं पर दिया गया है। ऐसी आवश्यकताएँ जो केवल सुन्दर तथा मानसिक ही नहीं बल्कि नैतिक तथा धार्मिक विषयक हैं। एक स्कूल का बिना नैतिक तथा धार्मिक विषयों के होना मूर्खता है।[2]

धर्म से हमें यह नहीं समझना चाहिये कि वह केवल एक सिद्धान्तों का समूह तथा धार्मिक विश्वासों का समूह है। यह तो एक ऐसा विश्वास है जो यह बताता है कि जीवन में भलाई, प्रेम, सुन्दरता तथा सत्य ही अधिक महत्वपूर्ण है। समाज के तथा व्यक्ति के जीवन में इन विश्वासों को जगाने तथा पैदा करने में हमें एक शक्ति मदद करती है; हमारा संरक्षण करती है; एक ऐसी शक्ति जिसके उद्देश्य को पूरा करने में हम मदद करते हैं क्योंकि हम अपनी शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों को भलाई, सुन्दरता और सत्य को अपने तथा दूसरों के जीवन में लाने के लिए प्रयोग करते हैं।

---

1 "To day it is the conviction of an increasing number of thoughtful people, that education, if it is to produce and maintain a high degree of civilization and to safeguard against political lapses into barbarism, it must be based on religion." [*Ross James* : Groundwork of Educational Theory, p. 240.]

2 Quoted by J. C. Kandel in Studies in Comparative Education, p. 459.

धर्म तथा शिक्षा

धर्म तथा शिक्षा एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। एक वास्तविक शिक्षा प्रणाली मनुष्यों में उन विशेषताओं को भरना चाहती है जिसे संसार के सभी धर्मों के दार्शनिक विचार तथा भावना चाहते हैं।

"धर्म तथा शिक्षा आपस में स्वाभाविक रूप से सम्बन्धित तथा एक हैं। दोनों मनुष्य का शारीरिक ध्यान साथ-साथ ही आध्यात्मिक तथा भौतिक ध्यान भी रखते हैं। दोनों ही मनुष्य को उसके वातावरण के सम्बन्ध से मुक्त न करके गुलामी से मुक्त करना चाहते हैं। दोनों ही उसकी उच्च लालसाओं को बढ़ाना चाहते हैं।"[1] शिक्षा का उद्देश्य उनके दृष्टिकोण में निष्पक्षता तथा स्वतन्त्रता प्रदान करना है। यह मनुष्यों में वास्तविक महत्व तथा विशेषता पैदा करके उनके व्यक्तिगत जीवन के ढंग तथा व्यवहार को प्रभावित करती है। अब ये विशेषताएँ धर्म के द्वारा भी प्रदान की जाती हैं। धर्म के द्वारा विशेषताओं के विकसित न कराने से मनुष्य का आचार व्यवहार नैतिक दृष्टि से दूषित तथा घातक हो जाता है। धर्म हमें सहनशीलता, समानता और मानवता सिखाता है। एक बुद्धिमान अध्यापक प्रजातन्त्रीय आदर्शों में धार्मिक प्रेम की भावना पैदा कर सकता है। वह मनुष्यों में योग्य के प्रति सम्मान, तथा मानव जाति की महानता, मनुष्य की शक्तियों में महान असाधारण विश्वास, दूसरों की सेवा करते समय मनुष्यों में दृढ़ विश्वास का प्रतिपादन कर सकता है। सच्चे धर्म की भावना का कार्य शिक्षा के दर्शन में वृद्धि करना है जिसे प्राप्त करने के लिए ही स्कूलों की स्थापना होती है। हमारे देश में धर्म निरपेक्ष प्रजातन्त्र का ख्याल, जो सबको समान अवसर प्रदान करता है, धार्मिक भावना पर ही आधारित है। हमारे शिक्षा केन्द्रों में बालकों में यह भावना व्यक्त की जानी चाहिए कि स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्रवाद, उस हद तक कि जिसमें हम अपने कार्यों को समाज की सामान्य भलाई के लिए रोकें तथा अपने कर्त्तव्यों का पालन करें जिससे कि हम अपने अधिकारों की माँग कर सकें; किस प्रकार हम पर आधारित रह सकता है। आजादी का ध्येय अपने नागरिकों में व्यवहारिक निर्णय की कुशलता तथा आदत डालना है, जिससे वे सब योग्य बन सकें कि वे अपना निर्णय दे सकें कि व्यक्तिगत विकास के लिए तथा सामाजिक विकास के लिए उन्हें क्या-क्या करना चाहिए। समानता का ध्येय यह है कि व्यक्तिगत असमानताओं के प्रति उसके मन में सम्मान की भावना पैदा हो तथा

---

1 "Religion and Education are natural allies. Both recognise and have to do with spiritual as over against an inclusive attention to the physical and material. Both seek to imancipate man not from contact with his environment but from slavery to it, to enlarge his horizon and quicken his aspirations."

[*Burton E. D.* : Education in Democratic World, p. 195.]

समाज के कार्यों तथा विचारों के बनाने तथा प्रोत्साहन में उनको क्या महत्त्व देना चाहिए।

दूसरी शृंखला धर्म और शिक्षा में मनुष्य की संस्कृति के द्वारा जोड़ी जाती है जो धर्म के आन्तरिक लक्ष्य को निर्धारित करती है और उसका प्रभाव मनुष्यों के जीवन पर पड़ता है। संस्कृति का भी हमारे अध्ययन की पाठ्य-सामग्री में स्थान होना चाहिए।

बिना नैतिक तथा धार्मिक पाठ्य-सामग्री के स्कूल व्यर्थ समझा जाता है। इसलिए धर्म का पाठ्यक्रम में विशेष तथा मुख्य स्थान होना चाहिए। आज के जटिल संसार में प्रकृतिवाद तथा प्रयोगवाद जीवन के सदाचार सम्बन्धी महत्व स्थापित नहीं कर सकते। वे बालकों में जीवन के वास्तविक लक्षणों के प्रति स्थिर रहने की भावना उत्पन्न नहीं करते। केवल शिक्षा के लिए मानवीय प्रसार असम्भव है। मानववाद ऐसी चीजों पर आधारित होना चाहिए जो उसे सहायता दे तथा सहन कर सके। यदि यह चट्टान पर नहीं बनाया गया है तो स्थिति तथा संतोषजनक परिणाम देने में असमर्थ होगा और इसलिए यह अस्वीकार की जायगी।[1] यह स्पष्ट है कि शिक्षा के महत्वपूर्ण उद्देश्य तथा कार्य वे हैं जो प्रकृतिवाद से प्राप्त नहीं होते; बल्कि उपयोगिता के आदर्श दर्शन शास्त्र से प्राप्त होते हैं। सत्यम् शिवम् तथा सुन्दरम् ये तीन लक्षण ही इस विश्व की आध्यात्मिक रचना के आधार हैं और मनुष्य इन्हीं तीनों को प्राप्त करके पूर्ण बन सकता है। इसलिए शिक्षा बालक के कदमों को उस सड़क पर रखना सिखाती है जो सत्य, ईमानदार, न्याय-प्रिय तथा भलाई से सम्बन्धित है। अतः यह स्पष्ट है कि केवल धर्म ही हमारे लक्ष्य का स्पष्ट दर्शन करा सकता है, इसलिए हमारी शिक्षा की विषय सामग्री तथा प्रणाली इसे पाने के लिए उपयुक्त होनी चाहिए। स्कूल का यह वृहत कार्य दोहरा है; एक तो सामाजिक कार्यों को विकसित करना तथा दूसरा बालकों में जीवित रहने के लिए अच्छे-अच्छे आदर्शों का विकास करना है।[2]

---

1 "Humanism must be securely founded on something which supports and sustains it; it cannot of itself endure. If it is not built on a rock, it is powerless to produce permanently satisfactory results aad therefore on pragmatic grounds it stands condemned."

[*Ross James S.*: Groundwork of Educational Philosophy, p. 238.]

2 The task of school then, is the double one, of the promoting the creative social act and of helping the child develop a growing sets of ideals by which to live.

[*Maddan Ward*: Religious Values in Education, p. 52.]

धार्मिक शिक्षा का उद्देश्य

(1) शैक्षिक पद्धति नैतिक रूप से तभी प्रभाव पूर्ण हो सकती है और वह विद्यार्थियों के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए तभी प्रोत्साहन दे सकती है जब कि उसकी बुनियाद एक ठोस धार्मिक आधार पर खड़ी की जाय। अधिकांश लोगों का विश्वास है कि कोई भी समाज नैतिक आधार के बिना जीवित नहीं रह सकता। हमारी शिक्षण संस्थाओं का वास्तविक कार्य विद्यार्थियों को केवल कुछ सैद्धान्तिक ज्ञान एवं सूचना ही प्रदान करना नहीं है, वरन् इसके विपरीत शिक्षा का सतत् उद्देश्य है विद्यार्थियों में, जबकि वे अपने जीवन के निर्माण काल से गुजर रहे हों, नैतिक और आध्यात्मिक गुणों का विकास करना। उचित और अनुचित के आदर्शों का (standards), जो कि एक संतुलित और सुखी जीवन व्यतीत करने में सहायक होते हैं, स्रोत अन्तिमतः धर्म में ही निहित है। यह आदर्श विद्यार्थियों में निरन्तर कर्म करने की भावना पैदा करते हैं। धर्म "स्वर्ग मिलेगा", "नर्क भोगना होगा" इत्यादि का भय, लोभ दिखाकर नैतिकता को कायम रखता है। इसके बिना नैतिकता निरुद्देश्य बन जाती है और लोग नैतिकता के आदर्शों का उलंघन करने के बहाने ढूँढ़ने लगते हैं। सच ही कहा गया है कि "धर्म के बिना नैतिकता का कोई मूल्य नहीं है।"[1]

(2) आजकल शिक्षा का व्यापक अर्थ लिया जाता है। वह लोगों को ज्ञानवान और प्रगतिशील, सज्जन एवं भला मनुष्य बनाने का एक साधन है। वह उनको जीवन के बारे में एक व्यापक दृष्टिकोण रखने के लिए प्रेरित करती है, जिससे सब लोग अपने निजी स्वार्थों को गौण मनाते हुए सामूहिक हित के लिए त्याग कर सकें। धर्म और इसकी शिक्षा से भी ऐसा ही दृष्टिकोण उदय होता है।

(3) "धार्मिक शिक्षा का उद्देश्य बालकों में एक ऐसी भावना भरना है, जिससे वे अपने जीवन की शक्तियों को नैतिक आदर्शों की पूर्ति के लिए प्रयोग करने को कटिबद्ध हो जायें। माने गये आदर्शों को साहसपूर्वक निवाहने में ही धर्म प्रेम की कसौटी निहित है।.....चरित्र के धार्मिक बल में नम्रता और सहिष्णुता के गुण शामिल हैं, जो मनुष्य को अपनी त्रुटियों का ज्ञान कराते रहते हैं और इनके सुधार के लिए सामूहिक विचार और सहकारी कार्य की भावना उत्पन्न करते हैं"।[2]

---

1 "It has become abundantly evident that the neglect of moral considerations and the following of an easy going, short-term expediency bring disaster in their train to nations, whatever may be the case with individuals. The only philosophy that can be expedient in the long run must accord with the natural laws of the spiritual world." [*Ross, James S* : Groundwork of Educational Theory, p. 238.]

2 *Maddan Ward* : Religious Values in Education, p. 139.

(4) भारत में जनतन्त्रीय शिक्षा की विषय सामग्री का विवेचन करते हुए रायवर्न (Ryburn) ने ठीक ही कहा है कि धर्म लोगों के दैनिक जीवन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है और जनतन्त्र के लिए कार्य करने वाले स्कूल को इससे बड़ी सहायता मिल सकती है। राँस ने भी युवकों को जीवन के उच्चतर गुणों को (जैसे, सत्यम् शिवम् सुन्दरम्) प्राप्त करने के लिए धार्मिक शिक्षा देने का समर्थन किया है। "आधुनिक वर्षों में जनतन्त्र को नैतिक एवं राजनैतिक दोनों ही दृष्टियों से देखने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इससे भी बहुत से लोग यह तर्क कर सकते हैं कि जनतन्त्र और नैतिकता दोनों को ही धार्मिक आधार प्रदान करना चाहिए।"[1] देश के नौजवानों को चरित्र का विकास करने और जनतन्त्र के नैतिक सिद्धान्तों के पालन करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। "मौलिक रूप से धर्म का दो मुख्य विचारों या अनुभवों से सम्बन्ध है—प्रथम ईश्वर से मनुष्य का नाता और दूसरे मनुष्य का अपने निवास स्थान (अर्थात् विश्व) से सम्बन्ध। हम राष्ट्र के प्रत्येक नवयुवक को यह अनुभव करने में सहायता कर सकते हैं कि उससे परे भी कोई चीज है।.....जब स्कूल में उसे ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान करा दिया जाय (ऐसा ईश्वर जो सर्व साधारण की परिभाषा के अनुसार सर्वव्यापी, मंगलमय, न्यायी और सर्व-शक्तिमान है तथा मनुष्य को सफलता और असफलता देता रहता है) तो नवयुवक को एक दृढ़ आधार प्राप्त हो जाता है।"[2]

(5) राधाकृष्णन् ने अपनी एक पुस्तक 'Philosophy of True Education' में लिखा है कि शिक्षा का एक कर्त्तव्य हमारी संस्कृति को अमर बनाना, आधुनिक आवश्यकताओं के प्रकाश में उसमें संशोधन करना, उच्चकोटि की सभ्यता का विकास करना और उसे सामयिक पतनों से बचाना है। उनका मत है कि शिक्षा अपने इस कर्त्तव्य को तभी पूरा कर सकती है जबकि वह धर्म पर आधारित हो।

---

1 *Thayer V. T.* : Religion in Public Education, p. 76.

2 "Basically, religion is concerned with two fundamental ideas or experiences—first, man's relationship to God, and second, his relationship to the universe about him, including his fellow-men.....We can help each youth of the nation to become aware that there is something than himself.....When the schools have taught this fundamental idea of the existence of God, of a Supreme Being, who in the definition of multitudes, is Omnipotent, omniscient, all merciful, all loving and just, who presides over the destinies of man, they have given a firm anchorage to youth." [Superintendent of schools of Atlanta—(*George U. S. A.*)—quoted by *J. Poul Williams*, op. cit., p. 143.]

(6) डाक्टर अर्नेस्ट जे चाव (Ernest J. Chave) कहते हैं कि हमारे स्कूलों में धार्मिक शिक्षा विद्यार्थियों में अनेक गुण विकसित करती है, जैसे वह उन्हें मनुष्यता का सम्मान करना सिखलाती है, सामाजिक हित के लिए त्याग करने का पाठ पढ़ाती है, कर्त्तव्य पालन करने की भावना भरती है, उन्हें बतलाती है कि सत्य की खोज और आदर्शों की प्राप्ति का मार्ग बड़ा धीमा और न समाप्त होने वाला है, जीवन के लिए कामचलाऊ दर्शन का विकास करती है, इत्यादि।[1] स्कूल यह पता लगा सकते हैं कि शिक्षा के और संस्कृति के समन्वय में धर्म का क्या भाग हो सकता है। बोवर (Bower) के अनुसार शिक्षा का एक कर्त्तव्य स्वार्थों और कार्यों का पुनर्मूल्यांकन करना है ताकि उन्हें ईश्वर के प्रति उत्तरदायित्वपूर्ण बनाया जा सके।[2]

(7) धर्म हमारे बच्चों में वस्तुओं को उचित रूप में समझने की शक्ति प्रदान करता है। वह बच्चे के व्यक्तित्व का सर्वांगीय विकास करने में सहायता करती है। "जिस शिक्षा से चरित्र पर प्रभाव डालने की आशा रखी जाती है उसे पुस्तकीय ज्ञान अथवा कक्षा-कक्ष वार्तालाप तक सीमित नहीं रहने देना चाहिए। किसी व्यक्ति के जीवन की निर्देशनात्मक शक्ति बन सकें, के लिए यह आवश्यक है कि आदर्शों और विचारों को कार्य रूप में परिणित करने का अवसर मिले। अत: स्कूल को "सम्पूर्ण" बालक से सम्बन्ध रखना चाहिए और कोई बालक धार्मिक शिक्षा के बिना "सम्पूर्ण" नहीं बन सकता।[3]

अब सभी देशों में यह अधिकाधिक अनुभव किया जाने लगा है कि धार्मिक शिक्षा को पाठ्यक्रम और अध्यापन विधियों का एक अनिवार्य और अपृथकनीय अंग

---

1 Religious instruction in our schools will infuse among pupils, "A sense of the worth of persons, developing social sensitivity, growth in appreciation of the universe, growth of the sense of responsibility and accountability, recognition that the quest of truth and the realization of ideals is a slow and endless pursuit, development of a working philosophy of life, observance of special times and ceremonies and development of adequate means of expression of spiritual values and ideals."

2 *Thayer, V. T.* : Religion in Public Education, p. 98.

3 An education designed to influence character must go deeper that is permitted by experiences confined to the printed page or to mere talk in the classroom. In order to become directive forces in an individual's life, ideas and ideals require both outlets for action and opportunities to control action. The school therefore must concern itself with the whole child and no child can become whole with out instruction in religion."

[Ibid, p. 99]

माना जाना चाहिए। हाँ लोगों की रायें धार्मिक शिक्षा के रूप के बारे में अलग-अलग हैं। रूस को छोड़कर, जहाँ धार्मिक शिक्षा को पसन्द नहीं किया जाता, सभी देशों में, यहाँ तक कि पच्छिम के भौतिकवादी देशों में भी आधुनिक प्रवृत्ति धर्म को स्कूलों के पाठ्यक्रम में शामिल करने की ओर है।

संकीर्ण धार्मिक शिक्षा से हानि की सम्भावना

(1) धार्मिक शिक्षा की विषय सामग्री और उसका रूप व्यापक दृष्टिकोण लिए हुए हो। न तो वह औपचारिक होनी चाहिए और न वह संस्थागत स्वभाव की। उसका प्रयत्न विद्यार्थियों में सब धर्मों की एकता की भावना जगाना और मानवता के कल्याण की भावना को विकसित करने का होना चाहिए। वह विभिन्न सम्प्रदायों के मतभेदों का विवेचन न करे। धार्मिक शिक्षा देने में विशेष सम्प्रदायों के दृष्टिकोण से विवेचन करने का लाभ की अपेक्षा नुकसान अधिक हो सकता है। व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण उत्पन्न करने के स्थान में वह संकीर्ण मनोवृत्ति और वर्गीय हितों की वृद्धि करेगी जिससे हमारी राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ जायगी।

(2) "विशिष्ट सिद्धान्तों की संरचना के रूप में धर्म ने जीवन में धार्मिक गुणों के विकास में प्रायः बाधा पहुँचाई है। एक जाने न जा सकने वाले अद्भुत विश्व के सम्बन्ध में मनुष्य के ध्यान को घसीटने की प्रवृत्ति में मनुष्य की शक्तियों को वास्तविक जीवन की स्थितियों को सुधारने के कार्य से अलग हटा दिया है। उसने मनुष्य को सहिष्णु बनाने के बजाय असहिष्णु बना दिया है।"[1]

(3) रूढ़िवादी धार्मिक शिक्षण बालकों के अस्वास्थ्यजनक दृष्टिकोण एवं प्रवृत्तियाँ विकसित कर सकता है। ब्रिजलता ने ठीक ही कहा है कि "संकीर्ण भाव वाला धार्मिक शिक्षण समस्त अच्छी शिक्षा के आदर्शों के विपरीत होगा। नागरिकता 'एकता' सहनशील दृष्टिकोण इत्यादि महान गुण सदैव के लिए संकीर्ण विचार-धाराओं द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं और बाद में उनके उत्थान की कोई आशा नहीं

---

1 "Religion as a structure of special doctrine has often inhibited the development of religious quality in life and experience. Its tendency to focus man's attention upon an unknownable super-natural world, has diverted his energies from the task of improving the quality of actual life and existence. The rigidity of its structures has stifled rather than released his creativity. It has placed cloims upon him, which far from enlarging his sense of community and helping him, approach the world with a generous attitude, have often made him a tower of arrogance, intolerant of his fellow-man."

[*Madden Ward*, : Religious Values in Education]

रहती।" ऐसा शिक्षण बालक के भावनात्मक जीवन में संघर्ष पैदा कर देता है जिन्हें वह अकेला कभी भी नहीं सुलझा सकता बल्कि उनमें फँसता ही जायगा। उसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि उसका व्यक्तित्व दोहरा हो जायगा—असम्प्रदायवादी मामलों में व्यापक, उदार और सहिष्णु तथा धार्मिक मामलों में संकीर्ण अनुदार और असहिष्णु।"[1]

(4) धार्मिक शिक्षण के सम्बन्ध में बड़ी समस्याओं का सामना करना होगा जैसे धन की समस्या और सुयोग्य अध्यापकों की समस्या। वर्तमान युग तनावों एवं संघर्षों का युग है और बुद्धिमता का यह तकाजा है कि धर्म के मामलों में स्कूल विचार विनिमय और पारस्परिक सम्मान उत्पन्न करने के प्रयत्न से अधिक आगे न जायँ। वह शिक्षण जो किसी एक धर्म के प्रति आदर या प्रेम उत्पन्न करता हो, स्कूल के बाहर का विषय है।

(5) "अपने समय की हानियों और असुविधाओं को ध्यान में रखते हुए मनुष्य मात्र का यह कर्त्तव्य है कि वह लगातार और धैर्यपूर्वक जनतन्त्रीय भावनाओं के विकास एवं स्पष्टीकरण के लिए तथा शिक्षा की समस्त व्यवहारिक प्रवृत्तियों के सुधार के लिए तब तक प्रयत्न करता रहे जब तक कि वे आदर्श स्थिति तक न पहुँच जायँ। स्कूलों को चाहिए कि वे इस दिशा में ही पहले प्रयत्न करें और धार्मिक दृष्टिकोण को लेकर अनुचित प्रवृत्तियों का विकास न होने दें।"[2]

---

1 *Mohiyuddin, M. Sultan* : School Organization and Management, p. 148.

2 Bearing in mind the losses and inconveniences of our time as best we may, it is the part of men to labour persistantly and patiently for the clarification and development of the positive creed of life implicit in democracy and in science and to work for the transformation of all practical instrumentalities of education till they are in harmony with these ideals. Till these ends are further along than we can honestly claim them to be present, it is better that our schools should do nothing than that they should do wrong things. It is better for them to confine themselves to their obvious urgent tasks than that they should, under the name of spiritual culture, form habits of mind which are at war with the habits of mind congrous-with democracy and with science. It is not laziness nor cynicism which calls for this policy, it is honesty, courage, sobriety and faith."
[*Josheph Ratner* : Thet Schools and Religion in John Dewey's Philosophy, p. 766.]

ऐतिहासिक निरीक्षण

यदि हम इतिहास का अध्ययन करें तो हमें पता लगेगा कि धार्मिक तथा नैतिक सिद्धान्तों ने हमेशा शैक्षिक उद्देश्यों, पाठ्य-सामग्री तथा अध्ययन के नियमों पर अपना प्रभाव डाला है और कभी-कभी तो उन्होंने उनको निर्देशन भी दिया है। मनुष्यों के नैतिक तथा शैक्षिक ज्ञान के लिए पश्चिमी देशों में चर्च ही मुख्य कार्य करने वाले रहे हैं। चर्च के द्वारा उन्हें कारण तथा ज्ञान का मार्ग मिला, जिसके द्वारा मनुष्य शान्तिपूर्वक तथा सहयोग के साथ जिन्दा रहने की कला सीख सके। इसके द्वारा उनमें एकता की भावना पैदा हुई। वहाँ के ऋषि मुनि निस्वार्थ भाव से अध्यापन कार्य करते थे। इंगलैण्ड में सुधार के कारण चर्चों को यह जिम्मेदारी मिल गई कि वे व्यक्तियों को शिक्षा प्रदान करें। इस कार्य को उन्होंने वर्षों तक बड़ी लगन तथा रुचि से किया। उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा के क्षेत्र में मानसिक विकास पर अधिक जोर देने के कारण बजाय बालकों की भावना तथा इच्छा पर जोर देने के, धार्मिक शिक्षा के प्रचार में थोड़ी सी रुकावट पैदा हुई जिसके कारण पाखण्ड तथा प्रपंच की ऐसी लहर पैदा हुई कि शिक्षा में पहली दस वर्षों में काफी प्रभाव पड़ा। इस शिक्षा सम्बन्धी मतभेद को दूर करने के लिए तथा धार्मिक शिक्षा को राज्य के पाठ्यक्रम में स्थापित करने के लिए 1870 के एक्ट में एक कापर-टैम्पल क्लौज पास किया गया जिसमें यह कहा गया कि स्कूलों में ऐसी धार्मिक शिक्षा अवांछनीय है जो उनके लिए उपयुक्त न हो।[1]

पिछले कुछ वर्षों में भिन्न-भिन्न उपाधि प्राप्त तथा स्थानीय अधिकारियों ने मिलकर धार्मिक शिक्षा के निर्धारण का साहस किया। 1939 में माध्यमिक शिक्षा की सलाहकार कमेटी ने कहा था कि, "स्कूलों में धार्मिक शिक्षा देने का तथा बाइबिल के उपदेशों को पढ़ाने का विशेष महत्व है और माध्यमिक स्कूलों में लड़कों तथा लड़कियों को शिक्षा देने में उनका क्या महत्व तथा स्थान होगा, उसके लिए पुनःविचार किये जाने का यह सुअवसर है।"[2] अमेरिका का धार्मिक स्कूल आन्दोलन, माध्यमिक स्कूल

---

1 The Cowper Temple clause in the act of 1870 laid down that "No religious catechism or religious formulary distinctive of any particular denomination shall be taught in schools which receive rate aid."

2 Consultative Commitee said that "there is a wide and genuine recognition of the value and importance of religious instruction and the teaching of Scripture in schools and that the time is favourable for a fresh consideration of the place that they shall occupy in the education of boys and girls of secondary school age." [Spens Report, p. 206.]

आन्दोलन शिक्षा सम्बन्धी महत्वपूर्ण आन्दोलन है, इन्होंने वीसवीं शताब्दी में स्कूलों में धार्मिक शिक्षा देने पर विशेष जोर दिया है। एक ओर तो धार्मिक उदासीनता तथा दूसरी ओर अमेरिका के प्रजातन्त्रवाद में शिक्षा के आदर्शों को प्राप्त करना इन दोनों के समन्वय को प्राप्त करना एक बहुत ही लम्बा और धीमा क्रम है। इसके द्वारा स्कूल अपने साम्प्रदायिक संकीर्ण धार्मिक हितों से आगे विकसित होकर असम्प्रदायिक स्कूल में बदल जायगा और अन्त में आज के धर्म निरपेक्ष स्कूल में परिणित हो जायगा।[1] आज विस्तृत तथा उदारता के उद्देश्य से इस रूप में धार्मिक शिक्षा देना अमेरिका की शिक्षा प्रणाली की सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा प्रभावित करने वाली विशेषता है। इस नई विधि के द्वारा चरित्र को महत्व देने वाली विशेषता उस समय स्पष्ट परिलक्षित होती है जबकि स्कूल का संगठन विभिन्न मनोवृत्ति तथा विरोधी मानसिक प्रवृत्तियों वाले बालकों के समूह से बनता है। इसके द्वारा स्कूल समुदाय में एकता तथा पारस्परिक एक दूसरे की बातों को स्वीकार करने की भावना भर दी गई है जो युवकों के नैतिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के लिए आधार-शिला है। यहाँ जाति तथा धर्म के प्रारम्भिक मतभेदों को उस कटु मतभेद में बदलने का अवसर नहीं दिया जाता जो छोटे पन तथा बड़े पन के झूँटे विचारों को बढ़ावा देता है। द्वितीय महायुद्ध और उसके बाद जो विनाश तथा बरवादी हुई उसने पाश्चात्य देशों के स्कूलों में धार्मिक शिक्षा देने को बहुत ही बढ़ावा दिया है।

भारत में धार्मिक शिक्षा

पूर्वीय देशों तथा भारत में धार्मिक शिक्षा ने पाठ्यक्रम में सबसे महत्वपूर्ण अंग बनकर भाग लिया है। शिक्षा के क्रम का आधार प्रारम्भ से ही धार्मिक रहा है तथा शिक्षा की योजना हमेशा से बालकों में पवित्रता तथा औचित्य की भावना भरती रही है। राधा कुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक में कहा है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा यह बताती है कि युगों से भारतवर्ष में ज्ञान और शिक्षा केवल अपने लिए ही नहीं प्राप्त की गई है बल्कि धर्म के लिए प्राप्त की गई है। इसे मोक्ष प्राप्ति अथवा आत्म-साक्षात्कार का साधन मानकर प्राप्त किया जाता रहा है। शिक्षा के द्वारा जीवन के महान गुण प्राप्त करने का सदा से ही लक्ष्य रहा है। मुसलमान काल के भारतीय इतिहास में स्कूल मुसलमानों के धर्म पर आधारित थे तथा उनकी मकतबों में पाठ्य-

1 "To attain this rare combination of religious neutrality on the one hand and positive education in the ideals of American democracy on the other hand has been a long and slow process. It marks the evolution of the school from a sectarian with narrow, religious interests into the nonsectarian school and finally into the secular school of to-day." [*Thayer, V. T.*: Religion in Public Education, p. 2.]

क्रम में कुरान तथा अन्य धार्मिक सिद्धान्तों को विशेष स्थान दिया गया था। शिक्षा का उद्देश्य, शिक्षा देने का ढंग तथा पाठ्यक्रम का निर्धारण धार्मिक आधार पर होता था। उनके स्कूल उपाधि पर आधारित थे।

ब्रिटिश शिक्षा में भी धार्मिक शिक्षा सदाचार की शिक्षा के द्वारा दी जाती थी। हमारे देश में विभिन्न मतों तथा धर्मों के मानने वाले मनुष्य रहते थे, इसलिए सरकार ने यही उचित समझा कि शिक्षा में किसी भी धर्म की शिक्षा का समावेश न किया जाय। उसने धार्मिक शिक्षा के प्रति उदासीन भाव प्रगट किया। फिर भी धार्मिक शिक्षा चर्च तथा मिशनरियों द्वारा दी जाती रही। इसलिए बालकों को दी जाने वाली शिक्षा धर्म निरपेक्ष थी और बालकों के विभिन्न मतों के सिद्धान्तों को विकसित नहीं करती थी। लेकिन देश के व्यक्ति कुछ परम्पराओं से पूर्ण तथा सम्बन्धित से हो गये थे। वे परम्पराएँ अधिकतर धार्मिक परम्पराएँ थीं। धार्मिक तथा सांस्कृतिक विचार उनके जीवन के मुख्य अंग बन गये थे। अतः ब्रिटिश शिक्षा को ऐसी शिक्षा समझा गया जो ईश्वर में आस्था नहीं रखती थी, इसलिए बहुत से धार्मिक शिक्षा देने वाले स्कूल देश के विभिन्न भागों में खुल गए। मनुष्य यह अनुमान करने लगे कि शिक्षा की कोई भी प्रणाली जो धर्म पर आधारित नहीं है वह बालकों के व्यक्तित्व का विकास करने में असमर्थ है तथा वे अपने उचित कार्य करने के लिए इस प्रणाली से पूर्ण दक्षता प्राप्त नहीं कर सकते। हन्टर कमीशन 1882 से लेकर पंजाब विश्व-विद्यालय कमीशन 1933 तक अनेक कमीशम तथा कमेटियाँ जो शिक्षा के बारे में विचार तथा जाँच करने के लिए बनाई गईं; उन सबने यही कहा कि शिक्षा धार्मिक आधार पर ही दी जानी चाहिए। पंजाब यूनीवर्सिटी कमीशन ने कहा कि "समझ-दार तथा निरीक्षण करने वाले व्यक्तियों के दिमाग में यह बात बड़ी ही जल्दी स्पष्ट हो जायगी कि पाश्चात्य शिक्षा के ढंग को अपनाने से बिना किसी राजकीय आज्ञा के इसका परिणाम ठीक न होगा।" स्कूल में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता तथा बालकों में बढ़ती हुई विद्रोह की भावना तथा देश के सामाजिक जीवन में बढ़ती हुई अनुशासन-हीनता केवल स्कूलों में शिक्षा का धार्मिक आधार पर शिक्षा के आधारित न होने का ही परिणाम है। प्रजातन्त्रवाद व्यक्तियों में धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार प्रदान करती है इसलिए धार्मिक शिक्षा के प्रचार के लिए केवल व्यक्तिगत संस्थाओं को ही प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए बल्कि राज्य को भी बालकों को धार्मिक शिक्षा देने के लिए प्रयत्न करने चाहिए।

धार्मिक शिक्षा धर्मनिरपेक्ष तथा लौकिक राज्य में अनेक कठिनाइयाँ ला सकती है तथा नई-नई समस्याएँ उपस्थित कर सकती है

भारतवर्ष अनेक धर्मों तथा मतों से पूर्ण देश है। यह लौकिकता के सिद्धांतों में विश्वास करता है जहाँ व्यक्ति अपने विश्वास के अनुसार धर्म अपनाने तथा पूजा करने के लिए स्वतन्त्र है तथा राज्य उनकी धार्मिक क्रियाओं तथा विश्वासों में हस्तक्षेप नहीं करता। सरकार की मनुष्यों को शिक्षा देने के सम्बन्ध में जिम्मेदारी बढ़ती जा

रही है। एक विद्यालय में अनेक मतों तथा धर्मों के मानने वाले बालक हो सकते हैं, इस तरह स्कूल में एक विशेष धर्म की शिक्षा देना और उसके सिद्धान्तों को पढ़ाना हानिकारक तथा खतरनाक हो सकता है। ऐसी धार्मिक शिक्षा बालकों में असंतोष तथा आन्तरिक झगड़े का कारण बन सकती है, जिससे स्कूल की शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था बिगड़ सकती है। हमारी शिक्षा प्रणाली के पुनर्गठन सम्बन्धी जितने भी कमीशन नियुक्त किये गये हैं वे सभी इसी कारण से शिक्षा संस्थाओं में औपचारिक धार्मिक शिक्षा देने के पक्ष में नहीं है।

यह विश्वास किया जाता है कि औपचारिक धार्मिक शिक्षा बालकों के दृष्टिकोण को साम्प्रदायिक बना देती है, संकुचित तथा धार्मिक कट्टरता पूर्ण बना देती है। अब तक हमारी शिक्षा संस्थाएँ बालकों को विशाल हृदय बनाने तथा उनके दृष्टिकोण को लौकिक बनाने में असफल रही हैं। जाति, मत तथा धर्म के संकुचित विचारों ने विभिन्न समुदायों को अलग-अलग कर दिया है, जिससे वे मिलकर नहीं रह सकते। शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक संकुचित शिक्षा देने से भारत के निवासियों में सामान्य राष्ट्रीयता की भावना के विकास में अस्वस्थता पैदा हो जाती है। केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड की रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य पूर्ण विकसित चरित्र का निर्माण करना है तथा धर्म को शिक्षा में विस्तृत दृष्टिकोण से शामिल करना है। क्योंकि धर्म का यह विस्तृत रूप नैतिक शास्त्र से अलग नहीं है। इसके अनुसार धर्म शिक्षा देने वाली प्रभाव पूर्ण संस्था नहीं है यदि वह पाठ्यक्रम में केवल बाह्य रूप में ग्रहण किया जाता है। "धर्म का यह कार्य पूरी तरह तभी हो सकता है जबकि वह शिक्षा की गतिशीलता तथा विचारों में वृद्धि करता है। इसे स्कूल के हर कार्य में पिरो देना चाहिए।[1]" स्कूल वास्तविक आदर्शों के स्थायित्व में विश्वास करते हैं लेकिन वे विचार अपने अर्थ तथा व्यापकता में लौकिक तथा विश्वव्यापी हैं। ये बालकों में सहानुभूति, सहिष्णुता, मित्रता तथा भाईचारा पैदा करते हैं।

ये धार्मिक विभिन्नता में भी एकता की भावना पैदा करते हैं। ऐसे शिक्षा के निर्देश किसी भी जाति, धर्म, तथा वर्ग तक सीमित नहीं होते और न कोई धार्मिक विचार ही पैदा करते हैं। ये तो नैतिक, सदाचार तथा आध्यात्मिक विचारों की वृद्धि करते हैं जिनको सभी धर्म के मानने वाले स्वीकार करते हैं।

स्कूलों में धार्मिक शिक्षा प्रारम्भ करते समय सावधानियाँ

(1) धार्मिक शिक्षा सबको एक सी दी जानी चाहिए। केवल धार्मिक सिद्धान्तों तथा लक्षणों को बताना कोई लाभकारी नहीं होगा, क्योंकि बालक उनका

---

1 It is on account of this that Mahatma Gandhi in his scheme of Basic Education omits religious instruction as a part of curriculum. Now the educational trend seems to be towards nondenominational institutions, hospitable to all religious opinions and partial to none.

अपने जीवन में व्यवहार नहीं सीख सकेंगे। सदभाव तथा उदारता उनमें नहीं लाई जा सकेगी। यह शिक्षा तो बालकों के व्यक्तित्व में पूर्ण तथा पिरो देनी चाहिए। धर्म की सच्ची भावना को प्रोत्साहन देना चाहिए। बड़े बड़े धर्मों का वास्तविक तत्व क्या है ? उनका सार तो सत्य बोलना, ईमानदारी अपनाना, अच्छे कार्यों के लिए लड़ना, आवश्यक तथा दुखी आदमियों की सहायता करना, दूषित विचारों को दूर करना तथा सभी मानव जाति को प्रेम करना सिखाना है। निस्सन्देह धार्मिक शिक्षा देने का सबसे अधिक प्रभावशाली तरीका बालकों के सामने विभिन्न परिस्थितियों का उपस्थित करना है; जहाँ से धर्म के अच्छे गुणों को अपने जीवन में प्रयोग कर सकें। उनको महान पुरुषों तथा सन्यासियों की आत्मकथाएँ पढ़ने को दी जानी चाहिए, उनसे उनके जन्म दिवस मनाने को कहना चाहिए तथा धार्मिक त्योहारों को मनाने के लिए उनसे कहना चाहिए। लेकिन शिक्षण संस्थाओं को यह सावधानी रखनी चाहिए कि ये शिक्षा नियमानुसार नहीं हों, यह केवल काल्पनिक न हों बल्कि वास्तविक हों जिससे बालक अपने जीवन में उसके महत्व को समझने के योग्य बन सकें।[1]

(2) विद्यार्थियों को दी गई धार्मिक शिक्षा ऐसी हो कि विभिन्न धर्मों में वह मतभेद पैदा न करे तथा इस प्रकार के उत्पन्न मतभेदों को दूर करने में सहायक हो। यह विभिन्न समुदायों में धार्मिक संकीर्णता को रोक सके। यह शिक्षा किसी विशेष वर्ग की न हो तथा लौकिक हो जो धर्मों के बीच मूल रूप से एकता स्थापित करे तथा उनमें विस्तृत धार्मिक विचार उत्पन्न करे। गांधी जी ने कहा था कि नैतिक शास्त्र के मूल सिद्धान्त प्रत्येक धर्म में पाए जाते हैं, यह बातें प्रत्येक बालक को सिखानी चाहिए। वर्धा योजना में भी गांधी जी ने यही बातें धार्मिक शिक्षा के रूप में बेसिक शिक्षा प्रणाली के पाठ्यक्रम में रखी हैं।

(3) धार्मिक शिक्षा की विधि तथा विषय ग्रेडेड होनी चाहिए। यह ठोस तथा निश्चित हो तथा विभिन्न आयु के बालकों की परिवर्तनशील आवश्यकताओं के साथ बदलती रहने वाली होनी चाहिए। प्रारम्भिक तथा मिडिल स्तर पर शिक्षण विधि शैली को नहीं अपनाना चाहिये। धार्मिक कहानियाँ, आत्मकथाएँ, अर्थकथाएँ, तथा आश्चर्यपूर्ण कहानियाँ प्रयोग करनी चाहिये। किशोर बालकों में जिनमें आलो-

---

1. That moral and humanist education should form an integral part of our education. Students should be taught the fundamental truth common to all religions. Illustrations of these fundamental truths should be taken from all religions and ethical movements with a view to emphasize their essential unity."

[Report of the Secondary Education Reorganization Committee, 1953, Uttar Pradesh, p. 56.]

चनात्मक प्रवृत्ति का विकास होने लगता है उनमें व्यवहारिक अनुभवों का मिश्रण होना चाहिए। यह शिक्षा सिद्धान्त पर आधारित न होकर वास्तविकता पर आधारित होनी चाहिए। धार्मिक विचार बजाय पढ़ाये जाने के अपने आप स्वयं बड़ी आसानी से सीखे जा सकते हैं।

(4) समय-विभाग-चक्रमें धर्म का विषय से अधिक महत्व होना चाहिये। यह कोई प्रकृति से आंशिक नहीं है जिसे साप्ताहिक भाषणों तथा उपदेशों के द्वारा पूरा किया जा सके। यह तो एक क्रिया होनी चाहिये जो स्कूल में हर समय पूरी की जानी चाहिये।

उचित परिणाम पाने के लिए यह आवश्यक है कि धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा पूरी तरह से सोच विचार कर ही दी जाय तथा उसकी योजना प्रभावपूर्ण की जाय। असम्बन्धित विषयों को लेकर तथा एक नैतिक आदर्श उपस्थित करके एक स्थाई नैतिक महत्त्व स्थापित किया जा सकता है, ऐसा सोचना प्रभावशाली नहीं है। आज हमें ऐसे अध्यापकों की आवश्यकता है जो पूर्ण ज्ञानी, योग्य तथा इस कार्य को करने में दक्ष हों। उन्हें अधिक विस्तृत तथा महत्त्वपूर्ण कार्य करना है, उनका उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना है जो समाज की जिम्मेदारी पूरी कर सकें।[1]

सारांश

धर्म का शिक्षा में स्थान होने के सम्बन्ध में मतभेद है, विशेषतया हमारे देश में जिसमें विभिन्न धर्मों के मानने वाले व्यक्ति रहते हैं।

यह कहा जाता है कि शिक्षा की वर्तमान प्रणाली आन्तरिक विशेषताओं से रहित है। यह बालक का नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास नहीं करती। धर्म मनुष्यों को सुखी जीवन बिताने में मदद करता है।

---

1 They have now to fulfil a function wider and more important. Their purpose is nothing less than turning out from their walls of a steady supply of men and who will be the leaven that will leaven the whole lump of national education not by disseminating distinctive and exclusive dogmas but by themselves broad-minded large hearted, sincere....." [*Ross. S. James* : Groundwork of Educational Theory, p. 252-253.]

"In view of the provision of the Constitution of the Secular State religious instruction cannot be given in schools, except on a voluntary basis and outside the regular school hours; such instruction should be given to the children of particular faith and with the consent of the parents and managements concerned."

[Report of the Secondary Education Commission (October 1952-June 1953), p. 126.]

धर्म क्या है ?—(1) परमात्मा के स्थायित्व में आस्था।

(2) यह सिद्धान्त तथा संस्कारों की प्रणाली है।

(3) धर्म का अलौकिक विचार यह है कि मनुष्य ईश्वर को स्वयं सर्व शक्तिमान तथा निराकार अनित्य मानते हैं।

(4) धर्म का सामाजिक स्वरूप यह है कि धर्म समाज में समन्वय तथा सांस्कृतिक प्रेम पैदा करता है।

धर्म तथा नैतिकता अथवा सदाचार—धर्म तथा सदाचार अलग-अलग नहीं किये जा सकते। सदाचार ही सच्चे धर्म का सार है। धार्मिक विश्वास तथा उत्साह से ही नैतिक गुण प्राप्त होते हैं। नैतिकता तथा सदाचार की जड़ धर्म ही है, राष्ट्र के तथा व्यक्ति के धार्मिक विचारों पर ही नैतिक उन्नति अन्ततः आश्रित हैं; अर्थात् नैतिक उन्नति इस विचार पर निर्भर है कि ईश्वर तथा मनुष्य के नैतिक सम्बन्ध क्या हैं ? परन्तु यह विचार दूसरे लोग नहीं जानते। एक आदमी अधार्मिक होने पर भी सदाचारी हो सकता है। सच्चा धर्म संसार, मनुष्य तथा ईश्वर के बारे में सत्यताओं का ज्ञान कराता है जिसमें सदाचार के सभी सिद्धान्त शामिल हैं।

धर्म और शिक्षा—धर्म तथा शिक्षा एक दूसरे पर आश्रित तथा सम्बन्धित हैं।

(1) शिक्षा और धर्म दोनों मनुष्य में सच्चे गुणों का विकास करते हैं और उसको बुराइयों से मुक्त करते हैं।

(2) शिक्षा अपनी पाठ्य-सामग्री तथा अध्ययन प्रणाली के द्वारा धर्म की सच्ची भावना तथा उद्देश्यों को प्राप्त करती है।

(3) धर्म संस्कृति तथा शिक्षा में सम्बन्ध जोड़ता है। धर्म तथा परम्पराओं से उसकी संस्कृति पर प्रभाव पड़ता है।

(4) धर्म के सिद्धान्तों को बताने के लिए शिक्षा का आदर्शवादी दर्शन शास्त्र ही ठीक तथा उचित मार्ग है।

धार्मिक शिक्षा के उद्देश्य—(1) यह बालकों में नैतिक साहस पैदा करता है, उनमें नैतिक तथा आध्यात्मिक गुण पैदा करता है। बिना धर्म के सदाचार व्यर्थ है।

(2) यह मनुष्यों को ज्ञानवान तथा उन्नतिशील बनाता है। जीवन का विस्तृत दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जिससे वे सहनशील, तुच्छ, शान्ति प्रिय होना सीख जाते हैं अपने स्वयं के हितों को राष्ट्र के भले के लिए तुच्छ समझने लग जाते हैं।

(3) बालक के चरित्र का उचित विकास करता है। तथा उनमें सच्चे गुण जैसे मानवता तथा सहयोग पैदा करते हैं।

(4) यह स्कूल में प्रजातन्त्रवादी परम्परा स्थापित करने में मदद करता है जीवन की ऐसी बुराइयों के विरुद्ध बालकों में दृढ़ता के साथ मुकाबिला करने का साहस प्रदान करता है जिससे जीवन संघर्षमय हो जाता है।

(5) आधुनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सारी संस्कृति को विकसित तथा पुनर्निर्माण करने में धर्म मदद करता है।

(6) धर्म स्कूल को शिक्षा तथा संस्कृति में समन्वय करने में सहायता करता है।

(7) यह बालक के पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करता है। धर्म के बिना कोई बालक पूर्ण नहीं बन सकता।

संकुचित धार्मिक शिक्षाएँ हानि पहुँचा सकती हैं—(1) दृष्टिकोण के विस्तृत तथा उदार बनाने के बजाय यह संकुचित सहानुभूति तथा वर्गीय हित पैदा करता है जो राष्ट्रीय एकता को हानिकर होती है।

(2) मनुष्य का ध्यान अज्ञात अलौकिक संसार की ओर आकर्षित करके यह मनुष्य को वास्तविक जीवन तथा उसके सुधार से अनिभिज्ञ बना देता है।

(3) यह बालकों में अस्वस्थ दृष्टिकोण तथा विचार पैदा करता है। बालक के विचारात्मक जीवन में यह संघर्ष पैदा करता है।

(4) यह बालकों में मतभेदपूर्ण विचार पैदा करता है जो शिक्षा की दृष्टि से अनुचित हैं।

(5) स्कूल का ध्यान आवश्यक कार्यों की ओर से हटा देता है।

ऐतिहासिक निरीक्षण—(1) पाश्चात्य देशों में चर्च शिक्षा देने वाले मुख्य संगठन रहे हैं।

(2) 19वीं शताब्दी में शिक्षा के क्षेत्र में लौकिकता को प्रधानता दी गई थी। धार्मिक शिक्षा किसी विशेष धर्म अथवा वर्ग की शिक्षा नहीं देती थी; वह वर्गहीन निरपेक्ष शिक्षा थी।

(3) अमेरिका में स्कूलों में दी गई धार्मिक शिक्षा सामान्य तथा उदार है। उसमें धार्मिक उदासीनता का सिद्धान्त अन्तर्निहित है जो अमेरिका के प्रजातन्त्रवाद के आदर्शों पर आधारित है।

(4) भारत तथा दूसरे पूर्वी देशों में धार्मिक शिक्षा स्कूल के पाठ्यक्रम का प्रधान अंग होता था। प्राचीन भारत में धर्म के द्वारा शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाता था। मुसलमान युग में धार्मिक शिक्षा के आधार पर ही पाठ्यक्रम निर्धारित होता था। ब्रिटिश सरकार ने धार्मिक उदासीनता की नीति को शिक्षा में अपनाया था जिससे इसके प्रति बड़ा असन्तोष रहा।

धर्म निरपेक्ष राज्य में इसकी कठिनाइयाँ—(1) एक स्कूल में विभिन्न मतों व धर्म के मानने वाले बालक पढ़ते हैं।

(2) धार्मिक शिक्षा शरारत तथा भय का साधन बन सकती है।

(3) औपचारिक धार्मिक शिक्षा बालकों को साम्प्रदायवादी बना देती है।

(4) वर्ग संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है और राष्ट्रीय एकता नष्ट होने की सम्भावना रहती है।

धार्मिक शिक्षा देते समय सावधानियाँ—(1) धार्मिक शिक्षा सबको एक सी दी जानी चाहिए। सच्ची धार्मिक शिक्षा स्वयं ही सीखनी चाहिए, सिखाई नहीं जानी चाहिए।

(2) धार्मिक शिक्षा देते समय नियमित पद्धति को नहीं अपनाना चाहिए। बालकों को सह-पाठ्यक्रम तथा अतिरिक्त पाठ्यक्रम की (Co-curriculum activities and extra curriculum activities) क्रियाओं में अपने आप धार्मिक शिक्षा का अभ्यास करने का अवसर देना चाहिये।

(3) विभिन्न धर्मों में मतभेद करने वाली धार्मिक शिक्षा नहीं होनी चाहिये। वह तो ऐसी हो जो सभी धर्मों में मूल रूप से एकता पैदा करे।

(4) धार्मिक शिक्षा देने में अध्यापकों में सहनशीलता, विस्तृत भावना, विशाल हृदयता तथा ज्ञान वान आदि गुणों का होना आवश्यक है।

१८

शिक्षा एवं सामाजिक व्यवस्था

डीवी जो एक महान शैक्षिक दार्शनिक है उसने कहा है कि समाज के स्थायित्व में जितना प्राणीशास्त्र सम्बन्धी महत्व है उतना ही आपस के पारस्परिक आचार-विचार का महत्व है।[1] शिक्षा समाज-शिक्षा प्रणाली के द्वारा पैदा की हुई उत्पादक शक्तियों के प्रयोग तथा नैतिक गुणों के स्थायित्व से ही पलती है, तथा उसका पोषण होता है। दूसरे शब्दों में जीवन एक स्वयं वातावरण पर किये गए कार्यों द्वारा किया हुआ पुनः नवीन क्रम है। सभी विकास तथा उन्नति जिसे मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में—आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, मानसिक, वैज्ञानिक तथा टेक्नीलोजीकल—प्राप्त करने का दावा करता है—हमारे विज्ञान तथा शिक्षा द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं। बिना शिक्षा के न तो विकास ही सम्भव है और न ज्ञान शक्ति की प्राप्ति तथा सुधार ही सम्भव है। इसके बिना मनुष्य का जीवन वैसा ही जंगली, असभ्य पाशविक तथा काल्पनिक होता है जैसे प्रारम्भिक युग में रहा था। समाज स्वयं अपने आप अपने को सुधार कर अपना स्थायित्व प्राप्त करता रहता है।

शिक्षा और सामाजिक व्यवस्था

समाज का वर्तमान स्थिति तक विकास तथा लगातार क्रम, अपनी आगे आने वाली पीढ़ी को समाज की विशेषताओं को हस्तान्तरण करने से ही कायम रह सका है। आगे आने वाली पीढ़ी के हाथों में विचार, भावनाएँ तथा क्रियाएँ जो उसे भूतकाल में स्थापित रख सकीं और उसके परिवर्तनशील तथा विकास पूर्ण लक्षणों को कायम रख सकीं अब भी सुरक्षित हैं। सामाजिक वंशानुक्रम तथा वातावरण के सुरक्षित कोष में लगातार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी द्वारा अधिकाधिक वृद्धि होती रही है। जो महत्व शारीरिक विकास के लिए खाद्य पदार्थ तथा सन्तानोत्पादक

1 "Dewey the great educational philosopher said that society exists through a process of transmission quite as much as biological life." [*Dewey John* Democracy and Education, p. 3.]

शक्तियों का है वही सामाजिक विकास में शिक्षा का है। समाज अनेक प्रकार के शैक्षिक केन्द्र स्थापित करता है, जिनके द्वारा विचारों का आदान प्रदान तथा भावनाओं, आदर्शों, आशाओं, जीवन स्तर, क्रियाएँ, रीति रिवाजों और परम्पराओं को हर आगे आने वाली पीड़ी तक पहुँचाया जाता है तथा उसका संरक्षण किया जाता है, जिससे उसके सदस्यों में ऐसा ज्ञान, कुशलता, विचार, आदर्श और आदतें जो उसके विकास के लिए आवश्यक हैं सुरक्षित रखा जाता है।[1]

समाज अपने सदस्यों में उन विचारों तथा भावनाओं को व्यक्त करने के लिए शैक्षिक केन्द्रों को स्थापित करती है जिनके द्वारा वे सामाजिक जीवन में दक्षता पूर्ण तथा प्रभाव-पूर्ण शक्ति से भाग ले सकें और उसके विभिन्न कार्यों में हिस्सा ले सकें। शिक्षा उनके व्यक्तिगत विकास को कायम रखती है, उनके सामुदायिक भले के लिये उनका विकास करती है। शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो मनुष्यों में उन विचारों को व्यक्तित्व के तथा चरित्र के गुणों को पैदा कर सके जो स्वयं उनके विकास में मदद दे सकें। शिक्षा को केवल किताबी ज्ञान में वृद्धि करने तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये बल्कि वह ऐसी हो जो जीवन की विभिन्न क्रियाओं को करने का ज्ञान पैदा करे जिससे कि जब बालक स्कूल से बाहर निकलें को असहाय तथा खोखले न हों बल्कि संसार के बने हुए व्यवहारिक व्यक्ति हों; तथा वे जीवन की विभिन्न समस्याओं से परिचित हों, उनमें जीवन की रोजाना की समस्याओं को हल करने तथा मुकाबिला करने की दृढ़ता, साहस और इच्छा हो। शैक्षिक केन्द्रों का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह मनुष्य को अपने परिवर्तनशील वातावरण के अनुसार अनुकूल बनाने में, अपनी संस्कृति में सर्वोत्तम तत्वों का विकास करने में, तथा आर्थिक व सामाजिक उन्नति प्राप्त करने में जिससे वे संसार में अपना उचित स्थान पा सकें और शान्ति के साथ मिल जुल कर रह सकें, मदद कर सकें।

लेकिन शैक्षिक महत्व तथा गुण अपनी क्रियाओं के पूरे करने में समाज में चारों ओर पाये जाने वाले सामाजिक प्रबन्ध से विशेष रूप से सम्बन्धित हैं। यही गुण शिक्षा के महत्व तथा उद्देश्यों को प्राप्त करने में पूर्णतया प्रभावित करते हैं। अध्ययन की पाठ्य-सामग्री में इनका व्यक्तीकरण होता है, इसी प्रकार यह व्यक्तीकरण सह पाठ्यक्रमीय क्रियाओं और अतिरिक्त पाठ्यक्रमीय क्रियाओं (Co-curricular and extra curricular activities) के संगठन में तथा उसकी शिक्षा प्रणाली में होता है। "कोई भी समुदाय या वर्ग अपना कार्य प्रभाव पूर्ण दृष्टि से तथा सफलता से जब तक नहीं कर सकता तब तक कि उसका मस्तिष्क तथा व्यवहार परिस्थिति के अनुकूल न बने और उसकी सुधारात्मक अनुकूलता की शक्ति तीव्र तथा अनुशाशित न की जाय क्योंकि शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ किताबी ज्ञान के क्षेत्र में विकसित नहीं होतीं वे तो वर्तमान सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और नैतिक वातावरण तथा

---

1 *Johnson Franklin* : W. op. Cit, p. 16.

जलवायु के अनुसार ही विकसित होती हैं और उन्हीं से अपना रूप ग्रहण करती हैं।"[1]

यदि शिक्षा प्रणाली चारों तरफ पाई जाने वाली वातावरण सम्बन्धी हालतों का ज्ञान कराने में असफल रहती है तो न तो वह लाभकारी ही होगी और न वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सकेगी। शिक्षा देने वाली संस्थाएँ बजाय अपना उचित कार्य करने के अपने देश के युवकों को समाज के विकास के लिए दक्षता तथा आवश्यक वस्तु सामग्री प्रस्तुत करने में असफल होंगी जिसके कि वे अभिन्न अंग हैं। वे नई परिस्थितियों की चुनौती का सामना नहीं कर सकेंगे। वह शिक्षा जो समाज की आवश्यकता तथा स्थिति के अनुसार नहीं है वह एक प्रकार का बोझ होगा, न तो सामाजिक व्यवस्था का पुनः निर्माण कर सकेगी, न संस्कृति का विकास कर सकेगी न समाज के सामने नैतिक तथा सामाजिक व राजनैतिक आदर्श उपस्थित कर सकेगी।

शिक्षा का सम्पूर्ण इतिहास इस सत्य का प्रत्यक्ष दिखावा है कि शिक्षा बहुधा मानव जीवन की आवश्यकताओं तथा ज्ञान को जाग्रति करने वाली शक्तियों से पिछड़ जाती रही है।[2] इसका परिणाम यह होता है कि शैक्षिक आदर्शवाद तथा उसके वास्तविक व्यवहार में प्रत्यक्ष असमानता हो जाती है। अक्सर शिक्षा के तत्त्व तथा क्रियाएँ विपरीत दिशाओं में काम करने लगती हैं। उदाहरण के लिए हम सब इस बात को स्वीकार करते हैं कि शिक्षा ऐसी हो जो बालक के व्यक्तिगत व्यक्तित्व का बहुमुखी तथा पूर्ण विकास कर सके, यह राष्ट्र के युवकों में योग्य नागरिकता के उत्तम आदर्श पैदा कर सके, उनमें व्यवसायिक दक्षता प्रदान कर सके ताकि सबके सामने समान अवसर तथा सुविधाएँ प्रस्तुत हो सकें। फिर भी व्यवहार में लक्ष्य, उच्च आदर्शों से बहुत नीचे गिरे हुए हैं। हमारे अपरिवर्तनीय विश्वास तथा परम्पराएँ, स्वार्थ, वर्गभेद, दूसरों का शोषण करने की प्रवृत्ति तथा अन्य दूसरी बुराइयों ने हमारे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति को रोका है। यह वास्तव में बहुत ही दयनीय है कि शिक्षा बजाय समाज की व्यवस्था में सुधारात्मक प्रभाव डाले और उसकी बुरा-

---

1 "No group or community can expect to play its role effectively and successfully in the modern world unless its mind and behaviour have been attuned to this situation and its capacity for progressive adjustment and adaptation has been quickened and disciplined.....For, education problems do not take birth in an academic vacuum: they arise in response to and gain their characteristic colour from the existing social, political, economic and moral climate."
[*Sayidian, K.G.*: Education, Culture and the Social Order, p. 25.

2 The entire history of education often tends to lag behind the renaissant forces and needs of human life." [*Ibid* p. 26.]

इयों को दूर करने में सफलतापूर्वक संघर्ष करने की शक्ति प्रदान करे, केवल निस्सहाय होकर कार्य कर रही हैं।

यह तो राज्य के हाथ में पड़ा हुआ एक घातक हथियार बन गई हैं जो केवल उसके उत्पादक सिद्धान्तों तथा आदर्शों को ही बढ़ावा दे रहा है। आधुनिक युग में शिक्षा प्रतिक्रियावादी है जो सरकार का उस समय समर्थन करती है जब वह अपने दृष्टिकोण में सनातनी होती है तथा उस समय उसका विरोध करती है जब वह उन्नति करती है। दुर्भाग्यवश अच्छी नागरिकता के तत्त्व, जो स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में अधिक जोर देकर समझाये जाते हैं, भी सबसे खराब हैं, सर्वोत्तम नहीं।[1] वह वस्तु जिस पर शिक्षालयों में सबसे अधिक जोर दिया जाता है वह देशभक्ति है जो विशेषत: युद्ध में लड़ने की प्रवृत्ति से सम्बन्धित होती है। अर्थात् यह बात यह प्रगट करती है कि उनके मन में अन्य देशों में रहने वाले व्यक्तियों के प्रति श्रद्धा भाव कम किया जाता है तथा सैनिक शक्ति से उन विदेशी आदमियों के स्वत्वों को जो उस क्षेत्र में रहते हैं कम किया जाता है।

शिक्षा के बारे में यह विचार कि शिक्षा, शिक्षा के लिए और मूल शिक्षा के तात्विक विषय हों असफल रहता है क्योंकि इस दृष्टि से इसके पाठ्यक्रम में केवल शासक वर्ग के लिए विशेष सुविधा होती है और अपने सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती। शिक्षा अपना सुधारात्मक तथा लाभकारी प्रभाव मनुष्यों तथा उनके विभिन्न वर्गों पर नहीं डाल सकती यदि शिक्षा और सामाजिक व्यवस्था एक सूत्र में न बँधे हों और यदि उनका पोषण सामान्य आदर्श शास्त्र तथा क्रियात्मक ढंग से नहीं होता। वैज्ञानिक आविष्कार तथा खोजों ने मनुष्य के लिए अनेक शक्तियों को प्रदान किया है जो उसके विकास, विनाश तथा उसके जीवित रहने तथा स्थायित्व रहने के लिए काम में लाई जा सकती है। मानव की सभ्यता में केवल एक बार मनुष्य ने अपने को शक्तियों के नियन्त्रण में पाया है जो उसको गरीबी तथा जीवित रहने की मँहगीपन के युग के बजाय उसके अधिकता के युग में वृद्धि करती है। शिक्षा को उपयोगिता के नवीनतम अर्थ की दृष्टि से आगे बढ़ना चाहिए जिससे वह समाज में व्यक्ति के नैतिक तथा मानसिक विकास के कार्य को शक्ति के साथ कर सके। उसका दर्शन तथा कार्यक्रम परिवर्तनशील तथा अनुकूल पूर्ण होना चाहिए जो परिवर्तनशील समाज की आवश्यकताओं को पूरा कर सके। प्रभावशाली शिक्षा का कार्य यह है कि वह बालकों को व्यक्तिगत रूप से सुविधायें प्रदान कर सके जिससे कि वे अपने सामा-

---

1 Education in the modern world tends to be a reactionary force, supporting the government, when it is conservative and opposing if when it is progressive. Unfortunatey, also the element of good citizenship which are emphasized in schools and universities are the worst element not the best.
[*Bertrand Russel* : Education and the Social order, p. 19.]

जिक वर्गों की कमियों को दूर कर सकें और अपने भले के लिए सामाजिक वातावरण को अपने अनुकूल बना सकें।

शिक्षा वास्तव में सनातनी शक्तिदायिनी है, फिर भी यह बिना समाज व्यवस्था के प्रभावित हुए अकेली काम नहीं कर सकती। शिक्षा केन्द्र वास्तव में वास्तविक समाज के ही प्रतिरूप हैं। इसका उत्पादत्यक कार्य उस वातावरण से सीमित है जो उसके संगठन तथा आदर्शवाद का निर्देशन करता है।

सामाजिक व्यवस्था तथा राज्य सभी युगों तथा सभी देशों में हमेशा से शिक्षा के उद्देश्य तथा उसके संगठनात्मक रूप को प्रभावित करते हैं। जेम्सराय ने अपनी पुस्तक में कहा है "The stase conceived as an idealized metaphysical entity, over and above the individual citizen, superior to him in every way, transcending all his desires," इसमें स्वयं समर्थ नैतिकता होती है जो राज्य को सर्वोत्तम गौरव प्रदान करती है। ऐसे दर्शन शास्त्र का तर्कपूर्ण परिणाम राज्य का प्रत्येक व्यक्ति पर पूर्ण अधिकार की माँग करना है तथा उसके कर्त्तव्यों व अधिकारों का प्रयोग अपने हाथ में लेना है। इसलिए यह स्पष्ट है कि शिक्षा प्रणाली हमेशा से राज्य की आवश्यकताओं के अनुसार बदलती रहती है। राज्य तथा सामाजिक व्यवस्था यह निर्धारित करती है कि शिक्षा संस्थाओं में क्या पढ़ाया जाना चाहिए और किस प्रकार पढ़ाया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम तथा पाठन विधि में मुख्य बात हमेशा अनुशासन, संगठन, अधिकारी की स्वेच्छा से स्वीकार करने की इच्छा होती है। इन परिस्थितिओं में शिक्षा अधिकारियों की ओर से संचालित क्रिया बन जाती है जिससे उसकी उत्पादकता नष्ट हो जाती है। अतः न तो शिक्षा बालकों को उनकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के अनुसार ही दी जाती है और न ये उचित शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति करती है। यह राज्य के स्वार्थों को पूरा करने के लिए होती है। उदाहरण के लिए स्पार्टा में व्यक्ति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था और इस प्रकार व्यक्ति अपने लिए नहीं बल्कि देश के लिए पैदा होता था। कई देशों में पादरी लोग तथा उच्च कुल के व्यक्ति अपने स्वार्थ को पूरा करने तथा व्यक्तियों के शोषण के लिए शिक्षा देते थे। वह शिक्षा मनुष्यों को मानसिक दृष्टि से गुलाम बनाने में सहायक होती थी। शिक्षा संस्थाओं तथा शिक्षण विधि द्वारा ही नाजीवाद, साम्यवाद तथा फासिज्म के आदर्श, जर्मनी, रूस तथा इटली में वहाँ के निवासियों के दिमाग में भर दिये गये थे।[1] बहुत से देशों के लिए इंग्लैण्ड की सरकार ने शिक्षा द्वारा वर्ग भेद का पाठ पढ़ाया। आदर्श राज्य की दार्शनिक विशेषता हीगल के द्वारा लिखी गई पुस्तकों से पूर्णता को प्राप्त हुई।

---

1 Through Educational institutions and regimenting its courses of study and forms of instructions that the ideals of Nazism, Communism and Fassism have been instilled in the mind of the youth in Germany, Russia and Italy.

नाजी जर्मनी में सम्पूर्ण राज्य ने संस्कृति को आजादी तथा पवित्रता के लिए अपनी रुधिर रंजित बलिवेदी पर बलिदान होने के लिए बाध्य किया था। विज्ञान को सत्य की तथा प्रकृति के वास्तविक तथ्यों की खोज करने के लिए स्वतन्त्र नहीं किया था बल्कि युद्ध कला के यन्त्रों की कार्य क्षमता को बढ़ाने के लिए काम में लाया गया। दर्शनशास्त्र को जीवन की आवश्यकताओं तथा समस्याओं को सुलझाने के लिए ही मुक्त किया गया बल्कि दल के राजनीतिक मतों व सिद्धान्तों को उचित ठहराने के लिए तथा राजनीतिक विचारधाराओं की महानता को सिद्ध करने के लिए लगाया गया।[1]

कोई भी चीज नैतिक दृष्टि से न तो गलत है और शिक्षा की दृष्टि से देय है यदि उसकी विभिन्न संस्थाएँ सामाजिक व्यवस्था के आदर्श तथा महत्त्व, जो राज्य के व्यक्त किये जाते हैं, को प्रभावित करते हैं; परन्तु यह आवश्यक है कि ऐसे आदर्श नैतिकता तथा सदाचार के ग्राह्य सिद्धान्तों से मेल खाने वाले होने चाहिए। व्यक्ति का भाव विकास तथा व्यक्तित्व का विकास भी उन सिद्धान्तों से मेल खाने योग्य होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान के विरुद्ध भाव होने चाहिए। उसे ऐतिहासिक तथ्यों को संकुचित राष्ट्रीयवाद के लिए बलिदान नहीं करना चाहिए और न वे ऐसे हों कि अपने युवकों में संकुचित भावनाएँ भरकर गलत विचार ही पैदा करें, अमरीका में प्रोफेसर बागले ने कहा कि बालक के लिए सामाजिक कुशलता तथा दक्षता जिसके अनुसार शिक्षा के प्रयोग को देखना चाहिए अति आवश्यक है। वे कहते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य शिक्षा के वास्तविक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है।"[2] शिक्षा बालकों में आत्म-निर्भरता तथा दृढ़ विश्वास की भावना भरने योग्य होनी चाहिए जिससे वे स्वतन्त्रतापूर्वक तथा साहस के साथ कार्य कर सकें।

---

1 In Nazi Germany "The totalitarian state compelled culture to sacrifice freedom and integrity at its blood stained altar. Sceince was allowed freedom not to pursue its quest for truth about nature but to conferring a more deadly efficiency on all the instruments of modern warfare philosophy was allowed freedom not to speculate about the ultimate problems of life and values but to justify the political creed of the party in power and prove its superiority over all other political concepts."
[*Saiyidian, K. G.* : Education for International Understanding, p. 52.]

2 For the child social efficiency is the norm against which educational practice must be judged and he considers that this aim ought to have the position of primacy in a rational theory of Education." [*Ross James S.* : Groundwork of Educational Theory, p. 42.]

शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो समुदाय तथा सामाजिक व्यवस्था को अपना कार्य सुचारु रूप से चलाने में सहायता दे सके। यह बालकों तथा युवकों को मस्तिष्क तथा शारीरिक सम्बन्धी वे सभी आवश्यकताएँ प्रदान कर सकें जिससे वे किसी विषय का सही-सही तथा उचित ढंग से निर्णय कर सकें। शिक्षा बालकों के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए उनको पूर्ण तथा विभिन्न अवसर प्रदान करे जिससे वे उन पर पूर्ण प्रभाव डाल सकें। स्कूल विभिन्न सामाजिक अनुभवों की प्रयोगशाला होनी चाहिए जिसके महत्व तथा उपयोग को वे वाह्य वस्तुओं के आधार पर जाँच सकें। इस प्रकार शिक्षा को आलोचनात्मक शक्तिदायिनी होना चाहिए। शिक्षा स्कूल को क्रियाशील संस्था तथा सजीव समुदाय में परिवर्तित करने वाली होनी चाहिए जहाँ सभी मिल कर काम करें तथा जितना सम्भव हो सके उतना हम उसे सोद्देश्य योजित करने में निर्देश कर सकें। हम विद्यालयों को समाज की उन्नति का एक यन्त्र बना सकें यह उसका उद्देश्य होना चाहिए।[1] श्रीयुत हटचिन ने (Hutchin) ने अपनी पुस्तक "आजादी के लिए शिक्षा" में यह बताया है कि शिक्षा की अच्छाई या बुराई समाज की बुराई या भलाई का प्रतीक है। समाज के अच्छे या बुरे होने पर प्रभाव वहाँ की शिक्षा पर पड़ता है। यदि शिक्षा परिवर्तनशील है तथा गतिशील है तो वह समुदाय के सामाजिक विकास पर अपना प्रभाव डालेगी। एक अप्रजातन्त्रीय समाज में भी वह अधोपतित सामाजिक व्यवस्था को सुधार सकती है।

रास ने भी अपना यह सही निर्णय दिया है कि व्यक्तित्व तथा मानवता का सामाजिक वातावरण से अलग कोई भी महत्व नहीं होता क्योंकि सामाजिक वातावरण में ही वे विकसित होते हैं तथा वहीं उनकी शक्तियों में सुधार होता है। समाज सेवा के द्वारा ही आत्म-ज्ञान तथा आत्म-सन्तोष प्राप्त किया जा सकता है और वास्तविक उपयोगिता के सामाजिक आदर्शों को तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि व्यक्ति को स्वतन्त्र समाज में छोड़ दिया जाय जिससे वे अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें। यह चक्र तोड़ा नहीं जा सकता। शिक्षा तथा सामाजिक व्यवस्था का पारस्परिक निर्भर होना एक दूसरे पर आश्रित है।[2]

---

1 Education should transform the schools "into active genuine and living communities, where shared activity and purposeful planning are carefully and to the exent that we can guide our schools in this direction, we shall be for going them into instruments of social progress. [*Ross, James S.* : Groundwork of Educational Theory, p. 52.]

2 The educational institutions "Shall set as one of the universal goals of education the development of a sensitive social consciousness concerning the need for desirable social changes and second to prepare well-informed and intelligent leaders who will know what changes are desirable."
[*Cole, William E.* : Sociology in Educational Practice, p. 408.]

भारतीय शिक्षा तथा सामाजिक व्यवस्था

हमारे देश में समाज व्यक्ति से अधिक उचित माँगें चाहता है। अँग्रेजी शासन के भारत में स्थापित होने के 150 वर्ष बाद, जिसका प्रभाव हमारे देश के राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न अंगों पर पड़ा था, आज हम अपनी सार्वभौतिक सत्ता देश पर प्राप्त कर पाये हैं और इसीलिए हम आज देश की शासन सत्ता को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार बनाने के योग्य हुए हैं। आज मनुष्य राजनीतिक दृष्टि से अधिक क्रियाशील तथा सजग हो गए हैं और वे आज संसार के औद्योगिक तथा टैकनीकल दृष्टि से सबसे अधिक विकसित देशों के साथ प्रतियोगिता तथा मुकाबिला करने का साहस कर रहे हैं। मनुष्यों के दृष्टिकोण में पूर्णतया परिवर्तन हो गया है और वे यह अनुभव करते हैं कि देश के क्रमिक विकास तथा उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि समाज का ढाँचा पुनः निर्माण किया जाना चाहिए। शहरी क्षेत्रों में आबादी के बढ़ने तथा नये-नये आविष्कारों के होने के परिणाम स्वरूप औद्योगिक विकास ही आधुनिक जीवन की जटिलताओं के लिए जिम्मेदार है। पहले जीवन सादा था और उसकी आवश्यकताएँ बहुत कम होती थीं। आने जाने के साधन बहुत कम तथा नियन्त्रित थे। पारिवारक जीवन बड़ा सादा था, मनुष्य अपनी जीविका को कमाने में आत्म-निर्भर थे। आज वैज्ञानिक ज्ञान के विकास तथा उन्नति के कारण समय तथा दूरी पर विजय पाली गई है। संकुचित पड़ौसीपन आज क्षेत्र में बहुत बड़ा हो गया है। मनुष्य एक दूसरे पर पूर्णतया आश्रित हो गए हैं और उनका सामुदायिक जीवन परिणामस्वरूप बड़ा ही जटिल हो गया है। आधुनिक समाज न केवल उसके विकास तथा वृद्धि के लिए व्यक्ति पर प्रभाव पूर्ण तथा अधिक मात्रा में जिम्मेदारियों की माँग करता है बल्कि उसके जीवित रहने के लिए भी अधिक जिम्मेदारियों की माँग करती है। ब्रिजलता ने यह सही कहा है कि सच्चा सुख और आनन्द तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति तथा समाज के जीवन के लक्ष्य एक दूसरे की सेवाएँ सही तरीके से आश्रित रहकर करते हों। कोई भी व्यक्ति अपनी शक्तियों का पूर्ण विकास अकेले रहकर नहीं कर सकता, वह तो उसे उस समाज में रहकर ही कर सकता है; जिसका वह क्रियाशील सदस्य है। समाज तथा दोनों को एक दूसरे की भलाई तथा हित का ख्याल करना पड़ता है तथा रक्षा करनी पड़ती है। समाज का उद्देश्य व्यक्ति की शक्तियों को बरबाद करने का नहीं है बल्कि, उसे तो व्यक्ति के लिए ऐसे अवसर प्रदान करने चाहिए जिससे वे अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकें। व्यक्ति को भी समाज के हितों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। उन्हें अपने तथा दूसरों के हितों को मेल की दृष्टि से ध्यान रखना चाहिए तथा अपने स्वयं के हितों को समाज के हितों के सामने अधिक महत्व नहीं देना चाहिए जिससे वे राष्ट्रीय महत्व के बारे में हितों का पूर्ण रूपेण उपयोग कर सकें।

यह वास्तव में बड़ी ही दुर्भाग्य पूर्ण बात है कि यद्यपि हमने स्वतन्त्रता प्राप्त करली है, हम वास्तविक आजादी के अर्थ तथा भाव को समझने की स्थिति में नहीं

हैं। आजादी प्राप्त करने के पश्चात हमें जो समान सुविधाएँ तथा अवसर मिले हैं उनका पूर्णतया उपयोग करने के लिए हम में शिक्षा तथा प्रशिक्षण की कमी है। हमारे अपरिवर्तनीय तथा कट्टर विचार व परम्पराएँ, हमारे तुच्छ दुराग्रह व पक्षपात पूर्ण भाव, वर्गभेद तथा सामाजिक जीवन में मनुष्यों के शोषण करने वाली परम्पराएँ जैसे काला बाजार, भ्रष्टाचार, घूस, रुपया इकट्ठा करना, तथा स्वार्थ इत्यादि अब भी हमारे सामाजिक जीवन को जकड़े हुए हैं। हमारी शिक्षा-प्रणाली अब भी इन बुराइयों को दूर करने में सफल नहीं हो पाई है। देश के सामान्य व्यक्ति अब भी गरीबी, निरक्षरता और सामाजिक अन्याय से ग्रस्त हैं। नवीन सामाजिक व्यवस्था के लिए जो शिक्षा-प्रणाली अपनाई जाय वह ऐसी होनी चाहिए जो इन दोषों को दूर कर सके। इस शिक्षा की कार्य प्रणाली ऐसी हो कि मनुष्यों की आर्थिक सुरक्षा को कायम रख सके तथा उन्हें सुसंस्कृत व योग्य बना सके। इस सामाजिक व्यवस्था की शिक्षा जीवन में नई सम्भावनाएँ पैदा करे। इसका यह अर्थ है कि शिक्षा जो आनन्दमय जीवन के लिए हो, ऐसी हो जो युवकों को अपने साथियों के साथ सुखपूर्वक तथा मेल के साथ रहने के योग्य बना सके। दूसरे शब्दों में ऐसी शिक्षा जो युवकों को जीवन की समस्याओं के सुलझाने में अग्रसर करे और योग्यता तथा शक्ति प्रदान कर सके जिससे वे जीवन के आवश्यक कार्यों में भाग ले सकें और अपना तथा समाज का भला कर सकें। सूक्ष्म में हमें उस जीवन में केन्द्रित शिक्षा की आवश्यकता है जो हमारे कार्यों तथा प्रभावों में बनावटी मित्रता को दूर कर सके, हमारे विचारों तथा व्यवहारों के अन्तर को दूर कर सके तथा हम जो कुछ सोचते हैं और जो कुछ करते हैं उसमें पाये जाने वाले अन्तर को दूर कर सके।[1]

व्यक्ति तथा समाज

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि बिना समाज के व्यक्ति का कोई स्थान नहीं है। व्यक्ति न तो अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास ही कर सकता है और न वह मिली हुई शैक्षिक सुविधाओं का पूर्ण लाभ ही उठा सकता है; यदि उसके चारों ओर का वातावरण उसके विकास तथा वृद्धि के लिए उपयुक्त नहीं है। सामाजिक शिक्षा के द्वारा ही व्यक्तिगत इच्छाएँ पूरी की जा सकती हैं। वास्तव में मनुष्य अपने में ही अपना स्थायित्व कायम नहीं रख सकता, वह कभी भी सन्यासी बन कर नहीं रह

---

1 It is only through realistic—and therefore life-centred education that this great gulf between thinking and doing, between school and community, can be permanently bridged and therefore forgotten. And unless the gulf is speedily eliminated, democracy in the Global Air Age may not long endure." [*Olsen, Edward. G* : School and Community, p. 20]

सकता। हमें मनुष्यों की प्रत्येक संदिग्ध अवस्था के बारे में उनके व्यवहार तथा पारस्परिक सम्बन्धों पर ध्यान देना होगा। पुरुषों तथा स्त्रियों का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि उनका अध्ययन सामूहिक रूप से किया जाना चाहिए। मनुष्य का विज्ञान समाज का विज्ञान होना चाहिए।[1] उसके जीवन में उसका सामाजिक तथा भावनात्मक दृष्टिकोण वर्ग से सम्बन्धित रहता है।[2] इस बात को पुनः कहने की आवश्यकता नहीं है कि शिक्षा प्रणाली अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए समुदाय पर आश्रित रहती है। शिक्षा सम्बन्धी सुधार एकान्त में पूरे नहीं हो सकते बल्कि वे तो परिवर्तित सामाजिक व्यवस्था के परिणाम हैं। सामाजिक आन्दोलन शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था, प्रणाली, प्रशासन तथा पाठ्यक्रम में परिवर्तन कर देते हैं। शिक्षा समय तथा स्थान से असम्बन्धित नहीं रखी जा सकती। सामाजिक क्रियाएँ उसके नमूने तथा निर्देशन में परिवर्तन करती हैं तथा सामाजिक परिवर्तन अपना प्रभाव शिक्षा सम्बन्धी प्रणालियों पर डालते हैं। मनुष्य के सीखने में उसके विचारों तथा विधियों को समाज से सम्बन्धित रहना पड़ता है।

शिक्षा का महत्व तभी है जबकि वह व्यक्ति को यह अनुभव करावे कि उसका समाज के साथ सम्बन्ध है तथा वह उसी के अनुसार काम करता है। लड़के, लड़कियाँ, स्त्री-पुरुष सभी व्यक्तिगत रूप से समाज में से समाज से अलग-अलग नहीं किये जा सकते। उनका अलग रहकर कोई व्यक्तित्व नहीं है। वे इस अनन्त समाज से अलग नहीं रह सकते। बच्चा सामाजिक वातावरण में रहता है तथा उसी में विकसित होता है। समाज का एक उत्तम व्यक्ति होने के लिए निम्नलिखित विशेष-

---

1 Man never exists in himself, he never lives as a true hermit. Man is the wrong word; we should speak of 'men' and we should ground our every speculation about men on the concrete behaviour and relations of men as we find them. The most conspicuous feature of men and women is that they must be discussed in the plural; they are social by Nature. The science of men will be the science of society."

[*Robert S.* Cohen—Essay on the Marxist philosophy of Education, The Fifty-Fourth Year Book of the Society for the study of Education; Modern Principles and Education, pp. 177-178]

2 "Education is the consciously controlled process, whereby changes in behaviour are produced in the person and through the person within the group." Education "makes for more effective participation in the total process of social interaction whether in terms of social economics, health or any other socially desirable human value." [*Brown Francis, J.* : Educational Sociology, p. 168]

ताएँ होनी चाहिए। (1) उसमें आर्थिक कुशलता तथा दक्षता होनी चाहिए जिससे कि वह अपने आर्थिक जीवन में अपना भार खींच सके। (2) नकारात्मक नैतिकता होनी चाहिए अर्थात् यदि उसके कार्य अन्य व्यक्तियों की आर्थिक दक्षता में बाधक हों तो वह अपनी इच्छाओं का बलिदान कर सके। (3) स्वीकारात्मक नैतिकता होनी चाहिए अर्थात यदि उसके कार्य समाज की उन्नति में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहायक नहीं होते तो उसे अपने कार्यों का बलिदान कर देना चाहिए। शिक्षा के प्रभावोत्पादक होने के लिए उसे सामाजिक परिवर्तन के अनुकूल, अपने में परिवर्तन करने की शक्ति होनी चाहिए। ऐसे परिवर्तन राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक हो सकते हैं। शिक्षा की विधि तथा पाठ्यक्रम के बनाने में जो संयम प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है वे समाज की परिवर्तित परिस्थितियों के उतने ही प्रतिरूप हैं जितने कि वे प्रयत्न जिनसे व्यक्ति अपने को वातावरण के अनुकूल बनाने में करता है। हमारे देश में प्रारम्भिक शिक्षा की योजना, बहुप्रयोजनवादी स्कूल तथा जनता कालेजों में उन नई परिस्थितियों के परिणाम हैं जो आजादी मिलने के बाद हमारे सामने आईं और जो उस समय के सामाजिक तथा आर्थिक कारणों से पैदा हुईं। शिक्षा को समाज के विरुद्ध कार्यों को रोकना चाहिए जो समाज की समृद्धि, स्थिरता तथा कार्य क्षमता को रोकते हैं। स्कूल एक सामाजिक संस्था है इसलिए उसकी यह जिम्मेदारी हो जाती है कि बालकों को सामाजिक जीवन के तरीकों को बताया जाय। राष्ट्रीय जीवन में क्रियाशील भाग लेने के लिए बालकों में निपुणता तथा काल की शिक्षा देना विद्यार्थियों का कर्तव्य है।[1] अब तक जो परम्परागत शिक्षा प्रणाली काम में लाई जा रही है वह जीवन के वर्तमान वर्णनों से सम्बन्धित नहीं है। इस प्रणाली ने शिक्षा को बड़े ही संकुचित क्षेत्र में विकसित किया है जो स्कूल की केवल चहार-दीवारी के वातावरण से ही सम्बन्धित रहती है और बालकों के दिमाग में ज्ञान बिना सोचे समझे तथा बे तरतीब तरीके से भरती है। यह प्रणाली इस बात में विश्वास रखती है कि एक ही प्रकार के सभी बच्चों के मस्तिष्क को विकसित किया जा सकता है और इस तरह बालकों के राष्ट्रीय विकास के क्रम को अवरुद्ध कर देती है। शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य बालकों की व्यक्तिगत निपुणताओं को उभारना है, जिसके द्वारा वह सहकारिता, सहनशीलता तथा भावनात्मक ज्ञान का उपयोग करना सीख जाता है। समाज सम्बन्धित मनुष्य की शिक्षा लक्ष्य को प्राप्त करने का एक साधन है स्वयं अपना लक्ष्य नहीं है। मनुष्य समाज का अभिन्न अंग है अतः उसका स्वयं का

---

1 School ought to stress the duties and responsibilities of individual citizens; they ought to train their pupils in the spirit of cheerful willing and effective service.....They will themselves be model communities."
Ross, James S.: Groundwork of Educational Theory, pp. 43-44]

विकास अधूरा ही रह जायगा, यदि उसके चारों तरफ का समाज उन्नतिशील आधार पर स्थित नहीं है। रेमान्ट ने यह ठीक कहा है कि अकेला समाज से असम्बन्धित व्यक्ति कल्पना का रूप है। जब तक मनुष्य सामाजिक प्राणी माना जायगा उसके व्यक्तित्व का विकास समाज की आवश्यकताओं से प्रभावित रहेगा और वह समाज की माँगों को अनुकूल बनाने से सम्बन्धित रहेगा। ब्रजलता ने कहा है कि शिक्षा के आदर्शमय तथा सुन्दर होने के लिए यह आवश्यक है कि वह व्यक्तियों में सामाजिक सम्बन्ध तथा समाज सेवा की भावना को उत्साहित करे; जहाँ व्यक्ति समाज के भले के लिए अपने हितों को गौढ़ समझना सीखता है। शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य व्यक्ति में अच्छी नागरिकता के लक्षण पैदा करना है तथा उसे प्रजातन्त्रीय पद्धति से रहना सिखाना है, जहाँ वह अपनी राय स्पष्टतया देता है और दूसरे लोगों की राय को ज्ञान शक्ति की भावना से ग्रहण करता है। रूजवेल्ट जो अमरीका के प्रेसीडेन्ट थे उन्होंने एक बार कहा कि हम सभी पुरुषों तथा स्त्रियों की योग्यता तथा महत्त्व की परीक्षा इस बात के द्वारा करते हैं कि उन्होंने मनुष्यों तथा समुदाय के भले के लिए क्या-क्या महान कार्य किये हैं।[1]

शिक्षा का आधुनिक विचार बिल्कुल भिन्न है। आजकल सभी शिक्षा सम्बन्धी प्रशासकों तथा विचारकों ने इस बात को मान लिया है कि स्कूल ऐसी संस्था नहीं है जो समाज से अलग तथा भिन्न हो, जो केवल कुछ निश्चित कार्यों को करती है; जिनको कोई दूसरी संस्था नहीं कर सकती बल्कि यह तो उस सामान्य समाज का अंग है जो एक सामूहिक रूप से सभी कार्यों को करती है, अतः स्कूल एक ही बीज की दूसरी पौध है। समुदाय की आवश्यकताओं को लेकर ही स्कूल का सही कार्यक्रम बनाया जा सकता जो समाज में मनुष्य के जीवन का अभिन्न अंग है। यह संस्था उन लोगों द्वारा बनाई जाती है जिनके लिए तथा जिनके द्वारा इसकी सेवा की जाती है। फ्रैड्रल ने स्कूलों को एक एजेन्ट बताया है जो परम्परा से प्रचलित सांस्कृतिक वंशा-

---

1 Education must develop his individuality which may interact fruitfully and dynamically with the environment.....This individuality does not grow in a vacuum; it must draw its strength and sustenance from its interaction with the forces operating in the world around. If education confines itself to the narrow groove of the traditional school subjects and activities and remains complacently indifferent to these wider issues, the students will grow up without being aware of them and they will not be able to adjust themselves properly to the new economic, social, political and technological development."
[*Saiyidain K. G.* : Education, Culture and the Social Order (Introduction), p. X.]

नुक्रम को एक स्थान दूसरे स्थान तक पहुँचाता है। स्कूल समाज में पाई जाने वाली संस्कृति के आवश्यक अंगों तथा तत्वों को फैलाने के लिए होते हैं। हारोल्डरज ने स्कूल को एक साहसिक कार्य बताया है जिसे सामाजिक तथा व्यक्तिगत क्षेत्रों में पूरा किया जाता है।

स्कूल समाज का सूक्ष्म रूप है

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि स्कूल एक ऐसा स्थान है, जहाँ बच्चों को केवल किताबी ज्ञान ही नहीं कराया जाता परन्तु वहाँ उन्हें अपने उन मानसिक तथा नैतिक गुणों के विकास का अवसर मिलता है जो व्यक्ति के लिए सामाजिक क्रियाओं को पूरा करने के लिए आवश्यक हैं। किताबी ज्ञान व्यक्ति को समाज में अपना उचित स्थान पाने के लिए शिक्षित बनाने में लाभकारी नहीं होता। वह शिक्षा जो जीवन केन्द्रित हो, युवकों को जीवन के कार्यों में भाग लेने का सुअवसर देकर जीवन सफल बनाने के लिए प्रशिक्षण देती है; वही व्यक्ति को इस योग्य बना सकती है कि वह जीवन की समस्याओं का साहस तथा दृढ़ता से मुकाबिला कर सके। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि स्कूल तथा समाज को हमारे देश में एक बहुत बड़ी खाई अलग-अलग किये हुए है और इसी का परिणाम यह है कि देश के युवकों में निराशा तथा निर्जीवता पाई जाती है। वे अपनी सामाजिक आवश्यकताओं को संतुष्ट नहीं कर पाते और सामाजिक भागों से महरूम रह जाते है।[1]

शिक्षा के पुनः निर्माण में कोई भी प्रयत्न इस बात को आवश्यक समझेगा कि स्कूल तथा समाज में विशेष सम्बन्ध स्थापित किया जाय तथा शिक्षा संस्थाओं को ऐसा रूप दिया जाय कि वे स्वतन्त्र समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को ठीक प्रकार से पूरा कर सकें। मुदालियर कमीशन की रिपोर्ट में कहा गया है "कि शिक्षा में सुधार करते समय सर्वप्रथम इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि स्कूल जीवन से सम्बन्धित हो तथा उनमें पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जाय जो शिक्षा की औपचारिक परम्पराओं के विकास के साथ टूट गया है।[2] अतः यह ठीक ही समझा जाता

---

1 "They have not been helped to analyse the contemporary society, in which they live.....they have not been taught to see the school as a social institution in all of its complex relationship to the society that supports and controls it."
[*Stanly Smith, Benne and Anderson* : Social Foundations of Education, p. 2.]

2 The starting point of educational reform must be the relinking of the school to life and the restoring of the intimate relationship between them which has broken down with the development of the formal tradition of Education." [Govt of India, Ministry of Education Report of the Secondary Education Commission, p. 220.]

है कि स्कूल का कार्यक्रम प्रारम्भिक रूप से क्रियात्मक होना चाहिए। उसका कार्य उन अनुभवों का बालकों को ज्ञान कराना है जो बालकों की आवश्यक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जरूरी हैं। युवकों को शिक्षा देने के लिए सामाजिक वर्गों द्वारा स्कूल स्थापित किये जाते हैं जिससे कि वे समाज की तरह अपने को स्थापित कर सकें, वर्ग की विशेषताओं में सुधार कर सकें, व्यक्ति की स्थिति में विकास कर सकें। स्कूल उन संस्थाओं तथा अंगों में से मुख्य एक हैं जिसमें समाज बच्चों तथा युवकों को योग्य बनाता है।"

स्कूल समाज का सूक्ष्म रूप है जिसमें समाज के वृहद्य रूप के सभी आदर्श तथा गुण विद्यमान है। यह बड़े समुदाय के अन्तर्गत एक छोटा समुदाय है, जिसमें बालकों के आवश्यकीय एवं वांछनीय गुणों को इसलिए विकसित किया जाता है कि वह समाज का योग्य सदस्य बन सके। यह बालकों में केवल सामाजिक गुणों को स्थिर रखने के लिए नहीं वरन् उसे अधिक विकसित करने के लिए उचित वस्तु ज्ञान कराती है। प्रजातन्त्र में कोई भी स्कूल अपने स्थायित्व के लिए अपने को उचित नहीं ठहरा सकता यदि वह शिक्षा के सामाजिक लक्षणों को नहीं सिखाता। एक आदर्श स्कूल बालक के स्कूल के अन्दर तथा बाहर के अनुभवों में अन्तर नहीं चाहता। वह तो दोनों प्रकार के अनुभवों को एक तथा मिला देना चाहता है और स्कूल के बाहर तथा अन्दर विचारों के आदान प्रदानों को सुलभ बनाता है। अतः स्कूल समाज का प्रतिरूप बन जाता है, सामुदायिक जीवन का केन्द्र बन जाता है जो बच्चों तथा उनके अभिभावकों के दिमाग पर यह प्रभाव डालता है कि स्कूल के अनुभव बाहर के अनुभवों से पूर्णतया सहसम्बन्ध हैं और सच्ची शिक्षा इन दोनों अनुभवों के सम्बन्ध का ही परिणाम है।

प्रजातन्त्र देश में एक आदर्श स्कूल के क्या-क्या कार्य हैं इस विषय में सैकण्डरी स्कूल कमीशन की रिपोर्ट का कुछ अंश उल्लेखनीय है। उसमें लिखा है कि स्कूल निस्संदेह एक समुदाय होगा और उसकी सफलता तथा शक्ति उसके तथा विस्तृत बड़े समुदाय के बीच में पाये जाने वाले स्वथ्य प्रभावों के पारस्परिक कार्यों पर निर्भर करेगी। हम जो कुछ देखना चाहते हैं वह यह है कि उसका दोहरा मार्ग चलन हो (two way traffic) जिससे कि वे समस्याएँ जो घर में तथा समुदाय में उपस्थित होती हैं और वहाँ जो वास्तविक अनुभव होते हैं उन्हें स्कूल में लाया जाना चाहिए। शिक्षा उन्हीं समस्याओं पर आधारित होनी चाहिए और अन्त में शिक्षा वास्तविक जीवन से सम्बन्धित हो जाय। दूसरी ओर नया ज्ञान, कुशलता, विचार तथा उपयोगिताएँ जो स्कूल में प्राप्त होती हैं उन्हें अपने ग्रहस्थ जीवन में ले जाया जाय जिनके द्वारा उन समस्याओं को पूरा किया जा सके, उनके स्तर को बढ़ाया जा सके तथा बालक, अध्यापक तथा अभिभावकों को एक श्रेणीबद्ध तथा लाभकारी समूह के रूप में बनाया जा सके बाह्य जीवन स्कूल पर प्रभाव डाले तथा स्कूल की चाहरदीवारी को तोड़ दे जो उसे समाज से अलग बनाये रखती है तथा समाज के अन्तर्गत होने वाले जीवन के कार्यों से अलग रखती हैं।

स्कूल का कार्य बच्चों के अनेक अनुभवों का समन्वय करना है तथा उन पर यह प्रभाव डाले कि स्कूल के अनुभव इस दृष्टि से स्थिर, महत्त्वपूर्ण तथा शक्तिपूर्ण है कि वे स्कूल के बाहर के अनुभवों के महत्त्वपूर्ण सूक्ष्म रूप हैं।

शिक्षा बालकों में सामाजिक कार्यक्षमता का अनुभव कराने का एक साधन है, यह कोई एक नई शैक्षिक सिद्धान्त की बात नहीं है। यह पेस्टालॉजी ने अपने शिक्षा के सिद्धान्त में मानी है। हरबर्ट, फ्रोबेल और हरबर्ट स्पैन्सर ने भी अपने शिक्षा-सिद्धान्तों में इसी बात को स्वीकार किया है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसका विकास बिना उपयुक्त शिक्षा तथा स्कूल से सम्बन्धित समाज, के सम्भव नहीं हो सकता। फ्रोबेल का यह विचार कि स्कूल को समाज का सूक्ष्म रूप दिया जाय, और स्पैन्सर का ऐसे पाठ्यक्रम को चुनना जो सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो, दोनों ही अपने सिद्धान्तों में सामाजिक कार्यक्षमता के तत्त्व को महत्त्व देते हैं। समाज-शास्त्रीय आन्दोलन शिक्षा को नागरिकता के तैयार करने का एक मुख्य अंग मानते हैं।

डीवी ने भी अपने शिक्षा दर्शन-शास्त्र में शिक्षा के इन्हीं गुणों तथा लक्षणों पर जोर दिया है। वह व्यक्ति को निर्जन प्राणी नहीं समझता। मनुष्य तो सामाजिक प्राणी है और एक वास्तविक नागरिक है जो समाज के साथ सम्बन्ध रख कर अपना विकास करता है और अनेक समस्याओं को सोचता है। उसने शिक्षा की परिभाषा दी है कि वह व्यक्ति में उन सब शक्तियों का विकास है जिनके द्वारा वह इस योग्य बन जाता है कि वह अपने वातावरण पर नियन्त्रण कर लेता है और अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है। सभी प्रकार की शिक्षा व्यक्ति के समाज की वस्तुओं में ज्ञान की भावना से प्रारम्भ होती है। यही सिद्धान्त वार्धा प्रणाली में बताई गई बेसिक शिक्षा में अन्तर्निहित है। बेसिक स्कूल समाज का सूक्ष्म प्रतिरूप है।

शिक्षा और राज्य

राज्य कहाँ तक शिक्षा सम्बन्धी नीति निर्धारित करे और उसका कहाँ तक प्रबन्ध करे यह विषय बड़ा मतभेदपूर्ण है। कुछ लोग कहते हैं कि शिक्षा का प्रबन्ध परिवार, चर्च तथा सुधारवादी लोगों का काम है। उनके अनुसार राज्य तो केवल शिक्षा की अनौपचारिक एजेन्सी होनी चाहिए। दूसरा दृष्टिकोण समाजवादी लोगों का है; वे शिक्षा का समाजवादी रूप स्थापित करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि राज्य का स्वयं अच्छा होना तथा उसकी प्रकृति का उचित होना शिक्षा की प्रकृति, किस्म तथा सीमा पर आधारित है और इसलिए राज्य इसे दूर नहीं कर सकता। बालकों के अभिभावक अशिक्षित तथा निरक्षर हो सकते हैं। वे अपने ऐसे पेशे में लगे हो सकते हैं कि अपने बालकों की शिक्षा की ओर उचित ध्यान न दे पावें। पुनः चर्च के द्वारा दी गई शिक्षा बड़ी संकुचित तथा धर्म पर आधारित हो सकती है। इसलिए यह आवश्यक है कि राज्य अपने इस उत्तरदायित्व को भुला नहीं सकता और उसे शिक्षा

सम्बन्धी विषयों में अपना हस्तक्षेप अवश्य करना चाहिए चाहे इस दिशा में उसका निर्देशन तथा हस्तक्षेप शिक्षा के कार्यों का प्रबन्ध करने तथा अपना संरक्षण देने की दृष्टि से ही क्यों न हो। स्कूल के आदर्श राज्य के आदर्शों के विपरीत रहकर पूरे नहीं किये जा सकते। शिक्षा राज्य की दीर्घजीवी पूँजी है जिसका फल उसे बाद में मिलता है। राज्य को चाहिए कि वह शिक्षा के उद्देश्य सम्बन्धी विस्तृत सिद्धान्तों को निश्चित रूप दे तथा उनको कार्यरूप में परिणित कराने की व्यवस्था करे। उसे पाठ्य-क्रम तथा पाठ्य-पुस्तकों का भी प्रबन्ध करना चाहिए। विशेषतः यह हमारे देश के बारे में सत्य है जो शताब्दियों की गुलामी की जंजीरों से छूट कर हाल ही में मुक्त हुआ है। राज्य को शिक्षा के उचित और स्वस्थ सिद्धान्तों तथा परम्पराओं को निश्चित करना चाहिए क्योंकि इसी के द्वारा शिक्षा सन्बन्धी प्रणाली के कार्यों का प्रबन्ध होता है। राज्य के बच्चों के लिए उस पर औपचारिक रूप से शिक्षा देने की जिम्मेदारी है। शिक्षा के प्रसार के लिए दोनों प्रकार की शिक्षा—सामान्य तथा टैक्नीकल तथा उसमें हर स्तर पर सुधार करने के लिए राज्य को अपनी जिम्मेदारी महसूस करनी चाहिए तथा लाभकारी और अथक प्रयत्न करने चाहिए। आजकल की शिक्षा की यह प्रवृत्ति है कि विभिन्न विषयों में राज्य का शिक्षा पर नियन्त्रण होना चाहिए जिससे वह नागरिकों को इस योग्य बना सके कि वे पूर्णतया सुखी जीवन बिता सकें। यदि शिक्षा देना राज्य की औपचारिक जिम्मेदारी बन जाती है तो वहाँ इसके कुछ संकट भी हैं जो दूर नहीं किये जा सकते।

शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण तथा उससे उत्पन्न संकट

(1) शिक्षा की नीति निर्धारण करना तथा उसके प्रबन्ध में राज्य का नियंत्रण राज्य के उस दल के द्वारा नियन्त्रित रहता है, जो राज्य पर शासन करता है और उसी के आदर्शों को अपनाया जाता है।

(2) पार्टी शिक्षा के प्रबन्ध में शिक्षकों की तथा शिक्षा सम्बन्धी कार्यालयों में काम करने वाले कर्मचारियों की नियुक्ति अपने हितों को देख कर करती है। शिक्षा की नीति निर्धारण में भी पार्टी के हित का ही विशेष ध्यान दिया जाता है।

(3) यह खतरा रहता है कि राज्य अपने आदर्शों को आने वाली पीढ़ी पर डाल देती है और उन्हें बिना सोचे समझे उनको मानना पड़ता है। उनके स्वाभाविक व प्राकृतिक बहुमुखी विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।[1]

---

1 "It is supreme to dictate what shall be taught and how it shall be taught. In curriculum and method the watch word are always discipline, organization, a willing acceptance of authority, a Clamping—down of individuality."

[*Ross James S.* : Groundwork of Educational Theory, p. 38.]

(4) शिक्षा सम्बन्धी विषयों पर राज्य का कड़ा नियन्त्रण रहने से वह उसके उद्देश्यों को नष्ट कर देता है।

(5) शिक्षा सम्बन्धी विषयों में राज्य के नियन्त्रण से शिक्षा के सही उद्देश्य व लक्ष्य की प्राप्ति में रुकावट आ जावेगी। शिक्षा ऐसी हो जो व्यक्ति को इस योग्य बना दे कि मानव जीवन को सुखमय बनाने में मदद दे सके।[1]

(6) वे मनुष्य जो शिक्षा की प्रणाली को राज्य की ओर से कार्यान्वित करते हैं, मनुष्यों को अच्छा नागरिक नहीं बना सकते। शिक्षा से क्षेत्र में राज्य के नियन्त्रण से बहुत सी बुराइयाँ आ जाती हैं। ज्ञान के उपयोगी पहलू पर जोर दिया जाता है जिसके द्वारा मानव का अधिक से अधिक कल्याण किया जा सके। विज्ञान के राजकीय प्रयोग तथा वैज्ञानिक मानव में जो संघर्ष पाया जाता है उससे वैज्ञानिक उन्नति रुक सकती है।

भारत में शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण

भारतवर्ष में शिक्षा पर राज्य के नियन्त्रण की समस्या में विशेष बाधाएँ तथा रुकावटें हैं। आजादी के बाद देश ने अभी हाल में ही सरकार की प्रजातन्त्रीय संसद प्रणाली को अपनाया है। अभी तक राजनीतिक दल पूरी तरह से स्थिर तथा स्थापित नहीं हो पाये हैं। उनमें से अधिक संख्या में अभी तक प्रमाणित नहीं हो पाए हैं। तथा कई पार्टियों ने अपने राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षिक कार्यक्रमों की रूप-रेखा भी बनाई है। ब्रिटिश शासन में प्रचलित शिक्षा प्रणाली बाल मनोविज्ञान के सही सिद्धान्तों, पेशेवर कार्य क्षमता, तथा शिक्षा के सामाजिक दृष्टिकोण पर आधारित नहीं थी। कुछ हालतों में तो राष्ट्रीयता के उद्देश्यों के विरुद्ध थी। इसलिए हमारी शिक्षा प्रणाली शैक्षिक उपयोगिता के आधार पर नहीं थी। उसके संगठन के ढाँचे में भी परिवर्तन की आवश्यकता है। इसलिए शिक्षा क्षेत्र में राज्य का कठोर नियन्त्रण शिक्षा को नष्ट कर सकता है।

इस दोष की उस समय और भी अधिक होने की सम्भावना हो सकती है जब विभिन्न राजनैतिक दल राज्य तथा केन्द्र में शक्ति में आ जाँय। उदाहरण के तौर पर जब केरल राज्य में कम्यूनिस्ट पार्टी पदासीन हुई तथा केन्द्र में काँग्रेस दल पदासीन हुई तो यह दोष स्पष्ट झलकने लगा। राज्य के शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम तथा केन्द्रीय शिक्षा सम्बन्धी विषयों में बड़ा कटु मतभेद हो गया। इस बात की आलोचना की गई पदासीन दल अपने दल से आदर्शों को जबरन राज्य की शिक्षा प्रणाली पर लागू

---

1 "Education must enable the individual to make his originals contribution to the variegated whole of human life as full and as truely characteristic as his nature permits." [*Nunn, Sir Percy* : Education, its Data and Principles. p. 4]

करना चाहता है। यह राज्य के द्वारा बनाये गये पाठ्यक्रम तथा पाठ्य-पुस्तकों के निर्धारण द्वारा। इस आलोचना को ध्यान में रखकर 1958-59 में जो पाठ्य-पुस्तक जाँच कमेटी बनाई गई उसने कहा कि यद्यपि अधिकारियों की ओर से शिक्षा के ऊपर दल के सिद्धान्तों को लादने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया है, फिर भी सामाजिक विषय का कोर्स दुहराया जाना चाहिए; और सहायक पुस्तकें परिवर्द्धित पाठ्य-वस्तु के अनुसार तैयार की जानी चाहिए। यह भी ठीक है कि हमारा प्रजातन्त्रवाद जो समाजवाद पर आधारित है इसमें विभिन्न संस्थाओं द्वारा दी गई शिक्षा अधिक सैद्धान्तिक तथा संकुचित हो।

अतः यह स्पष्ट है कि शिक्षा के सम्बन्ध में राज्य अपनी जिम्मेदारी को पूर्णतया नहीं त्याग सकता। शिक्षा के क्षेत्र में राज्य का नियन्त्रण संरक्षण तथा प्रबन्ध की दृष्टि से होना चाहिए पूर्णतया नहीं जिससे शिक्षा के प्रबन्ध में काम करने वाले लोगों का उत्साह ही समाप्त हो जाय। न तो शिक्षा का पूर्ण समाजवाद का होना ही उचित है और न उसका अपरिवर्तनशील प्रबन्ध ही। हर स्तर पर शिक्षा की विभिन्न एजेन्सियों को अपने साधन शिक्षा के बढ़ाने के लिए मात्रा तथा किस्म में, प्रयोग करने चाहिये। वे बजाय एक दूसरे के विरोध के आपस में एक दूसरे के कार्यों में पूरक का काम करें। शिक्षा के उद्देश्यों तथा उसके लक्ष्यों को प्राप्ति करने के लिए जैसे बालक के व्यक्तित्व का विकास तथा सफल नागरिकता की प्राप्ति के लिए उसके व्यवहार में सुधार के लिए राज्य, चर्च तथा परिवार सबको मिलाकर एक दूसरे का पूरक बनकर कार्य करना चाहिये। राज्य को शिक्षा के मामलों में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिये तथा इसके प्रबन्ध करने वाली संस्था इस क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ राज्य द्वारा निर्धारित आधार पर काम करे। रेमान्ट ने शिक्षा के क्षेत्र में राज्य के तथा समाज के कार्यों को इस तरह बताया है "राज्य का कार्य शिक्षा को बचाना तथा बढ़ाना है उसको समाप्त करना या परिवार या व्यक्ति का काम अपने हाथ में लेना नहीं है।.....लेकिन यह ध्यान रखना है कि राज्य नियन्त्रण शिक्षा के सिद्धान्तों के विपरीत न हो, उनका हनन न कर पाए अर्थात् उसका आंशिक निर्देशन तथा नियन्त्रण होना चाहिए।"

सारांश

शिक्षा तथा सामाजिक व्यवस्था—समाज के शिक्षा प्रणाली द्वारा उत्पादक शक्तियों के विकसित करने तथा नैतिक गुणों के प्रतिपादन के आधार पर समाज की स्थापना होती है तथा उसका पोषण होता है। शिक्षा बालकों में ज्ञान तथा उपदेश द्वारा शिक्षा पैदा करती है। इसकी स्थापना अपने आप बार-बार नवीन रूप में आकर होती है।

समाज विभिन्न शिक्षा संस्थाओं के विचारों के आदान-प्रदान क्रियाओं तथा परम्पराओं के एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने के लिए स्थापित करती है।

शारीरिक जीवन के विकास में जो स्थान खाद्य पदार्थों तथा उत्पादक शक्तियों का है वही स्थान सामाजिक जीवन में शिक्षा का है। सामूहिक भलाई के लिए शिक्षा मनुष्यों के लिए विकास तथा उन्नति का अवसर प्रदान करती है। शिक्षण संस्थाओं का उद्देश्य परिवर्तनशील वातावरण के अनुकूल पुरुषों तथा स्त्रियों के सुखी जीवन बिताने में, उनकी सभ्यता में सर्वोत्तम तत्वों का विकास करने में तथा सामाजिक तथा आर्थिक विकास में मदद करती है, जो उन्हें संसार में अपना स्थान स्थापित करने के योग्य बनाती है तथा उन्हें शान्ति के साथ मिलकर रहना सिखाती है।

(1) शिक्षा की विशेषताएँ सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित हैं। शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ एकान्त में पैदा नहीं हो सकतीं वे तो समाज में पाई जाने वाली सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में पैदा होतीं हैं।

(2) शिक्षा जो समाज की आवश्यकता तथा स्थिति के अनुसार नहीं होती वह समाज के ऊपर भार स्वरूप रहती है। न तो वह सामाजिक व्यवस्था का निर्माण कर सकती है और न उसकी संस्कृति को बढ़ा सकती है।

(3) शिक्षा अपना प्रभावशाली तथा लाभकारी प्रभाव मनुष्यों तथा उनकी विभिन्न संस्थाओं पर नहीं डाल सकती यदि शिक्षा तथा सामाजिक व्यवस्था मिली हुई नहीं है और एक दूसरे के काम को पूरक बनकर नहीं करती।

(4) शिक्षा एक सनातनी शक्ति है परन्तु सामाजिक व्यवस्था से बिना प्रभावित हुए स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर सकती। शिक्षा अपने चारों ओर के वातावरण से जो उसके आदर्श तथा संगठन का निर्देशन करती है, सीमित है।

शिक्षा हमेशा समाज और राज्य की आवश्यकताओं से प्रभावित होती है। अलग-अलग समय तथा विभिन्न स्थितिओं में, विभिन्न देशों में राज्यतन्त्रीय लोग, पादरी लोग शिक्षा के माध्यम के द्वारा अपने आदर्शों और अधिकारों को अन्य लोगों पर डालते रहे हैं। शिक्षा के आदर्श न तो नैतिकता के स्तर के विरुद्ध हों और न वे अन्तर्राष्ट्रीय विचार तथा एकता में बाधा ही डालते हों। यदि शिक्षा को गतिशील होना है तो वह समुदाय के विकास की ओर हो। शिक्षा तथा सामाजिक व्यवस्था एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालते हैं।

भारतीय शिक्षा तथा सामाजिक व्यवस्था—आजादी के बाद देश में अनेक समस्याएँ आईं। आधुनिक समाज की अपने व्यक्तियों पर उसके विकास तथा वृद्धि के लिए नहीं बल्कि उसके जीवित रहने के लिए भी अधिक माँगें हैं। मनुष्यों को अपने हितों को कम महत्व देने तथा राष्ट्रीय हितों के साथ मेल करने के लिए पूरी-पूरी कोशिश करनी चाहिए।

बहुत-सी बुराइयाँ हमारे राष्ट्रीय जीवन को जकड़े हुए हैं। नवीन सामाजिक व्यवस्था के लिए शिक्षा को इनका साहस के साथ सामना करना चाहिए। आज हमें जीवन केन्द्रित शिक्षा की आवश्यकता है।

व्यक्ति तथा समाज— कोई भी व्यक्ति समाज के बिना नहीं रह सकता। व्यक्तिगत आवश्यकताएँ सामाजिक ढाँचे में ही पूरी हो सकती हैं। सामाजिक आन्दोलन शिक्षा की व्यवस्था, पद्धति, पाठ्यक्रम में परिवर्तन करते हैं। बालक के सीखने में बच्चे का विचार मनुष्य तथा क्रियाएँ सामाजिक वातावरण से सम्बन्धित हैं। बालक सामाजिक वातावरण में रहता है तथा विकास करता है। स्कूल एक सामाजिक संस्था है। यह बच्चे के समाज तथा जीवन के तरीके से परिचित करे। शिक्षा की परम्परागत प्रणाली अब तक जीवन की प्रचलित आवश्यकताओं से दूर हो रही है। समाज से सम्बन्धित शिक्षा उद्देश्य की पूर्ति के लिये साधन मात्र है स्वयं उद्देश्य नहीं है।

स्कूल समाज का सूक्ष्म प्रतिरूप—स्कूल समाज के उद्देश्यों के अनुभव करने के लिए तथा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामग्री मात्र नहीं है। स्कूल केवल किताबी ज्ञान बालकों को प्रदान नहीं करता बल्कि उसे बच्चों को अनेक अवसर प्रदान करने चाहिए जहाँ वे अपने व्यक्तित्व का विकास तथा समाज के जीवन में लाभ पूर्वक हिस्सा लेने के लिए सामाजिक कुशलता प्राप्त कर सकें। समाज तथा स्कूल में एक शक्तिशाली सम्बन्ध होना चाहिए। स्कूल का कार्यक्रम क्रियात्मक होना चाहिए। स्कूल समाज का सूक्ष्म प्रतिरूप है जो समुदाय के आदर्शों को प्राप्त करता है। एक आदर्श स्कूल बालक के स्कूल के अनुभव तथा बाहर के अनुभवों में भेद तथा अलगपन सहन नहीं करेगा। शिक्षा बालकों की सामाजिक कार्यक्षमता को प्राप्त करने का एक साधन है, इस बात को पेस्टालॉजी, हरबर्ट, फ्रोबेल, हरबट स्पेंसर और डीवी सबने स्वीकार किया है। यही सिद्धान्त बेसिक शिक्षा में भी लागू होता है।

राज्य एवं शिक्षा—कुछ लोग कहते हैं कि शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण रहना चाहिए। दूसरे ये कहते हैं कि शिक्षा तो परिवार, चर्च तथा सुधारवादियों के क्षेत्र का विकास रहना चाहिए। शिक्षा पर राज्य नियन्त्रण वैज्ञानिक आधार पर आधारित है।

(1) राज्य की भलाई तथा भविष्य शिक्षा के द्वारा ही ठीक प्रकार हो सकती है।

(2) वर्तमान समाज में माता-पिता पर इतना समय नहीं है कि वे अपने बच्चों की उचित शिक्षा का प्रबन्ध कर सकें।

(3) प्राइवेट संस्था अथवा चर्च द्वारा दी गई शिक्षा धार्मिक, दलगत तथा संकुचित हो सकती है।

(4) शिक्षा को राज्य की दीर्घकालीन पूँजी बताया गया है। इसलिए शिक्षा के आदर्श राज्य के विपरीत दिशा में नहीं पूरे हो सकते।

ये सब बातें विशेषतया हमारे देश के बारे में सही हैं कि राज्य शिक्षा के मामले में पूर्णतया अपनी जिम्मेदारियों को अपने ऊपर से नहीं हटा सकता।

शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण तथा उसके संकट—(1) शिक्षा सम्बन्धी नीति निर्धारण राज्य की पदासीन पार्टी द्वारा होता है, जिससे वह पार्टी के आदर्शों से प्रभावित होती है।

(2) पार्टी अध्यापकों की नियुक्ति, पाठ्यक्रम के निर्धारण तथा पाठ्य पुस्तकों के निश्चित करने में विनाशकारी प्रयत्न करती है।

(3) इसमें असैद्धान्तिकता का खतरा रहता है।

(4) शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य तथा महत्व को नष्ट कर देता है।

(5) शिक्षा के वास्तविक उद्देश्यों की पूर्ति में बाधक होता है।

(6) शिक्षा के क्षेत्र में उसकी उपयोगिता ऋणात्मक हो जाती है।

राज्य शिक्षा सम्बन्धी मामलों में पूर्ण तथा अपनी जिम्मेदारियों की अवहेलना नहीं कर सकता। राज्य नियन्त्रण, संरक्षण तथा प्रबन्ध की दृष्टि से होना चाहिये; अध्यापन में लगे हुए आदमियों के उत्साह को कम करने की दृष्टि से नहीं। राज्य कम से कम दर्जे का स्तर कायम करदे और इस क्षेत्र में काम करने वाले अधिकारियों को काम करने को स्वायत्त अधिकार हो।

१९
प्रशिक्षण की मूलभूत विधियाँ

पिछले एक अध्याय में हमने शिक्षण की कुछ विशिष्ट पद्धतियों, जैसे बेसिक शिक्षा, प्रोजैक्ट पद्धति, डाल्टन पद्धति, मान्टेसरी प्रणाली आदि पर विचार किया है। ये पद्धतियाँ शिक्षण में बहुत महत्व रखती हैं, परन्तु प्रत्येक पद्धति का शिक्षा के स्तर और पाठ्यवस्तु से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक पद्धति प्रत्येक स्तर पर लागू नहीं हो सकती और न प्रत्येक प्रकार का पाठ्य-क्रम प्रत्येक पद्धति के द्वारा पढ़ाया जा सकता है। अतः किसी पद्धति को अपनाने से पहले उसकी उपयोगिता के समय लेना आवश्यक है।

शिक्षण की पद्धतियाँ सामान्य एवं बाल्य-मनोविज्ञान तथा प्रशिक्षण मनो-विज्ञान के ऊपर आधारित है। अतः उनका सही प्रयोग करने के लिए उन सिद्धान्तों का ज्ञान, जिन पर आधारित है, प्राप्त कर लेना आवश्यक है। वे सिद्धान्त प्रशिक्षण के प्रत्येक रूप को प्रभावित करते हैं। जिस प्रकार वे शिक्षण की पद्धतियों को प्रभावित करते हैं, उसी प्रकार वे कक्षा में प्रशिक्षण के सामान्य सिद्धान्तों एवं रूपों तथा उपकरणों के चयन एवं निर्णारण तथा उनके प्रयोग आदि को भी प्रभावित करते हैं। इन पिछले सिद्धान्तों द्वारा हम कक्षा में प्रशिक्षण के वास्तविक रूप की ओर इशारा करते हैं। जबकि शिक्षक कक्षा में विद्यार्थियों को ज्ञान प्रदान करने की अवस्था में हैं। वहाँ क्या होता है, किस प्रकार होता है, शिक्षक क्या करता है और पाठ्यसामिग्री को किस प्रकार उपस्थित करता है—ये सब बातें जिन सिद्धान्तों अथवा नियमों अथवा प्रस्तावों या तरकीबों पर निर्भर हैं उन्हें हम प्रशिक्षण के रूप एवं उपकरण की संज्ञा देते हैं। वे प्रत्येक स्तर पर, प्रत्येक पद्धति के अपनाने तथा प्रत्येक प्रकार के पाठ्यवस्तु के प्रस्तुतीकरण में लागू होते हैं। वे हैं—

(1) प्रश्न एवं उत्तर—उनके सिद्धान्त।
(2) वर्णन एवं व्याख्या के सिद्धान्त।
(3) दृश्य काव्य उपकरणों के प्रयोग के सिद्धान्त।
(4) उदाहरण और उनके रूप।
(5) संदर्भ संकेत।

इस अध्याय में हम इनके ऊपर संक्षेप में विचार करेंगे। किसी भी प्रशिक्षण क्रिया के ये सामान्य रूप कहे जा सकते हैं।

प्रश्न एवं उत्तर

किसी भी प्रकार की पाठ्यवस्तु की व्याख्या में प्रश्नोत्तर प्रणाली अनिवार्य है। उसके बिना प्रशिक्षण शिक्षक का कार्य रह जावेगा और विद्यार्थी उसमें भाग न ले सकेंगे। वे कक्षा में मूक बनकर बैठे रहेंगे और शिक्षक-शिक्षार्थी सहयोग के सिद्धान्त का बलिदान हो जावेगा। अतः प्रश्नोत्तर प्रणाली का प्रशिक्षण में बहुत मूल्य है और इसको अपनाये बिना कक्षा में प्रशिक्षण कार्य प्रभावोत्पादक नहीं हो सकता। इसके अलावा प्रश्नोत्तर प्रणाली अन्य कई प्रकार से लाभदायक है —

(1) प्रश्नोत्तर प्रणाली द्वारा किसी विषय की व्याख्या अथवा उसकी समीक्षा करने के प्रयास में विद्यार्थियों को पर्याप्त सोचना पड़ता है और इस प्रकार उनकी सम्पूर्ण मानसिक प्रक्रिया सक्रिय हो जाती है, उनकी तर्क शक्ति बढ़ती है, जिज्ञासा उत्पन्न होती है और विषय को वैज्ञानिक ढंग से समझने की शक्ति प्राप्त होती है। साथ ही साथ उनमें विश्लेषणात्मक समीक्षा एवं समालोचना करने की शक्ति बढ़ती है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि इस प्रणाली द्वारा विद्यार्थियों को स्वतन्त्र चिन्तन और अध्ययन का अभ्यास होता है।

(2) इस प्रणाली से पाठ्यवस्तु का वैयक्तिक ढंग से पूर्ण विश्लेषण हो जाता है और कहीं भी सन्देह के लिए स्थान नहीं रहता।

(3) प्रश्नोत्तर प्रणाली उस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का पालन करती है जिसके द्वारा शिक्षा को द्विमुखी प्रक्रिया (Bi-polar process) कहा गया है।

(4) यह प्रणाली पूर्ण रूप में जनतन्त्रीय सिद्धान्तों को कक्षा में स्थान देती है।

अच्छे प्रश्न—उनके गुण

प्रश्नोत्तर प्रणाली का सफल उपयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रश्न अच्छे हों और उत्तर ठीक ढंग से स्वीकार किए जाएँ। प्रश्न और उनके पूछने के ढंग दोनों का ठीक होना आवश्यक है वरना इस प्रणाली का दुरुपयोग भी हो सकता है। अच्छे प्रश्नों के गुण निम्नलिखित हैं—

(i) अच्छे प्रश्नों की भाषा सरल और स्पष्ट होती है।

(ii) वे पाठ्यवस्तु के प्रस्तुतीकरण में क्रमिक विकास में योग देते हैं।

(iii) वे छोटे होते हैं और विषय से उनका सीधा सम्बन्ध होता है।

(iv) वे विद्यार्थियों की चिन्तन शक्ति को प्रस्फुटित करते हैं तथा उसका विकास करते हैं।

(v) वे विद्यार्थियों के मानसिक स्तर के होते हैं जिससे विद्यार्थी उन पर विचार कर सकें और उनके उत्तर दे सकें। क्योंकि प्रत्येक कक्षा में कई प्रकार के बालक होते हैं अतः प्रश्न भी सही स्तरों के हों जिससे प्रत्येक बालक किसी न किसी प्रश्न का उत्तर दे सके।

(vi) प्रश्न के उत्तर उनसे प्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध हों। कोई भी प्रश्न ऐसा न पूछा जाय जिसका उत्तर संदिग्ध हो अथवा जिसके कई उत्तर हो सकें।

प्रायः वे प्रश्न जिनके उत्तर सोचने में विद्यार्थियों की कोई मानसिक क्रिया प्रयुक्त नहीं होती, अथवा जिनके बिल्कुल 'हाँ' या 'ना' में उत्तर दिए जा सकते हैं अथवा जिनके उत्तर संदिग्धात्मक होते हैं और भाषा जटिल होती है ठीक नहीं समझे जाते। हाँ, एक बात यहाँ कह देना बहुत आवश्यक है और वह यह कि प्रश्नों का अच्छा या बुरा होना पाठ्यवस्तु अथवा विषय की प्रकार के ऊपर भी निर्भर है। गणित जैसे विषय में कभी-कभी ऐसे प्रश्न पूछे जा सकते हैं जो ऊपर के सिद्धान्तों का खण्डन करते हों परन्तु वे कक्षा में सफलता के सूचक होते हैं। इसी प्रकार भाषा शिक्षण में, खासकर अन्य भाषा शिक्षण में जहाँ दोनों के अभ्यास पर जोर होता है अनेक बार 'हाँ' और 'ना' वाले प्रश्न करने पड़ते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्यतः उपरोक्त सिद्धान्त प्रश्नों के सम्बन्ध में ध्यान देने के हैं परन्तु किसी प्रकार का अपवाद होना कोई महत्त्वपूर्ण दोष नहीं है। प्रशिक्षण की सफलता का निर्देशक शिक्षक है और उपरोक्त सिद्धान्तों के साथ-साथ उसका निर्णय भी बहुत महत्व रखता है।

प्रश्नों के प्रकार

प्रश्नों का वर्गीकरण करने के लिए हम कई तरीके अपना सकते हैं। उदाहरणार्थ, पाठ्यवस्तु के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रश्न निम्न प्रकार के होते हैं—

(i) वे जो केवल तथ्य की जाँच करते हैं।

(ii) वे जिनमें बालकों को सोचना, तर्क वितर्क करना, आदि मानसिक क्रियाओं का प्रयोग करना होता है।

(iii) वे जिनमें केवल खाना पूरी करनी होती है अथवा अन्य प्रकार के नई प्रणाली के प्रश्न।

(iv) वे जिनमें केवल स्मरण शक्ति का ही प्रयोग होता है। रटने वाले बालक ऐसे प्रश्नों का उत्तर दे पाते हैं।

एक अन्य प्रकार के वर्गीकरण के आधार पर हमें प्रश्नों की कई श्रेणियाँ नजर आती हैं : जैसे—

(i) विषय सम्बन्धी प्रश्न—तुलनात्मक, विश्लेषणात्मक, परीक्षणात्मक, बोधात्मक आदि।

(ii) मानसिक क्रिया सम्बन्धी—स्मरण शक्ति से सम्बन्ध रखने वाले, कल्पना और तर्क शक्ति से सम्बन्ध रखने वाले, निर्णय से सम्बन्ध रखने वाले आदि।

(iii) प्रशिक्षण कार्य सम्बन्धी—पाठ से आगे बढ़ाने के लिए पूछे गए विविध प्रकार के प्रश्न, पाठ बोधगम्य हुआ या नहीं इसकी जाँच के लिए पूछे गए प्रश्न, व्याख्या व विवेचना सम्बन्धी प्रश्न, पुनरावृत्ति के प्रश्न, शिक्षक की सफलता की जाँच करने के लिए पूछे गए प्रश्न आदि।

प्रश्न किस प्रकार पूछे जायँ

प्रश्नों की उपयोगिता एवं सफलता केवल उनके चयन के माध्यम पर ही निर्भर नहीं करती है बल्कि इस पर भी निर्भर करती है कि शिक्षक किस प्रकार उनसे पूछता है, उत्तर न आने पर किस प्रकार बालकों को उत्तर देने के लिए संकेत देता है, किस प्रकार वह पूरक प्रश्न पूछता है और किस प्रकार वह प्रश्नों का क्रम व स्वरूप निश्चित करता है। कक्षा में अध्यापक का पूरा महत्त्व है। अच्छे प्रश्न एक अयोग्य शिक्षक के हाथ में भी कुछ माने नहीं रखते। अतः प्रश्न किस प्रकार पूछे जायँ और किस प्रकार उनके उत्तरों को लेकर क्रमिक ढंग से पाठ्यवस्तु की व्यवस्था की जाय यह बहुत महत्व की बात है। प्रश्नों के पूछने में निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—

(i) शिक्षक स्पष्ट बोले।

(ii) आवश्यकता होने पर ही प्रश्नों को दुबारा बोले अन्यथा नहीं।

(iii) प्रश्न पूछते समय पूरी कक्षा को सम्बोधित करे।

(iv) तदुपरान्त एक बालक से उसका उत्तर देने को कहे। सब बालक एक साथ न बोलें।

(v) यदि प्रश्नों के उत्तरों के दुहराने की आवश्यकता है तो कक्षा में कई बालकों से दुहरवाबे परन्तु यह क्रिया शीघ्रता से हो।

(vi) प्रश्नों को दुबारा पूछने पर उनकी भाषा को न बदले। यदि भाषा सबके लिए कठिन हो, अथवा प्रश्न कठिन मालूम पड़े तो सम्पूरक प्रश्न जो छोटे-छोटे होंगे पूछें।

(vii) यदि कोई बालक सहायता देने पर भी प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाता है तो दूसरे बालकों से उत्तर लिये जायँ और जो बालक उत्तर नहीं दे पाते हैं वे उनको दुहरावें।

(viii) प्रश्न पूछते समय, और अन्यथा भी, शिक्षक का रुख सहानुभूति पूर्ण हो जिससे बालक किसी भी अवस्था में उसके प्रति अपने आदर और विश्वास को न खो बैठें।

जिस प्रकार प्रश्न के पूछने के सम्बन्धों में ऊपर लिखी हुई कुछ बातें महत्व रखती हैं इसी प्रकार उत्तरों के सम्बन्ध में भी कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। नवीन शिक्षक को उनसे अपने प्रशिक्षण कार्य को सफल बनाने में काफी सहायता मिलेगी। वे ये हैं :

(i) उत्तर देते समय एक बार में एक ही बालक बोले।

(ii) उत्तर पूरे वाक्य में और शुद्ध भाषा में हो।

(iii) यदि उत्तर गलत है तो उसे कदापि स्वीकृति न दी जाय।

(iv) यदि बालक ने उत्तर सही दिया है तो उसे कुछ प्रोत्साहन दिया जाय। कभी-कभी शिक्षक का सिर हिलाना और थोड़ी मुस्कराहट ही बहुत प्रेरणा व प्रोत्साहन देने वाली हो जाती है।

(v) उत्तर देने वाला बालक स्पष्ट और इतने जोर से बोले कि कक्षा में सब बालक उसको सुन सकें।

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं प्रशिक्षण में कई प्रकार की तकनीकियों, विधियों और उपकरण प्रयोग में लाने पड़ते है। प्रश्नोत्तर प्रणाली उनमें एक है। अन्य प्रणालियों में व्याख्या, कथन, दृष्टान्त या उदाहरण श्रव्य-दृश्य उपकरणों का प्रयोग आदि आते हैं। हम थोड़ा-थोड़ा सबके विषय में भी यहाँ विचार करेंगे।

व्याख्या एवं उसके सिद्धान्त

किसी जटिल शब्द अथवा वाक्य अथवा पूरा अनुच्छेद आदि को सरल भाषा में स्पष्ट करने को व्याख्या कहते हैं। अत: यह आवश्यक है कि व्याख्या करते समय शिक्षक निम्नलिखित बातों को ध्यान में रक्खें :

(i) भाषा सरल हो।

(ii) व्याख्या करते समय उपयुक्त दृश्य-श्रव्य उपकरणों, श्यामपट्ट, आदि का प्रयोग किया जाय। यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि यदि विवाद को बालक की अधिक से अधिक इन्द्रियों के अनुभव क्षेत्र में लाया जावेगा तो वह विषय उतना ही अधिक सफलतापूर्वक बोधगम्य होगा। इसीलिए प्रशिक्षण में दृश्य-श्रव्य उपकरणों का बहुत महत्व है।

(iii) पाठ को छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित करके व्याख्या की जाय।

(iv) प्रत्येक स्तर पर प्रश्नों द्वारा यह जाँच करते रहना चाहिए कि वे व्याख्या को समझते जा रहे हैं।

यदि भाषा व पाठ्यवस्तु की व्याख्या बालक के मानसिक स्तर से ऊपर नहीं है, यदि शिक्षक ने उपयुक्त उपकरणों का सदुपयोग किया है और प्रश्नों द्वारा बालकों को भी व्याख्या में भाग लेने का अवसर दिया है तो व्याख्या सार्थक होती है।

दृष्टान्त, उदाहरण आदि

ये भी व्याख्या से ही सम्बन्ध रखते हैं और उसी से अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं। उदाहरण देते समय यह बात ध्यान में रखनी है कि उदाहरण ऐसे हों जो बालकों के अनुभव के अन्तर्गत हों। किसी भी शब्द अथवा पद अथवा अनुच्छेद की व्याख्या में उदाहरणों का बहुत महत्व है क्योंकि वे एक कठिन भाववाचक संज्ञा को भी सरल सुगम्य और उपयोगी बना देते हैं।

दृश्य-श्रव्य उपकरण

इस अध्याय को हम थोड़ा इन उपकरणों के सम्बन्ध में विचार करके समाप्त कर देना चाहते हैं। इन उपकरणों का प्रशिक्षण कार्य में बहुत महत्व है। चूँकि इनका सम्बोधन बालक की इन्द्रियों से होता है। अतः ये सीखने की प्रक्रिया को बहुत सरल बना देते हैं और बालक बहुत रुचि के साथ सीखता है तथा उसका ज्ञान पक्का होता जाता है। कहा जाता है कि इन्द्रियाँ ज्ञान की द्वार हैं। इसलिए जो ज्ञान इन्द्रियों की सहायता से प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त किया जाता है वह सच्चा और सार्थक ज्ञान होता है। यह इन उपकरणों का सबसे बड़ा मूल्य है और इनकी सहायता से प्राप्त किये हुए ज्ञान का महत्त्व तथा उसकी उपयोगिता इनकी सार्थकता को प्रमाणित करती हैं।

इन उपकरणों में प्रधानतया श्यामपट्ट कार्य—जैसे श्यामपट्ट पर चित्र बना देना या कोई नक्शा बनाना अथवा अन्य व्याख्या सम्बन्धी प्रश्न हल करना है—मॉडल, चित्र, नक्शे, वस्तु, प्रयोगशाला में प्रयोग, ग्राफ आदि आते हैं। कक्षा में प्रयोग के हेतु शिक्षक को यह निर्णय लेना चाहिए कि किस प्रकार किसी उपकरण का प्रयोग किया जाय। केवल इसलिए कि किसी न किसी उपकरण का प्रयोग आवश्यक है सामिग्री को कक्षा में ले जाना और वहाँ उसकी एक प्रकार की नुमाइश लगाना व्यर्थ है। जिस वस्तु का सही और प्रभावोत्पादक प्रयोग हो सके वही ले जानी चाहिए और उसी का प्रयोग होना चाहिए। यहाँ एक बात और भी हम कह दें और वह यह है कि सबसे बड़ा दृश्य-श्रव्य उपकरण तो शिक्षक स्वयं है। यदि उसकी आवाज, भाषा सरल और सौम्य है, यदि उसका व्यवहार सहानुभूति का है, यदि उसकी व्याख्या और प्रश्नोत्तर प्रणाली ठीक और स्पष्ट है, यदि उसे श्यामपट्ट का ठीक उपयोग करना आता है तो उसे बहुत कम बाह्य सामिग्री पर निर्भर रहना होगा। ये उपकरण एक साधन हैं और इनका उपयोग तभी सार्थक हो सकता है जब इनका प्रयोग करने वाले यह समझें कि किस प्रकार के उपकरण किसी पाठ में सहायक होंगे और उनका किस प्रकार सदुपयोग हो सकेगा।

सारांश

इस अध्याय में हमने कुछ प्रशिक्षण के सामान्य सिद्धान्तों और उपकरणों के सम्बन्ध में विचार किया है। प्रशिक्षण कार्य में शिक्षक को अनेक प्रकार की तक-

नीकियों और सामिग्री का प्रयोग करना पड़ता है। उनमें प्रश्नोत्तर विधि, व्याख्या, उदाहरण तथा दृश्य-श्रव्य सामिग्री का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। ध्यान देने की बात यह है कि शिक्षक को उनका उचित चयन करना चाहिए और यह जानना चाहिए कि उनका किस प्रकार चयन किया जाय और किस अवसर पर किसका किस प्रकार उपयोग किया जाय। जो ज्ञान बालकों को उनकी इन्द्रियों के दरवाजे से दिया जाता है उसे वे भली प्रकार प्राप्त कर लेते हैं। ये विधियाँ उसी सिद्धान्त की पोषक हैं और इसीलिए इनका विशेष महत्त्व है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

Adams. : Evolution of Educational Theories

Anderson, Harward R. : Approaches to an Understanding of World Affairs.

Armstrong, Jean M. A. : Projects and Their Place in Education.

Arundale, R. L. : Religious Education in the Senior School.

Babbit, Franklin : The Curriculum

Berkson, I. B. : Preface in Philosophy of Education

Bode, B. H. : Fundamentals of Education.

Brameld, T. : Patterns of Educational Philosophy– A Democratic Interpretation.

Bramwell, R. D. : Integrated Courses in Social Studies.

Brown, Francis J. : Educational Sociology.

Brubacher, John : Modern Philosophies.

Burton, E. D. : Education in a Democratic World.

Cunningham, W. F. : Pivotal Problems of Education.

Dewey, John : Democracy and Education.

,, ,, : Reconstruction in Philosophy.

,, ,, : The School & Society.

Eby and Arrowwood : Development of Modern Education

Finney, R. : Sociological Philosophy of Education.

Fitzpatrick, E. A. : Readings in Philosophy of Education

Gentile, G. : The Reform of Education.

Govt. of India, Ministry of Education : Report of Secondary Education Commission (Oct. 1952, June 1953)

Henderson, E N. : Text Book on the Principles of Education.

Henderson, Stella V. P. : Introduction in Philosophy of Ed.

Hindustani Talimi Sangh (Wardha, M. P.) : The Wardha Scheme

Horne, W. H. : Philosophy of Education

John Dewey Society : Democracy and the Curriculum.

Kandel, I. L. : Conflicting Theories of Education.

Kilpatrick, W. H. : Foundations of Method.

" " : How We Learn ?

" " : A Re-constructed Theory of the Educational Process.

" " (ed.) : The Educational Frontier.

Khan, F. B. & Saxena, M. : Modern Educational Developments.

Kooset-al : Administering the Secondary School

Kripalani, J. B. : The Latest Fad.

Krug, Edward A. : Curriculum Planning.

Lodge, R. C. : Philosophy of Education.

Madden, Ward : Religious Values in Education

Masani, R. P. : Education for World Understanding

Ministry of Education, Government of India : Understanding Basic Education

[*T. S. Avinashilingam*] : (1954)

Ministry of Education Govt. of India : Hand Book for Teachers of Basic Schools (1956)

Ministry of Education Scientific Research; Govt. of India : Report of the Assessment Committee on Basic Education (1957)

Ministry of Education Govt. of India : Syllabus for Basic Schools (1956)

Moore, Clyde B. & Cole, William E. : Sociology in Educational Practice.

Monroe, Paul : A Text Book in the History of Education.

Montessori, Maria : Education For a New World.

National Society for the Study of Education : Forty-First—Year-Book—Philosophies of Education.

,, ,, : Fifty-Fourth Year-Book—Modern Philosophies and Education.

Nunn, T. P. : Education, Its Data and First Principles.

Preston, Ralph : Teaching World Understanding.

Ragan, William B. : Modern Elementry Curriculum.

Report of the Secondary Education Re-organization Committee, Uttar Pradesh, 1953

Richmond, Kenneth : The Curriculum (1919)

Robert, R. Rusk : Philosophical Bases of Education.

Robert, Ulich : Fundamentals of Democratic Education.

,, ,, : History of Educational Thought.

Ross, J. S. : Groundwork of Educational Theory

Rugg, Harold & William Witchers : Social Foundations of Education.

Russell, Bertrand : Education and the Social Order.

Saiyidian, K. G. : Education for International Understanding

,, ,, : Education, Culture and the Social Order.

,, ,, : Problems of Educational Reconstruction.

Sharp- George : Curriculum Development as Re-education of the Teacher.

Shrimali, K. L. : The Wardha Scheme.

Skinner, C.E.& Langfitt R.E. : An Introduction to Modern Ed.

Slieght, W. G. : The Organization and Curricula of Schools.

Soares, J. G. : Religious Education.

Solanki A. B. : The Technique of Co-relation in Basic Education.

Spears, Harold : The Teacher and Curriculum Planning.

Strong C. F. : Teaching for International Understanding.

Stanley William O.; *Smith, O. Othannel*; *Benne, Kenneth D*; *Anderson, A. B.* : Social Foundations of Education.

Thayer, V. T. : Religion in Public Education.

Thomson, G. H. : A Modern Philosophy of Education.

Valentine, P. F. : Twentieth Century Education.

Varkey, C. J. : The Wardha Scheme of Education (1939)

Washburne, Carleion : The Worlds Good : Education for World-mindedness.

Westwater, A. C. D. : Essentials in the Project Method in Hindu Primary Girls Schools

Wyme, J. : Philosophies of Education

Zakir Hussain Committee Report : Two Volumes.